उत्तराध्ययन सूत्र

(द्वितीय खण्ड)
[अध्ययन ११ से २२ तक]
(मूल-संस्कृतछाया-पद्यानुवाद-अन्वयार्थ
भावार्थ-विवेचन-टिप्पणयुक्त)

तत्त्वावधान एवं मार्गदर्शन

आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज

सम्पादन

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

हिन्दी पद्यानुवाद

स्व० प० श्री शशिकान्त झा

प्रकाशक

सम्यग्ज्ञान-प्रचारक मंडल, जयपुर

☐ उत्तराध्ययन सूत्र
[द्वितीय खण्ड]

☐ प्रथमावृत्ति
वीर निर्वाण सम्वत् २५११
वि० सं० २०४२ श्रावण
ई० सन् १९८५ अगस्त

☐ प्रकाशक
सम्यग् ज्ञान प्रचारक मंडल
बापू बाजार, जयपुर
पिन : ३०२००३

☐ सर्व पृष्ठ संख्या ४९६

☐ मुद्रण
श्रीचन्द सुराना के निदेशन में
शक्ति प्रिंटर्स
१६/२६०, शीतला गली,
आगरा-२८२ ००३

मूल्य : लागत मात्र ३५/-पैंतीस रुपया सिर्फ

प्रकाशकीय

हम सब का यह परम सौभाग्य है कि इस भौतिक चकाचौंध के युग में अध्यात्म चेतना का सूर्य जगमगाने वाले परम शान्तचेता, चारित्र-चूडामणि, स्वाध्याय-सामायिक-साधना के प्रेरणा स्रोत, जैन इतिहास के महान् मर्मज्ञ; अनुसंधाता परमश्रद्धेय आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज हमें त्याग-संयम-स्वाध्याय का प्रशस्त पथ प्रदर्शन कर आध्यात्मिक अभ्युदय की ओर निरन्तर प्रेरणा प्रदान कर रहे हैं।

आचार्य श्री का पवित्र अन्तःकरण परम निर्वेद सुधा रस से आप्लावित है। वे जीव मात्र के हित-कल्याण-निःश्रेयस के लिए निरन्तर साधनाशील हैं। आगम के क्षीरसागर में स्वाध्याय रूप अवगाहन कर संवेग-निर्वेद की मूल्यवान मणियां प्राप्त कर मुक्त हाथ से सर्वत्र वितरित कर रहे हैं। आचार्य श्री की धीर-गम्भीर उदात्त वाणी में समता स्वाध्याय-सामायिक का त्रिमुखी निर्घोष सतत निनादित होता हुआ प्रतीत होता है। वे प्रत्येक मानव को शान्ति-एवं समरसका रसास्वाद कराके, साम्ययोग का अमृत फल प्रदान करना चाहते हैं।

आचार्य देव की अमृतोपम सद्प्रेरणा का ही एक अमर फल है—उत्तराध्ययन सूत्र का प्रस्तुत स्वाध्यायोपयोगी संस्करण। निःसदेन्ह इस आगम-वाणी का रसास्वाद कर स्वाध्यायीबंधु कृतार्थता अनुभव करेगें। इतना सरल-सुबोध और सर्वोपयोगी संस्करण—आचार्य देव की अनुभव परिपूर्ण वैदुष्य गरिमा का उत्तम उदाहरण है।

आचार्य देव के पुनीत मार्गदर्शन में इस सूत्र का सम्पादन किया है जैन साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान साहित्यकार श्रीचन्द जी सुराना ने। हमें प्रसन्नता है कि यह आगम संस्करण जिज्ञासु स्वाध्यायी बन्धुओं के हाथों में पहुँच रहा है।

इस आगम के मुद्रण कार्य में अर्थसौजन्य के रूप में ओसवाल वंश भूषण दानवीर समाजरत्न सुश्रावक श्रीमान नवरतनमल जी सा. भांडावत की पुण्य स्मृति में आपके परिवार द्वारा उदार अर्थ सहयोग प्राप्त हुआ हैं एतदर्थ मंडल की तर्फ से हम आपके राष्ट्र एवं समाज सेवी परिवार के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

आशा है इस सूत्र के स्वाध्याय से जीवन में अध्यात्म जागृति का नव संचार होता रहेगा।

विनीत

मंत्री—सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

ओसवाल वंशभूषण, समाजरत्न शाहजी
श्री नवरतनमल जी सा-भांडावत

संक्षिप्त-परिचय

शाहजी श्री नवरतनमल जी सा भांडावत मारवाड़ में समूचे ओसवाल समाज के अग्रगण्य प्रतिभाशाली व्यक्तियों में एक दैदिप्यमान समाज रत्न थे जिन्होंने अपनी जन्मजात प्रतिभा, प्रखर बुद्धिमत्ता, कार्यदक्षता, आगे वढ़ने की अमिट लगन एवं कार्य तत्परता के वल पर न केवल ओसवाल समाज ही वरन् समूचे मारवाड़ में अपना उल्लेखनीय स्थान प्राप्त किया। साथ ही अपनी सरलता, सद्चरित्रता, प्रखरता, समाज हित चिन्तन, दूरदर्शिता एवं वात्सल्य भावना से समाज को ऊँचा उठाने में अपना अधिक योगदान किया जो मरुधरा के ओसवाल समाज के इतिहास में सदैव स्वर्ण अक्षरों में अंकित रहेगा।

आपके पितामह श्री गुनेचन्द जी भांडावत अजमेर में व्यवसाय करते थे। उनके दो पुत्र हुए श्री घेवरचन्द जी एवं श्री फूलचन्द जी। आपका जन्म अजमेर में विक्रम सम्वत् १९३० आश्विन शुक्ला ६ को हुआ। आप श्रीमान् फूलचन्द जी साहब के पुत्र थे। वाल्यकाल में ही आप अत्यन्त मेधावी व प्रखर प्रतिभा सम्पन्न थे। आपका शिक्षण गवर्नमेन्ट कालेज अजमेर में हुआ। परिस्थितियां अनुकूल नहीं होते हुए भी आपने अपनी योग्यता व तीव्र बुद्धिमत्ता से उस समय की ऊँची से ऊँची परीक्षायें एम० ए० (इण्टर), बी० ए० एवं एल० एल० बी० उत्तीर्ण कर इलाहाबाद विश्व-विद्यालय में प्रथम स्थान प्राप्त किया तथा विश्वविद्यालय द्वारा आप स्वर्ण पदक से सम्मानित किये गये।

संवत् १९५२ में शाह जी प्रोफेसर बनकर जोधपुर पधारे। तब से जीवन पर्यन्त आपका कार्यक्षेत्र जोधपुर ही रहा। जोधपुर कॉलिज में
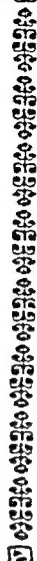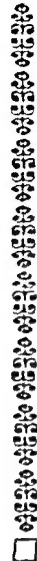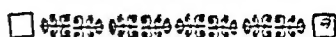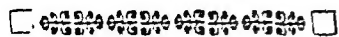
ओसवालवंशभूषण, समाजरत्न, दानवीर

शाह श्रीमान नवरतनमल जी सा० भांडावत

[जोधपुर]

श्री गणेश किया और यह पाठशाला आज भी सुचारू रूप से चल रही है। जनहित को लक्ष्य में लेकर आपने अपने जीवन-काल में ही सन् १९३३ में नवरत्न आयुर्वैदिक औषधालय स्थापित किया जो आज भी विद्यमान ही नही वरन् उत्तरोत्तर वृद्धि कर रहा है। सामाजिक योगदान के साथ-साथ धार्मिक लगन, निष्ठा एवं आस्था आपमें सदा सर्वदा कायम रही। उस क्षेत्र में भी आपका सामूहिक कदम व दानवीरता के अनेकों कार्य इसके ज्वलन्त प्रमाण है। उच्च शिक्षा होने पर भी आपमें मान लेश मात्र भी न था। आप सदा धार्मिक चर्चा में लीन रहते थे। सामायिक आपका नित्यक्रम था, कुशाग्र बुद्धि के फलस्वरूप आपने प्रौढ़ावस्था में भी अन्य दूसरे कार्य क्षेत्र में व्यस्त रहते हुये भी सिर्फ सात दिन में प्रतिक्रमण की सम्पूर्ण पाटिया कंठस्थ कर ली थी। आप स्व० आचार्य श्री श्रीशोभाचन्द्र जी महाराज एवं वर्तमानाचार्य प्रातः स्मरणीय आचार्य प्रवर १००८ श्री हस्तीमल जी म० सा० के अनन्य श्रद्धालु भक्त थे व उनके मार्गदर्शन में सदैव तत्पर रहकर धर्म भावना उजागर करते रहे। आपने बाईस सम्प्रदाय की भी अभूतपूर्व सेवायें की, जिसकी याद में समस्त बाईस सम्प्रदाय ने मान-पत्र द्वारा आपको सम्मानित किया। आपके सुपुत्र श्रीमान् धनपतसिंह जी सा० मात्र २९ वर्ष की अल्प आयु में सन् १९४४ में दिवंगत हुये। आपके सुपौत्र डा० सम्पतसिंह जी भांडावत, श्री सुरेशचन्दजी भांडावत, आपकी उज्ज्वल पैत्रिक परम्परा में विमल कीर्ति को निरन्तर आगे बढ़ा रहे हैं, तथा आपके प्रपौत्र श्री संदीप भांडावत मेधावी छात्र हैं तथा M.B.A. में अध्ययन रत हैं, आप धर्मानुरागी हैं तथा प्रतिदिन धार्मिक क्रियाएँ करते हैं।

धार्मिक विचार व प्रवृत्ति आपकी पैत्रिक परम्परा के उज्ज्वल प्रमाण है। यही नहीं, मगर यह दोनों योग्य संतति लाखों रुपयों का व्यय निरन्तर शुभ एवं धार्मिक कार्य में करते रहे हैं। इन दोनों के सुपुत्र भी मेधावी एवं सुलक्षण है एवं उनमें धर्म भावना जन्मजात है। डा० सम्पतसिंह सा भांडा-वत राजस्थान उच्च न्यायालय में अतिरिक्त राजकीय अधिवक्ता है तथा अ० भा० श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ के अध्यक्ष हैं। आप ३०५ डिस्ट्रीक्ट रोटरी (जिसमें राजस्थान, गुजरात व मध्यप्रदेश के कुछ हिस्से हैं) उसके वर्तमान में प्रान्तपाल है। श्री संपतसिंहजी सा भांडावत सिंहसभा जोधपुर के ट्रस्ट्री भी रह चुके हैं व अन्य कई जैन संस्थाओं में भी किसी न किसी रूप में आपका निरन्तर सम्बन्ध है। आचार्य भगवान के संवत् २०४१ के जोधपुर चातुर्मास का विशेष श्रेय भी आप ही को है। आपके

सम्पूर्ण परिवार की हार्दिक इच्छा को मान देकर आचार्य भगवान ने चातुर्मास आपके बंगले में ही सम्पन्न किया। उक्त चातुर्मास में श्री संपतसिंह जी व उनके सम्पूर्ण परिवार ने आचार्य भगवान के चरणों में मानों अपना हृदय खोलकर ही रख दिया हो। राम भक्त हनुमान का रूप आप में दृष्टिगोचर होता है।

माननीय सुरेशचन्द जी भांडावत अमेरिका में प्रतिभा सम्पन्न उद्योगपति है और उनका लक्ष्य मात्र जनसेवा ही है। दान के मामले में वे निरन्तर अग्रगण्य है। उनमें भी धर्म भावनायें व भक्ति कूट-कूट कर भरी है और जीवन सात्विक है। यह सब पैत्रिक संस्कारों की देन है। वे सदा सर्वदा समाज सेवा, संघ सेवा, जनसेवा करते हुए कल्याण मार्ग की तरफ अग्रसर रहते हैं। उन्होंने अपना समस्त जीवन अपने अथक परिश्रम द्वारा जन कल्याण में लगाया है जो अनुकरणीय है।

□□

प्रस्तावना :

उत्तराध्ययन सूत्र : एक लोकोत्तर आगम

जैन परम्परा में उपलब्ध आगमों को चार वर्गों में विभक्त किया गया है। अंग, उपांग, मूल एवं छेद।

अंग ११, उपांग १२, मूल ४, एवं छेद ४ तथा एक आवश्यक सूत्र-यों ३२ सूत्रस्थानकवासी जैन परम्परा में प्रमाण रूप माने जाते हैं।

चार मूल सूत्र हैं—१ दशवैकालिक, २ उत्तराध्ययन, ३ नंदी सूत्र, ४ अनुयोगद्वार।

इन सूत्रों को 'मूल सूत्र' मानने के अनेक हेतु बताये गये हैं। इनमें एक मुख्य हेतु यह है कि—प्राचीन आचार्यों ने श्रुतपुरुष की रेखाकृति का अंकन कर उसके भिन्न-भिन्न स्थानों—अंगों पर आगमों की परिकल्पना की। उसमें दशवैकालिक तथा उत्तराध्ययन सूत्र का अंकन मूल स्थान (चरण युगल) पर किया गया है। जिस प्रकार समूचे शरीर का भार चरणों पर रहता है, वृक्ष का समग्र अस्तित्व मूल—जड़ पर टिका रहता है, उसी प्रकार श्रुतज्ञान का समस्त आधार सम्यक्चारित्र पर टिका हुआ है। अतः जिन आगमों में सम्यक् आचार का वर्णन मुख्य रूप में है, उन आगमों को 'मूल' स्थान पर अंकित किया गया है। अंगों में आचारांग और सूत्रकृतांग को मूल स्थान पर रखा है तथा उनके सहायक स्थान पर दशवैकालिक,उत्तराध्ययन का भी मूल स्थानीय रेखांकन किया गया है।

दूसरी बात यह है कि आचार सम्बन्धी मूल गुणों का इन आगमों में मुख्य वर्णन होने से भी इन्हें 'मूल' सूत्र की संज्ञा दी गई है।

उत्तराध्ययन आदि को मूल सूत्रों में कहने का एक भाव यह भी हो सकता है कि आत्मा के चार मूल गुण हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप। चार मूल सूत्रों में—

१. नन्दी में—ज्ञान का, २. अनुयोगद्वार में—दर्शन (श्रद्धा) का, ३. दशवैकालिक में—चारित्र का, ४. उत्तराध्ययन में 'तप' का मुख्य रूप में वर्णन मिलता है।

'मूल सूत्र' की गणना में आने से यह स्पष्ट ही ध्वनित होता है कि 'उत्तराध्ययन सूत्र' का जैन आगमों में अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

दूसरी बात—'उत्तराध्ययन' शब्द ही अपने आप में इसकी गरिमा को व्यक्त करता है। उत्तर—शब्द का अर्थ है—उत्तम। प्रधान या श्रेष्ठ। तथा अध्ययन का अर्थ है—शास्त्र, ग्रंथ। इस प्रकार 'उत्तराध्ययन' शब्द का अर्थबोध होता है—श्रेष्ठ शास्त्र। पवित्र ग्रंथ या प्रधान आगम।

इस सूत्र के सम्बन्ध में यह भी एक धारणा है कि भगवान् महावीर ने निर्वाण से कुछ ही समय पूर्व पावापुरी के अन्तिम समवसरण में इस आगम की देशना दी थी। अतः यह सूत्र भगवान् महावीर की अन्तिम पवित्र वाणी के रूप में अत्यन्त श्रद्धापूर्वक सुना/पढ़ा जाता है।[1]

कुछ भी हो, ऐतिहासिक कारणों की छानबीन में न उलझें, तो भी हमारी सांस्कृतिक परम्परा इस सूत्र को एक महत्वपूर्ण और अत्यधिक जीवनोपयोगी सूत्र मानती है, इसलिए इस सूत्र का वाचन, पठन, पाठन, पारायण तथा प्रकाशन भी सबसे अधिक हुआ है। संपूर्ण श्वेताम्बर परम्परा में 'उत्तराध्ययन' सूत्र उसी रूप में मान्य है, जैसे बौद्ध परम्परा में 'धम्मपद' और वैदिक परम्परा में 'गीता'।

उत्तराध्ययन एक जीवंत शास्त्र है। अध्यात्म शास्त्र है। इसके सूक्त, वचन एवं गाथाएं इतने सारपूर्ण व अध्यात्म तथा जीवनाचार से परिपूर्ण हैं कि इनका स्वाध्याय करते समय साधक को नित्य नई उपलब्धि तथा अनुभूति होती है। गागर में सागर की तरह इसकी गाथाएँ अध्यात्म रस से परिपूर्ण हैं। जैसे महाभारत के सम्बन्ध में कहा जाता है—'प्रति पर्व रसोदयम्' प्रत्येक पर्व पर अधिकाधिक रस का अनुभव होता है, वैसे ही उत्तराध्ययन के विषय में यह कहा जा सकता है—'प्रति अध्ययन—अध्यात्मोदयः'—हर अध्ययन आगे से आगे अध्यात्म रस की वृद्धि करता है।

इस सूत्र में ३६ अध्ययन हैं। विषय वर्गीकरण की दृष्टि से उन्हें चार भागों में बांट सकते हैं :—

---

१ (क) उत्तराध्ययन-३६ । २६८

इइ पाउ करे बुद्धे……छत्तीसं उत्तरज्झाए भवसिद्धीयसंमए।

(ख) छत्तीसं अपुट्ठवागरणाइं वागरित्ता

—कल्पसूत्र, सूत्र १४६, पृष्ठ २१० (देवेन्द्रमुनि सम्पादित)।

१. धर्मकथात्मक अध्ययन—

७, ८, ९, १२, १३, १४, १८, १९, २०, २१, २२, २३, २५ और २७वां अध्ययन।

२. उपदेशात्मक अध्ययन—

१, ३, ४, ५, ६ तथा १०।

३. आचारात्मक अध्ययन—

२, ११, १५, १६, १७, २४, २६, ३२, ३५।

४. सिद्धान्तात्मक अध्ययन—

२८, २९, ३०, ३१, ३३, ३४, ३६।

विक्रम की प्रथम शताब्दी में आर्य रक्षितसूरि ने आगमों का अनुयोगों में वर्गीकरण किया तब उत्तराध्ययन सूत्र को धर्मकथानुयोग में स्थान दिया था। किन्तु यह वर्गीकरण सिर्फ धर्म-कथाओं की प्रधानता या विपुलता के कारण ही किया गया था, वैसे इसमें चरणानुयोग तथा द्रव्यानुयोग भी सन्निहित है। अतः इसे हम 'बहु अनुयोगी' आगम भी कह सकते हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र में अनेक शैलियाँ हैं, इसके कुछ अध्ययन—जैसे कापिलीय, नमि प्रव्रज्या, इषुकारीय एवं केशि-गौतमीय संवाद-प्रधान शैली में है, तो कुछ अध्ययन प्रश्नोत्तर शैली में, जैसे सम्यक्त्व पराक्रम। कुछ अध्ययन कथा एवं चरित्रप्रधान शैली में हैं। शैली की विविधता और विषयों की बहुरूपता के कारण यह आगम भिन्न-भिन्न रुचि पाठकों के लिए रुचिकर व बहुआयामी हो जाता है। शायद इसकी अत्यधिक लोक-प्रियता का यह भी एक कारण रहा हो।

उत्तराध्ययन में ३६ अध्ययन हैं। मूल एवं अनुवाद के साथ इसका एक ही जिल्द में कई संस्थाओं से प्रकाशन हो चुका है, किन्तु विवेचन आदि के साथ इसका कलेवर विशाल हो जाने के कारण संस्था ने इसको तीन जिल्दों में प्रकाशित करने की योजना बनाई है। प्रथम खण्ड में १० अध्ययन हैं। द्वितीय खण्ड में ११ से २२ अध्ययन तक आये हैं। शेष १४ अध्ययन तृतीय खण्ड में प्रकाशित किये जायेंगे।

प्रथम खण्ड में दस अध्ययनों के विषय में संक्षिप्त परिचय दिया जा चुका है, अतः यहाँ पुनरुक्ति न करके पाठकों को प्रथम खण्ड की प्रस्तावना देखने का अनुरोध करता हूँ।

इस द्वितीय खण्ड में ११वें अध्ययन से प्रारंभ कर २२वें अध्ययन तक की सामग्री दी गई है।

पुस्तक परिक्रमा

११. बहुश्रुत पूज्य—अध्ययन—ज्ञान का आधार : विनय

दशवें अध्ययन में भगवान महावीर ने अप्रमाद और जागरूकता का प्रेरणामूलक सन्देश दिया है। समय मात्र भी प्रमाद न करो यह उद्घोष चेतना को अन्तर्मुखी बनाने का अमृत-सन्देश है। जागरूक अप्रमत्त आत्मा सम्यग् ज्ञान-दर्शन-चारित्र की निर्मल आराधना/उपासना में प्रवृत्त होता है, सम्यक् श्रुताराधक आत्मा 'बहुश्रुत' की गरिमा से मंडित होता है। 'बहुश्रुत' आत्मा अनेक दिव्य गुणों का आधार बनता है और वह जगत् में सर्वत्र 'पूज्यता' श्रेष्ठता प्राप्त करता है। इसलिए अप्रमत्त आत्मा को बहुश्रुतत्व-लाभ प्राप्त होने पर उसमें किस प्रकार की विशिष्टता समुद्भूत होती है, इसका सम्यक् निदर्शन 'बहुश्रुत-पूज्य' ११वें अध्ययन में किया गया है।

प्राचीन परम्परा के अनुसार बहुश्रुत के जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट तीन भेद किये गये हैं—

जघन्य—आचार प्रकल्प एवं निशीथ का ज्ञाता,

मध्यम—बृहत्कल्प एवं व्यवहार सूत्र का धारक,

उत्कृष्ट—नवम दशम पूर्व तक का धारक।[1]

प्रस्तुत अध्ययन में बहुश्रुत अणगार की आत्मिक-उत्कृष्टता को, विशिष्ट ज्ञान-चेतना को—विविध सुन्दर मनोहर उपमाओं से उपमित किया गया है। विनय को ज्ञान प्राप्ति का मूल आधार बताते हुए अविनय, क्रोध, प्रमाद आदि से सतत बचते रहने का सदुपदेश इस अध्ययन में मुखरित हुआ है।

१२. हरिकेशबल अध्ययन—समन्वयवादी विचारणा

बहुश्रुत श्रमण अपने तप-त्याग-तितिक्षा-साधना में किस प्रकार तेजस्वी होता है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण १२वें हरिकेशीय अध्ययन में बहुत ही सुन्दर तथा चमत्कारी ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

१ तिविहो बहुस्सुओ खलु जहन्नओ मज्झिमो य उक्कोसो।
आयारकप्पे, कप्पे, नवम दसमे य उक्कोसो ॥
—बृहत्कल्प उ० १, प्रकरण १, गा० ४०४

१३. चित्त-संभूत : भोग एवं योग का द्वन्द्व

चित्त और संभूत नामक दो बंधुओं के जन्म-जन्मान्तरों की घटनाओं के प्रकाश में प्रस्तुत १३ वां अध्ययन भोग एवं योगकी मनोवृत्तियों का चित्र उपस्थित करता है। विरक्ति के संस्कार जहाँ मानव को सर्वतंत्र स्वतंत्र विचरणा की सामर्थ्य देते हैं वहाँ भोगासक्ति के संस्कार उसे दलदल में फंसे गजराज की तरह असमर्थ एवं असहाय बना देते हैं। वायु की तरह उन्मुक्त विहारी चित्त मुनि चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त को विषय-भोगों की असारता एवं कटु परिणामिता बताते हैं तो भोग वृत्तियों का दास बना चक्रवर्ती एक परवश-दीन-हीन व्यक्ति की भाँति अपनी विवशता स्वीकारता है—**जाणमाणो वि जं धम्मे काम-भोगेसु मुच्छिओ**—मैं धर्म को जानता हुआ भी काम-भोगों में मूर्च्छित हुआ उन्हें छोड़ नहीं पा रहा हूँ। किनारा देखते हुए भी मैं दलदल में फंसे नागराज हाथी की भांति विवश हूँ, परवश हूँ।

इस कथानक में यह सत्य उजागर हो जाता है कि आत्मा के लिए सबसे बड़ा बंधन है—आसक्ति। भोगेच्छा! इच्छा का दास ही संसार में सबसे बड़ा दास है और इच्छाओं का स्वामी अकिंचन होकर भी संसार में सबसे महान, स्वतन्त्र व सुखी है।

इस अध्ययन में मनुष्य की सात्विक त्याग प्रधान, तथा भोगासक्त राजसिक वृत्तियों के अन्तर द्वन्द्व का चित्रण बहुत ही मनोवैज्ञानिक ढंग से हुआ है। श्रमण संस्कृति का मूलभूत स्वर—त्याग—इसमें बोल रहा है। इस कथानक की लोकप्रियता इतनी व्यापक है कि बौद्ध जातकों में भी कुछ रूपान्तर के साथ यही घटना एवं वही संवाद दृष्टिगोचर होते हैं।[2] इस अध्ययन की कुछ गाथाएँ तो भाव रूप में महाभारत के शान्तिपर्व एवं उद्योग पर्व में भी मिलती हैं।[3]

---

२ देखें—जातक संख्या ४९८, चतुर्थ खण्ड : पृष्ठ ६०० ।

३ उत्तराध्ययन—१३/२२—

जहेह सीहो व मियं गहाय, मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले ॥
न तस्स माया व पिया व भाया, कालम्मि तम्मिसहरा भवन्ति ॥

तुलना कीजिए—महाभारत शान्तिपर्व, १७५/१८-१९—

तं पुत्र पशु सम्पन्नं व्यासक्तमनसं नरम् ।
सुप्तं व्याघ्रो मृगमिव मृत्युरादाय गच्छति ॥
संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम् ।
व्याघ्रः पशुमिवादाय मृत्युरादाय गच्छति ॥

१४. इषुकारीय अध्ययन

यह अध्ययन कथात्मक होते हुए भी संवादप्रधान है। 'इषुकार' नामक राजा की मुख्यता के कारण इसका नाम भी 'इषुकारीय' रखा गया है। वास्तव में इसमें छह पात्रों का अन्तरंग जीवनदर्शन है। राजा इषुकार, रानी कमलावती, भृगु पुरोहित, पुरोहित-पत्नी यशा तथा उनके दो पुत्र। पुरोहित पति-पत्नी तत्कालीन वैदिक संस्कार एवं धारणाओं में बंधे होने से परलोक की सद्गति के लिए पुत्र-प्राप्ति की इच्छा करते हैं। भाग्य योग से पुत्र युगल प्राप्त होता है। श्रमण-मुनियों की छाया मात्र से दूर रखने का प्रयत्न करने पर भी आखिर में दोनों ही पुत्र श्रमण-निर्ग्रन्थों के सम्पर्क से प्रतिबुद्ध होकर दीक्षित होना चाहते हैं, किन्तु माता-पिता कुछ तो परम्परागत वैदिक संस्कारों के कारण, कुछ मोहवश उनको पहले गृहस्थाश्रम में रहकर संसार सुख भोगने का उपदेश देते हैं, परन्तु जागृत तथा प्रबुद्ध पुत्र-युगल एक दिन भी संसार में रहना नहीं चाहते। वे कहते हैं—

अज्जेव धम्मं पडिवज्जयामो
जहिं पवन्ना न पुणब्भवामो।

—हम तो आज ही धर्म की शरण ग्रहण करेंगे, क्योंकि धर्म ही एक ऐसा तत्व है जिसकी शरण लेने के बाद संसार में पुनर्जन्म नहीं करना पड़ता।

सच्चे अन्तःकरण से निःसृत पुत्रों के विचारों का माता-पिता पर प्रभाव पड़ता है, उन्हें मालूम होता है कि उनका कथन सिर्फ मोह और स्वार्थ-प्रेरित है, जबकि पुत्रों के कथन में शाश्वत सत्य की गूंज है। आखिर चारों प्राणी घर की समस्त सम्पत्ति को त्यागकर—**'जालाणि दलित्तु हंसा'** —जैसे हंस जाल को तोड़कर उड़ जाते हैं, उसी प्रकार वे भी मुक्त विहारी हो जाते हैं।

इसी अध्ययन का दूसरा प्रेरक प्रसंग है—इषुकार राजा द्वारा पुरोहित के परित्यक्त धन को राज-भंडार में मंगवाना और तब रानी कमलावती का हृदय को झकझोर देने वाला यह उद्बोधन—

वंतासी पुरिसो रायं ! न सो होइ पसंसिओ।

—हे राजन् ! वमन का उपयोग करने वाला संसार में अच्छा नहीं माना जाता। आप पुरोहित द्वारा परित्यक्त धन को लेने की इच्छा क्यों करते हैं?

रानी की अन्तश्चेतना से स्फुरित वचन राजा के हृदय को ऐसा बदल देते हैं कि दूसरों का धन लेने वाला स्वयं का समस्त राज्य छोड़कर अकिंचन अणगार बन जाता है और रानी कमलावती श्रमणी।

यह घटना जिस समय घटी होगी, कितनी हृदयस्पर्शी बनी होगी और आसपास के समाज में इसकी कितनी चर्चा व प्रेरणा रही होगी, इसका अनुमान इससे हो जाता है कि बौद्ध परम्परा ने भी इस कथानक को ज्यों का त्यों कुछ परिवर्तन के साथ अपने साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। बौद्ध ग्रंथ हस्तिपाल जातक इस कथानक में आठ पात्रों को सम्मिलित करता है। वहाँ छह पात्र तो ये ही हैं, किन्तु पुत्र दो की जगह चार हैं, यों कुल मिलाकर आठ पात्र हैं। सरपेन्टियर और डा० घाटगे के अनुसन्धान में उत्तराध्ययन सूत्र की कथा जातकगत कथा से अधिक प्राचीन एवं स्वाभाविक है।[1] उत्तराध्ययन, महाभारत एवं जातक के अनेक संवाद तथा गाथाएं बहुत ही समान हैं। वास्तव में यह अध्ययन श्रमण संस्कृति के इस मूल सिद्धान्त का स्पष्ट उद्घोष करता है कि—जब हृदय विरक्त हो जाता तो उसकी प्रव्रज्या के लिए शरीर, उम्र, परिवार स्वजन आदि कोई भी बाधक नहीं बन सकता।

१५. भिक्षु जीवन का आदर्श : सभिक्खु अध्ययन

चौदहवें अध्ययन में छह विरक्त आत्माओं की प्रेरणादायी प्रव्रज्या का वर्णन होने के बाद प्रव्रजित भिक्षु की आदर्श जीवनचर्या के विषय में सहज ही जिज्ञासा होती है। भिक्षु का कठोर असिधारा व्रत कितना जागृति-पूर्ण, ऋजुता, मृदुता, तितिक्षा, तप आदि गुणों से युक्त होता है इसका सुन्दर शब्द-चित्र पन्द्रहवें 'सभिक्षु' अध्ययन में प्रस्तुत है। १६ गाथाओं के इस लघु अध्ययन में 'सभिक्खू'=वह भिक्षु होता है, के अन्तिम पद में भिक्षु जीवन के अनेक उत्तमोत्तम गुण, एवं मर्यादाओं का बहुत ही सारपूर्ण निदर्शन इस अध्ययन की विशेषता है।

---

१ यही कथा रूपान्तर के साथ महाभारत शान्तिपर्व अध्याय १७५ तथा २७७ में आती है जहां पिता पुत्र का इसी प्रकार का संवाद है। पिता पुत्र को गृहस्थाश्रम में रहकर यज्ञ आदि करने का उपदेश देता है और पुत्र उनकी निःस्सारता बताकर संन्यास मार्ग ग्रहण करना चाहता है। तुलना के लिए देखें—श्री देवेन्द्रमुनि जी उत्तराध्ययन सूत्र की प्रस्तावना पृष्ठ ५२-५४।

१६. ब्रह्मचर्यसमाधि अध्ययन

भिक्षु के आदर्श गुणों में मुख्य गुण बताया है—'अकाम कामे । जिइन्दिए', काम=विषयों की इच्छा से मुक्त तथा इन्द्रिय-विजेता। इन्द्रिय विजेता वही हो सकता है जो सर्वांग रूप में ब्रह्मचर्य की अखण्ड अविचल साधना करता हो। यों इन्द्रिय-विजय और ब्रह्मचर्य में अन्योन्य सम्बन्ध है। अतः प्रस्तुत सोलहवें अध्ययन में ब्रह्मचर्य की समाधि अर्थात् ब्रह्मचर्य महाव्रत की अखण्ड अभंग परिपालना के उपायों पर विवेचन करते हुए १० समाधि स्थानों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। मानसिक शुद्धि के साथ ही शरीर-संयम, खाद्य-संयम वातावरण की पवित्रता आदि कारणों पर भी विशद प्रकाश डालकर अन्त में ब्रह्मचर्य की महिमा हेतु एक ही सारपूर्ण पद में सब कुछ कह दिया गया है—

एस धम्मे धुवे णिच्चे सासए जिणदेसिए।

यह ब्रह्मचर्य रूप धर्म, ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है, सभी को सिद्धि प्रदान करने वाला है।

१७. पापश्रमण : साधुता का कलंक

ब्रह्मचर्य साधना में लीन रहने वाला श्रेष्ठ श्रमण है तो उसकी उपेक्षा व अवहेलना करने वाला पापश्रमण है।

पन्द्रहवें अध्ययन में जहाँ आदर्श श्रमण का अन्तरंग दर्शन कराया गया है तो इस १७वें अध्ययन में उसके विपरीत सिर्फ वेष पहनने वाले उस श्रमण की बिडाल वृत्तियों पर प्रकाश डाला गया है जो 'भोजन में आगे और भजन में पीछे' रहता है। जो अपने नियम, मर्यादा एवं आचार के प्रति उपेक्षा करता है, गुरुजनों की अवज्ञा करता है और रात-दिन प्रमाद में रत "भोच्चा पिच्चा सुहं सुवइ"—खाना, पीना और आराम से सोना के सिद्धान्त पर चलता है। उस पापश्रमण का वास्तविक चित्र प्रस्तुत कर दिया गया है इस अध्ययन में।

इस अध्ययन के स्वाध्याय से यह बात भी स्पष्ट होती है कि शास्त्रकार जहाँ साधुता के उच्च आदर्श के प्रति अत्यन्त आदर तथा सम्मान प्रकट करते हैं वहाँ ढोंगी साधु के प्रति काफी कठोर व स्पष्ट रुख अपनाये हुए हैं।

१८. संजयीय अध्ययन : इतिहास की गौरव गाथाएं

इस अध्ययन का आरम्भ एक कथासूत्र के माध्यम से अभयदान तथा

जीव-दया की प्रेरणा लिए होता है। मृगयाप्रेमी संजति राजा को गर्दभालि-मुनि अभयदान का हृदयग्राही सन्देश देते हैं—

'अभयदाया भवाहि य !'

हिंसा के कटु परिणामों को सुनकर संजति राजा करुणार्द्र हो उठते हैं, और सम्पूर्ण राज्य त्यागकर मुनि के चरणों में प्रव्रजित हो जाते हैं। संजय राजर्षि की भेंट एक क्षत्रिय राजर्षि से होती है, और फिर जिन प्रवचन की विशिष्टता की चर्चा में क्षत्रिय राजर्षि इतिहास की वे अमर गौरव गाथाएँ सुनाते हैं जिनमें त्याग-वैराग्य का दिव्य सन्देश गूँज रहा है। भरत चक्रवर्ती आदि अनेक चक्रवर्ती सम्राटों ने अपार राज्य वैभव का त्याग कर किस प्रकार कठोर तपश्चरण किया, इसका मनोहारी वर्णन इस अध्ययन में हुआ है। चार प्रत्येक बुद्ध[1] तथा दशार्णभद्र एवं उद्रायण आदि राजर्षियों के तप-त्याग-क्षमा-समत्व की घटनाएँ पढ़-सुनकर आज भी हृदय में अपूर्व प्रेरणा जगती है। इस अध्ययन में कुल मिलाकर इतिहास के १९ महापुरुषों की पावन-जीवन कथा है, जो रोचक व प्रेरक होने के साथ ही जिन प्रवचन की महिमा का गान करती है।

१९. मृगापुत्रीय अध्ययन : आत्मानुभूति का प्रवक्ता

उत्तराध्ययन के कुछ अध्ययनों का नामकरण वर्ण्य विषय की प्रधानता के आधार पर हुआ है तो अनेक अध्ययनों का पात्रों की प्रधानता पर। संजयीय अध्ययन की तरह उन्नीसवां अध्ययन भी 'मृगापुत्र' का वर्णन होने से 'मृगापुत्रीय' नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

राजकुमार मृगापुत्र एक तपस्वी श्रमण को देखर चिन्तनलीन होते हैं, तो सहज ही पूर्वजन्म की स्मृतियाँ उभर जाती हैं। चित्र पट की तरह पूर्वजन्म का घटनाक्रम स्मृतियों में मूर्तिमन्त हो जाता है। स्वर्ग के दिव्य सुखों का स्मरण भी होता है तो नरक में भोगी भयंकर लोमहर्षक यातनाएँ भी स्मृति में साकार होकर सिहरन पैदा कर जाती है।

तिर्यन एवं मनुष्य योनि में भुक्त वेदना एवं शारीरिक दुःख-सुख भी स्मृतिगोचर होते हैं और अन्त में स्मृतिगोचर होती है मनुष्यभव में की हुई श्रमणत्व-साधना। कठोर तपश्चरणयुक्त मुनि जीवन। इस जाति-स्मृति से मृगापुत्र को भोगों के प्रति विरक्ति हो जाती है और वह संयम ग्रहण करने

---

१ बौद्ध साहित्य के साथ तुलना के लिए देखें—श्री देवेन्द्र मुनि की प्रस्तावना, पृष्ठ ६२-६३। दिव्यावदान—सम्पादक डा० पी० एल० वैद्य।

को आतुर हो उठता है। मृगापुत्र माता-पिता से दीक्षा की अनुमति माँगता है, और तब होता है उनका संवाद। यह संवाद ही इस अध्ययन का प्राण है। इसमें वैराग्य एवं निर्वेद रस की वह तीव्र धारा प्रवाहित हुई है जिसमें अवगाहन कर कोई भी निर्वेद रस में आकंठ मग्न हो जाता है। मृगापुत्र द्वारा प्रस्तुत नारकीय वेदनाओं का अनुभूत वर्णन सुनकर रोमांच हो उठता है, और पाप कर्म से सहज विरति-सी होने लगती है। माता-पिता और पुत्र का यह संवाद एक प्रकार की अनुभूतियों की कथा है जिसका प्रत्येक स्वर वैराग्य रस में डूबा है।[1]

२०. महानिर्ग्रन्थीय अध्ययन : सत्य का सन्दर्शन

महानिर्ग्रन्थ अनाथी श्रमण से सम्बंधित उत्तराध्ययन सूत्र का बीसवां अध्ययन अध्यात्म दृष्टि से बहुत ही गहन, किन्तु फिर भी अत्यन्त रोचक और भाव-प्रवण है। श्रेणिक राजा के साथ अनाथी मुनि के संवाद एक निर्ग्रन्थ की सर्वथा लोक-निरपेक्ष अध्यात्मोन्मुखी निर्भय दृष्टि का उद्घाटन करते हैं, तथा सांसारिक वैभव की असारता, सत्ता की असमर्थता, और प्राणी की कर्माधीनता का सच्चा चित्र भी उपस्थित करते हैं। श्रेणिक राजा के समक्ष मुनि ने जीवन का वह शाश्वत सत्य उद्घाटित करके रखा है जिसका दर्शन उसे जीवन में पहली बार हुआ।

इस अध्ययन के अनेक सूक्त अमर वाक्य की तरह त्रैकालिक सत्य का उद्घोष करते हैं। जैसे—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ।[2]

मुनि द्वारा व्यक्त धन-परिजन आदि की अशरणता, अनाथता, और आत्मा ही अपना नाथ होने की अनुभव सिद्ध घोषणा पर यदि हम चिन्तन करें तो सहज ही हमारी बाह्य दृष्टि अन्तर की ओर मुड़ सकती है।

इस अध्ययन में आई अनेक गाथाएं धम्मपद के साथ शब्दशः मिलती है।

२१. समुद्रपालीय : कर्म-विपाक चिन्तन

इस अध्ययन में 'समुद्रपाल' नामक एक समुद्र यात्री की मुख्य पात्रता होने के कारण अध्ययन का नाम भी 'समुद्रपालीय' प्रसिद्ध हो गया। कभी-

---

१ देखिए इसी पुस्तक में पृष्ठ ३२५ से ३२७ पर गाथा ११ से २३ तथा पृष्ठ ३३८ से ३५०।

२ अत्ता हि अत्तनो नाथो कोहि नाथो परो सिया।
अत्तना व सुदन्तेन, नाथं लभति दुल्लभं॥ —धम्मपद १२/४

कभी छोटी से छोटी घटना भी किस प्रकार प्रेरणा-प्रदीप बन जाती है, यह इस कथासूत्र से स्पष्ट होता है। वध्य भूमि की ओर जाते हुए एक अपराधी (चोर) पुरुष को देखकर समुद्रपाल के अन्तःकरण की गहराई में संवेग का दीपक जल उठा, इसके दिव्य आलोक में वह स्वयं को, अपने जीवन को और कर्म-विपाक से दुःखी जीव-लोक को देखकर जागृत हो जाता है, और तत्काल ही माता-पिता की अनुमति लेकर वह दीक्षित हो जाता है। दीक्षा लेकर बड़ी सजगता के साथ वह चारित्र का पालन करता है, दृढ़तापूर्वक परीषहों को सहता है और प्रिय-अप्रिय संयोगों में समभाव रखते हुए अन्त में समस्त कर्मों का क्षय करके समुद्रपाल भव-समुद्र को पार कर जाता है।

कर्म-विपाक का चिन्तन एवं संयम में जागरूकता यही इस अध्ययन का मुख्य सन्देश है।

२२. रथनेमीय अध्ययन

इस अध्ययन में मुख्य पात्र तीन हैं—भगवान अरिष्टनेमि, राजीमती तथा भगवान का लघु बांधव रथनेमी। रथनेमी का प्रसंग ही मुख्य होने के कारण इस अध्ययन का नाम—'रथनेमीय' रखा जाना उपयुक्त ही है। अध्ययन के प्रारंभ में करुणावतार अरिष्टनेमि के विवाह का रोचक प्रसंग है और फिर करुणा-जनित संवेग से प्रेरित अरिष्टनेमि मूक जीवों की हिंसा में स्वयं को निमित्त न बनने देने का दृढ़ संकल्प लेकर विवाह मण्डप से अविवाहित ही लौट जाते हैं और दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। 'जीव दया' के प्रसंग में यह घटना इतिहास का प्रकाश स्तंभ है। जीव-रक्षा के लिए मनुष्य अपने समस्त भौतिक सुखों का बलिदान कर सकता है। यह महान प्रेरणा इस अध्ययन से स्फुरित होती है।

अध्ययन का उत्तरार्ध वैराग्य-रस में रंजित है। राजीमती के रूप पर मोहित रथनेमी का मन मातंग जब पथभ्रष्ट होने लगता है तो मधुर भाषिणी राजीमती वचन रूपी अंकुश से उसको ऐसा वश में लाती है कि उसका सब मोह-मद उतर जाता है और वह धर्म पथ पर पुनः आरूढ़ होकर आत्म-कल्याण साध लेता है। इसलिए तो शास्त्रकार ने कहा है—

अंकुसेण जहा नागो धम्मे संप्पडिवाइओ

—उस संयता साध्वी के सुभाषित वचनों को सुनकर वह रथनेमी धर्म में पुनः वैसे ही सुस्थिर हो गया जैसे अंकुश से हाथी अपने आप में आ जाता है।

भगवान अरिष्टनेमि की करुणाशीलता, राजीमती का सच्चा अनुराग और प्रतिबोध-कुशलता एवं रथनेमी का पुनः जागृत होने का विवेक इस अध्ययन की स्मरणीय विशेषताएं हैं।

'इस प्रकार प्रस्तुत पुस्तक में ११ वें अध्ययन से २२ वें अध्ययन तक का संकलन किया गया है। इससे आगे के अध्ययन तृतीय भाग में प्रस्तुत किये जा सकेंगे।

इन १२ अध्ययनों की संक्षिप्त परिक्रमा करने पर यह स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि प्रत्येक अध्ययन में कुछ नवीन प्रेरणा, जागृति, उद्बोधन और मनुष्य के अन्तःकरण को स्पर्श करने वाले ऐसे मार्मिक प्रसंग हैं कि यदि स्वाध्यायी मन लगाकर इनका स्वाध्याय करे, इनकी भावना में एक रस हो जाये तो निश्चित ही वह उस अपूर्व आनन्द एवं विलक्षण संवेग-निर्वेद की अनुभूति कर सकेगा जिसकी भूख उसे जन्म जन्मान्तरों से रही है। इस सूत्र की हर गाथा एक नये चिन्तन को अंकुरित करेगी और भाव-विशुद्धि का वृक्ष धीरे-धीरे पल्लवित होने लगेगा—ऐसा हमारा विश्वास है।

प्रस्तुत संकलन

परम श्रद्धेय समत्व की प्रतिमूर्ति, तितिक्षा और अन्तर्वीक्षा के जीवंत रूप, युगपुरुष आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज के मार्गदर्शन में यह संकलन-संपादन किया गया है। आचार्य श्री की भावना थी कि मूल गाथा के साथ उसकी संस्कृत छाया होने से गाथा का अर्थबोध बहुत सहज हो जाता है। अन्वयार्थ होने से स्वाध्यायी प्रत्येक शब्द का अर्थ समझ सकेगा, अर्थ समझने से उसे आगम के वास्तविक आनन्द की अनुभूति होगी और तभी उसका आगम-पाठ सार्थक होगा। जो स्वयं अर्थ का ज्ञाता होगा वह दूसरों को भी समझा सकेगा, इस प्रकार आगम स्वाध्याय के प्रति सहज ही जनरुचि बढ़ेगी और पाठकों को उसमें आनन्द भी आयेगा।

अन्वयार्थ के साथ पद्यानुवाद भी लिया गया है। इसके पीछे एक मुख्य दृष्टि है—जनता में आगम का वाचन करने वाले श्रमण, श्रमणी, स्वाध्यायी, सद्गृहस्थ पद्य को गाकर भी सुना सकते हैं। संगीत की मधुरिमा का योग होने से आगम-श्रोताओं में अधिक तन्मयता बढ़ेगी। वक्ता और श्रोता दोनों ही आगम-संगीत में सम्मिलित होकर एकरसता का अनुभव करेंगे। यह अनुभूत प्रयोग अनेक जगह सफल रहा है, इसलिए आचार्य श्री की प्रेरणा से इस सम्पूर्ण सूत्र का पद्यानुवाद स्व० पं० शशिकान्त जी झा ने किया था। वे आचार्यश्री के प्रति अत्यन्त समर्पित विद्वान थे। उनकी कविता में सरसता है, लयबद्धता है।

मूल गाथाओं का भावार्थ देने के पश्चात् भी जहां-जहां विशिष्ट-क्लिष्ट शब्दों के विवेचन की आवश्यकता प्रतीत हुई, वहां श्री शान्त्याचार्य कृत बृहद् वृत्ति, आचार्य नेमिचन्द्र कृत चूर्णि के आधार पर शब्द-विवेचन, भाव-विश्लेषण एवं विशिष्टार्थ करने का प्रयास किया गया है। आचार्यों ने एक ही शब्द के अनेक अर्थों को ध्यान में रखकर कहीं-कहीं पर एक एक शब्द के दो-तीन-चार अर्थ किये हैं। ऐसे अर्थों से उसमें निहित अनेक भाव-संभावनाएं प्रकट होती हैं, जिससे पाठक को हार्द समझने में सुविधा रहती है।

आचार्य श्री की प्रेरणा एवं मार्गदर्शन से मैंने यह सम्पादन किया है, जिसे स्वयं आचार्य श्री ने बहुत ही सूक्ष्मता के साथ पढ़ा है, परिष्कृत किया है, परिवर्तित एवं परिवर्धित भी किया है। उनकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरीक्षण-कुशलता देखकर आश्चर्य होता है। अपनी सुदृढ़ प्रचण्ड धारणाशक्ति के बल पर आचार्यश्री प्रत्येक शब्द के अर्थ और भाव को आगमानुकूल स्वरूप में रखने का प्रयास करते हैं, जो हम सबके लिए बहुत ही लाभप्रद है।

यद्यपि इस सम्पादन में आशातीत विलम्ब हो गया जिसके लिए क्षमा-याचना करने के सिवाय अन्य कोई चारा नहीं है, किन्तु फिर भी मैं आशा करता हूँ परम श्रद्धेय आचार्य श्री के मार्गदर्शन में तैयार हुआ यह संस्करण स्वाध्यायी जनों के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगा।

३० जून, आगरा —श्रीचन्द सुराना 'सरस'

□□

शुद्धि पत्र

पृष्ठ-संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
१६	२४	अश्वरूढ़	अश्वारूढ़
१७	६	अपरिचित	अपरिमित
१६	७	नियाणपवरे	मिथाणपवरे
२१	१५	लन्धि	लब्धि
२५	३	किसानों व्या-	किसानों व्यापा-
२६	६	व्यन्तरगति	व्यन्तरजाति
३५	१६	से ही से	से ही
४४	२	होते	होंगे
४४	२०	अन्तट्ठियं	अत्तट्ठियं
४४	३०	उदेय	आदेय
४५	२६	एकया	एतया
४६	४	आराधना	आराधन
४७	२६	जाई	जाइ
४६	२३	समझातो	समझा होता तो
५१	२६	लाहित्थ	लहित्थ
५२	१७	एवं	एयं
५७		ही लयता	हीलयता ऽ
६१	१२	विध्यथ	वाध्यथ
६१	१४	वहेत्	दहेत्
६१	२६	घोरपक्कमों	घोरपरक्कमो
६१	२७	भिक्खुप	भिक्खुयं
६१	३०	साथकर	साथ आकर
६२	६	युवित	युक्त
६३	१८	निग्गह	निग्गय
६६	२१	आकाशे	आकाशेऽहो
७१	१६	क्रियाओं पे	क्रियाओं से
७७	२७	स्त्रोआ	सुवा
८८	१३	विज्ञान	विमान

अनुक्रम

□□

है। तदनन्तर बहुश्रुतता की प्राप्ति में प्रमुख बाधक—अविनीतता के १४ और साधक—सुविनीतता के १५ लक्षण दिये गये हैं। इसके पश्चात् बहुश्रुत बनने के लिए शिक्षा प्राप्त करने योग्य गुणों का उल्लेख १४ वीं गाथा में किया गया है।

इसके पश्चात् बहुश्रुत की निर्मलता, गतिप्रधानता, पराक्रम, बल, धैर्य, साहस, समस्याओं से जूझने की शक्ति, ऋद्धि, वैभव, तेजस्विता, सौम्यता, गुणपूर्णता, धारणाशक्ति, प्रधानता, मोक्षगामिता, विशालता, महत्ता एवं गम्भीरता आदि विशेषताओं को व्यक्त करने के लिए शंख, काम्बोज अश्व, हाथी, वृषभ, सिंह, वासुदेव, चक्रवर्ती, इन्द्र, सूर्य, चन्द्र, कोठार, जम्बू-वृक्ष, शीता नदी, मंदराचल एवं स्वयम्भूरमण समुद्र की उपमा दी गई है।

अन्त में, बहुश्रुत के प्रमुख गुणों का उल्लेख करते हुए बहुश्रुतता की फलश्रुति का मोक्ष प्राप्ति के रूप में उल्लेख किया है, और तीन कारण बताते हुए बहुश्रुत बनने की प्रबल प्रेरणा दी गई है।

कुल मिला कर बहुश्रुत-पूज्यता या बहुश्रुतत्व की आराधना का क्रमशः बहुत ही सुन्दर निरूपण इस अध्ययन में किया गया है।

● ●

अणिग्गहे—इन्द्रिय और मन के निग्रह से रहित है, **अभिक्खणं**—बार-बार **उल्लवइ**—उल्लाप=असम्बद्ध बोलता है, **अ**—और **अविणीए**—विनय-धर्म से रहित है, (वह) **अबहुस्सुए**—अबहुश्रुत है।

भावार्थ—जो साधक शास्त्राध्ययन से रहित है, तथा शास्त्रों का अध्ययन किया हुआ होने पर भी यदि अभिमानी है, जिह्वालोलुप है, अजितेन्द्रिय है, तथा बार-बार जो विना विचारे असम्बद्ध-बकवाद करता है (अथवा क्लेश करता है) वह अविनीत है, अतएव बहुश्रुत नहीं होता है। (जिसमें इन लक्षणों से विपरीत लक्षण हों, वह बहुश्रुत कहलाता है।)

शिक्षा प्राप्ति में बाधक पांच कारण—

मूल—अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई।
थम्भा कोहा पमाएणं, रोगेणालस्सएण य ॥३॥

छाया—अथ पञ्चभिः स्थानैः, यैः शिक्षा न लभ्यते।
स्तम्भात् क्रोधात् प्रमादेन, रोगेणालस्यकेन च ॥३॥

पद्यानुवाद—जिन पांचों कारण से नरको, शिक्षा की प्राप्ति न हो पाये।
वे हैं आलस्य प्रमाद क्रोध, और रोग मान मन अकुलाये ॥३॥

अन्वयार्थ—**जेहिं पंचहिं ठाणेहिं**—जिन पाँच कारणों (स्थानों) से, (शिष्य) **सिक्खा**—शिक्षा, **न लब्भइ**—प्राप्त नहीं कर पाता, **अह**—वे पांच ये हैं—**थम्भा**—१. अभिमान से, **कोहा**—२. क्रोध से **पमाएण**—३. प्रमाद से, **रोगेण**—४. रोग से, **य**—और **आलस्सएण**—५ आलस्य से।

भावार्थ—पांच कारणों से शिक्षा की प्राप्ति नहीं होती, (उन स्थानों से अबहुश्रतता प्राप्त होती है।) वे पांच कारण ये हैं—अभिमान, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य।

विशेषार्थ—प्रस्तुत गाथा में बतलाया गया है कि शिष्य निम्न ५ कारणों से शिक्षा प्राप्त नहीं कर पाता जैसे—१. जाति, कुल आदि में से किसी प्रकार का गर्व रखने से, २. क्रोध से, ३. मद्य, विषय, कषाय, निद्रा, विकथा आदि प्रमाद में लीन होने से, शरीर बार-बार रोगग्रस्त होने से और ५. आलस्य की अधिकता से। इन कारणों से शिक्षार्थी चाह कर भी गुरुजनों से शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता।

यहाँ पर शिक्षा शब्द का अर्थ लौकिक विद्या ही नहीं अपितु ग्रहणा और आसेवना शिक्षा इष्ट है, जब शिक्षा प्राप्त नहीं होगी तो वह बहुश्रुत

अविनीत के चौदह लक्षण :

मूल—अह चउद्दसहिं ठाणेहिं, वट्टमाणे उ संजए।
अविणीए वुच्चई सो उ, निव्वाणं च न गच्छइ ॥६॥

अभिक्खणं कोही हवइ, पबंधं च पकुव्वई।
मेत्तिज्जमाणो वमइ, सुयं लद्धूण मज्जई ॥७॥

अवि पावपरिक्खेवी, अवि मित्तेसु कुप्पई।
सुप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे भासइ पावगं ॥८॥

पइण्णवाई दुहिले, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
असंविभागी अचियत्ते[1], अविणीए त्ति वुच्चई ॥९॥

छाया—अथ चतुर्दशसु स्थानेषु, वर्त्तमानस्तु संयतः।
अविनीत उच्यते, स तु, निर्वाणं च न गच्छति ॥६॥
अभीक्ष्णं क्रोधी भवति, प्रबन्धं च प्रकरोति।
मित्रीय्यमाणो वमति, श्रुतं लब्ध्वा माद्यति ॥७॥
अपि पाप-परिक्षेपी, अपि मित्रेभ्यः कुप्यति।
सुप्रियस्यापि मित्रस्य, रहसि भाषते पापकम् ॥८॥
प्रकीर्णवादी द्रोहशीलः, स्तब्धो लुब्धोऽनिग्रहः।
असंविभाग्यप्रीतिकरः, अविनीत इत्युच्यते ॥९॥

पद्यानुवाद—चौदह स्थानों में वर्त्तमान मुनि, विनयहीन है कहलाता।
अपने ही दोषों के कारण, वह मुक्त नहीं है हो पाता ॥६॥
करता जो बार बार क्रोध, या क्रोध टिका कर रखता है।
ठुकराता प्रेमी की मैत्री, श्रुत पा कर जो मद करता है ॥७॥
अपमान करे जो परत्रुटि पर, जो मित्रों पर भी क्रोध करे।
प्रिय मित्रजनों का भी जग में, एकान्त पाप का कथन करे ॥८॥
जो असम्बद्धभाषी द्रोही, दर्पी लोभी मन-अनुगामी।
संभागरहित अप्रीतिपात्र, अविनीत न होता शुभकामी ॥९॥

---

१. पाठान्तर—अवियत्ते
तुलना करें—योगदर्शन १।३० में व्याधि, संशय, मद, आलस्य, अविरति, असंयम भ्रान्ति, चंचलता आदि चित्त विक्षेपों को योग मार्ग के अन्तराय बताये हैं।

वट्टमाणे : दो अर्थ—(१) वर्तमान—प्रवृत्त, (२) स्थित रहा हुआ।

निव्वाणं न गच्छइ : दो अर्थ—(१) मोक्ष को प्राप्त नहीं करता (२) परमशान्ति नहीं पाता। अविनीत को शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ?

पबंधं च पकुव्वइ : पांच अर्थ—(१) प्रबन्ध=क्रोध की वृद्धि करता है। कुपित होने पर कोमल वचनों से समझाने पर भी क्रोध नहीं छोड़ता।

(२) क्रोध को लम्बे समय तक स्थिर रखता है,

(३) अविच्छिन्नरूप से क्रोध करता है ? अनेक प्रकार से शान्त करने पर भी शान्त नहीं होता।

(४) अपराध एवं दोष की गांठ बांध लेता है।[1]

(५) प्रबन्ध=अल्पसत्यकथन करता है।

मेत्तिज्जमाणो वमइ : अर्थ—(१) मित्रता का वमन—परित्याग कर देता है, प्रथम मित्रभाव करके बाद में तुरन्त मित्रता तोड़ देता है।

(२) दूसरा साधर्मिक साधु उसके साथ मित्रता करता है, फिर भी वह उसके साथ मैत्री का झटपट त्याग कर देता है।[2]

पइण्णवाई : तीन भावार्थ—(१) असम्बद्धभाषी, (२) मैं कहता हूँ, ऐसा ही है, इस प्रकार की निश्चित भाषा बोलने वाला, (३) अधिक बोलने वाला।

सुविनीत के पन्द्रह लक्षण—

मूल—अह पन्नरसहिं ठाणेहिं, सुविणीए त्ति वुच्चई।
नीयावत्ती अचवले, अमाई अकुऊहले ॥१०॥

अप्पं च अहिक्खिवइ, पबंधं च न कुव्वई।
मेत्तिज्जमाणो भयई, सुयं लद्धुं न मज्जई ॥११॥

न य पाव-परिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पई।
अप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासई ॥१२॥

कलह-डमर-वज्जए, बुद्धे अभिजाइए।
हिरिमं पडिसंलीणे, सुविणीए त्ति वुच्चई ॥१३॥

---

१. उत्तरा. बृहद्वृत्ति, पत्र ३४६ २. वही, पत्र ३४६

छाया—अथ पंचदशभिः स्थानैः सुविनीत इत्युच्यते।
नीचवर्त्यचपलः अमाय्यकुतूहलः ॥१०॥
अल्पं चाधिक्षिपति, प्रवन्धं च न करोति।
मित्रीय्यमणो भजते, श्रुतं लब्ध्वा न माद्यति ॥११॥
न च पाप-परिक्षेपी, न च मित्रेभ्यः कुप्यति।
अप्रियस्यापि मित्रस्य, रहसि कल्याणं भापते ॥१२॥
कलह-डमर-वर्जकः, बुद्धोऽभिजातिगः।
ह्रीमान् प्रतिसंलीनः, सुविनीत इत्युच्यते ॥१३॥

पद्यानुवाद—पन्द्रह सद्गुण के धारण से, सुविनीत मनुज कहलाता है।
जो नम्र अचंचल कपटहीन, मन में न कुतूहल लाता है ॥१०॥
हो क्रोध अल्प करने वाला, रखता न टिका कर क्रोध कभी।
होता कृतज्ञ मित्रों के प्रति, मद करे न जो श्रुत पाकर भी ॥११॥
त्रुटि पर न करे निन्दा पर की, मित्रों पर क्रोध नहीं करता।
जो अप्रिय मित्रजनों का भी, पीछे से हितकर की कहता ॥१२॥
जो कलह/युद्ध का वर्जक है, तत्वज्ञ कुलीन कहाता है।
इन्द्रिय-मन-गोपक लज्जालु, सुविनीत वही कहलाता है ॥१३॥

अन्वयार्थ—**अह**—अब, **पन्नरसहिं ठाणेहिं**—पन्द्रह स्थानों से (साधक), **सुविणीएत्ति**—सुविनीत, **वुच्चई**—कहलाता है (जो इस प्रकार है) **नीयावत्ती**—गुरु से नीचा (अनुद्धत—नम्र) होकर रहने वाला, **अचवले**—चपलता से रहित, **अमाई**—माया=कपट से रहित, **अकुऊहले**—कुतूहल रहित हो, ॥१०॥

च—और, **अप्पं अहिक्खिवइ**—जो किसी की भी निन्दा (या तिरस्कार) नहीं करता, **पवंधं च**—तथा क्रोध को लम्बे समय तक बांधकर, **न कुव्वइ**—नहीं रखता। **मेत्तिज्जमाणो**—मैत्री करने वालों के साथ, **भयइ**—कृतज्ञ भाव रखता है, **सुयं**—श्रुत (शास्त्रज्ञान) **लद्धुं**—पाकर, **न मज्जई**—मद नहीं करता ॥११॥

य—और, **पाव-परिक्खेवी**—आचार्य आदि की स्खलना कहने वाला/निन्दा करने वाला, **न**—न हो **य**—तथा, **मित्तेसु**—(मित्रों हितैषियों) पर (उनका अपराध हो, तो भी), **न कुप्पई**—कोप नहीं करता। **अप्पियस्स**—अप्रिय अपि **मित्तस्स**—मित्र के लिए भी, **रहे**—एकान्त में, **कल्लाण**—कल्याणरूप हितकारी अच्छा, **भासई**—बोलता है ॥१२॥

(जो) **कलह-डमर-वज्जए**—(कलह-वाणी से झगड़ा और हथियारों की लड़ाई से रहित हो, **वुद्धे**—बुद्धिमान हो, **अभिजाईए**—कुलीन हो, **हिरिमं**—लज्जावान

पडिसंलीणे—प्रतिसंलीन, इन्द्रियों या अंगोंपागों का गापन करके रखने वाला, **सुविणीए त्ति**=सुविनीत, **वुच्चई**—कहलाता है ॥१३॥

भावार्थ—इन पन्द्रह गुणों (स्थानों) के होने से साधक सुविनीत कहलाता है। वे पन्द्रह गुण इस प्रकार है—(१) जो नम्र होकर रहता हो, (२) चपलता रहित हो, (३) कपटरहित हो, (४) कुतूहल से दूर हो, (५) दूसरों की स्खलना पर उनका तिरस्कार न करे, (६) कोप को हृदय में धारण करके न रखता (दीर्घरोषी न) हो, (७) मित्रता पूरी तरह निभाने वाला हो, (८) शास्त्रज्ञान पाकर जो अभिमान न करे, (९) जो आचार्य आदि के छिन्द्रान्वेषण के स्वभाव से रहित हो, (१०) जो अपराध होने पर भी अपने मित्रों/हितैषियों पर कुपित न हो, (११) जो अपने अप्रिय मित्रों की भी परोक्ष में प्रशंसा करता हो (१२) जो मेधावी साधु वाक्कलह और युद्ध से रहित हो, (१३) जो कुलीनता के गुणों को प्राप्त हो, (१४) अनुचित कार्यों के करने में लज्जालु हो, और (१५) इन्द्रियों और मन से अनावश्यक चेष्टा न करने वाला हो, ऐसा साधक सुविनीत कहलाता है।

विवेचन—नीयावत्ती : नीचवृत्ती का अभिप्राय है, जो शिष्य अपने गुरु की शय्या और आसान से सदा नीचे बैठने वाला हो। जैसे कि दशवैकालिक सूत्र में कहा है—

नीअं सिज्जं गइं ठाणं, नीअं च आसणाणि य।
नीअं च पाए वंदिज्जा, नीअं कुज्जा य अंजलिं ॥ ९/२/१७

अर्थात् विनीत शिष्य अपने गुरु से नीची शय्या रखे, चलते समय उनके पीछे पीछे चले, गुरु के स्थान से अपना स्थान नीचा रखे यानी नम्र होकर खड़ा रहे, उनके आसन से अपना आसन नीचा रखे, नीचे झुककर चरण वन्दना करे, और नीचे झुककर अंजलि करे (हाथ जोड़े)।

अचवले : अचपल:—चपल के चार प्रकार हैं (१) गति-चपल (२) स्थान-चपल, (३) भाषा-चपल और (४) भाव-चपल। गति-चपल का अर्थ है—जल्दी-जल्दी चलने वाला। स्थान-चपल का अर्थ है बैठे-बैठे भी हाथ पैर आदि अंगों को बरावर हिलाने वाला। भाषा-चपल के चार भेद हैं—असत्य भाषा-चपल, असभ्य-भाषा-चपल, असमीक्ष्य-भाषा-चपल और अदेश-काल भाषा-चपल। भावचपल=एक सूत्र या अर्थ के पूर्ण होने से पहले ही दूसरे सूत्र या अर्थ को ग्रहण करने की भावना वाला।

अमाई : अमायी—**विशेषार्थ**—जो मायारहित हो, अर्थात्-मनोज्ञ आहारादि प्राप्त होने पर आचार्यादि से किसी प्रकार की वंचना न करता हो।

भावार्थ—जो सदा गुरुजनों के सान्निध्य में निवास करता है, जो साधुधर्म के प्रवृत्ति रूप प्रशस्त योगों में स्थित है। अंगोपांगादि शास्त्रों के अध्ययन एवं आराधना में, आचाम्ल आदि विशिष्ट तप करने वाला हो, जो गुरुजनों के लिए प्रिय कार्य करने वाला तथा तथा प्रिय बोलने वाला हो, वही शिक्षा प्राप्त करने के योग्य होता है।

विवेचन—गुरुकुलवास का अभिप्राय—गुरुजनों के कुल=गच्छ में, रहना गुरुकुल वास है। यहाँ उपलक्षण से गुरुकुल वास का अर्थ है गुरु की आज्ञा में रहना। अभिप्राय यह है कि जो यावज्जीवन गुरु आज्ञा में रहे। चूर्णिकार के (पृ. १९८) के अनुसार आचार्य के समीप रहना भी गुरुकुल-वास है।

जोगवं: योगवान: तीन अर्थ—(१) योग—मन, वचन, काया के व्यापार को कहते हैं। प्रस्तुत में योगवान का अर्थ होता है जो धर्म व्यापार रूप प्रशस्त योग में दृढ़ हो, (२) योग=समाधि से युक्त अथवा (३) यम नियमादि अष्टांग योगनिष्ठ हो। **उवहाणवं**=उपधानवान-शास्त्राध्ययन से सम्बन्धित आयम्बिल, निर्विकृतिक आदि तपोविशेष को उपधान कहते हैं, ऐसे उपधान में रत हो, वह उपधानवान् कहलाता है।

बहुश्रुत की विशेषताएं : सत्रह उपमाएं

बहुश्रुत की निर्मलता : शंख की उपमा

मूल—जहा संखम्मि पयं, निहियं दुहओ 'वि' विरायइ।
एवं बहुस्सुए भिक्खू, धम्मो कित्ती तहा सुयं ॥१५॥

छाया—यथा शंखे पयोनिहितं, द्विधाऽपि विराजते।
एवं बहुश्रुते भिक्षौ धर्मः कीर्तिस्तथा श्रुतम् ॥१५॥

पद्यानुवाद—जिस भांति शंख में रहा दूध, है उभयरूप शोभाधारी।
वैसे बहुश्रुत मुनियों में, है धर्म कीर्ति श्रुत सुखकारी ॥१५॥

अन्वयार्थ—**जहा**—जिस प्रकार, **संखम्मि**—शंख में, **निहियं**—निहित भरा हुआ, **पयं**—दूध **दुहओ वि**—(अपने और अपने आधार के गुणों के कारण) दोनों ओर से, **विरायइ**—शोभा पाता है, **एवं**—इसी प्रकार, **बहुस्सुए भिक्खू**—बहुश्रुतभिक्षु में, **धम्मो**—धर्म, **कित्ती**—कीर्ति, **तहा**—तथा, **सुयं**—श्रुत (शोभा पाते हैं।)

भावार्थ—जिस प्रकार शंख में रखा हुआ दूध अपने एवं आधार के गुणों से अधिक शोभित होता है, वैसे बहुश्रुत भिक्षु में धर्म, कीर्ति और

श्रुत दोनों ओर से यानी अपने एवं आधार गुणों के कारण से सुशोभित होते हैं।

विवेचन—बहुश्रुत के तीन अर्थ—(१) बहुत प्रकार से अंग बाह्य, अंगप्रविष्ट आदि आगमों में विशारद। (२) प्रचुर शास्त्रों का सूत्र, अर्थ और उभय रूप से जिसका अच्छा अध्ययन हो, (३) जिसे प्रचुर श्रुतज्ञान हो।

शंख से उपमित बहुश्रुत—शंख में डाला हुआ दूध कुछ विशिष्ट शोभा को प्राप्त कर लेता है, क्योंकि एक तो दूध स्वतः उज्ज्वल और धवल होता है फिर शंख में डालने से शंख की उज्ज्वलता और धवलता भी उसके साथ साथ मिल जाती है, अर्थात् शंख और दूध दोनों एक-दूसरे की उज्ज्वलता और धवलता को ग्रहण करते हुए विलक्षणरूप से ही सुशोभित होता है इसी प्रकार बहुश्रुत भिक्षु (के आश्रय विशेष) में रहे हुए धर्म, कीर्ति और श्रुत (ज्ञान) स्वतः ही उज्ज्वलता और पवित्रता से प्रतिभासित होते हैं अर्थात् आधार और आधेय दोनों शुद्ध होने से दोनों अन्य साधारण की अपेक्षा विलक्षण शोभा पाते हैं। तथा जिस प्रकार शंख में रखा हुआ दूध न तो कलुषित (मलीन) या विकृत होता है, न हो खट्टा होता है, और न ही उसमें से रिसता है, इसी प्रकार बहुश्रुत में निहित धर्म, कीर्ति और श्रुत तीनों की किसी प्रकार से विकृति या क्षति नहीं होती उनकी निर्मलता बनी रहती है। (उत्तरा. चूर्णि पृ० १९८ बृहद्वृत्ति पत्र ३४८ के आधार पर)

बहुश्रुत की गति-प्रधानता आकीर्ण अश्व की उपमा—

मूल—जहा से कम्बोयाणं आइण्णे कन्थए सिया।
आसे जवेण पवरे, एवं हवइ बहुस्सुए ॥१६॥

छाया—यथा स कम्बोजानां, आकीर्णः कन्थकः स्यात्।
अश्वो जवेन प्रवरः, एवं भवति बहुश्रुतः ॥१६॥

पद्यानुवाद—जैसे कम्बोजी अश्वों में, गुणशील युत कन्थक होता।
वह गति से श्रेष्ठ कहाता है, वैसे मुनि में बहुश्रुत होता ॥१६॥

अन्वयार्थ—जहा—जिस प्रकार, से—वह, कंबोयाण—कम्बोज देश में उत्पन्न घोड़ों में, आइण्णे—आकीर्ण=शीलादि गुणों से युक्त, कंथए—कंथक=प्रधान, आसे—अश्व, सिया—होता है, (जो) जवेण—गति या वेग से, पवरे—प्रधान (श्रेष्ठ) (होता है।) एवं—इसी प्रकार का, बहुस्सुए—बहुश्रुत, हवइ—होता है।

भावार्थ—जैसे कम्बोज देश में उत्पन्न घोड़ों में शीलादि गुणों से युक्त

वह कन्थक जाति का घोड़ा जातिमान् और वेग में श्रेष्ठ होता है, इसी प्रकार मुनियों में बहुश्रुत भिक्षु श्रेष्ठ होता है।

विवेचन—काम्बोजी कन्थक घोड़े से उपमित बहुश्रुत—कम्बोज देशोत्पन्न कन्थक जाति का अश्व तीन गुणों के कारण श्रेष्ठ माना जाता है—(१) अश्व जाति के लिए उपयुक्त तथा प्रसिद्ध कम्बोज देश में उत्पन्न होने से (२) शीलादि अनेक गुणों से व्याप्त होने से तथा (३) चलने में अत्यन्त फुर्तीला (वेगवान होने से)। इसी प्रकार बहुश्रुत साधक भी तीन मुख्य गुणों के कारण मुनियों में श्रेष्ठ कहलाता है। यथा (१) आत्म-साधना के लिए सर्वथा अनुकूल जैन शासन में, अथवा शुद्ध मातृ-पितृपक्ष में उत्पन्न होने से, (२) सम्यक् आचार (विनय, शील, तप संयम आदि) के गुणों से युक्त होने से तथा (३) ज्ञान और क्रिया में प्रखर गतिवान होने से।

कंथक जाति के घोड़े की यह विशेषता है कि वह शुद्ध माता-पिता से जन्मा होने से सम्यक् शीलवाला तथा शालिहोत्र नामक अश्व शास्त्र में उक्त स्वामी भक्ति आदि गुणों से युक्त होता है, छोटे-छोटे पत्थर के टुकड़ों से भरी हुई थैलियां उसके आगे फैंकी जाने पर उनकी या वाजों की आवाज से जरा भी भड़कता नहीं, पथरीले मार्ग में भी अस्खलित गति से चलता है, अथवा शस्त्रादि का प्रहार होता हो तो भी निर्भय होकर आगे बढता है, तथा वह सम्यक् गति करने में भी वेगवान होता है और अश्वों में श्रेष्ठ होने से वह राजा आदि को प्रिय होता है। इसी प्रकार बहुश्रुत भी अनेक उपसर्ग परीषह आने पर जरा भी भड़कता नहीं, अपने संयम मार्ग पर अस्खलित गति करता है, परवादियों और प्रवादों से भयभीत नहीं होता, तथा ज्ञान और क्रिया से युक्त होने से बहुश्रुत भी सर्वजन प्रिय होता है और मुनियों में प्रधान होता है।

बहुश्रुत का पराक्रम : अश्व-रूढ़शूरवीर की उपमा

मूल—जहा ऽऽइण्ण-समारूढे, सूरे दढपरक्कमे।
उभओ नन्दिघोसेणं, एवं हवइ बहुस्सुए ॥१७॥

छाया—यथाऽऽकीर्णसमारूढ़ः, सूरोदृढ़पराक्रमः।
उभयतो नन्दि-घोषेण, एवं भवति बहुश्रुतः ॥१७॥

पद्यानुवाद—ज्यों जातिमन्त अश्वारोही, अतिशूर अटल पौरुषधारी।
युग-पार्श्व वाद्य से वह शोभित, होता बहुश्रुत यों आचारी।१७॥

अन्वयार्थ—जहा—जैसे, **आइण्ण-समारूढे**—आकीर्ण (जातिमान) घोड़े पर चढ़ा

हुआ, दढ़परक्कमे—दृढ़ पराक्रमी, सूरे—शूरवीर, योद्धा, उभओ—दोनों ओर के, नंदिघोसेणं—नन्दीघोष से सुशोभित होता है, एवं—इसीप्रकार बहुस्सुए—बहुश्रुत (भी सुशोभित), हवइ—होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार जातिमान् घोड़े पर चढ़ा हुआ दृढ़ पराक्रमी वीर योद्धा अपने दोनों तरफ (अगल बगल में या आगे पीछे) होने वाले विजयवाद्यों के घोषों से (या जय-जयकारों से) सुशोभित होता है वैसे ही बहुश्रुत भी मुनियों के बीच स्वाध्याय-घोष से सुशोभित होता है।

विवेचन—अश्वारूढ़ योद्धा से उपमित बहुश्रुत—जैसे वेग आदि गुण सम्पन्न विशिष्ट जाति के घोड़े पर चढ़ा स्थिर उत्साह वाला अपरिचित दृढ़ पराक्रमी योद्धा के दोनों ओर नन्दी (बारह प्रकार के वाद्यों का) घोष या विशिष्ट जयध्वनि के शब्दों से सुशोभित तथा विजयी होता है, इसी प्रकार बहुश्रुत साधु भी जिन-प्रवचन रूप अश्व पर चढ़ा हुआ गर्विष्ट वादियों के वचनों से जरा भी नहीं घबराने के कारण परवादियों को जीतने में समर्थ, दृढ़ पराक्रमी बहुश्रुतरूपी सुभट भी रात्रि-दिवस स्वाध्यायरूप नन्दीघोष अथवा अपने दोनों ओर शिष्यों के अध्ययन रूप नन्दीघोष एवं स्वपक्ष तथा परपक्ष के लोगों की जयध्वनि या आशीर्वचनों से प्रतिध्वनित होता हुआ सुशोभित होता है।

बहुश्रुत का बल : कुँजर की उपमा—

मूल—जहा करेणु-परिकिण्णे, कुँजरे सट्ठिहायणे।
बलवन्ते अप्पडिहए, एवं हवइ बहुस्सुए ॥१८॥

छाया—यथा करेणु-परिकीर्णः, कुञ्जरः षष्ठिहायनः।
बलवानप्रतिहतः, एवं भवति बहुश्रुतः ॥१८॥

पद्यानुवाद—ज्यों साठ वर्ष का तरुण करी, हथिनी दल से शोभित होता।
अपराजित बलशाली वैसे, बहुश्रुत मुनि में शोभा पाता ॥१८॥

अन्वयार्थ—जहा—जैसे, करेणु-परिकिण्णे—हथिनियों से घिरा हुआ, सट्ठि-हायणे—साठ वर्ष का, बलवंते—बलवान, कुंजरे—हाथी, अप्पडिहए—अप्रतिहत=किसी से भी अपराजित (अजेय) (होता है) एवं—वैसे ही, बहुस्सुए—बहुश्रुत (भी) हवइ—होता है ॥१८॥

भावार्थ—जैसे हथिनियों से घिरा हुआ, साठ वर्ष की वय का बलिष्ठ हाथी किसी से भी पराजित नहीं होता, वैसे ही बहुश्रुत मुनि भी किसी भी वादी से पराजित नहीं होता।

विवेचन—हस्ती से उपमित बहुश्रुत—साठ वर्ष तक हाथी का वल उत्तरोत्तर वढ़ता जाता है। अर्थात—साठ वर्ष का हाथी जवान माना जाता है। ऐसा साठ वर्ष की वय का हथिनियों के परिवार से घिरा हुआ हाथी स्थिरवल होता है।[1] वह प्रतिद्वन्द्वी हाथियों द्वारा पराजित नहीं होता, इसी प्रकार दीर्घकालिक दीक्षापर्याय में वहुश्रुत मुनि का नाना प्रकार की विद्याओं और शास्त्रों का अनुभवरूप वल भी उत्तरोत्तर वढ़ता जाता है, इसी दौरान शिष्य परिवार में भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। अतः औत्पातिकी आदि चार प्रकार की बुद्धियों से परिवृत साठ वर्षीय वहुश्रुत स्थविर शास्त्रार्थ में किसी भी प्रतिवादी से पराजित नहीं होता।

बहुश्रुत का धैर्य : वृषभ की उपमा—

मूल—जहा से तिक्खसिंगे, जायखन्धे विरायई।
वसहे जूहाहिवई, एवं हवइ बहुस्सुए ॥१९॥

छाया—यथा स तीक्ष्णश्रृंगः, जातस्कन्धो विराजते।
वृषभो यूथाधिपतिः, एवं भवति वहुश्रुतः ॥१९॥

पद्यानुवाद—ज्यों तीक्ष्ण श्रृंग और पुष्टस्कन्ध का,
वैल यूथ अधिपति होकर।
पाता शोभा इस धरती पर,
वैसे शोभे वहुश्रुत मुनिवर ॥१९॥

अन्वयार्थ—जहा—जैसे, **से**—वह, **तिक्खसिंगे**—तीक्ष्ण सींगों वाला (तथा) **जायखंधे**—उन्नत स्कन्ध वाला, **जूहाहिवई**—गोवर्ग का अधिपति, **वसहे**—वृषभ, **विरायई**—शोभा पाता है, **एवं**—इसी प्रकार, **बहुस्सुए**—वहुश्रुत भी, **हवइ**—होता (शोभा पाता) है ॥१९॥

भावार्थ—जैसे तीखे सींग और अतिपुष्ट स्कन्ध वाला वह वृषभ (वैल) गोवर्ग (गौ समूह) का अधिपति होकर सुशोभित होता है, इसी प्रकार वहुश्रुत मुनि भी साधु-समुदाय का अधिपति—आचार्य वनकर शोभा पाता है।

विवेचन—वलिष्ठ वृषभ से उपमित वहुश्रुत—जैसे तीक्ष्ण सींग एवं उन्नत स्कन्ध वाला वलिष्ठ वृषभ गायों के समुदाय का अधिपति होकर सुशोभित होता है, वैसे स्व-पर-समयरूप अथवा निश्चय—व्यवहाररूप या

---

१. षष्टि वर्षप्रमाणः तस्यहि एतावत् कालं यावत् प्रतिवर्ष वलोपचयः
—वृहद्वृत्ति, पत्र ३४९

ज्ञान-क्रिया-रूप दो तीक्ष्ण शृंगों से युक्त बहुश्रुत मुनि भी अपने गच्छ आदि के गुरुतर कार्य की धुरा को उठाने में समर्थ होने से बलिष्ठ स्कन्ध वाले माने जाते हैं। इसलिए वे भी चतुर्विध संघरूप यूथ—समुदाय के अधिपति—आचार्य होकर शोभायमान होते हैं।

बहुश्रुत को सिंह की उपमा—

मूल—जहा से तिक्ख-दाढे उदग्गे दुप्पहंसए ।
सीहे मियाणपवरे, एवं हवई बहुस्सुए ॥२०॥

छाया—यथा स तीक्ष्ण-दंष्ट्रः, उदग्रो दुष्प्रधर्षकः ।
सिंहो मृगाणां प्रवरः, एवं भवति बहुश्रुतः ॥२०॥

पद्यानुवाद—जैसे वह तीक्ष्ण दाढ़ वाला, पशु श्रेष्ठ सिंह इस धरती पर ।
अपराजित शूर तरुण होता, वैसे होते बहुश्रुत मुनिवर ॥२०॥

अन्वयार्थ—**जहा**—जैसे, **तिक्खदाढे**—तीक्ष्ण दाढ़ों वाला, **उदग्गे**—उत्कट युवा (एवं) **मियाणपवरे**—मृगों-पशुओं में प्रधान, **सीहे**—सिंह, **दुप्पहंसए**—दुष्पराजेय होता है, **एवं**—इसी प्रकार, **बहुस्सुए**—बहुश्रुत, **हवइ**—होता है ॥२०॥

भावार्थ—जैसे तीखी दाढ़ों वाला, युवा एवं पशुओं में श्रेष्ठ सिंह दुष्पराजेय=जीतना कठिन होता है, इसी प्रकार बहुश्रुत भी होता है।

विवेचन—सिंह से उपमित : बहुश्रुत मुनि—बहुश्रुत मुनि सिंह के समान उत्कट साहसी होता है, क्योंकि नैगमादि सात नय उसकी तीक्ष्ण दाढ़ों के समान है, तथा प्रतिभा आदि गुणों के कारण बहुश्रुत भी उदग्र (उत्कट) है। जिस प्रकार वन्यजीव सिंह का किसी प्रकार पराभव नहीं कर सकते, दुष्पराजेय होने से सभी जीव उससे भयभीत रहते हैं, उसी प्रकार अन्यतीर्थी रूपी वन्य पशु भी बहुश्रुत का किसी प्रकार से पराभव नहीं कर सकते, किन्तु स्वयं पराजित हो जाते हैं। क्योंकि उसके पास स्याद्वाद सिद्धान्त होता है, जिसकी अवहेलना कोई भी प्रतिवादी नहीं कर सकता। इसलिए बहुश्रुत भी सिंह के समान प्रबल साहसी, अधृष्य और अजेय है।

अनेक समस्याओं से जूझने की बहुश्रुत की शक्ति : वासुदेव की उपमा—

मूल—जहा से वासुदेवे, संख-चक्क-गदाधरे ।
अप्पडिहयबले जोहे, एवं हवइ बहुस्सुए ॥२१॥

छाया—यथा स वासुदेवः, शंख-चक्र-गदाधरः ।
अप्रतिहत—बलोयोधः, एवं भवति बहुश्रुतः ॥२१॥

पद्यानुवाद—ज्यों शंख-चक्र-गदाधारी, नारायण नर में शोभित है।
अपराजित योद्धा बलशाली, वैसे बहुश्रुत मुनिवर भी हैं ॥२१॥

अन्वयार्थ—**जहा**—जैसे, **से**—वह, **वासुदेवे**—वासुदेव, **संख-चक्क-गदा-धरे**—शंख, चक्र, गदा के धारी, **अप्पडिहय-बले**—अप्रतिहत बल वाला (और) **जोहे**—महायोद्धा होता है; **एवं**—ऐसा ही **बहुस्सुए**—बहुश्रुत, **हवइ**—होता है ॥२१॥

भावार्थ—जिस प्रकार शंख, चक्र और गदा के धारक वासुदेव अबाधित बली और महायोद्धा होता है, ठीक इसी प्रकार बहुश्रुत होता है।

विवेचन—वासुदेव से उपमितः बहुश्रुत—जिस प्रकार वासुदेव शंख, चक्र और गदा[1] से युक्त होता है, इसी प्रकार बहुश्रुत भी सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से युक्त होता है। वासुदेव अबाधित बलशाली होता है, वैसे ही बहुश्रुत भी अपने स्वाभाविक प्रतिभा बल से या अबाधित ज्ञान से सम्पन्न है। जैसे वासुदेव महायोद्धा होता है, इसी प्रकार बहुश्रुत महामुनि भी क्रोधादि कषाय रूपी, रागद्वेषरूपी या कर्मरूपी शत्रुओं से साहसपूर्वक जूझने वाला तथा विजय पाने वाला महायोद्धा है।

बहुश्रुत की ऋद्धि : चक्रवर्ती की उपमा—

मूल—जहा से चाउरन्ते, चक्कवट्टी महिड्ढिए।
चउदस-रयणाहिवई, एवं हवइ बहुस्सुए ॥२२॥

छाया—यथा स चतुरन्तः, चक्रवर्ती महर्द्धिकः।
चतुर्दश-रत्नाधिपतिः, एवं भवति बहुश्रुतः ॥२२॥

पद्यानुवाद—चतुरन्त चक्रवर्ती जैसे, होता है महा ऋद्धिशाली।
चौदह रत्नों का अधिकारी, त्यों होता बहुश्रुत सुखकारी ॥२२॥

अन्वयार्थ—**जहा**—जैसे, **चाउरंते**—चारों दिशाओं का अन्त-पर्यन्त राज्य करने वाला, **से**—वह, **चक्कवट्टी**—चक्रवर्ती, **महिड्ढिए**—महर्द्धिक (और) **चउदस-रयणाहिवई**—चौदह रत्नों का अधिपति-स्वामी, **हवइ**—होता है, **एवं**—इसी प्रकार, **बहुस्सुए**—बहुश्रुत साधक भी ऋद्धिमान (होता है।)

भावार्थ—जैसे चारों दिशाओं की सीमा पर्यन्त राज्य करने वाला महा ऋद्धिशाली चक्रवर्ती चौदह रत्नों का स्वामी होता है, वैसे ही बहुश्रुत साधक (भी चौदह पूर्व का अधिकारी होता है।)

---

१. शंख—पांचजन्य, चक्र—सुदर्शन, गदा—कौमोदकी   —बृहद्वृत्ति पत्र ३५०

विवेचन : चाउरंते=चतुरन्त : दो अर्थ—(१) चारों दिशाओं पर्यन्त राज्य करने वाला अर्थात् जिसका राज्य एक दिशा में हिमवान् पर्वत तथा तीन दिशाओं में समुद्र पर्यन्त फैला हो, अथवा (२) हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल, इन चार प्रकार के सैन्यांगों से शत्रु का अन्त (विनाश) करने वाला। (बृहद् वृत्ति पत्र ३५०)

चउदस-रयणाहिवई : व्याख्या—चक्रवर्ती चौदह रत्नों का स्वामी होता है। वे चौदह रत्न ये हैं—(१) सेनापति रत्न (२) गृहपति (अथवा गाथापति), (३) पुरोहित, (४) गज, (५) हय, (६) सूत्रधार (वर्धकि), (७) स्त्री, (८) चक्र, (९) छत्र, (१०) चर्म, (११) मणि, (१२) काकिणी, (१३) खड्ग और (१४) दण्ड रत्न।

महिड्ढिए : अर्थ—चक्रवर्ती के पास महान ऋद्धियाँ होती हैं, लब्धियां भी होती हैं। वह नौ निधियों का अधिपति होता है तथा दिव्यानुकरण करने वाली लक्ष्मी से सम्पन्न होता है, चौसठ हजार अन्तःपुर नारियों के साथ वैक्रियशक्ति धारण करके रमण करने वाला होने से वैक्रिय आदि लब्धि सम्पन्न होता है।

चक्रवर्ती से उपमित : बहुश्रुत मुनि—प्रस्तुत में बहुश्रुत को चक्रवर्ती के तीन विशेषणों से उपमित किया गया है—(१) चतुरन्त, (२) महर्द्धिक और (३) चतुर्दश रत्नाधिपति। जिस प्रकार चक्रवर्ती चतुरन्त होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत मुनि भी दान, शील, तप और भाव, अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, इन चार प्रकार के धर्मरूपी सैन्य से कर्मरूपी या राग-द्वेषादि अन्तरंग शत्रुओं का अन्त (नाश) करने वाला होता है, तथा जैसे चक्र-वर्ती चारों दिशाओं का अन्त कर देता है, वैसे बहुश्रुत भी चारों गतियों का अन्त कर देता है।

जैसे चक्रवर्ती के वैक्रिय आदि लब्धियाँ तथा ऋद्धियाँ होती हैं, वैसे बहुश्रुत के भी आमर्षौषधि आदि तथा पुलाक आदि लब्धियाँ होती, अथवा बहुश्रुत के पास आचार सम्पत्, श्रुत सम्पत्, मतिसम्पत् आदि महती ऋद्धि होती है।

जैसे चक्रवर्ती चौदह रत्नों का अधिपति होता है, वैसे बहुश्रुत भी चौदह पूर्वों का अभ्यासी होने से चौदह पूर्व रूप ज्ञान रत्नों का अधिपति होता है। चक्रवर्ती नौ निधियों का अधिपति होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी ब्रह्मचर्य की नववाड तथा अनेक गुणों का अधिपति होता है।

बहुश्रुत का वैभव : इन्द्र की उपमा—

मूल—जहा से सहस्सक्खे, वज्जपाणी पुरन्दरे।
सक्के देवाहिवई, एवं भवइ बहुस्सुए ॥२३॥

छाया—यथा स सहस्राक्षः, वज्रपाणि पुरन्दरः।
शक्रो देवाधिपतिः, एवं भवति बहुश्रुतः ॥२३॥

पद्यानुवाद—ज्यों सहस्राक्ष और वज्रपाणिः सुरपति जो शक्र पुरन्दर है।
वैसे आध्यात्मिक वैभव का, अधिपति होता बहुश्रुतधर है ॥२३॥

अन्वयार्थ—**जहा**—जैसे, **से**—वह, **सहस्सक्खे**—सहस्राक्ष=हजार आँखों वाला, **वज्जपाणी**—वज्रपाणि=जो वज्र हाथ में लिये रहता है, **पुरंदरे**—(दैत्यों के) पुरों का विदारण (भेदन) करने वाला, **सक्के**—शक्र=इन्द्र, **देवाहिवई**—देवों का अधिपति (होता है) **एवं**—इसी प्रकार, **बहुस्सुए**—बहुश्रुत, **भवइ**—होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार सहस्रनेत्र, वज्रपाणि, पुरन्दर और शक्र देवों का अधिपति होता है, इसी प्रकार बहुश्रुत मुनि भी होता है।

विवेचन—**इन्द्र : सहस्राक्ष क्यों और कैसे ?**—प्रस्तुत गाथा में इन्द्र को सहस्राक्ष अर्थात्—हजार नेत्रों वाला कहा है, उसका आशय यह है कि वस्तुतः इन्द्र के दो ही नेत्र होते हैं, परन्तु इन्द्र के ५०० मन्त्री होते हैं, प्रत्येक मन्त्री के दो-दो नेत्र होने से, सब मन्त्रियों के एक हजार नेत्र हुए। वे एक हजार नेत्र इन्द्र के ही कार्यसम्पादन में व्याप्त रहा करते हैं। इसलिए इन्द्र को सहस्राक्ष कहा जाता है।[1] अथवा दूसरे लोग हजार आँखों से जितना देख सकते हैं, इन्द्र उससे भी अधिक अपनी केवल दो आँखों से देख सकता है। अर्थात् हजार आँखों के जितनी ज्योति, इन्द्र की सिर्फ दो आँखों में है। इस दृष्टि से भी इन्द्रदेव को सहस्राक्ष कहा जाता है।

इन्द्र से उपमित : बहुश्रुत—इन्द्र के चार विशेषणों से यहाँ बहुश्रुत को उपमित किया गया है। यथा—सहस्राक्ष, वज्रपाणि, पुरन्दर और देवाधिपति।

जैसे इन्द्र के हजार आँखें होती है, इसी प्रकार बहुश्रुत के श्रुतज्ञान एवं नयों की हजार आँखें होती हैं। जैसे इन्द्र के हाथ में सदैव वज्र रहता है, इसी प्रकार बहुश्रुत क्षमारूपी वज्र हाथ में लिए हुए रहता है। जैसे इन्द्र दैत्यों के पुरों-नगरों को विदारण करता है, इसी प्रकार बहुश्रुत भी

---

१ पंचण्हं से मंतिस्सयाणं सहसमक्खीणं —दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि पत्र ६४

राग-द्वेष-मोह आदि दैत्यों के नगरसम बने हुए शरीर को तपश्चरण के द्वारा दुर्बल कर देता है। जैसे इन्द्र देवों का अधिपति है, इसी प्रकार बहुश्रुत भी देवतुल्य साधुओं का अधिपति हैं, हरिकेश-बल मुनि की तरह बहुश्रुत भी देवों का पूज्य होने से देवाधिपति कहा जा सकता है।

बहुश्रुत का तेज एवं प्रकाश : सूर्य की उपमा—

मूल—जहा से तिमिर-विद्धंसे, उच्चिट्ठन्ते दिवायरे।[1]
जलन्ते इव तेएण, एवं हवइ बहुस्सुए ॥२४॥

छाया—यथा स तिमिर-विध्वंसः, उत्तिष्ठन् दिवाकरः।
ज्वलन्निव तेजसा, एवं भवति बहुश्रुतः ॥२४॥

पद्यानुवाद—जैसे वह तिमिर ध्वंसकारी, नभ में उठता सा दिनकर है।
निज तेज राशि से जलता है, वैसे होता बहुश्रुतधर है ॥२४॥

अन्वयार्थ—**जहा**—जैसे, **तिमिरविद्धंसे**—अन्धकार का विध्वंस (नाश) करने वाला, **उत्तिट्ठंते**—उदय होता हुआ, **से**—वह, **दिवायरे**—दिवाकर (सूर्य) **तेएण**—अपने तेज से, **जलंते इव**—जलता हुआ-सा (प्रतीत होता है,) **एवं**—इसी प्रकार, **बहुस्सुए**—बहुश्रुत (भी अपने तप-तेज से दीप्त) **हवइ**—होता है ॥३४॥

भावार्थ—जैसे अन्धकार का नाश करने वाला उदीयमान सूर्य अपने तेज से जलता हुआ-सा प्रतीत होता है, इसी प्रकार बहुश्रुत भी अपने तप तेज से देदीप्यमान प्रतीत होता है।

विवेचन—उदीयमान सूर्य से उपमित बहुश्रुत मुनि—जैसे सूर्य अन्धकार का नाश करता है, इसी प्रकार बहुश्रुत भी अज्ञान या मिथ्यात्वरूप अन्धकार का नाश करता है। जैसे उदीयमान (चढ़ता हुआ) सूर्य अपने तेज़ से जाज्वल्यमान प्रतीत होता है, इसी प्रकार बहुश्रुत भी द्वादशविध तपश्चरण के तेज से इतना तेजस्वी हो जाता है कि उसकी ओर कोई प्रतिवादी आँख उठाकर नहीं देख सकता। जैसे चढ़ता हुआ सूर्य ही तेजस्वी होता है; उसी प्रकार बहुश्रुत भी संयम के विशुद्ध-विशुद्धतर अध्यवसायों अथवा शुभ-लेश्याओं के कारण चढते परिणामों से तेजस्वी होता है। निष्कर्ष यह है कि बहुश्रुत सूर्य के समान तेजस्वी और प्रकाशित होता है।

---

१. पाठान्तर —उत्तिट्ठंते।

बहुश्रुत की सौम्यता, तथा अन्य गुण पूर्णता : पूर्ण चन्द्रमा की उपमा—

मूल—जहा से उडुवई चन्दे, नक्खत्त-परिवारिए।
पडिपुण्णे पुण्णमासीए, एवं हवइ बहुस्सुए ॥२५॥

छाया—यथा स उडुपतिश्चन्द्रः, नक्षत्र-परिवारितः।
प्रतिपूर्णः पौर्णमास्यां, एवं भवति बहुश्रुतः ॥२५॥

पद्यानुवाद—तारागण से घिरे हुए, ज्यों उडुपति चन्द्र सुशोभित है।
पूनम में पूर्णरूप धारी, वैसे मुनिगण में बहुश्रुत है ॥२५॥

अन्वयार्थ—जहा—जैसे, **नक्खत्तपरिवारिए**—नक्षत्रों (तारागण) के परिवार से परिवृत, **उडुवई**—नक्षत्रों का अधिपति, **से**—वह, **चंदे**—चन्द्रमा, **पुण्णमासीए**—पूर्णिमा को, **पडिपुण्णे**—परिपूर्ण (होता है;) **एवं**—इसी प्रकार, **बहुस्सुए**—बहुश्रुत (मुनि- परिवार से परिवृत भी कलापूर्ण) **हवई**—होता है।

भावार्थ—जैसे नक्षत्रों का स्वामी, नक्षत्र-परिवार से परिवृत चन्द्रमा पूर्णमासी को अपनी सर्वकलाओं से परिपूर्ण होकर शोभायमान होता है, वैसे ही (श्रमणसंघ का अधिपति) साधु-परिवार से परिवृत हुआ बहुश्रुत भी (ज्ञानदिकलाओं से) परिपूर्ण होता है।

विवेचन—चन्द्रमा से उपमित : बहुश्रुत—जैसे चन्द्रमा नक्षत्रों, तारागण आदि का अधिपति होता है, वैसे बहुश्रुत भी चतुर्विध श्रमणसंघ का अधिपति होता है। चन्द्रमा की भांति वह साधु-परिवार से घिरा हुआ सुशोभित होता हैं। पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा अपनी समस्त कलाओं से परिपूर्ण होने से सौम्य, शान्तिदायक एवं जनाह्लादक होता है, इसीप्रकार बहुश्रुत भी सम्यक्त्वादि गुणों (कलाओं) से परिपूर्ण होने से भव्य जीवों के लिए सौम्य, शान्तिदायक एवं परम-आल्हादक होता है।

निष्कर्ष यह है कि पूर्णिमा के चन्द्रमा में पूर्णता, सौम्यता, आल्हादकता आदि जितने भी गुण होते हैं, वे सब बहुश्रुत में भी होते हैं।

बहुश्रुत की धारणा शक्ति : कोष्ठागार की उपमा—

मूल—जहा से सामाइयाणं, कोट्ठागारे सुरक्खिए।
नाणा-धन्न-पडिपुन्ने, एवं हवइ बहुस्सुए ॥२६॥

छाया—यथा स सामाजिकानां, कोष्ठागारः सुरक्षितः।
नानाधान्यप्रतिपूर्णः, एवं भवति बहुश्रुतः ॥२६॥

पद्यानुवाद—जैसे सामाजिक लोगों का, कोठार सुरक्षित रहता है।
परिपूर्ण धान्य सम श्रुतवाणी से भरा बहुश्रुत होता है ॥२६॥

अन्वयार्थ—जहा—जैसे, **सामाइयाणं**—सामाजिकों, अर्थात्—किसानों, व्यापारियों आदि का, **कोट्ठागारे**—कोठार, **नाणा-धन्न-पडिपुन्ने**—नाना प्रकार के धान्यों से परिपूर्ण (एवं) **सुरक्खिए**—सुरक्षित (होता है,) **एवं**—इसी प्रकार, **बहुस्सुए**—बहुश्रुत, **हवइ**—होता है।

भावार्थ—जैसे सामाजिक लोगों के कोठे अनेक प्रकार के धान्यों से परिपूर्ण तथा सुरक्षित होते हैं, इसी प्रकार बहुश्रुत भी (नाना प्रकार के शास्त्रज्ञान से परिपूर्ण और सुरक्षित) होता है।

विवेचन—कोष्ठागार से उपमितः बहुश्रुत—जैसे कोठार अनेक प्रकार के धान्यों का आधार होता है, वैसे बहुश्रुत भी चारों तीर्थों का एवं भव्यजीवों का आधार होता है। जैसे कोठार विविध प्रकार के धान्यों से पूर्ण होते हैं, वैसे बहुश्रुत का भी अन्तःकरण रूप कोठार अंग, उपांग, कालिक, उत्कालिक आदि नाना प्रकार के शास्त्रों के ज्ञान से परिपूर्ण होता है। जैसे धान्य राशि से परिपूर्ण कोठार को चोर, चूहे आदि से सुरक्षित रखने के लिए ग्रामवासी लोग जागरूक रहते हैं, वैसे बहुश्रुत भी अपनी बहुमूल्य ज्ञानराशि की प्रमादरूपी मूषकों एवं कषायादि चोरों से सुरक्षित रखता है; अर्थात्—स्वाध्यायादि के द्वारा अप्रमत्त होकर ज्ञान राशि की सुरक्षा करता है। अथवा बहुश्रुत उस संचित ज्ञानराशि को अपने गच्छ या साधुगण को देकर, पर-वादियों से सुरक्षित रखता है।

बहुश्रुत की श्रेष्ठता : जम्बू वृक्ष की उपमा—

मूल—जहा सा दुमाण पवरा, जंबू नाम सुदंसणा।
अणाढियस्स देवस्स, एवं हवइ बहुस्सुए ॥२७॥

छाया—यथा सा द्रुमाणां प्रवरा, जम्बूर्नाम्ना सुदर्शना।
अनाधृतस्य देवस्य, एवं भवति बहुश्रुतः ॥२७॥

पद्यानुवाद—जैसे वृक्षों में श्रेष्ठ वृक्ष, जम्बू-सुदर्शन है जग में।
सुर 'अनाधृत' का आश्रय शुभ, वैसे बहुश्रुत जिनमग में ॥२७॥

अन्वयार्थ—**जहा**—जैसे **सा**—वह **सुदंसणा नाम**—'सुदर्शन' नामक, **जंबू**—जम्बूवृक्ष, **दुमाणं**—वृक्षों में, **पवरा**—श्रेष्ठ (और) **अणाढियस्स देवस्स**—'अनाधृत' नाम के व्यन्तर देव का (आश्रय स्थान है), **एवं**—इसी प्रकार, **बहुस्सुए**—बहुश्रुत भी (सब साधुओं में श्रेष्ठ एवं श्रुत-देवता का अधिष्ठान) **हवइ**—होता है ॥२७॥

भावार्थ—जैसे 'सुदर्शन' नाम का जम्बूवृक्ष वृक्षों में श्रेष्ठ कहलाता है, और वह 'अनाधृत' नामक व्यन्तर देव का अधिष्ठान भी है, इसी प्रकार बहुश्रुत भी (श्रमणों में श्रेष्ठ एवं श्रुतदेव का अधिष्ठान) होता है।

विवेचन—जम्बूवृक्षसे उपमित : बहुश्रुत—सुदर्शन नामक जम्बूवृक्ष में तीन मुख्य विशेषताएँ होती हैं—(१) वृक्षों में श्रेष्ठ होता है, (२) जम्बूद्वीप के अधिकारी व्यन्तर गति के अनाधृत देव का आश्रयदाता है, और (३) पुष्पों एवं फलों के कारण सुन्दर एवं दर्शनीय होता है, इसीप्रकार बहुश्रुत भी समस्त साधुओं में श्रेष्ठ—प्रधान होता है, अनेक भव्य जीवों का अथवा श्रुत-देवता का आश्रयभूत होता है, तथा मृदुभाषणादि सद्गुण पुष्पों एवं शारीरिक, मानसिक स्वस्थतादिफलों से सुन्दर एवं दर्शनीय होता है। इसके अतिरिक्त जैसे जम्बूवृक्ष के नाम से यह जम्बूद्वीप प्रसिद्ध हो रहा है, वैसे ही बहुश्रुत के नाम से गच्छ की प्रसिद्धि होती है।

बहुश्रुत की मोक्षगामिता : शीतानदी की उपमा—

मूल—जहा सा नईणपवरा, सलिला सागरंगमा।
सीया नीलवन्त-पवहा, एवं भवई बहुस्सुए ॥२८॥

छाया—यथा सा नदीनां प्रवरा, सलिला-सागरङ्गमा।
शीता नीलवत्प्रवहा, एवं भवति बहुश्रुतः ॥२८॥

पद्यानुवाद—ज्यों सागर में मिलने वाली, शीता नदियों में श्रेष्ठ कही।
नीलवान् उद्गम जिसका, शोभा बहुश्रुत की जान वही ॥२८॥

अन्वयार्थ—**जहा**—जैसे, **नीलवंत-पवहा**—नीलवन्त नामक वर्षधर पर्वत से उत्पन्न (निकली) हुई, **सलिला**—सदैव जल से पूर्ण, **नईण पवरा**—नदियों में श्रेष्ठ, **सा सीया**—वह शीता नदी, **सागरंगमा**—(अन्त में) सागरगामिनी है, **एवं**—इसी प्रकार, **बहुस्सुए**—बहुश्रुत, **हवइ**—होता है।

भावार्थ—जैसे नीलवान् नामक वर्षधरपर्वत से निकली हुई सदानीरा एवं सब नदियों में प्रधान वह शीता नदी अन्त में सागरगामिनी होती है, इसीप्रकार बहुश्रुत भी (साधुओं में प्रधान और अन्त में मोक्षगामी) होता है।

विवेचन—शीतानदी से उपमित : बहुश्रुत—जैसे शीतानदी सभी नदियों में प्रधान है, इसी प्रकार बहुश्रुत भी साधुओं में, अथवा समस्त श्रुत

---

१. 'अनाद्धिकंस्य' ऐसा रूपान्तर भी होता है।

ज्ञानियों में प्रधान होता है। शीता नदी जैसे सदैव निर्मल जल प्रवाह से पूर्ण रहती है, वैसे बहुश्रुत भी सदैव विमलजल के समान निर्मल श्रुत ज्ञान या सिद्धान्त सम्पन्न रहता है। जैसे शीता नदी की उत्पत्ति (उद्गम) नीलवान (मेरु पर्वत के उत्तर में स्थित) उत्तम वर्षधर पर्वत से है, इसी प्रकार बहुश्रुत का जन्म भी उत्तम कुल से होता है, इस कारण उसमें सद्विद्या, विनय, औदार्य, गाम्भीर्य इत्यादि गुण होते हैं। जिस प्रकार शीता नदी अन्त में, समुद्र में जा मिलती है, छोटी नदियों की तरह बीच में लुप्त नहीं होती, वैसे ही बहुश्रुत भी अन्त में मुक्त पद रूप समुद्र या ज्योति में ज्योति रूप से जा मिलता है, इधर-उधर की गतियों में नहीं भटकता।

बहुश्रुत की उच्चता एवं महत्ता : मन्दरगिरि की उपमा—

मूल—जहा से नगाणपवरे, सुमहं मन्दरे गिरी।
नाणोसहि-पज्जलिए, एवं हवइ बहुस्सुए ॥२६॥

छाया—यथा स नगानां प्रवरः, सुमहान् मन्दरो गिरिः।
नानौषधि-प्रज्वलितः, एवं भवति बहुश्रुतः ॥२६॥

पद्यानुवाद—जैसे हेमाद्रि महागिरि को, जग के भूधर में श्रेष्ठ कहा।
नानौषधि-दीप्त-सुशोभित त्यों, बहुश्रुत मुनियों में दीप्त महा ॥२६॥

अन्वयार्थ—जहा—जैसे, से मन्दरे गिरी—वह मन्दर-पर्वत=मेरुगिरि, नगाणं—सब पर्वतों में, पवरे—श्रेष्ठ (है) (वह), सुमहं—अतिशय महान (है,) और नाणोसहि-पज्जलिए—नाना प्रकार की औषधियों से प्रज्ज्वलित=देदीप्यमान है; एवं—इसी प्रकार, बहुस्सुए—बहुश्रुत, हवइ—होता है।

भावार्थ—जैसे मेरुपर्वत सभी पर्वतों में श्रेष्ठ है, अतिशय महान है और अनेक प्रकार की औषधियों से प्रदीप्त है, इसी प्रकार बहुश्रुत भी महान और प्रदीप्त होता है।

विवेचन—मेरुपर्वत से उपमित : बहुश्रुत—इस गाथा में मेरुपर्वत की श्रेष्ठता, महत्ता और प्रदीप्तता से बहुश्रुत की तुलना की गई है। जैसे मेरुगिरि सब पर्वतों में अत्यन्त स्थिरता के कारण श्रेष्ठ है, इसी प्रकार बहुश्रुत भी शेषगिरि-रूप-अन्य स्थविर साधुओं की अपेक्षा विविध परीषहों के उपस्थित होने पर भी श्रुतज्ञान के बल से मेरु की तरह सुस्थिर होने के कारण श्रेष्ठ हैं। जैसे मेरु पर्वत अत्यन्त उच्च, विस्तृत और महान् है, वैसे ही बहुश्रुत भी पद की दृष्टि से अत्युच्च विशाल शास्त्र ज्ञान की दृष्टि से

विस्तृत एवं गुणों की दृष्टि से महान् है। तथा जैसे मेरुपर्वत शल्या, विशल्या संजीवनी, संरोहणी, चित्रावल्ली, सुधावल्ली, विषापहारिणी, भूतनागदमनी, शस्त्रनिवारिणी आदि अनेक विध विशिष्ट महात्म्य वाली जड़ी-बूटियों से देदीप्यमान हो रहा है, वैसे बहुश्रुत भी मिथ्यात्वरूपी अन्धकार में प्रकाश की शक्ति से युक्त, आमर्षोषधि आदि नाना लब्धियों से प्रकाशमान होता है।

बहुश्रुत की अक्षयता एवं परिपूर्णता: स्वयम्भूरण समुद्र की उपमा—

मूल—जहा से सयंभू-रमणे, उदही अक्खओदए।
नाणारयण-पडिपुण्णे, एवं हवइ बहुस्सुए ॥३०॥

छाया—यथा स स्वयम्भू-रमणः उदधिरक्षयोदकः।
नानारत्न-परिपूर्णः, एवं भवति बहुश्रुतः ॥३०॥

पद्यानुवाद—ज्यों जलधि स्वयंभूरमण यहाँ, परिपूर्ण नीर कहलाता है।
नाना रत्नों से पूर्ण भरा, बहुश्रुत त्यों माना जाता है ॥३०॥

अन्वयार्थ—**जहा**—जैसे, **से**—वह, **सयंभूरमणे उदही**—स्वयम्भूरमणसमुद्र, (सदैव) **अक्खओदए**—अक्षय (कभी समाप्त न होने वाले) जल वाला (तथा), **नाणारयण-पडिपुण्णे**—नाना प्रकार के रत्नों से परिपूर्ण है, **एवं**—इसी प्रकार, **बहुस्सुए**—बहुश्रुत, **हवइ**—होता है।

भावार्थ—जैसे स्वयम्भूरमण समुद्र सदैव अक्षय जल-सम्पन्न एवं नाना प्रकार के रत्नों से परिपूर्ण है, इसी प्रकार बहुश्रुत भी होता है।

विवेचन—स्वयम्भूरमण-समुद्र से उपमितः बहुश्रुत—स्वयम्भूरमण समुद्र जैसे गम्भीर, अक्षय, एवं रत्न परिपूर्ण है, वैसे ही बहुश्रुत भी अगाध एवं अक्षय सम्यग्ज्ञान रूपी जल से सम्पन्न है, गाम्भीर्यादि गुणों से युक्त है; तथा नानाप्रकार के अतिशय रत्न तथा वैक्रिय आदि लब्धिरूप मणियाँ होने के कारण बहुश्रुत नाना रत्न-परिपूर्ण कहलाता है।

बहुश्रुत की सिद्धगतिः समुद्र की गम्भीरता की उपमा—

मूल—समुद्द-गम्भीरसमा दुरासया,
अचक्किया केणइ दुप्पहंसया।
सुयस्स पुण्णा विउलस्स ताइणो,
खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गया ॥३१॥

छाया—समुद्र गाम्भीर्य समा दुरासदाः, अचकिताः केनापि दुष्प्रधर्षकाः ।
श्रुतेन पूर्णा विपुलेन त्रायिणः क्षपयित्वा कर्म्म गतिमुत्तमांगताः ॥३१॥

पद्यानुवाद—जो सागर-सम गंभीर दुराश्रय,
निर्भय अविजित सन्त हुए ।
श्रुतरत्न-पूर्ण जगती-त्राता,
निज-कर्म नाशकर सिद्धि गए ॥३१॥

अन्वयार्थ—**समुद्दगंभीर-समा**—समुद्र के समान गम्भीर, **दुरासया**—विजिगीषुओं की पहुंच से बाहर, **केणइ अचक्किया**—किसी भी (परवादी) से पराजय नहीं पा सकते, **दुप्पहंसया**—अपराजेय, **विउलस्स सुयस्स**—विपुल (विशाल) श्रुत (शास्त्रज्ञान) से, **पुण्णा**—पूर्ण (तथा), **तायिणा**—षट्काय के त्राता-रक्षक—(ऐसे बहुश्रुत मुनि), **कम्मं**—कर्मों को, **खवित्तु**—क्षय करके, **उत्तमं गई**—उत्तमगति (सिद्धिगति) को, **गया**—प्राप्त हुए हैं ।

विवेचन—बहुश्रुत के विशिष्ट गुण—प्रस्तुत गाथा में बहुश्रुत में छह प्रमुख गुण बताए हैं—(१) समुद्र के समान गम्भीरता, (२) पराजित करने की बुद्धि वालों की पहुँच से बाहर, (३) किसी परवादी या परीषहादि से त्रसित या तिरस्कृत होने में असमर्थ, (४) किसी से भी पराभूत न होने (न दबने) वाले, (५) विपुल श्रुत से परिपूर्ण और (६) षट्कायत्राता अथवा संसारगर्त में गिरते हुए जीवों के रक्षक ।

गइमुत्तमं गया :—इस फलश्रुति का तात्पर्य यह है कि जो बहुश्रुत उक्त गुणों से सम्पन्न होते हैं, वे समस्त कर्मों का क्षय करके मोक्षगति में गये । यहाँ उपलक्षण से यह अर्थ भी ध्वनित किया है कि जाएँगे तथा जाते हैं ।

श्रुताभ्यास की प्रेरणा—

मूल—तम्हा सुयमहिट्ठिज्जा, उत्तमट्ठ-गवेसए ।
जेणऽप्पाणं परं चेव, सिद्धिं संपाउणेज्जासि ॥३२॥
—त्ति बेमि

छाया—तस्मात्श्रुतमधितिष्ठेत, उत्तमार्थ-गवेषकः ।
येनात्मानं परं चैव, सिद्धिं संप्रापयेत् ॥३२॥
—इति ब्रवीमि

पद्यानुवाद—इसलिए मोक्ष के अन्वेषक,
जनश्रुत का ही आश्रयण करें ।
जिससे निज को और पर जनको,

अन्वयार्थ—**तम्हा**—इसलिए, **उत्तमट्ठ-गवेसए**—उत्तम (मोक्षरूप) अर्थ की गवेषणा (खोज) करने वाला (मुमुक्षु साधक), **सुयं**—श्रुत—शास्त्र का, **अहिट्ठिज्जा**—अध्ययन करे। **जेण**—जिससे कि (वह), **अप्पाणं**—अपने आपको, **च**—और, **परं**—दूसरे को, **एवं**—अवश्य ही, **सिद्धि**—सिद्धि (मुक्ति), **संपाउणेज्जासि**—सम्प्राप्त करा सके। **त्तिबेमि**—ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—इसलिए मोक्षरूप अर्थ की गवेषणा करने वाला मुमुक्षुमुनि शास्त्र का अध्ययन करे, ताकि वह स्वयं को तथा दूसरों को मोक्ष प्राप्त करा सके। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—श्रुताध्ययन क्यों करे ?—प्रस्तुत गाथा में शास्त्रों का भलीभाँति अध्ययन—स्वाध्याय करने के तीन मुख्य कारणों का निरूपण किया है—(१) पूर्वगाथाओं में कथित बहुश्रुत के विशिष्ट गुण मोक्षगति प्राप्त कराने वाले हैं, इसलिए, (२) उत्तम अर्थ—मोक्ष की गवेषणा करने हेतु तथा (३) अपनी तथा दूसरों की आत्मा को मोक्ष प्राप्त कराने हेतु।

सुयमहिट्ठिज्जा :—इस वाक्य का तात्पर्य है कि साधक आगमों का गम्भीरता से श्रवण, मनन, अध्ययन, वाचन, और, आवर्त्तन, पृच्छा, अनुप्रेक्षण के साथ अध्ययन करे। मुमुक्षु साधकों को श्रुत का अध्ययन अवश्यमेव करना चाहिए।

उपसंहार—इस अध्ययन में श्रुतज्ञान का अर्जन कर बहुश्रुत बनने वाले मुनि की विशिष्टता बताकर श्रुताध्ययन की प्रेरणा दी गई है तथा उससे स्व एवं पर का कल्याण साधते हुए मोक्ष प्राप्ति रूप फल की उपलब्धि का कथन किया गया है।

॥ बहुश्रुतपूज्य : ग्यारहवां अध्ययन समाप्त ॥

हरिकेशीय : बारहवां अध्ययन

[अध्ययन-सार]

इस अध्ययन का नाम है—हरिकेशीय।

चाण्डालजातीय परम-तपस्वी हरिकेशबल नामक साधु के संयमी-जीवन से सम्बन्धित वृत्तान्त का कथन होने से इस अध्ययन का नाम 'हरिकेशीय' रखा गया है।

इसमें हरिकेशबल के जीवन की झांकी दी है। चाण्डाल जाति में उत्पन्न होने पर भी अपने उत्कृष्ट तप, त्याग और संयम के निर्मल-निर्दोष आराधन से वे महान् बन गए थे। एक सामान्य व्यक्ति आत्मा से महात्मा और महात्मा से परमात्मा किस प्रकार बन सकता है, यह उदाहरण हरिकेशबल मुनि ने अपने जीवन से प्रस्तुत किया है।

तप, संयम, त्याग और चारित्र किसी जाति या कुल की बपौती नहीं है, किसी भी जाति का कोई भी व्यक्ति इस मार्ग पर चलकर अपना आत्म-कल्याण तो करता ही है, जगत के अनेक भक्त जिज्ञासुओं और मुमुक्षुओं को भी वह इस पथ पर चलने के लिए प्रेरित करता है। यह जागृत मन के सत्पुरुषार्थ का रूप हैं। लाखों साधारण लोग निरन्तर नानाविध दुःख और कष्टों को सहकर भी जागृत नहीं हो पाते।

अधिकांश लोग तो इसी हीन-परिस्थिति में पड़े-पड़े और समाज के तीव्र प्रहार सहते-सहते जिंदगी पूरी कर देते हैं। वे अपने भाग्य को कोसते रहते हैं, परन्तु पुरुषार्थ के द्वार पर आकर अलख नहीं जगाते। हरिकेशबल जैसे शूद्रजातीय एवं विकट परिस्थिति में पड़े हुए सैकड़ों वर्षों में कोई-कोई जागते हैं।

हरिकेशबल के जीवन में भी ऐसी ही कई घटनाएँ निमित्त बनीं, जिन्होंने क्रमशः उसे झकझोर कर जगा दिया, और वह चल पड़ा—तप, त्याग और संयम के पथ पर एकाकी, अप्रमत्त और तपस्वी होकर। हरिकेशबल को कैसे विरक्ति हुई और किस निमित्त को पाकर वह तप-संयम के कठोर पथ पर अग्रसर हुआ? यह घटना क्रम इस प्रकार है—

कथासूत्र—मृतगंगा के तट पर रहने वाले वलकोट्ट नामक चाण्डाल की पत्नी गौरी की कुक्षि से एक बालक का जन्म हुआ। पूर्वजन्म कृत जातिमद के कारण उसका जन्म चाण्डाल के घर में हुआ, तथा शरीर से भी कुरूप और बेडौल बना। पिता ने उसका नाम रख दिया हरिकेशबल। कुरूप होने के कारण वह किसी को भी अच्छा नहीं लगता था। स्वभाव से भी वह कठोर और उग्र था। घर में वह सबसे क्लेश करता था, माता-पिता को भी गाली देकर वह दुःखित किया करता था।

एक बार सभी चाण्डालों ने मिलकर वसन्तोत्सव मनाने का विचार किया। सभी चाण्डाल कुटुम्बों ने अपने-अपने घरों से खाद्य सामग्री जुटा कर नगर के बाहर एकत्रित की। जब सब भोजन करने को तैयार हुए तो बालक हरिकेशबल ने अपने अन्य सजातीय बालकों के साथ बहुत झगड़ा मचाया। उसकी इस प्रवृत्ति से दुःखी होकर वृद्धों ने उसे पंक्ति से बाहर निकाल दिया। फिर भी वह उपद्रव करने की फिराक में रहता। बालकों को खेलते देखकर वह भी खेलने के लिए मचलता था। किन्तु वृद्धों ने उसे उपद्रवी जान कर बालकों के साथ खेलने से रोक दिया। अकेला विवश होकर अपमानित-सा दूर खड़ा-खड़ा वह बालकों की क्रीड़ा को देखने लगा। इसी समय एक महाविषैला सर्प कहीं से वहां आ निकला। उसे भयंकर जहरीला समझ कर वहाँ एकत्रित चाण्डालों ने उसे तत्काल मार दिया। कुछ ही देर बाद एक अलसिया (दुमूही) निकला। लोगों ने उसे निर्विष समझ कर मारा नहीं।

कुछ दूर खड़े हरिकेशबल ने इस दृश्य को देखा। इस घटना ने हरिकेशबल के विचारों में उथल-पुथल मचा दी। वह सोचने लगा—यह सच है, कि प्राणी अपने ही क्रूर व्यवहार से विषधर साँप की तरह मारा जाता है और अपने ही सौम्य एवं हितकर व्यवहार से रक्षित होता है। मैं भी तो विषैले सांप की तरह क्रोध रूप विष से भरा हूँ, तभी तो लोग मेरा तिरस्कार करते हैं। मैं दुमुही के समान शान्त और निर्विष होता तो कोई भी मुझे तिरस्कृत न करता। मैं किसी के लिए अप्रीति का कारण न बनता। वास्तव में व्यक्ति अपने ही अवगुणों से अपमानित और अपने ही सद्गुणों से सन्मानित होता है। हरिकेश के अन्तस्तल की गहराई में यह बात जम गई। चिन्तनसागर में डूबते-उतराते भावों की निर्मलता के कारण उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया।

जातिस्मरण ज्ञान के आलोक में उसे अपने दो पूर्वजन्म चल चित्र की तरह स्पष्ट दिखलाई दिये। उसने देखा कि पूर्वजन्म में जाति-मद के कारण

ही उसे इस जन्म में जाति, रूप और संस्कार-हीन एवं निम्न कुल मिला है। वह पूर्वजन्म में हस्तिनापुर में सोमदेव नामक पुरोहित था। एक वार परम-तपस्वी शंखमुनि, जो मथुरा के तत्कालीन परम प्रतापी प्रजावत्सल राजा थे, भूमण्डल में भ्रमण करते हुए हस्तिनापुर पधारे। नगर में प्रवेश करने के लिए एक अत्यन्त उष्ण मार्ग था, जिस पर चलने से पैर जल जाते। शंखमुनि उस पथ से अनजान थे। उन्होंने भिक्षार्थ नगर में जाने का मार्ग मुझ (सोम-देव) से पूछा तो मैंने कुतूहलवश मुनि को दु खी होते देखने की नीयत से वही 'हुतवह' नामक उष्णपथ वता दिया। मुनि मेरे वताने पर उसी मार्ग से चल पड़े। परन्तु मुनि के तपोवल से वह उष्ण मार्ग एकदम ठंडा हो गया। उसकी उष्णता जाती रही। शंखमुनि को आनन्दपूर्वक उस मार्ग से जाते देख मैं अपने भवन से नीचे उतरा और उसी उष्णपथ पर नंगे पैर चलने लगा तो मुझे वह मार्ग अत्यन्त ठंडा प्रतीत हुआ। मैंने इसे मुनि के तपोवल का प्रभाव समझा, और अत्यन्त पश्चात्ताप किया कि ऐसे तपोधनी को मैंने दुःखी करने का विचार करके घोर पाप कर्म का वन्ध किया है। इसका प्रायश्चित्त यही होगा कि मैं इन्हीं मुनिवर का शिष्य बन जाऊं। ऐसा विचार कर मैंने शंख मुनि के चरणों में पहुँच कर अपने मन में आए हुए पाप को प्रकाशित कर दिया और पश्चात्ताप पूर्वक उनके चरणों में गिर पड़ा। शंख-मुनि ने मुझे आश्वासन देकर संयम का उपदेश दिया, जिससे मुझे संसार से गहरी विरक्ति हो गई। फलतः मैंने उनसे मुनि दीक्षा ग्रहण कर ली। यद्यपि मैंने दीक्षा लेकर ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना-साधना में कोई कसर नहीं रखी; किन्तु जाति-मद का भूत अभी तक सिर से उतरा नहीं था। मैं रह-रह कर सोचता रहता—मैं ब्राह्मण हूँ, उत्तम जाति का हूँ। इन हीन जाति-कुल के लोगों से वात करने, उन्हें उपदेश देने और उनके घर भिक्षार्थ जाने में संकोच करता था। इसी जातीय अहंकार के कारण मुझे इस जन्म में हीन जाति में यहां जन्म मिला, संस्कार, रूप और स्वभाव भी उच्च नहीं मिल सके। यद्यपि चारित्रपालन के कारण मैं मरकर देव बना। वहाँ वहुत काल तक दिव्य सुखों का उपभोग किया, परन्तु वे सुख भी संयमी जीवन के सुख के आगे कितने तुच्छ और निःसार हैं।"

इस प्रकार जातिस्मरण ज्ञान के आलोक में हरिकेशबल जातिमद के दुष्परिणाम को तथा संसार के भोगों की तुच्छता एवं असारता को भली-भाँति समझकर संसार से विरक्त हो गए। शरीर तथा शरीर से सम्बन्धित समस्त पर-पदार्थों से विरत होकर वे आत्मभाव की साधना में लीन हो

गए। मुनि बनकर वे देहासक्ति एवं देहभाव को छोड़कर तप और संयम का सक्रिय आचरण करने लगे। उत्कट तपस्या के फलस्वरूप उन्हें कई शक्तियाँ और लब्धियां प्राप्त हो गई। उनमें क्षमा, दया, तितिक्षा, तप, संयम, मार्दव, आर्जव आदि अनेक उत्तम गुण प्रकट हो गए।

प्रस्तुत अध्ययन में हरिकेशबल मुनि की जीवनगाथा का वर्णन उनके संयमीजीवन का परिचय देते हुए भिक्षा के लिए ब्राह्मणों की यज्ञशाला में पदार्पण से प्रारम्भ किया गया है। यहीं से उनके तपस्वी, संयमी भिक्षु-जीवन की कसौटी होती है। याज्ञिक ब्राह्मण उनका उपहास करते हैं। उन्हें अपमानित करते हैं और उनकी सेवा में रहने वाला तिन्दुकवनवासी यक्ष हरिकेश मुनि की ओर से उनका स्थानापन्न होकर जातिमदान्ध, उन ब्राह्मणों को त्यागी मुनि के भिक्षा-याचन का औचित्य समझाता है, तब याज्ञिक अत्यन्त उत्तेजित होकर ब्राह्मण जाति के सिवाय सबको अपना अन्न-पान अदेय बताते हैं। फिर मुनिरूपी यक्ष पुण्य क्षेत्र में दान देने के अवसर को न चूकने का उपदेश देता है। तब याज्ञिक उसके विरोध में प्रतिवाद करते हैं कि हम जानते हैं कि पुण्य-क्षेत्र कौन-से हैं और पाप-क्षेत्र कौन-से हैं ? जाति और विद्या से युक्त ब्राह्मण ही एकमात्र पुण्यक्षेत्र हैं, तुम जैसे शूद्रजातीय एवं चतुर्दश विद्या-विहीन व्यक्ति पुण्यक्षेत्र नहीं हो सकते।'

यक्ष ने इसका प्रतिवाद करते हुए आक्षेपात्मक शब्दों में कहा कि जो कषायों और आश्रवों से युक्त हैं, वे चाहे ब्राह्मण जाति में उत्पन्न हुए हों, वे शास्त्र/ग्रन्थों का भार ढोने वाले हैं, वास्तव में वे जाति एवं विद्या से विहीन हैं, और पापक्षेत्र हैं।

जो मुनि समभावी है, महाव्रतधारी हैं, उच्च-नीच मध्यम कुलों से समभावपूर्वक भिक्षा लेते हैं, पचन-पाचन 'क्रिया से रहित हैं। वे ही पुण्यक्षेत्र हैं। इस पर तो याज्ञिक और अधिक भड़क उठे और क्रोधा-वेश में आकर उन्होंने यज्ञशाला के छात्रों और अध्यापकों को आदेश दिया कि इस निर्ग्रन्थ (दरिद्र) को यहाँ से बाहर निकालो, इसे यहाँ भोजन हर्गिज नहीं देंगे।

इस पर यक्ष ने पुनः एषणीय आहार मुनि को देने की प्रेरणा दी, तब तो अत्यन्त उत्तेजित होकर छात्रों ने मुनि पर बेतों, डंडों और मुक्कों आदि से प्रहार कर दिया।

उसी समय यज्ञशाला में उपस्थित कौशलिक नृप की पुत्री और वर्त-मान में सोमदेव याज्ञिक की पत्नी भद्रा ने मुनि पर इस प्रकार प्रहार करते

देख उन क्रुद्ध कुमारों को समझा-बुझाकर शान्त करने का प्रयत्न किया। उसने मुनि के उत्तमोत्तम गुणों और उनकी अतिशय शक्तियों का परिचय दिया, जिससे छात्र शांत हो गये।

किन्तु तभी एक विचित्र घटना घटी। मुनि के सेवक यक्ष ने उन कुमारों को तपस्वी मुनि की घोर आशातना का दुष्फल बताने के लिए प्रताड़ित करते हुए बेहोश कर दिया, उनके मुंह से रक्त बहने लगा।

यह देखकर भद्रा ने पुन: अपने अनुभव के आधार पर मुनिवर की अवज्ञा करने के दुष्परिणाम समझाते हुए उपस्थित सभी ब्राह्मणों को सम्मिलित होकर मुनि से क्षमायाचना करने और उनकी चरण-शरण ग्रहण करने की प्रेरणा दी।

मुनि की अतिशय ऋद्धि और महात्म्य से प्रभावित ब्राह्मणों में से पहले सोमदेव सपत्नीक मुनि के चरणों में उपस्थित होकर क्षमायाचना करता है। तत्पश्चात सभी ब्राह्मण मुनि के उत्तम गुणों की प्रशंसा करके उनसे आहार ग्रहण करने की साग्रह प्रार्थना करते हैं। मुनि उनके मन का समाधान करने उनके यहाँ से आहार ग्रहण करते हैं। सभी लोग यक्षपीड़ा से मुक्त और स्वस्थ हो मुनि को आहार दान देते हैं। तत्पश्चात देवगण पंचदिव्यों का प्रकटीकरण करते हैं। मुनि के महात्म्य का वे लोहा मानने लगते हैं और श्रद्धानत होकर गुणगान करते हैं। उन्हें मानना पड़ता है कि मनुष्य जाति से नहीं, गुणों से ही से महान बनता है।

अन्त में मुनि उन्हें भौतिक बाह्य यज्ञ से हानि और आध्यात्मिक यज्ञ से लाभ तथा उसके साधन एवं विधि विधान बताते हैं, जिसे वे श्रद्धापूर्वक स्वीकार करते हैं। कुल मिलाकर जातिवाद की अतात्विकता और गुणों की प्रधानता का सुन्दर निरूपण इस अध्ययन में किया गया है। ●

हरिएसिज्जं : बारसमं अज्झयणं

हरिकेशीय : बारहवां अध्ययन

हरिकेश मुनि का परिचय और यज्ञपाटक में भिक्षार्थ गमन—

मूल—सोवागकुल-संभूओ, गुणुत्तरधरो मुणी।
हरिएसबलो नाम, आसि भिक्खू जिइंदिओ ॥१॥

इरिएसण-भासाए, उच्चार-समिईसु य।
जओ आयाण-निक्खेवे, संजओ सुसमाहिओ ॥२॥

मणगुत्तो वयगुत्तो कायगुत्तो जिइंदिओ।
भिक्खट्ठा बंभइज्जम्मि जन्नवाडमुवट्ठिओ ॥३॥

छाया—श्वपाक-कुल-सम्भूतः, उत्तरगुणधरो मुनिः।
हरिकेश-बलो नाम, आसीद् भिक्षुर्जितेन्द्रियः ॥१॥

ईर्येषणा-भाषायां, उच्चार-समितिषु च।
यत आदान-निक्षेपे, संयतः सुसमाहितः ॥२॥

मनोगुप्तः वचोगुप्तः कायगुप्तो जितेन्द्रियः।
भिक्षार्थं ब्रह्मेज्ये, यज्ञवाटे उपस्थितः ॥३॥

पद्यानुवाद—चाण्डालवंश में पा उद्भव, ज्ञानादि श्रेष्ठ गुण के धारी।
हरिकेशीबल नाम भिक्षु, थे विजितेन्द्रिय संयमधारी ॥१॥
ईर्या, भाषा तथा एषणा, और परिष्ठापन-उच्चार।
निक्षेप तथा आदान समिति में, थे संयत-मन, शान्त विचार ॥२॥

मन-वचन- काय की गुप्ति से, रक्षित विजितेन्द्रिय तपधारी।
ब्रह्मयज्ञ के यज्ञस्थान, भिक्षार्थ गए मुनि व्रतधारी ॥३॥

अन्वयार्थ—हरिएसबलो नाम—हरिकेश-बल नामक, मुणी—मुनि, (यद्यपि) सोवाग-कुल-संभूओ—चाण्डाल कुल में उत्पन्न हुए थे, (फिर भी) गुणुत्तरधरो—गुणों में सर्वोत्तम सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि अथवा पंचमहाव्रतादि (गुणों) के धारक, (एवं) जिइंदिओ—जितेन्द्रिय, भिक्खू—भिक्षु (निरवद्य भिक्षा जीवी), आसी—थे ॥१॥

तुम कौन अदर्शनीय नर हो, आए ले आशा कौन यहाँ।
लगते अधनंगे भूततुल्य, जाओ, हटो क्यों खड़े यहाँ ? ॥७॥

अन्वयार्थ—**तवसा**—तप से, **परिसोसियं**—परिशुष्क (कृश) हुए, **पंतोवहि-उवगरणं**—प्रान्त (जीर्ण और मलिन) उपधि उपकरण वाले, **तं**—उस मुनि को, **एज्जंतं**—(यज्ञमण्डप की ओर) आते हुए, **पासिऊण**—देखकर, **अणारिया**—अनार्य (अशिष्टजन की तरह) **उवहसंति**—उपहास करने लगे ॥४॥

जाईमय-पडिथद्धा—जातिमद से प्रतिस्तब्ध=अहंकारयुक्त, **हिंसगा**—हिंसक, **अजिइंदिया**—अजितेन्द्रिय, **अबंभचारिणो**—अब्रह्मचारी (और), **बाला**—अज्ञानी ब्राह्मण, **इमं**—इस प्रकार के, **वयणं**—वचन, **अब्बवी**—बोलने लगे ॥५॥

दित्तरूवे—दैत्य की तरह, बीभत्सरूप वाला, **काले**—काला-कलूटा, **विकराले**—विकराल, **फोक्कनासे**—मोटी (बेडौल) नाक वाला, **ओमचेलए**—अल्प और जीर्ण वस्त्र वाला, **पंसु-पिसायभूए**—धूलि-धूसरित होने से पिशाच (भूत) की तरह दिखाई देने वाला, **कंठे**—गले में, **संकर-दूसं**—श्मसानी फटा चिथड़ा, **परिहरिय**—धारण किये हुए, (यह), **कयरे**—कौन, **आगच्छइ**—आ रहा है ? ॥६॥

अदंसणिज्जे—ओ अदर्शनीय रूप ! **तुमं**—तुम, **कयरे**—कौन हो ? **व**—तथा, **काए आसा**—किस आशा से, **इहं**—यहाँ, **आगओसि**—आए हो ?, **ओमचेलया**—अरे जीर्ण वस्त्र-धारी ! **पंसुपिसायभूया**—धूलि धूसरित होने से पिशाच की तरह दिखाई देने वाले ! **गच्छ**—चले जाओ, **क्खलाहि**—हटो यहाँ से, **इहं**—यहाँ; **किं**—क्यों, **ठिओसि**—खड़े हो ? ॥७॥

भावार्थ—तप से दुर्बल हुए, तथा जीर्ण और मलिन उपधि तथा उपकरण वाले उस मुनि को (अपने निकट) आते हुए देखकर अनार्य-भाव वाले (वे अशिष्ट ब्राह्मण) हंसने लगे ॥४॥

जातिमद से मत्त, हिंसक अजितेन्द्रिय (एवं) अब्रह्मचारी उन अज्ञानी ब्राह्मणों ने इस प्रकार कहा—॥५॥

बीभत्स रूप वाला, काला कलूटा, विकराल, बेडौल मोटी नाक वाला अधनंगा, धूलि-धूसरित होने से पिशाच-सा दिखाई देने वाला, गले में फटा चिथड़ा डाले हुए यह कौन (इधर) आ रहा है ? ॥६॥

ओ अदर्शनीय मूर्ति ! तुम कौन हो ? यहाँ किस आशा से आए हो ? गंदे और फटे वस्त्र से अधनंगे और धूलि-धूसरित होने से पिशाच-सा दिखाई देने वाले ! जा, भाग यहाँ से ! यहाँ क्यों खड़ा है ? ॥७॥

विशेषार्थ—**तवेण परिसोसियं** : छठ अट्ठम (बेला, तेला) आदि उत्कट

तप करने से जिसका शरीर सूख गया था। रक्त-मांस सूख जाने से कृश हो गया था।

पंतोवहि-उवगरणं—प्रान्त अर्थात—जीर्ण और मलिन, उपधि और उपकरण थे। उपधि और उपकरण में अन्तर यह है कि साधु के हर समय पहनने या उपयोग में आने वाले वस्त्र-पात्रादि 'उपधि' कहलाते हैं; तथा वर्षाऋतु तथा शीतकाल में ओढ़े जाने वाले कम्बल आदि 'उपकरण' कहलाते हैं।[1]

दित्तरुवे—दीप्त=वीभत्स या घृणास्पदरूप वाला। **फोक्कनासे**= (१) **पोक्कनास**—जिसकी नाक आगे से स्थूल और ऊँची तथा बीच में नीची और बैठी हुई हो। (२) बेडोल तथा मोटी चपटी नाक वाला।

ओमचेलए—अल्प और जीर्ण वस्त्र वाला। अथवा अधनंगा। **पंसुपिसायभूए**—शरीर धूल से भरा होने के कारण भूत-सा लगने वाला **संकरदूसं**—संकर का अर्थ अकुरड़ी। लोक अत्यन्त निकृष्ट तथा निरुपयोगी चीजों को उस पर फेंकते हैं। दुष्य का अर्थ है वस्त्र। अतः संकरदुष्य का अर्थ हुआ—उकरड़ी पर फेंके हुए-से बिलकुल निःसार जीर्ण-शीर्ण वस्त्र।
(वृहद् वृत्ति पत्र, ३५८)

विप्रों को अनार्य क्यों कहा गया ?—एक तो हरिकेशमुनि की आकृति ही वदसूरत थी, अंगोपांग भी वेडोल थे, दूसरे वे तपश्चर्या से अत्यन्त क्षीण हो रहे थे, तथा उनकी उपधि एवं उपकरण भी अत्यन्त जीर्ण और मलिन थे, अतः उनके आन्तरिक स्वरूप को न समझकर केवल बाह्य-स्वरूप को देखने वाले वे याज्ञिक लोग उपहास करें यह कोई अस्वाभाविक नहीं, तथापि आगुन्तक व्यक्ति का निष्प्रयोजन उपहास करना और उसे अपशब्द बोलना यह तो कथमपि शिष्टसम्मत या सभ्यजन के व्यवहारोचित नहीं हो सकता, अतः असभ्य एवं अशिष्ट पुरुषों जैसा व्यवहार करने के कारण उन विप्रों को अनार्य जैसे कहा गया। (वृहद् वृत्ति पत्र, ३५८)

याज्ञिक विप्रों का स्वरूप—प्रस्तुत दो गाथाओं (४-५) में याज्ञिक विप्रों के स्वरूप को अभिव्यक्त करने के लिए छह विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं—(१) अनार्य, (२) जातिमद से गर्वित, (३) हिंसक, (४) अजितेन्द्रिय (५) अब्रह्मचारी और (६) बाल-अज्ञानी। अनार्य का अर्थ है—जो त्याज्य वचन एवं व्यवहार से युक्त हों। 'हम ब्राह्मण हैं' उच्चवर्ण के हैं, इस प्रकार

---

१. उत्तरा० चूर्णि पृ० २०४ तथा वृहद् वृत्ति पत्र ३५८।

जातिमद से वे ब्राह्मण मतवाले हो रहे थे। यज्ञादि में पशुवध तथा आरम्भ समारम्भ करने के कारण वे हिंसक थे, इन्द्रिय-विषयलोलुप थे तथा अब्रह्मचारी इसलिए कहा गया था कि वे धर्मबुद्धि से मैथुनसेवन करने में, या पुत्रोत्पत्ति करने में धर्म मानते थे। 'बाल' इसलिए कहा गया है कि बालक्रीड़ा की तरह अग्निहोत्र आदि कर्मकाण्डों में प्रवृत्त थे अथवा मिथ्यात्वग्रस्त होने के कारण कामनामूलक यज्ञ करते थे, इसलिए भी वे बाल (अज्ञानी) थे।

तिन्दुकयक्ष द्वारा त्यागी मुनि के भिक्षा याचन का औचित्य कथन—

मूल—जक्खो तहिं तिंदुयरुक्खवासी,
अणुकंपओ तस्स महामुणिस्स।
पच्छायइत्ता नियगं सरीरं,
इमाइं वयणाइमुदाहरित्था ॥८॥

समणो अहं संजओ बंभयारी,
विरओ धण-पयण-परिग्गहाओ।
परप्पवित्तस्स उ भिक्खकाले,
अन्नस्स अट्ठा इहमागओ मि ॥९॥

वियरिज्जइ खज्जइ भुज्जई य,
अन्नं पभूयं भवयाणमेयं।
जाणाहि मे जायण-जीविणु त्ति,
सेसावसेसं लभऊ तवस्सी ॥१०॥

छाया—यक्षस्तत्र तिन्दुक-वृक्षवासी, अनुकम्पकस्तस्य महामुनेः।
प्रच्छाद्य निजकं शरीरं, इमानि वचनानि उदाहरत् ॥८॥
श्रमणोऽहं संयतो ब्रह्मचारी, विरतो धन-पचन-परिग्रहात्।
पर-प्रवृत्तस्य तु भिक्षाकाले, अन्नस्यार्थमिहागतोऽस्मि ॥९॥
वितीर्यते, खाद्यते भुज्यते च, अन्नं प्रभूतं भवतामेतत्।
जानीत मां याचना-जीविनमिति, शेषावशेषं लभतां तपस्वी ॥१०॥

पद्यानुवाद—तिन्दुकतरु-वासी यक्ष वहाँ, उस मुनि पर अनुकम्पा करके।
निजरूप छिपा ब्राह्मणगण से, यों बोला वचन भाव धरके ॥८॥

हूँ श्रमण संयमी ब्रह्मव्रती, धन-पाक-परिग्रह का त्यागी।
पर-हित-निष्पन्न अन्न लखकर, आया भिक्षा को वैरागी ॥६॥

वांटा खाया भोगा जाता विपुलान्न आपके इस घर में।
जानो मुझको भिक्षाजीवी, कुछ शेष मिले इस अवसर में ॥१०॥

अन्वयार्थ—**तहिं**—उस समय, **तिंदुय-रुक्खवासी जक्खो**—तिन्दुक (आबनूस) वृक्ष पर रहने वाले यक्ष ने, (जो) **तस्स महामुणिस्स**—उस महामुनि के प्रति, **अणुकंपओ**—अनुकम्पाशील था, **नियगं सरीरं**—अपने शरीर को, **पच्छायइत्ता**—छिपा कर, **इमाइं वयणाइं**—ये वचन, **उदाहरित्था**—कहे ॥८॥

अहं—मैं, **समणो**—श्रमण हूँ, **संजओ**—संयमी हूँ, **बंभयारी**—ब्रह्मचारी हूँ, **धन-पयण-परिग्गहाओ**—धन पचन (भोजन पकाने) और परिग्रह से, **विरओ**—विरत हूँ। (मैं) **उ**—तो, **भिक्खकाले**—भिक्षा के समय, **परप्पवित्तस्स**—दूसरों के लिए निष्पन्न, **अन्नस्स**—अन्न (आहार) के, **अट्ठा**—लिए, **इहं**—यहाँ (तुम्हारे यज्ञ मण्डप में) **आगओमि**—आया हूँ ॥६॥

भवयाणं—आपके (यहाँ) **एयं**—यह, **पभूयं अन्नं**—प्रचुर अन्न (आहार सामग्री है, (इसमें से) **वियरिज्जइ**—दिया जा रहा है, **खज्जइ**—खाया जा रहा है, **य**—और **भुज्जइ**—उपभोग में लाया जा रहा है। **जाणाहि**—आप यह निश्चित समझें कि, **मे**—मैं, **जायणाजीविणुत्ति**—याचना (भिक्षा) जीवी हूँ। (अतः) **सेसावसेसं**—बचे हुए अन्न में से कुछ, **तवस्सी**—तपस्वी को (भी) **लभऊ**—मिल जाए ॥१०॥

भावार्थ—उस समय उस महामुनि के प्रति अनुकम्पाशील तिन्दुक वृक्षवासी यक्ष ने अपने शरीर को (महामुनि के शरीर में) छिपा कर ये वचन कहे—॥८॥

—'मैं श्रमण हूँ, संयमी हूँ, ब्रह्मचारी हूँ तथा धन, पचन और परिग्रह का त्यागी हूँ। भिक्षा के समय दूसरों के लिए निष्पन्न आहार (लेने) के लिए मैं यहाँ आया हूँ ॥६॥

आपके यहाँ यह प्रचुर अन्न (आहार) है, (इसमें से) वितरित किया जा रहा है, खाया जा रहा है और उपभोग में लाया जा रहा है। आपको मालूम होना चाहिए कि मैं याचनाजीवी हूँ (भिक्षा पर ही निर्वाह करता हूँ) अतः बचे हुए अन्न में से भी कुछ इस तपस्वी को भी मिल जाए ॥१०॥

कठिन शब्दार्थ—**अणुकंपओ** (१) अनुकम्पाशील या अनुकम्पा की भावना वाला अथवा (२) अनुकूल चेष्टा करने वाला सेवक।

तिंदुकरुक्खवासी जक्खेः—तिन्दुक वन में एक बहुत बड़ा वृक्ष था। उसमें इस यक्ष का निवास था। इस वृक्ष के नीचे हरिकेश मुनि कायोत्सर्ग

करते थे। उनकी पवित्र धर्मक्रिया देखकर गुणानुरागी एवं धर्मात्मा की सेवा करने वाला वह यक्ष मुनि का सेवक वन गया था।

ये उद्‌गार मुनि के नहीं, यक्ष के हैं—जब यज्ञशाला के ब्राह्मणों ने मुनि का तिरस्कर किया और अपशव्द कह कर उन्हें वहां से चले जाने को कहा तो मुनि शान्तिभाव धारणा करके मौन रहे, मगर उनके एक सेवक यक्ष ने ब्राह्मणों को मुनि द्वारा यज्ञशाला से भिक्षा लेने का औचित्य एवं धर्म समझाया। वस्तुतः यज्ञशाला के प्रमुख याज्ञिक के साथ जो संवाद हरिकेश-मुनि के नाम से हुआ, वह उनका नहीं, किन्तु उनके शरीर में प्रविष्ट हुए उस यक्ष के संवाद हैं। मुनि का मौन रहना आक्रोशपरीषह पर उनकी पूर्ण विजयशीलता का परिचायक है।

याज्ञिक प्रमुख के दो प्रश्न : यक्ष द्वारा उत्तर—साधु के प्रतिनिधि के रूप में उनके शरीर में छिपे रूप में यक्ष का याज्ञिक प्रमुख के साथ जो वार्तालाप हुआ वह नौवीं दसवीं गाथाओं में अंकित हैं। ब्राह्मणों के मुख्य दो प्रश्न थे—(१) तू कौन है ? (२) यहाँ किसलिए आया है ?

यक्ष ने प्रथम प्रश्न के उत्तर में कहा कि—मैं श्रमण तथा संयत, ब्रह्म-चारी हूँ। दूसरे प्रश्न के उत्तर में यक्ष ने कहा—मैं स्वयं अन्नादि नहीं पकाता, नहीं आहार मोल लेने के लिए धन परिग्रह रखता हूँ। अतः जो आहार किसी दूसरे के निमित्त से तैयार किया गया हो, उसी में से थोड़ा सा भिक्षा के रूप में प्राप्त करने के लिए मैं भिक्षा के समय जाता हूँ। यही श्रमणों का आचार है। यहाँ भी मैं भिक्षा के लिए आया हूँ।

यक्ष का उत्तर साधु भापाके अनुरूप है, उसने साधुवृत्ति के यथार्थ स्वरूप का संक्षेप में निरूपण किया है, तथा विप्रों के असभ्यताभरे शव्दों का सभ्य भापा में उत्तर दिया है।

श्रमण, संयत और ब्रह्मचारी : तीनों के विशेषार्थ—'समण' शव्द के तीन रूपान्तर होते हैं—(१) शमन (२) समन, सममन, एवं (३) श्रमण। कपायों को उपशान्त करने वाला शमन है। जिसका समभाव में मन है, अथवा जो शत्रु मित्र, लाभालाभ में, और सुख दुःख आदि में सम रहता है, वह समन है, तथा जो कर्मों का क्षय करने के लिए अहर्निश ज्ञानादि में श्रम करता है, अथवा जो श्रम—तपश्चर्या करता है वह श्रमण है।

संयत का अर्थ—इन्द्रिय मनः संयमी, अथवा १७ प्रकार के संयम से युक्त, या सावद्य प्रवृत्ति से विरत। और ब्रह्मचारी का अर्थ है—सर्वथा तीन

करण तीन योग से मैथुन का त्यागी। तथा धन कंचनादि परिग्रह से सर्वथा रहित होते से अपरिग्रही है। चूर्णिकार के अनुसार जो श्रमण है, वह संयमी भी है, तथा जो संयत है, वह ब्रह्मचारी भी होता है अतः तीनों शब्द परस्पर आश्रित हैं। **"श्रमणः ? संयतः, कः संयतः ? यो ब्रह्मचारी"**—चूर्णि पृष्ठ २०५

वियरिज्जइ : गाथा का तात्पर्य—यक्ष ने ब्राह्मणों को यज्ञ समारोह में निष्पन्न प्रचुर आहार-सामग्री में से भिक्षु को यथोचित देने की प्रेरणा करते हुए कहा—**वियरिज्जई**—आपके इस यज्ञ में तैयार किये हुए अन्न में से दीनों, अनाथों आदि को अन्नादि पदार्थ दिये जाते है। कुछ अन्य ब्राह्मणों को खिलाया जाता है और कुछ स्वयं खाते हैं। यही कारण है कि 'वियरिज्जइ आदि तीन पद यहाँ दिये हैं। इसके पश्चात् यक्ष ने कहा—आपको यह ज्ञान होना चाहिए कि मैं भिक्षु हूँ, मेरा जीवन केवल भिक्षावृत्ति पर ही निर्भर है इसलिए आपके पास जो शेष बचा हुआ आहार है, उसमें से भी शेष अर्थात अन्त प्रान्त जैसा आहार या कुछ आहार तपस्वी को भी दो। तात्पर्य यह है कि तुम सबको यज्ञ में निष्पन्न आहार देते हो तो एक तपस्वी को भी बचे हुए में से कुछ शुद्ध आहार दो। कितना सुन्दर सुझाव है, यक्ष का ?

संवाद—इसके पश्चात याज्ञिक प्रमुख सोमदेव विप्र के साथ हरिकेश-मुनि के प्रतिनिधि तिन्दुकयक्ष का संवाद चलता है।

याज्ञिक-प्रमुख सोमदेव द्वारा भिक्षा देने का निषेध—

मूल—उवक्खडं भोयणं माहणाणं,
अत्तट्ठियं, सिद्धमिहेगपक्खं ।
न उ वयं एरिसमन्न-पाणं,
दाहामु तुज्झं किमिहं ठिओऽसि ॥११॥

छाया—उपस्कृतं भोजनं ब्राह्मणानां, आत्मार्थिकं सिद्धमिहैक-पक्षम् ॥
न तु वयमीदृशमन्नंपानं-दास्यामः तुभ्यं किमिह स्थितोऽसि ॥११॥

पद्यानुवाद—भोजन विप्रो के हेतु बना, एकान्त उन्हीं को देना है।
है व्यर्थ ठहरना तुम्हे यहां, जल अन्न नहीं यह देना है ॥११॥

अन्वयार्थ—इह—यहाँ, **उवक्खडं**—संस्कारित तैयार किया हुआ, **भोयणं**—भोजन, **माहणाणं अत्तट्ठियं**—केवल ब्राह्मणों के अपने लिए ही है। (क्योंकि यह) **सिद्धं**—पकाया हुआ भोजन, **एगपक्खं**—एक पक्षीय है। (अतः दूसरों के लिए उदेय है।) (अतः) **वयं**—हम, **एरिसं**—ऐसा, **अन्नपाणं**—अन्न-पान, **तुब्भं**—तुम्हें,

न उ—हर्गिज नहीं, दाहामु—देंगे। इहं—फिर यहाँ, किं—क्यों, ठिओसि—खड़ा है।

भावार्थ—'यहाँ तैयार किया हुआ भोजन केवल ब्राह्मणों के अपने लिए है, वह अब्राह्मणों के लिए अदेय है, क्योंकि यह पकाया हुआ भोजन एकपक्षीय है। अतः ऐसा अन्न-पान हम तुम्हें हर्गिज नहीं देंगे। फिर तुम यहाँ क्यों खड़े हो?"

विवेचन—एरिसं अन्नं-पाणं—शास्त्रोक्त विधि से केवल ब्राह्मणों के लिए संस्कारित करके तैयार किया हुआ अन्न-पान।

मुनि को आहार देने का निषेध क्यों?—ब्राह्मण प्रमुख सोमदेव ने ब्राह्मण के सिवाय किसी को भी आहार न देने को कहा है। उसमें चाण्डाल कुलोत्पन्न को तो कतई नहीं दे सकते। उसके पीछे मुख्य कारण उनके ग्रन्थ का निम्न कथन है—

'न शूद्राय मतिं दद्यात्, नोच्छिष्टं, न हविःकृतम्॥
न चास्योपदिशेद् धर्मं, न चास्य व्रतमादिशेत्॥

अर्थात्—'शूद्र को बोध न दें, न ही उच्छिष्ट (झूठा) दे, न यज्ञावशिष्ट दे, नही उसे धर्म का उपदेश दे, और न उसे व्रत ग्रहण कराए।'

'एकपक्ष' भोजन का तात्पर्य—जो केवल एक वर्ण के लिए अथवा शुद्ध ब्राह्मणों के लिए तैयार किया हुआ भोजन हो, वह एकपक्ष भोजन है। वही भोजन आत्मार्थिक होता है, जो दूसरे के उपयोग में नहीं आ सकता।

मुनि रूपी पुण्यक्षेत्र में दान देने को यक्ष की प्रेरणा—

मूल—थलेसु बीयाइ ववन्ति कासगा,
तहेव निन्नेसु य आससाए।
एयाए सद्धाए दलाह मज्झं,
आराहए पुण्णमिणं खु खेत्तं ॥१२॥

छाया—स्थलेषु बीजानि वपन्ति कर्षकाः, तथैव निम्नेषु चाऽऽशंसया।
एकया श्रद्धया दद्ध्वं मह्यं, आराधयत पुण्यमिदं खलु क्षेत्रम्।१२।

पद्यानुवाद—बोते बीज कृषक आशा से,
ऊँचे वा नीचे थल में।
उसी भाव से दो मुझको,
यह पुण्य क्षेत्र, फल नहीं निष्फल में ॥१२॥

अन्वयार्थ—**कासगा**—कृषक, **आससाए**—उपज की आशा से, **थलेसु**—स्थलों, ऊँचे, **य**—और, **निन्नेसु**—नीचे स्थलों=क्षेत्रों (खेतों) में, **बीयाइं**—बीज, **ववन्ति**—बोते हैं, **एआए सद्धाए**—इसी श्रद्धा से, (आप) **मज्झं**—मुझे, **दलाह**—दे दो **इणं**—इस, **पुण्णं खेत्तं**—पुण्य रूपी क्षेत्र को, **खु**—अवश्य ही, **आराहए**—आराधना कर लो।

भावार्थ—अच्छी फसल की आशा से किसान जैसे ऊँची भूमि में बीज बोते हैं, वैसे ही नीची भूमि में भी बोते हैं, इसी श्रद्धा से मुझे भिक्षा देकर इस पुण्यक्षेत्र का अवश्य ही आराधना कर लो। (यह पुण्य क्षेत्र है, इसमें दान का बीज डाला हुआ व्यर्थ नही जाता।)

विवेचन—थलेसु निन्नेसु : दो पद क्यों ?—किसान अच्छी उपज की आशा में ऊपर की और नीचे की दोनों भूमियों में इसलिए बीज बोता है, कि यदि अतिवृष्टि हुई तो नीची भूमि में अधिक मात्रा में जल इकट्ठा हो जाता है, इससे फसल सड़ जाती है, अन्नोत्पत्ति की संभावना कम होती है। इसलिए उच्च भूमि में बीज बोता है किन्तु यदि अल्पवृष्टि हुई तो उच्च भागों में उस समय अन्नोत्पत्ति की संभावना नहीं रहती इसलिए किसान नीचे स्थलों में बीज बोता है। क्योंकि अल्पवृष्टि से निम्न भूमि में अन्नोत्पत्ति हो जाती है। इसलिए किसान दोनों स्थलों में बीज बोता है। यक्ष के कहने का तात्पर्य यह है कि तुम अपनी आत्मा को निम्न भूमि के समान मानते हो तो मुझे ऊँची भूमि मानकर किसान की बुद्धि से भी देना उचित समझो।

सोमदेव द्वारा प्रत्युत्तर—

मूल—खेत्ताणि अम्हं विइयाणि लोए,
जहिं पकिण्णा विरुहन्ति पुण्णा।
जो माहणा जाइ विज्जोववेया,
ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं ॥१३॥

छाया—क्षेत्राण्यस्माकं विदितानि लोके,
येषु प्रकीर्णानि विरोहन्ति पूर्णानि।
ये ब्राह्मणा जाति-विद्योपेताः,
तानि तु क्षेत्राणि सुपेशलानि ॥१३॥

पद्यानुवाद—हैं क्षेत्र हमारे ज्ञात यहाँ, जिनमें उगते सब बीज कदा।
जो विप्र जाति विद्या से युत, जग में सुन्दर वे क्षेत्र सदा ॥१३॥

अन्वयार्थ—**लोए**—संसार में, **अम्हं**—हमें, (ऐसे) **खेत्ताणि**—क्षेत्र, **विइयाणि**—ज्ञात है, **जहिं**—जहाँ, **पकिण्णा**—बोये हुए (बीज) **पुण्णा**—पूर्णरूप से, **विरुहंति**—उग जाते हैं। **जे**—जो, **माहणा**—ब्राह्मण, **जाइ विज्जोववेया**—जाति और विद्या से सम्पन्न हैं, **ताइं तु**—वे ही, **खेत्ताइं**—क्षेत्र, **सुपेसलाइं**—मनोहर=उत्तम हैं ॥१३॥

भावार्थ—संसार में हमें वे क्षेत्र मालूम हैं जिनमें बोये हुए बीज पूर्णतया उग आते हैं। जो ब्राह्मण जाति और विद्या से युक्त हैं, वे ही सुन्दर (पुण्य) क्षेत्र हैं।

सोमदेव के कथन का तात्पर्य—जैसे इस लोक में उत्तम क्षेत्र में बोया हुआ धान्यादिबीज अपने समय पर विशिष्ट फल देता है, वैसे ही सुयोग्य पात्र में दिया हुआ दान भी परलोक में सब प्रकार से उत्तम फल का उत्पादक होता है। और वह पुण्य क्षेत्र है—जाति और विद्या से सम्पन्न ब्राह्मण ! अर्थात् जो व्यक्ति जन्म से ब्राह्मण हो; और चौदह विद्याओं में भी निपुण हो, वही सुन्दर पुण्य क्षेत्र है। तुम जैसे नीच जातीय शूद्र-कुलोत्पन्न, एवं चौदह विद्याओं से रहित व्यक्ति पुण्य क्षेत्र (दान के पात्र) नहीं हो सकते।

चौदह विद्याएँ—वैदिकपरम्परामान्य चौदह विद्याएँ ये हैं—(शिक्षा) (२) कल्प, (३) व्याकरण, (४) छन्द, (५) ज्योतिष शास्त्र, (६) निरुक्त, (७) ऋग्वेद, (८) सामवेद, (९) यजुर्वेद, (१०) अथर्ववेद, (११) मीमांसा, (१२) आन्वीक्षिकी, (१३) धर्मशास्त्र और (१४) पुराण।

विशेषार्थ—**पकिण्णा** :—प्रकीर्ण का अर्थ बिखेरे हुए या बिखेरने से होता है, किन्तु यहाँ उसका भावार्थ-बोये हुए बीज या बीज बोने से लिया गया है।

पुण्णा : दो रूप : तीन अर्थ—(१) पुण्यानि—पुण्य, अथवा (२) पूर्णाः—पूर्णरूप से, अथवा पूर्ण समस्त क्षेत्र।

यक्ष द्वारा उत्तर : पाप-पुण्य क्षेत्र का स्पष्टीकरण—

मूल—कोहो य माणो य वहो य जेसिं,
मोसं अदत्तं च परिग्गहं च।
ते माहणा जाई-विज्जा-विहूणा,
ताइं तु खेत्ताइं सुपावयाइं ॥१४॥

तुब्भेऽत्थ भो ! भारधरा गिराणं,
अट्ठं न जाणाह, अहिज्ज वेए ।
उच्चावयाइं मुणिणो चरंति,
ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं ॥१५॥

छाया—क्रोधश्च मानश्च वधश्च येषां, मृषा अदत्तं च परिग्रहं च ।
ते ब्राह्मणा जाति-विद्या-विहीनाः, तानि तु क्षेत्राणि सुपापकानि ।१४।
यूयमत्र भो ! भारधरा गिरां, अर्थं न जानीथाधीत्य वेदान् ।
उच्चावचानि मुनयश्चरन्ति, तानि तु क्षेत्राणि सुपेशलानि ॥१५।

पद्यानुवाद—है क्रोध, मान, हिंसा, असत्य,
और चौर्य, परिग्रह भी जिनमें ।
वे विप्र जाति-विद्या-विहीन,
अतिपापक्षेत्र जानो मन में ॥१४॥
तुम वाणी का ढो रहे भार,
पढ़ वेद अर्थ ना जान रहे ।
ऊँचे नीचे कुल में जाते,
मुनि वे ही पावन क्षेत्र कहे ॥१५॥

अन्वयार्थ—जेसिं—जिसमें या जिनके (जीवन में), कोहो—क्रोध, य—और माणो—मान है, (य)—तथा वहो—वध—हिंसा, य—और मोसं—मृषा, असत्य है, अदत्तं—अदत्त—चोरी, च—और परिग्गहं—परिग्रह है, च—और भी (अब्रह्मचर्य आदि पाप है) ते—वे, माहणा—ब्राह्मण, जाइ-विज्जा-विहूणा—जाति और विद्या से विहीन है, ताइं—वे, खेत्ताइं तु—क्षेत्र वास्तव में, सुपावयाइं—पाप क्षेत्र हैं ।१४।

भो—हे ब्राह्मणो, अत्थ—इस संसार में, तुब्भे—तुम लोग, गिराणं—वेदादि रूपी वाणी का, भारधरा—भार उठाने वाले हो । वेए—वेदों को, अहिज्ज—पढ़कर (भी) (उनके) अट्ठ—अर्थ को, न जाणाह—नहीं जानते, (जो) मुणिणो—मुनिवर (भिक्षा के लिए), उच्चावयाइं—ऊँच-नीच कुलों (घरों) में, (समभावपूर्वक) चरंति—जाते हैं, तु—वास्तव में, ताइं=वे ही, सुपेसलाइं खेत्ताइं—सुन्दर=पुण्य-क्षेत्र हैं ॥१५॥

भावार्थ—जिनके जीवन में क्रोध, मान, हिंसा, असत्य, चौर्य और परिग्रह है, वे ब्राह्मण वास्तव में जाति और विद्या दोनों से रहित हैं । अतः वे क्षेत्र वस्तुतः पापक्षेत्र हैं ॥१४॥

हे ब्राह्मणो ! इस जगत में तुम लोग केवल वेदादि रूप वाणी का भार ढोने वाले हो। तुम वेदों का अध्ययन करके भी उनके वास्तविक अर्थ को नहीं जानते। जो मुनिवर समभाव पूर्वक ऊँच-नीच छोटे-बड़े घरों में भिक्षाचर्या करते हैं, वे ही वास्तव में सुन्दर पुण्य-क्षेत्र हैं ॥१५॥

विवेचन—उन ब्राह्मणों को जाति और विद्या से रहित क्यों कहा ?—जाति और वर्ण की व्यवस्था वैदिक धर्म में भी जन्म से नहीं, अपितु गुण और कर्म (धंधे) के आधार पर मानी गई हैं, अतः जन्म से जो ब्राह्मण हो, किन्तु उसमें ब्राह्मण के ब्रह्मचर्य आदि गुण न हो और न ही यथार्थ रूप में सभी को अध्ययन—अध्यापन कर्म हो। वे ब्राह्मण जाति सम्पन्न कैसे कहे जा सकते हैं ? निष्कर्ष यह है कि आप ब्राह्मण तो हैं, लेकिन क्रोधादि कषाय और हिंसादि पांच पापों में प्रवृत्त हैं, इसलिए आप वास्तव में ब्राह्मण नहीं कहे जा सकते। आप लोग विद्या सम्पन्न भी नहीं हैं, क्योंकि विद्या का जो सात्विक फल और **'सा विद्या या विमुक्तये'** विद्या वही है, जो वन्धनमुक्ति के लिए हो; के अनुसार विद्या का जो विमुक्ति रूप प्रयोजन होना चाहिए, वह आप (ब्राह्मणों में) प्रतीत नहीं होता। वास्तव में विद्यावान वही हैं, जो संवरमार्ग के अवलम्वन द्वारा हिंसादि पांचों आश्रवों का निरोध करता हो। जातिमात्र से न तो किसी में ब्राह्मणत्व आ सकता है और न ही कोई विद्यावान हो सकता है।

विद्याविहीनता के लिए दूसरा तर्क—यक्ष ने १५वीं गाथा में उक्त ब्राह्मणों को विद्याविहीन बताने के लिए यह तर्क प्रस्तुत किया है कि तुम लोग वेदवाणी के भारवाहक हो। वेदों को पढ़कर भी उनके वास्तविक अर्थ को नहीं जानते। इस कथन के पीछे युक्ति यह थी कि यदि वेदों के वास्तविक अर्थ को तुमने जाना, समझा तो तुमको अपने ज्ञातव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य का ज्ञान होता जो तुममें दिखाई नहीं देता, क्योंकि तुम लोग हिंसादि-जनित यज्ञों में प्रवृत्त हो रहे हो, क्रोधादि कषायों से युक्त हो। इस दृष्टि से तुम लोग वेदों के वास्तविक ज्ञाता तथा यथार्थ अर्थ के वेत्ता भी नहीं हो, कण्ठस्थ होने पर भी वे तुम्हारे जीवन में नहीं उतरे हैं, इसलिए वास्तव में तुम लोग सद्‌विद्या से विहीन हो।

भिक्षाजीवी मुनि को उत्तम क्षेत्र क्यों कहा ?—प्रस्तुत (१५ वीं) गाथा में मुनि को उत्तम क्षेत्र कहा है, वह विद्या (ज्ञान) और चारित्र की दृष्टि से कहा है, इसका स्पष्टीकरण इसी अध्ययन में आगे चलकर किया गया है। यहाँ तो चारित्र के दो अंग-समता और अहिंसा की दृष्टि से कहा गया है

कि जो मुनि समभावपूर्वक ऊँच-नीच-मध्यम सभी घरों से भिक्षाचरी करते हैं, पचन-पाचनादि क्रिया से रहित हैं वे ही उत्तम क्षेत्र हैं। उन्हें ही वास्तव में वेद (शास्त्र) वेत्ता समझना चाहिए, क्योंकि पुण्यरूप फल को उत्पन्न करने वाले भावरूप उत्तम क्षेत्र मुनि ही हैं।

उच्चावयाइं : दो रूप—(१) **उच्चावचानि**—अर्थात ऊँचे-नीचे कुल—गृह। (२) **उच्चव्रतानि**—जिनके उच्च अर्थात् महान व्रत हैं, वे महाव्रतधर (क्षेत्र भव्य हैं।)

ब्राह्मण पण्डितों के छात्रों द्वारा प्रतिवाद—

मूल—अज्झावयाणं पडिकूलभासी,
पभाससे किंतु सगासि अम्हं।
अवि एयं विणस्स उ अन्न-पाणं,
न य णं दाहामु तुमं नियण्ठा ! ॥१६॥

छाया—अध्यापकानां प्रतिकूलभाषी, प्रभाससे, किंतु सकाशेऽस्माकम्।
अप्येतद् विनश्यतु अन्न-पानं, न च दास्यामः तुभ्यं निर्ग्रन्थ ! ॥१६॥

पद्यानुवाद—हम अध्यापक जन के आगे, प्रतिकूल वचन क्यों तू बोले।
निर्ग्रन्थ ! तुम्हें हम ना देंगे, चाहे भोजन सड़ जाय भले ॥१६॥

अन्वयार्थ—**अज्झावयाणं**—अध्यापकों—आचार्यों या शिक्षकों के, **पडिकूलभासी**—प्रतिकूल बोलने वाले, **नियंठा**—ऐ निर्ग्रन्थ ! **अम्हं**—हमारे, **सगासि**—समक्ष **किं तु**—तू क्या, **पभाससे**—बढ़-बढ़ कर बोल रहा है ? **एयं**—यह, **अन्नपाणं**—अन्न पानी, **अवि**—भले ही, **विणस्सउ**—नष्ट हो, सड़ जाए, **णं**—परन्तु, **तुमं**—तुमको **नय दाहामु**—हर्गिज नहीं देंगे ॥१६॥

भावार्थ—'अध्यापकों के प्रतिकूल बोलने वाले ऐ मुनि ! हमारे आगे *तू क्या बढ़-बढ़कर बोल रहा है ? हे निर्ग्रन्थ ! यह अन्न-पान भले ही सड़कर* नष्ट हो जाये, किन्तु हम तुझे तो नहीं देंगे।'

विवेचन—छात्रों के तिरस्कारयुक्त वचन—यज्ञशाला में बैठे हुए उन ब्राह्मण पण्डितों के छात्रों ने यक्ष कथन को मुनिकथन समझकर ही ये तिरस्कारयुक्त तथा दान-निषेधात्मक वचन कहे थे। वस्तुतः प्रतिकूल भाषण भी अभीष्ट प्राप्ति में बाधक बनता है। पहले तो उन ब्राह्मणों में मुनि के बाह्य रूप एवं जातिहीनता आदि को देखकर रोष भरा था, फिर यक्ष के द्वारा

उनकी जातिमत्ता एवं विद्यावत्ता पर करारी चोट करने के कारण उन छात्रों का रोष भड़क उठा, इससे उन्होंने ये कठोर उद्‌गार निकाले।

कुछ शब्दों के विशेषार्थ—'किं तु'—ये दोनों शब्द निंदा और क्रोध के वाचक हैं। **'नियंठा'** का शब्दशः अर्थ तो ऐ निर्ग्रन्थ।' होता है, किन्तु यहाँ व्यंग्योक्ति पूर्वक कथन होने से निर्ग्रन्थ का अर्थ होता है—जिसकी गाँठ में एक भी पैसा न हो, ऐसा दरिद्र! "**सगासि**' का अर्थ होता है—पास—निकट" किन्तु यहाँ समक्ष—सामने अर्थ लिया गया है। **पभाससे के** दो अर्थ निकलते हैं—(१) बढ़-बढ़कर बोल रहा है (२) प्रकर्षरूप से यथा-तथा असम्बद्ध बोल रहा है।

यक्ष द्वारा पुनः मुनि को एषणीय आहार दान की प्रेरणा—

मूल—समिईहि मज्झं सुसमाहियस्स,
गुत्तीहि गुत्तस्स जिइन्दियस्स।
जइ मे न दाहित्थ अहेसणिज्जं,
किमज्ज जन्नाण लहित्थ लाहं ? ॥१७॥

छाया—समितिभिर्मह्यं सुसमाहिताय,
गुप्तिभिर्गुप्ताय जितेन्द्रियाय।
यदि मह्यं न दास्यथाऽऽथैषणीयं,
किमद्य यज्ञानां लप्स्यध्वे लाभम् ॥१७॥

पद्यानुवाद—समिति समाहित गुप्तिगुप्त,
इद्रियजित, मेरे लिए अभी।
निर्दोष अन्न जल ना दोगे,
क्या पाओगे फल-यज्ञ कभी ? ॥१७॥

अन्वयार्थ—**समिईहिं**—समितियों से, **सुसमाहियस्स**—सुसमाहित, **मज्झं**—मुझ **गुत्तीहिं**—गुप्तियों से, **गुत्तस्स**—गुप्त (और) **जिइंदियस्स**—जितेन्द्रिय को, **जइ**—यदि **अह**—अब, **एसणिज्जं**—एषणीय आहार. **मे**—मुझे, **न दाहित्थ**—नहीं दोगे तो, **अज्ज**—आज, (इन) **जन्नाणं**—यज्ञों का, **किं**—क्या **लाहं**—लाभ, **लाहित्थ**—प्राप्त करोगे ॥१७॥

भावार्थ—मैं पाँच समितियों से सुसमाहित हूँ और तीन गुप्तियों से गुप्त हूँ तथा जितेन्द्रिय हूँ। अब यदि तुम मुझे यह एषणीय (निर्दोष) आहार नहीं देते हो तो भला आज तुम इन यज्ञों का कैसे लाभ प्राप्त करोगे ?

विवेचन—यक्ष-कथन का तात्पर्य—यक्ष के द्वारा पुनः ब्राह्मणों को आहारदान के लिए प्रेरित करने का तात्पर्य यह है कि जैसे मधु घृत आदि पदार्थ किसी स्वच्छ एवं सुन्दर पात्र में ही सुरक्षित और मूल रूप में रह सकते हैं, उसी प्रकार सुपात्र को दिया हुआ दान ही विशेष फलीभूत होता है, कुपात्र या अपात्र को दिया हुआ नहीं। इसीलिये प्रस्तुत गाथा में यक्ष द्वारा मुनि की सुपात्रता के स्वरूप को दोहराया गया है कि जो पाँच समितियों से सुसमाहित, तीन गुप्तियों से गुप्त एवं जितेन्द्रिय हो, वही सुपात्र है। मुनि की सुपात्रता को बतला करके यक्ष ने बताया है कि दाता को परम लाभ इसी में है कि ऐसे सद्गुणों वाले सुपात्र भिक्षु को घर में आने पर श्रद्धा पूर्वक आहार-दान दें। इसी आशय से यक्ष ने उन छात्रों को उपदेश दिया। स्पष्ट शब्दों में—यक्ष ने अपना आशय व्यक्त किया कि मैं सुपात्रता के गुणों से युक्त हूँ। तुम यज्ञ कर रहे हो, तो यज्ञ का वास्तविक पुण्य प्राप्ति रूप लाभ इस (साधु) सुपात्र को दान देकर अभी नहीं कमाओगे तो फिर कब कमाओगे?)

अध्यापकों द्वारा मुनि को यज्ञशाला से बाहर निकालने की प्रेरणा—

मूल- के इत्थ खत्ता उवजोइया वा,
अज्झावया वा सह खण्डिएहिं।
एवं खु दण्डेण फलेण हन्ता,
कण्ठम्मि घेत्तूण खलेज्ज जो णं? ॥१८॥

छाया—केऽत्र क्षत्रा उपज्योतिष्का वा, अध्यापका वा सह खण्डिकैः।
एनं खलु दण्डेन फलेन हत्वा कण्ठे गृहीत्वा स्खलेयुः ये ॥१८॥

पद्यानुवाद—है कौन यहाँ क्षत्रिय पाचक, वा छात्र संग पाठक घर पर।
मार इसे डंडे मुक्के, कण्ठ पकड़, कर दे बाहर ॥१८॥

अन्वयार्थ—एत्थ—यहाँ, के—कौन या है कोई, खत्ता—क्षत्रिय, वा—अथवा उवजोइया—उपज्योतिष्क—रसोइये, वा—अथवा, खंडिएहि सह—छात्रों के (साथ), अज्झावया—अध्यापक, जो (णं)—जो, एयं—इस (निर्ग्रन्थ) को दंडेण—डंडे से, फलेण—(अथवा) फल से या काष्ठ के पटिये से, हंता—पीटकर, कण्ठम्मि घेत्तूण—कण्ठ पकड़कर (अथवा) गलहत्थी देकर (इसे) खलेज्ज—यहाँ से निकाल दें।

भावार्थ—है कोई यहाँ, क्षत्रिय, पाचक (रसोइये) या अध्यापक और छात्र; जो इस निर्ग्रन्थ को डंडे से, फलक से पीटकर और कण्ठ पकड़कर यहाँ से बाहर निकाल दे।

विवेचन—वाद-विवाद में निरुत्तर होने पर बल-प्रयोग—युक्तिपूर्वक वाद का प्रतिवाद करने में असमर्थ ब्राह्मणों ने छात्रों आदि को, मुनि के प्रति बल प्रयोग करने का आदेश दिया। जब वाद-विवाद में मनुष्य निरुत्तर हो जाता है तो बल प्रयोग—मारपीट करने परं उतारू हो जाता है। सज्जन और दुर्जन पुरुष में यही अन्तर है।

कठिन शब्दार्थ— खलेज्ज—निकाल दे। **उवजोइया**—अग्नि के पास बैठने वाले रसोइये। **खंडिएहिं**— छात्रों के साथ या सहित।

(बृहद् वृत्ति पत्र ३६४)

अध्यापकों की प्रेरणा पर छात्रों द्वारा मुनि पर प्रहार—

मूल—अज्झावयाणं वयणं सुणेत्ता,
उद्धाइया तत्थ बहू कुमारा।
दण्डेहि वित्तेहि कसेहि चेव,
समागया तं इसि तालयन्ति ॥१९॥

छाया—अध्यापकानां वचनं श्रुत्वा, उद्धावितास्तत्र बहवः कुमाराः।
दण्डैर्वेत्रैः कशैश्चैव, समागता स्तमृषिं ताडयन्ति ॥१९॥

पद्यानुवाद—अध्यापक की वाणी सुनकर, जल्दी में दौड़े छात्र यहाँ।
डंडे बेंतों और चाबुक से, आ ऋषि को ताड़न लगे वहां ॥१९॥

अन्वयार्थ—अज्झावयाणं—अध्यापकों के, **वयणं**— वचन, **सुणेता**—सुनकर **बहुकुमारा**—बहुत-से कुमार, **उद्धाईया**—दौड़ते हुए, **तत्थ**—वहाँ **समागया**—आए, (और) **दंडेहि**—डंडों से, **वित्तिेह**—बेतों से, **चेव**—और, **कसेहि**—चाबुकों से **तं**—उन **ईसि**—(हरिकेश) ऋषि को, **तालयंति**—पीटने लगे।

भावार्थ—अध्यापकों के वचन सुनकर वहाँ बहुत—से कुमार (छात्र) दौड़कर चले आए और उस ऋषि को डंडे, चाबुक, एवं बेंत आदि से पीटने लगे।

राजपुत्री भद्रा द्वारा क्रुद्ध कुमारों को रोकने हेतु शिक्षा—

मूल—रन्नो तहिं कोसलियस्स धूया,
भद्दत्ति नामेण अणिंदियंगी।
तं पासिया संजयं हम्ममाणं,
कुद्धे कुमारे परिनिव्ववेइ ॥२०॥

देवाभिओगेण निओइएणं,
दिन्ना मु रण्णा, मणसा न झाया।
नरिंद - देविंदऽभिवंदिएणं,
जेणामि[1] वंता इसिणा स एसो ॥२१॥

एसो हु सो उग्गतवो महप्पा,
जिइंदिओ संजओ बंभयारी।
जो मे तया नेच्छइ दिज्जमाणिं,
पिउणा सयं कोसलिएण रन्ना ॥२२॥

महाजसो एस महाणुभागो,
घोरव्वओ घोर-परक्कमो य।
मा एयं हीलह अहीलणिज्जं,
मा सव्वे तेएण भे निद्दहेज्जा ॥२३॥

छाया— राज्ञस्तत्र कौशलिकस्य दुहिता, भद्रेति नाम्नाऽनिन्दितांङ्गी।
तं दृष्ट्वा संयतं हन्यमानं, क्रुद्धान् कुमारान् परिनिर्वापयति ॥२०॥
देवाभियोगेन नियोजितेन, दत्ताऽस्मि राज्ञा, मनसा न ध्याता।
नरेन्द्र-देवेन्द्राभिवन्दितेन, येनास्मि वान्ता ऋषिणा स एषः ॥२१॥
एष खलु स उग्रतपा महात्मा, जितेन्द्रियः संयतो ब्रह्मचारी।
यो मां तदा नेच्छति दीयमानां, पित्रा स्वयं कौशलिकेन राज्ञा ॥२२॥
महायशा एष महानुभागः, घोरव्रतो घोर-पराक्रमश्च।
मैनं हीलयता हीलनीयं, मा सर्वान् तेजसा भवतो निर्धाक्षीत् ॥२३॥

पद्यानुवाद— नृप कौशलिक-तनया 'भद्रा',
जिसके अनिन्द्य थे अंग बने।
उस मुनि पर पड़ती मार देख,
छात्रों को लगी शान्त करने ॥२०॥

देवयोग से प्रेरित नृप ने,
सेवा में मुझको दे डाला।
चाहा न मुझे मन से, त्यागा,
सुर-नरपति-पूजित व्रत वाला ॥२१॥

---

१. पाठान्तर—'जेणऽम्हि'

यह निश्चय मुनि हैं उग्रतपी,
इन्द्रियजित् संयत ब्रह्मव्रती।
जो पिता कौशलिक नृप द्वारा,
दी गई, न चाहा मुझे कभी ॥२२॥

अतिबलशाली घोरव्रती ये,
हैं पूज्य अवज्ञा-पात्र नहीं।
मत हील, यशस्वी महाभाग ये,
कर दें न तेज से भस्म कहीं ॥२३॥

अन्वयार्थ—**तहिं**—उस यज्ञशाला में, **रन्नो कोसलियस्स**—राजा कौशलिक की, **अणिंदियंगी**—अनिन्द्य-सुन्दरी, **भद्दत्ति नामेण**—'भद्रा' नाम की, **धूया**—पुत्री, **तं संजयं**—उस संयमी मुनि को, **हम्ममाणं**—(क्रुद्ध कुमारों द्वारा) पिटते, **पासिया**—देखकर, **कुद्धे कुमारे**—(उन) क्रुद्ध कुमारों को, **परिनिव्ववेइ**—सब प्रकार से शान्त करने लगी ॥२०॥

देवाभिओगेण निओइएण—देव की बलवती प्रेरणा से प्रेरित हुए। **रन्ना**—राजा (कौशलिक) ने, **दिन्नामु**—(पहले) मुझे (इस मुनि को) दिया था, (किन्तु इस ऋषि ने मुझे) **मणसा**—मन से भी, **न झाया**—नहीं चाहा; **जेण इसिणा**—जिस ऋषि के द्वारा, **मि**—मैं, **वंता**—परित्याग की गई थी, **स**—वे ही, **नरिंद-देविंदभिवंदिएण**—नरेन्द्रों और देवेन्द्रों से अभिवन्दित पूजित, **एसो**—यह ऋषि हैं ॥२१॥

एसो—यह, **सो हु**—वही, **उग्गतवो**—उग्रतपस्वी, **महप्पा**—महात्मा, **जिइंदिओ**—जितेन्द्रिय, **संजओ**—संयमी (और) **बंभयारी**—ब्रह्मचारी (महर्षि) हैं, **जो**—जिन्होंने **तया**—उस समय, **सयं**—स्वयं, **पिउणा कोसलिएण रन्ना**—मेरे पिता कौशलिक राजा के द्वारा, **मे दिज्जमाणी**—मुझे इन्हें दिये जाने पर भी, **नेच्छइ**—नहीं चाहा ॥२२॥

एस—ये ऋषि, **महाजसो**—महान यशस्वी हैं, **महाणुभागो**—महानुभाग हैं, **घोरव्वओ**—घोरव्रती हैं, **य**—और **घोर-परक्कमो**—घोरपराक्रमी हैं। **एयं**—ये, **अहीलणिज्जं**—अवहेलना करने योग्य नहीं हैं। **मा हीलह**—इनकी अवहेलना मत करो। **मा**—ऐसा न हो कि, **तेएण**—(अपने) तेज से (कहीं यह) **भे सव्वे**—तुम सबको, **निद्दहेज्जा**—भस्म करदें ॥२३॥

भावार्थ—उस यज्ञशाला में, राजा कौशलिक की अनिन्द्य सुन्दरांगी 'भद्रा' नाम की पुत्री उपस्थित थी। उस संयमी मुनि को क्रुद्ध कुमारों द्वारा पीटे जाते देखकर, वह उन क्रुद्ध कुमारों को सब प्रकार से शान्त करने लगी ॥२०॥

(भद्रा कहती है—) देव की बलवती प्रेरणा से प्रेरित हुए मेरे पिता राजा कौशलिक के द्वारा मैं (पहले) इसी मुनि को दी गई थी, किन्तु इस ऋषि ने मुझे मन से भी नहीं चाहा। अतः जिस ऋषि द्वारा मैं परित्याग की गई थी, नरेन्द्रों और देवेन्द्रों द्वारा अभिवन्दित ये वे ही ऋषि हैं ॥२१॥

ये वही उग्र तपस्वी हैं, महान् आत्मा हैं, इन्द्रिय-विजेता हैं, तथा संयमी और ब्रह्मचारी हैं, जिन्होंने उस समय स्वयं मेरे पिता राजा कौशलिक के द्वारा मुझे इनकी सेवा में दिये जाने पर भी इन्होंने नहीं चाहा ॥२२॥

ये ऋषि महायशस्वी, महाभाग्यशाली, घोरव्रती और विलक्षण पराक्रम वाले हैं। इन्हें अपमानित मत करो। ये अपमानित करने योग्य नहीं हैं। ऐसा न हो कि (इनकी अवज्ञा करने से) कहीं ये तुम सबको अपने तेज से भस्म कर डालें ॥२३॥

विवेचन - राजपुत्री 'भद्रा' का परिचय—मुनिदीक्षा अंगीकार करने के बाद हरिकेश-मुनि ज्ञान-दर्शन-चारित्र की साधना में संलग्न थे। धर्मोचित आचार का पालन करते हुए वे उपवास, बेला, तेला, चौला, पंचौला अर्ध मासिक और मासिक आदि तपश्चरण करने लगे। उत्कट तपस्या से उनका शरीर कृश हो गया था। एक बार वे विहार करते हुए वाराणसी पहुँचे। वहाँ उन्होंने तिन्दुक वन में मण्डिक कुक्षि यक्ष के यक्षायतन में निवास किया। मुनि के तप-संयम से प्रभावित होकर मण्डिकयक्ष अपने साथी यक्षों के साथ मुनि की सेवा में अहर्निश तत्पर रहने लगा।

वाराणसी के तत्कालीन राजा कौशलिक की एक सर्वांग-सुन्दरी कन्या थी, उसका नाम 'भद्रा' था। एक बार राजपुत्री भद्रा समग्र पूजा सामग्री लेकर, अपनी दासियों के साथ, यक्ष की पूजा करने के लिए उसी यक्षायतन में आई। उस समय उसने वहाँ दुःसह तपश्चर्या के कारण शरीर से अत्यन्त कृश, कुरूप और मलिन वस्त्रों से युक्त हरिकेश मुनि को देखा, तो उसका मन घृणा से भर गया। अतः उस राजपुत्री ने उन पर थूक दिया।

राजपुत्री भद्रा के द्वारा किये मुनि के इस भयंकर अपमान से यक्ष कुपित हो उठा। यक्ष ने राजकुमारी के शरीर में प्रवेश किया, जिससे वह अस्वस्थ होकर मुँह से प्रलाप करने लगी। राजकुमारी को यह हालत देख कर दासियाँ उसे उठाकर राजमहल में ले गई। राजा ने अनेक मांत्रिकों एवं चिकित्सकों द्वारा विविध उपचार कराए, फिर भी वह स्वस्थ न हुई।

आखिर एक दिन राजकुमारी के शरीर में प्रविष्ट यक्ष राजकुमारी के मुख से स्पष्ट बोला—"इस कन्या ने मेरे यक्षायतन में ठहरे हुए एक संयमी महा-तपस्वी मुनि का घोर अपमान किया है। इसलिए मैंने ही इसकी यह अव-दशा की है। यदि यह कन्या उस संयमी मुनि के साथ पाणिग्रहण करे तो मैं इसके शरीर से निकल जाऊँगा, अन्यथा, तब तक मैं इसे स्वस्थ नहीं होने दूँगा।" राजा ने यक्ष की बात स्वीकार कर ली। यक्ष ने राजकन्या को छोड़ दिया, वह पहले की तरह स्वस्थ हो गई।

तदनन्तर कौशलिक राजा विवाह के योग्य वस्त्रालंकारों से कन्या को सुसज्जित करके विवाह की सामग्री लेकर राजकन्या के साथ तिन्दुकवन के उस यक्षायतन में पहुँचा, जहां हरिकेश मुनि ठहरे हुए थे। मुनि के चरणों में नमस्कार करके हाथ जोड़ कर राजा कौशलिक प्रार्थना करने लगा—'मुनि-वर ! इस कन्या के और मेरे अपराध क्षमा कीजिए तथा उस अपराध के प्रायश्चित के रूप में मैं अपनी इस कन्या को परिचारिका के रूप में आपको ही देता हूँ। आप इसे स्वीकार कर इसके साथ पाणिग्रहण कीजिए।'

राजपुत्री ने भी पिता के इस कथन का नम्रतापूर्वक समर्थन किया। पिता और पुत्री के इस प्रकार के वचन सुनकर हरिकेश मुनि ने कहा—"राजन् ! बुद्धिमान् जनों द्वारा निन्दित अब्रह्मचर्य-सेवन से मैं सर्वथा विरक्त और निवृत्त हूँ। पाणिग्रहण करना तो दूर रहा, स्त्री-संग का मन से भी विचार करना तथा स्त्री का स्पर्श तक करना भी हमारे लिए वर्जित है तथा इसे अपनी सेवा में रखना तो दूर रहा, जहाँ स्त्री-पशु-नपुंसक निवास करते हों, उस मकान में भी रहना तथा स्त्री के साथ एक स्थान में निवास करना एवं एकान्त में अकेली स्त्री से बातचीत करना भी हमारे लिए निषिद्ध है। इसलिए आपकी पुत्री से मेरा कोई मतलब नहीं है।" यह सुनकर राजकन्या भद्रा ने कहा—"मुनिवर ! फिर मेरे अपराध का प्रायश्चित कैसे हो ? यक्षराज ने आपके साथ पाणिग्रहण करने पर ही मुझे छोड़ने का कहा था।' आप मुझे स्वीकार नहीं करते। तब मेरी क्या दशा होगी ?" इस पर हरिकेश मुनि ने कहा—"भद्रे ! मैं संयमशील साधु हूँ। फिर मैं तुम्हें कैसे स्वीकार कर सकता हूँ। हाँ, मैं तुम्हारे अपराध के लिए तुम्हें क्षमा करता हूँ। तुम्हारे साथ जो कुछ भी व्यवहार हुआ है, यह सब मेरी सेवा में रहने वाले इस यक्ष की लीला है। मेरा उससे कोई सरोकार नहीं।"

यह सुनकर राजा और राज कन्या दोनों मुनि को नमस्कार करके खिन्न चित्त होकर अपने राजभवन में वापस लौट आए।

राजा को बहुत विचार मग्न देखा तो राजपुरोहित सोम ने कहा—'महाराज ! चिन्ता की क्या बात है—देवभोग की तरह ऋषि पत्नी के रूप में दी गई कन्या ब्राह्मण को दी जा सकती है। इस लोक सूत्र के आधार पर ऋषि के द्वारा परित्यक्त राजकन्या किसी योग्य ब्राह्मण को दे देनी चाहिए। पुरोहित के कहने से राजकुमारी भद्रा का विवाह राजपुरोहित सोमदेव के साथ कर दिया। तब से वह ऋषि पत्नी, ब्राह्मण पत्नी बन गई।

एक बार सोमदेव विप्र ने एक विशाल यज्ञ करने का निश्चय किया। उसमें बाहर से अनेक विद्वान सम्मिलित हुए। सबके भोजन के लिए सोमदेव ने अनेक प्रकार की भोजन सामग्री तैयार करवाई।

इसी अवसर पर महर्षि हरिकेश का मास तप के पारणक में वहाँ भिक्षा के निमित्त पदार्पण हुआ और जो घटना घटी, वह मूल गाथाओं में अंकित है।

ऋषि हरिकेश पर कुमारों को प्रहार करते देख राजपुत्री भद्रा ने उनका क्रोध शान्त करने का और प्रहार करने से रोकने का प्रयत्न किया था।

याज्ञिक पत्नी भद्रा द्वारा मुनि के महात्म्य का वर्णन—जो ब्राह्मण एवं छात्र हरिकेश मुनि के अन्तरंग स्वरूप से तथा उनके तप, त्याग, संयम एवं अनासक्ति से अपरिचित थे, उन्हें अपने भूतपूर्व प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर मुनि के गुणों तथा उनके प्रभाव से परिचित किया।

भद्रा ने मुनि की विषय-त्यागवृत्ति, संयम निष्ठा और निःस्पृहता का परिचय देते हुए कहा कि इन्होंने मेरे पिता के द्वारा बार-बार अनुरोध करने पर भी मेरे जैसी अनिन्द्य-सुन्दरी राजपुत्री को अतितुच्छ समझकर त्याग कर दिया था। प्रसन्नतापूर्वक मेरे पिता द्वारा मुझे अर्पण करने पर भी इस महर्षि ने मन से भी मेरी इच्छा नहीं की। अनायास प्राप्त मेरी जैसी स्त्री का सर्वथा त्याग कर दिया, यह इन ऋषिवर के विलक्षण त्याग, संयम निष्ठा और निःस्पृहता का परिचायक है।

चारों गाथाओं का फलितार्थ—मुनि पर कुमारों को प्रहार करते देख राजपुत्री भद्रा ने उनके क्रोध को शान्त करने हेतु मुनि के उत्तमोत्तम गुणों तथा महाप्रभाव का वर्णन करते हुए कहा—आप लोग ऐसे उत्कृष्ट त्यागी, तपस्वी, शान्त, निःस्पृह और जितेन्द्रिय महात्मा की घोर आशातना कर रहे हो, यह बहुत ही निन्द्य आचरण है। ऐसे सर्वोत्तम भिक्षु का निरादर करने के बदले, जितना भी सत्कार हो सके करना चाहिए। इनकी अधिक से अधिक

सेवा-भक्ति करनी चाहिए इसी में मेरा, आपका तथा अन्य भद्रपुरुषों का कल्याण है। ये मुनिवर अपने लिए ही नहीं, नरेन्द्रों एवं देवेन्द्रों द्वारा भी वन्दनीय पूजनीय हैं।

इस पर जब छात्र प्रहार करने से नही रुकने लगे तो भद्रा ने चेतावनी के स्वर में कहा—देखो, ये मुनि साधारण व्यक्ति नहीं है, इनमें असाधारण तप और त्याग है, ये महायशस्वी, तेजस्वी और वर्चस्वी पुरुष हैं। अचिन्त्य शक्तियों के धनी हैं, इनमें शाप और अनुग्रह की शक्ति भी है। इसलिए इनकी जरा-सी भी अवज्ञा तुम्हारे लिए भयंकर अभिशाप रूप हो सकती है। ये अपने तपस्तेज से सबको भस्म करने में समर्थ है। अतः ऐसा घृणित कार्य करने से रुक जाओ।" भद्रा के कहने पर प्रहारोद्यत कुमार सहम गए।

कठिन शब्दों के विशेषार्थ—देवाभिओगेण—देव (यक्ष) के अभियोग = बलात् प्रेरणा से। **उग्गतवो**—उत्कट तपस्या करने वाला तपस्वी। **महप्पा**—जिसकी आत्मा प्रशस्त हो, वह महापुरुष।

यक्षों ने भी कुमारों को रोका—

मूल—एयाइं तीसे वयणाइं सोच्चा,
पत्तीइ भद्दाइ सुभासियाइं।
इसिस्स वेयावडियट्ठयाए,
जक्खा कुमारे विणिवारयन्ति ॥२४॥

छाया—एतानि तस्या वचनानि श्रुत्वा, पत्न्याः भद्रायाः सुभाषितानि।
ऋषेर्वैयावृत्यर्थतया, यक्षाः कुमारान् विनिवारयन्ति ॥२४॥

पद्यानुवाद—उस विप्र वधू भद्रा के सुनकर, वचन सुभाषित हितकारी।
ऋषि-सेवा हित लगे यक्ष ने रोका कुमार को उपकारी ॥२४॥

अन्वयार्थ—**पत्तीइ**—सोमदेव पुरोहित की पत्नी, **तीसे भद्दाइ**—उस भद्रा के **एयाइं**—इन, **सुभासियाइं वयणाइं**—सुभाषित वचनों को, **सोच्चा**—सुनकर, **इसिस्स**—उक्त महर्षि की, **वेयावडियट्ठयाए**—वैयावृत्त—सेवा के लिए (उपस्थित हुए), **जक्खा**—यक्षों ने, **कुमारे**—उन ब्राह्मण कुमारों को, **विनिवारयंति**—विशेषरूप से रोक दिया।

भावार्थ—सोमदेव पुरोहित की पत्नी भद्रा के इन सुभाषित वचनों को सुन कर ऋषि की सेवा के लिए उपस्थित हुए यक्ष उन कुमारों को (मुनि की अवज्ञा करने से) रोकने लगे।

विवेचन— यक्षों का आगमन क्यों ?— अब तक हरिकेश मुनि के साथ जो घटना घटी उसमें केवल एक यक्ष की उपस्थिति थी। अब जबकि मुनि पर विशेष संकट आता देखा, तथा छात्रों द्वारा प्रहार और अपमान होता देखा, तब भद्रा के द्वारा कुमारों को कहा गया; मुनि के महात्म्य एवं प्रभाव का वर्णन सुनकर उसे मानो सत्य सिद्ध करने के लिए उक्त मण्डिक यक्ष के साथी अन्य यक्ष भी वहाँ अकस्मात् उपस्थित हो गए और उन कुमारों को बल पूर्वक वहाँ से हटाने लगे।

यक्षों द्वारा कुमारों की अवदशा—

मूल—ते घोररूवा ठिय अन्तलिक्खे,
असुरा तहि तं जणं तालयन्ति।
ते भिन्नदेहे रुहिरं वमन्ते,
पासित्तु भद्दा इण माहु भुज्जो ॥२५॥

छाया—ते घोररूपाः स्थिता अन्तरिक्षे असुरास्तत्र तं जनं ताडयन्ति।
तान् भिन्नदेहान् रुधिरं वमन्तः दृष्ट्वा भद्रेदमाह भूयः ॥२५॥

पद्यानुवाद—वे घोर असुर नभ में स्थित हो, उन सबको दण्ड प्रदान किया।
भिन्न देह, मुँह रक्त गिराते, लख भद्राने फिर बोध दिया ॥२५॥

अन्वयार्थ—**अंतलिक्खे**—अन्तरिक्ष—आकाश में, **ठिय**—स्थित, **घोररूवा**—भयंकर रूप वाले, **ते असुरा**—वे असुरभावापन्न यक्ष, **तहिं**—वहाँ (से ही) **तं जणं**—उन कुमारों को, **तालयंति**—प्रताड़ित करने लगे। (प्रहार से) **ते**—उन कुमारों के, **भिन्नदेहे**—क्षत-विक्षत शरीर, (तथा) **रुहिरं वमंते**—मुंह से रक्त का वमन होते, **पासित्तु**—देखकर, **भद्दा**—भद्रा ने, **भुज्जो**—पुनः (उनसे) **इणमाहु**—इस प्रकार कहा ॥२५॥

भावार्थ—आकाश में स्थित भयानक रुप वाले वे असुर भावापन्न यक्ष वहाँ (से ही) (मुनि पर प्रहार करने वाले) उन कुमारों को मारने लगे। प्रहार से उन कुमारों के क्षत-विक्षत शरीर तथा मुंह से खून की उलटी होते देखकर भद्रा ने फिर उनसे इस प्रकार कहा।

भद्रा द्वारा ब्राह्मणों को आशातना का दुष्परिणाम बताकर कर्त्तव्य-प्रेरणा—

मूल—गिरिं नहेहिं खणह, अयं दंतेहिं खायह।
जायतेयं पाएहिं हणह, जे भिक्खुं अवमन्नह ॥२६॥

आसीविसो उग्गतवो महेसी,
घोरव्वओ घोर परक्कमो य ।
अगणिं व पक्खंद पयंगसेणा,
जे भिक्खुयं भत्तकाले वहेह ॥२७॥

सीसेण एयं सरणं उवेह,
समागया सव्वजणेण तुब्भे ।
जइ इच्छह जीवियं वा धणं वा
लोगं पि एसो कुविओ डहेज्जा ॥२८॥

छाया—गिरिं नखैः खनथ, अयो दन्तैः खादथ ।
जाततेजसं पादैर्हथ, ये भिक्षुमवमन्यध्वे ॥२६॥

आशीविष उग्रतपो महर्षिः, घोरव्रतो घोरपराक्रमश्च ।
अग्निमिव प्रस्कन्दथ पतंगसेना, ये भिक्षुकं भक्तकाले विध्यथ ॥२७॥

शीर्षेणैनं शरणमुपेत, समागताः सर्वजनेन यूयं ।
यदीच्छथ जीवितं वा धनं वा, लोकमप्येष कुपितो वहेत् ॥२८॥

पद्यानुवाद—नख से पर्वत को खोद रहे, दाँतों से लोह चबाते हो ॥
जो श्रमण-अनादर करते हो, पैरों से अग्नि दबाते हो ॥२६॥

आशीविष उग्रतपी ऋषिवर है, घोर-पराक्रम व्रतधारी ।
पावक में गिरते दल पतंग-सम, भिक्षुक को देते दुःख भारी ॥२७॥

यदि चाह रहे हो जीवन धन, तो नतशिर सब मिल गहो शरण ।
हो रुष्ट साधु यह तपधारी, कर सकता क्षण में लोक दहन ॥२८॥

अन्वयार्थ—**जे**—जो, **भिक्खुं**—भिक्षु का, **अवमन्नह**—अपमान करते हैं; (वे) **नहेहिं**—नखों से, **गिरिं**—पर्वत को, **खणह**—खोदते हैं, **दंतेहिं**—दांतों से, **अयं**—लोहा, **खायह**—चबाते हैं, (और) **पाएहिं**—पैरों से, **जायतेयं**—अग्नि को, **हणह**—कुचलते हैं ॥२६॥

(ये) **महेसी**—महर्षि, **आसीविसो**—आशीविष (लब्धि से युक्त) हैं, **उग्गतवो**—उग्र-तपस्वी हैं, **घोरव्वओ**—घोरव्रती हैं, **य**—और, **घोरपक्कमो**—घोरपराक्रमी हैं । **जे**—जो लोग, **भत्तकाले**—भिक्षाकाल में, **भिक्खुय**—भिक्षु को, **वहेह**—मारते हैं, (वे) **पतंगसेणा**—पतंगों के दल की, **व**—तरह, **अगिंग**—अग्नि में, **पक्खंद**—कूदते हैं ॥२७॥

जइ—यदि, **जीवियं**—अपना जीवन, **वा**—अथवा, **धणं वा**—धन, **इच्छइ**—चाहते हो, (तो) **तुब्भे**—तुम, **सव्वजणेण समागया**—सब लोगों के साथ कर, **सीसेण**—

मस्तक झुका कर, **एयं**—इनकी, **सरणं**—शरण, **उवेह**—ग्रहण करो। (अन्यथा) **एसो**—यह ऋषि, **कुविओ**—कुपित होने पर **लोगंपि**—समूचे विश्व को भी, **डहेज्जा**—जला सकता है ॥२८॥

भावार्थ—जो भिक्षु का अपमान करते हैं, वे नखों से पर्वत खोदते हैं, दांतों से लोहा चबाते हैं और पैरों से अग्नि को रौंदते हैं ॥२६॥

ये महर्षि आशीविष लब्धि से युक्ति हैं, उग्रतपस्वी हैं, घोरव्रती हैं, और घोर पराक्रमी है। जो लोग भोजन (भिक्षा) के समय में (घर पर आये हुए) भिक्षु को व्यथित करते हैं, वे पतंगों के दल की भांति (स्वयं) अग्नि में गिरते हैं ॥२७॥

यदि अपना जीवन अथवा धन चाहते हो तो तुम लोग मिलकर नत मस्तक होकर इनको शरण स्वीकार करो। अन्यथा यह ऋषि कुपित होने पर समग्र लोक को भी भस्म कर सकता है ॥१८॥

विवेचन—भद्रा का पुनः कथन क्यों और किसलिए ?—ब्राह्मण कुमारों की दुर्दशा तथा उनके अपने किये हुए दुर्व्यवहार का दुष्परिणाम देखकर भद्रा ने जो पुनः कहा, वह कुमारों को नहीं, किन्तु वहाँ उपस्थित समस्त ब्राह्मणों को कहा है। भद्रा ने सारे ब्राह्मण कुल के विनाश की आशंका से ये चेतावनी के उद्‌गार निकाले हैं। यही कारण है कि २८वीं गाथा में उसने स्पष्ट कह दिया है—'आँखें खोलकर देख लो, मुनि के अपमान का कुफल ! अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है, अपने जीवन और चल अचल धन-की सुरक्षा चाहते हो तो सब लोग एकजुट होकर मुनि की शरण में जाओ उनसे अपने अपराध के लिए क्षमा-याचना करो। अन्यथा, ये कोपायमान होने पर सारे विश्व को भस्म कर सकते हैं।"

तीनों गाथाओं का फलितार्थ—मुनि का अपमान करने पर इनका तो कुछ भी बिगड़ने वाला नहीं है, किन्तु बिगाड़ा तुम्हारा हो होगा। पर्वत को नखों से खोदने वाले के नख ही नष्ट हो जाते हैं। लोहे को दांतों से चबाने की चेष्टा करने वाले के दांत ही टूट जायेंगे, तथा पैरों से अग्नि को रौंदने से अग्नि शान्त होने के बदले पैरों को ही जला देगी। पतंगा आग में कूदकर स्वयं ही भस्म होता है, आग का कुछ भी नहीं बिगड़ता। अतः मुनि को भिक्षा के समय घर पर आये हुए उत्तम अतिथि को अपमानित करना मारना-पीटना, अपना ही अहित है। अतः सावधान होकर सब मिलकर इनकी शरण लो, इनसे क्षमा माँगो।

छात्रों की दुर्दशा का कारण—

मूल—अवहेडिय पिट्ठिस-उत्तमंगे,
पसारिया वाहु अकम्म चेट्ठे।
निब्भेरियच्छे रुहिरंवमंते,
उड्ढंमुहे निग्गय जीह-नेत्ते ॥२६॥

छाया—अवहेठित-पृष्ठ सदुत्तमाङ्गान्,
प्रसारित वाह्वकर्म चेष्टान्।
प्रसारिताक्षान् रुधिरं वमन्तः,
ऊर्ध्व-मुखान्निर्गत जिह्व-नेत्रान् ॥२६॥

पद्यानुवाद—सिर पीछे को और झुके,
फैले भुज चेष्टा वन्द हुयी।
खुल रहीं आँख शोणित वहते,
मुंह ऊपर नयन जीभ निकली ॥२६॥

अन्वयार्थ—अवहेडिय-पिट्ठि-सउत्तमंगे—(उन छात्रों का) सिर पीठ तक झुक गया था, **पसारिया वाहु**—उनकी वाँहें फैल गई थीं। **अकम्मचिट्ठे**—वे कर्म चेष्टा रहित (निश्चेष्ट) हो गए थे, **निब्भेरियच्छे**—उनकी आँखें फटी की फटी रह गईं, **रुहिरं वमंते**—उनके मुंह से रक्त निकलने लगा था, **उड्ढं मुहे**—उनके मुंह ऊपर को हो गए थे, **निग्गह-जीहनेत्ते**—उनकी जीभें और आँखें वाहर निकल आईं थीं ॥२६॥

भावार्थ—मुनि पर प्रहार करने वाले छात्रों का मस्तक पीठ पीछे तक झुक गया था, उनकी भुजाएँ फैल गयी थीं, वे निश्चेष्ट हो गए थे, उनकी आँखें खुली की खुली रह गयी थीं, उनके मुह से खून वह रहा था, उनके मुंह ऊपर हो गये थे, उनकी जिह्वाएँ और आँखें वाहर निकल आई थीं।

विवेचन—यक्षों ने छात्रों की क्या दशा की ?—यद्यपि क्षमाशील मुनि अपने पर प्रहार करने वालों का मन से भी अनिष्ट नहीं चाहते थे, और न ही उन्होंने यक्ष को दण्ड देने के लिए कहा था, किन्तु मुनि के परम-सेवक यक्ष ब्राह्मणों के द्वारा होता हुआ मुनि का अपमान और प्रताड़न सह नहीं सके। अतः ब्राह्मणों की आँखें खोलने और उन्हें भविष्य में किसी भी मुनि की अवज्ञा न करने हेतु यह किया।

सपत्नीक सोमदेव द्वारा मुनि से क्षमायाचना—

मूल—ते पासिया खण्डिय कट्ठभूए,
विमणो विसण्णो अह माहणो सो ।
इसिं पसाएइ सभारियाओ,
हीलं च निंदं च खमाह भंते ! ॥३०॥
बालेहिं मूढेहिं अयाणएहिं,
जं हीलिया तस्स खमाह भंते !
महप्पसाया इसिणो हवंति,
न हु मुणी कोवपरा हवंति ॥३१॥

छाया—तान् दृष्ट्वा खण्डिकान् काष्ठभूतान्,
विमना विषण्णोऽथ ब्राह्मणः सः ।
ऋषिं प्रसादयति सभार्याकः,
हीलां च निन्दां च क्षमस्व, भदन्त ! ॥३०॥
बालैर्मूढैरज्ञैः, यद् हीलितास्तत्,
क्षमस्व भदन्त !
महाप्रसादा ऋषयो भवन्ति,
न खलु मुनयः कोपभरा भवन्ति ॥३१॥

पद्यानुवाद—छात्रों को निश्चेष्ट काष्ठवत्,
देख विप्रमन हुआ विषाद ।
सपत्नीक ऋषि को खुश करने,
बोला—क्षमा करें अपराध ॥३०॥
अज्ञ मूर्ख इन बालजनों ने,
मुनिवर हीलित अपमान किया ।
क्षमा करें मुनिजन प्रसन्न (हो),
होती न क्रोधरत कभी क्रिया ॥३१॥

अन्वयार्थ—**ते खण्डिय**—उन छात्रों को, **कट्ठभूए**—काष्ठ की तरह निश्चेष्ट **पासिया**—देखकर, **सो माहणो**—वह सोमदेव ब्राह्मण, **विमणो**—मन में उदास (और) **विसण्णो**—विषादयुक्त हो गया । **अह**—फिर (वह) **सभारियाओ**—अपनी पत्नीसहित, **इसिं**—ऋषि (हरिकेश) को, **पसाएइ**—प्रसन्न करने लगा, **भंते !**—भगवन् !, **हीलं**

च निंदं च—हमने जो आपकी अवहेलना और निन्दा की है, खमाह—उसे क्षमा करें ॥३०॥

भंते !—भगवन् !, **मूढेहिं**—मूढ़, **अयाणएहिं**—अज्ञानी, **बालेहिं**—बालकों ने, **जं**—जो (आपकी), **हीलिया**—अवहेलना (अवज्ञा) की है, **तस्स**—उसके लिये उन्हें (आप), **खमाह**—क्षमा करें। **इसिणो**—ऋषिजन, **महप्पसाया**—महा प्रसन्नचित्त, **हवंति**—होते हैं। **मुणी**—मुनिजन, (कभी) **कोवपरा**—कोपपरायण, **न हु**—नहीं, **हवंति**—होते ॥३१॥

भावार्थ—इस प्रकार उन छात्रों को काठ की तरह निश्चेष्ट पड़े देख कर वह सोमदेव ब्राह्मण अत्यन्त उदास और खिन्न हो गया। वह अपनी पत्नी को साथ लेकर हरिकेश ऋषि को प्रसन्न करने (मनाने) लगा—भंते ! हमारे द्वारा आपकी जो अवहेलना और निन्दा हुई है, उसे आप क्षमा करें ॥३०॥

भगवन् ! इन मूढ़ बालकों ने अज्ञानतावश आपकी जो अवज्ञा की है, उसके लिए आप उन्हें क्षमा करें। ऋषिजन महाप्रसाद युक्त होते हैं, मुनिजन कभी कोपपरायण नहीं होते ॥३१॥

विवेचन—दोनों गाथाओं का फलितार्थ—प्रथम गाथा (३०) में सोमदेव ब्राह्मण पश्चात्ताप युक्त होकर मुनि से अपने अपराध के लिए क्षमा याचना करता है, जबकि अगली गाथा (३१) में वह बालकों (कुमारों) की ओर से उनसे क्षमा माँगता है। क्योंकि कुमारों की निश्चेष्ट दशा देखकर उसके हृदय को बहुत आघात पहुँचा था। उसने मन ही मन यह अनुमान लगा लिया कि कुमारों की यह दुर्दशा मुनि के अपमान और प्रताड़न का ही फल है। अतः मुनि कृपा करें तो ही ये बालक पुनः सचेष्ट और स्वस्थ हो सकते हैं। इसीलिए उसने मुनि से कहा—महात्मा पुरुष महाकृपालु होते हैं, इसलिए आप जैसे महामुनि किसी पर भी कोप नहीं करते; अपितु अविनीतों पर भी दयाभाव दिखलाते हैं।

इस गाथा में मुनियों के क्षमापरायण, महाकृपालु एवं अनुकम्पाशील स्वभाव का सुन्दर चित्रण किया है।

महप्पसाया : दो अर्थ—(१) महान् प्रसन्नतायुक्त, महाकृपालु।

मुनि द्वारा ब्राह्मणों का मनःसमाधान

मूल—पुव्विं च इण्हिं च अणागयं च,
मणप्पदोसो न मे अत्थि कोइ।
जक्खा हु वेयावडियं करेंति,
तम्हा हु एए निहया कुमारा ॥३२॥

छाया—पूर्वं चेदानीं चानागतं च,
मनः प्रदोषो न मेऽस्ति कोऽपि ।
यक्षाः खलु वैयावृत्यं कुर्वन्ति,
तस्मात् खलु एते निहताः कुमाराः ॥३२॥

पद्यानुवाद—है न रोष मन में मेरे, था पूर्व न आगे भी होगा ।
यक्ष यहाँ सेवा करते हैं, उनने इनको मारा होगा ॥३२॥

अन्वयार्थ—**मे**—मेरे, **कोई मणप्पदोसो**—मन में कोई द्वेष, **न पुव्विं**—न तो पहले था, **च**—और, **न इण्हि अत्थि**—न अब है, **च**—और न, **अणागयं**—आगे भविष्य में ही होगा । **जक्खा**—(ये) यक्ष, **हु**—ही, **वेयावडियं**—हमारी सेवा, **करेंति**—करते हैं, **तम्हा हु**—इसी कारण (उनके द्वारा), **एए कुमारा**—ये कुमार, **निहया**—प्रताड़ित किये गये हैं ॥३२॥

भावार्थ—मेरे मन में (तुम्हारे प्रति) न तो कोई द्वेष पहले था, न अब है, और न भविष्य में ही होगा। किन्तु ये यक्ष हमारी सेवा करते हैं, इस कारण उन्होंने ही इन कुमारों को प्रताड़ित किया है ।

विवेचन—गाथा का तात्पर्य : मुनि द्वारा ब्राह्मणों का समाधान—मुनि ने कहा—जिस समय तुमने और तुम्हारे छात्रों ने मेरा अपमान और भर्त्सना की, बाद में छात्रों ने मेरे पर प्रहार किया, उस समय, और इस समय तथा आगे भविष्य काल में भी मेरे हृदय में तुम लोगों के प्रति जरा भी द्वेष भाव नहीं था, न है, और न होगा। तात्पर्य यह है कि मेरा (मुनि का) इस संसार में कोई भी शत्रु या मित्र नहीं। मेरे लिए तो प्राणिमात्र ही अपनी आत्मा के समान है। यदि कोई मेरे प्रति शत्रुता या मित्रता रखता है, तो उसके प्रति भी मेरा कोई द्वेष या राग नहीं रहता है। मैं तो दोनों पर ही समभाव रखने वाला हूँ। इसलिए मैंने तुम्हारा या इन कुमारों का कोई अनिष्ट नहीं किया है।

यदि कोई हमारे शरीर को चन्दन से चर्चित करे तो उस पर हमारा कोई राग भाव नहीं और यदि कोई शस्त्रादि से प्रहार करे तो उसके प्रति कोई क्रोध या द्वेष नहीं। हम सभी जीवों पर समता भाव रखते हैं।

उन ब्राह्मणों के मन में यह शंका हो सकती है, कि "जब आप हमारे प्रति समभावी हैं तो फिर हमारे इन कुमारों को क्यों प्रताड़ित किया गया है ? इनकी इस प्रकार की दुर्दशा का कारण हम तो आपको ही मानते हैं, क्योंकि कुमारों ने आपको प्रताड़ित किया था।" इसका समाधान करते हुए

मुनि ने कहा—"इन कुमारों को प्रताड़ित करने की न तो मेरी किसी को प्रेरणा है, और न ही इसमें मेरा मन-वचन-काया से कोई सहयोग है। ये यक्ष लोग मेरी सेवा करते हैं। मेरी सेवा में रहने वाले यक्षों का यह कोप अवश्य है। उन्होंने ही तुम्हारे इन कुमारों की ऐसी दुर्दशा की है।" मुनि के इस कथन से सोमदेव आदि विप्रों का मनःसमाधान हो गया कि इन कुमारों का प्रताड़न करने में मुनि का कोई हाथ नहीं है।

अध्यापकों द्वारा मुनि की सेवा में जाकर आहार ग्रहण करने की प्रार्थना—

मूल—अत्थं च धम्मं च वियाणमाणा,
तुब्भे न वि कुप्पह भूइपन्ना।
तुब्भं तु पाए सरणं उवेमो,
समागया सव्वजणेण अम्हे ॥३३॥

अच्चेमु ते महाभाग !, न ते किंचि न अच्चिमो।
भुंजाहि सालिमं कूरं, नाणावंजण-संजुयं ॥३४॥

इमं च मे अत्थि पभूयमन्नं, तं भुंजसु अम्ह अणुग्गहट्ठा।
बाढं ति पडिच्छइ भत्तपाणं, मासस्स उ पारणए महप्पा ॥३५॥

छाया—अर्थं च धर्मं च विजानन्तः, यूयं नाऽपि कुप्यथ भूतिप्रज्ञाः।
युष्माकं तु पादौ शरणमुपेमः, समागताः सर्वजनेन वयम् ॥३३॥
अर्चयामस्ते महाभाग !, न ते किंचिन्नार्चयामः।
भुंक्ष्व शालिमन्तं कूरं, नाना—व्यंजन—संयुतम् ॥३४॥
इदं च मेऽस्ति प्रभूतमन्नं, तद् भुङ्क्ष्वास्माकमनुग्रहार्थम्।
बाढमिति प्रतीच्छति भक्त-पानं, मासस्य तु पारणके महात्मा ॥३५॥

पद्यानुवाद—अर्थ-धर्म-विद् भूतिप्रज्ञ, करते न क्रोध हैं आप कभी।
यह सोच आपके चरण-शरण में, आ पहुँचे हम आज सभी ॥३३॥
महाभाग ! हम पूजें तुमको, कुछ भी न जो तव पूज्य नहीं।
लें भोजन शालि अन्न आदिक, नाना व्यंजन से युक्त यहीं ॥३४॥
है अन्न बहुत मेरे घर पर, खायें वह कृपा दिखा हम पर।
हाँ, कह मुनि ने वह भक्त-पान, ले लिया मास-तप पारण पर ॥३५॥

अन्वयार्थ—**अत्थं**—अर्थ, **च**—और, **धम्मं**—धर्म को, **वियाणमाणा**—यथार्थ रूप से जानने वाले, **भूइपन्ना**—भूतिप्रज्ञ=रक्षाप्रधान मंगलमयी बुद्धि से युक्त,

तुब्भे—आप, न वि कुप्पह—कभी क्रोध नहीं करते। (इसीलिए) सव्वजणेण—सब पारिवारिक जनों के साथ, समागया—एकत्र होकर आए हुए, अम्हे—हम, तुब्भं तु पाए—आप के ही चरणों में, सरणं—शरण, उवेमो—ग्रहण कर रहे हैं ॥३३॥

महाभाग !—हे महाभाग !, ते—(हम) आपकी, अच्चेमु—अर्चना करते हैं। ते—आपका, न किंचि—ऐसा कुछ भी नहीं है. न अच्चिमो—जिसकी हम अर्चना न करें। (अब आप) नाणा-वंजण संजुअं—(दही आदि) नाना प्रकार के व्यंजनों से युक्त, (इस) सालिमं कूरं—शालिमय चावलों का, भुंजाहि—भोजन करिये ॥३४॥

इमं च—और यह, मे—हमारा (मेरा), पभूयमन्नं—(तैयार किया हुआ) प्रचुर अन्न है। अम्ह—हमारे, अणुग्गहट्ठा—अनुग्रहार्थ (आप), तं—इसका भुंजसु—भोजन करिये, या ग्रहण कीजिए। (इस पर) बाढं त्ति—अच्छा स्वीकार है, यह कहकर उस, महप्पा—महात्मा मुनि ने, मासस्स उ—मासिक तप के, पारणए—पारणे में, भत्तपाणं—आहार-पानी, पडिच्छइ—ग्रहण किया ॥३५॥

भावार्थ—धर्म और अर्थ को विशेषरूप से जानने वाले, रक्षाप्रधान मंगलबुद्धिसम्पन्न आप कभी क्रोध नहीं करते हैं। इसीलिए पारिवारिक जनों के साथ मिलकर हम सब आये हैं, और आपके ही चरणों में शरण ले रहे हैं ॥३३॥

हे महाभाग ! हम आपकी पूजा करते हैं। आपके शरीर का कोई भी अंग ऐसा नहीं है, जो पूजनीय न हो। अब आप अनेक व्यंजनों से युक्त शालिमय चावलों से निष्पन्न भोजन ग्रहण करिये ॥३४॥

'और हमारे यहाँ यह प्रचुर अन्न (आहार) तैयार है। आप हमारे पर अनुग्रह करके इसका उपभोग करिये।' (इस पर) 'हाँ' ऐसा कहकर उस महान् आत्मा हरिकेश मुनि ने अपने मासिक तप के पारणे में आहार-पानी ग्रहण कर लिया ॥३५॥

विवेचन—'अत्थं च धम्मं च वियाणमाणा': विशेषार्थ—मुनि की विशेषता इन शब्दों से सूचित की गई है कि आप अर्थ और धर्म के विशेषज्ञ हैं। 'अर्थ' के यहाँ प्रसंगवश तीन अर्थ किये गये हैं—(१) समस्त शास्त्रों का अर्थ—तत्व या अभिधेय, (२) शुभाशुभ कर्म—विभाग, (३) राग-द्वेष का विपाक। इसी प्रकार 'धर्म' के भी तीन अर्थ किये गये हैं—(१) वस्तु-स्वभाव, (२) दशविध श्रमण धर्म, अथवा (३) सदाचार या साध्वाचार। वियाणमाणा का अर्थ है—विशेष रूप से या विविध रूप से जानने वाले।

भूइपन्ना=भूतिप्रज्ञ—(१) सर्वजीवरक्षा में लगी हुई बुद्धि वाले,

(२) मंगलमयी वृद्धि वाले, (३) श्रेष्ठ वृद्धि युक्त बुद्धि वाले। भूति के तीन अर्थ हैं—रक्षा, मंगल और वृद्धि। (चूर्णि पृ. २१०)

मुनि के चरण-शरण में क्यों आए?—पहले मुनि से क्षमा याचना करने के लिए केवल सोमदेव पुरोहित अपनी पत्नी भद्रा सहित आए थे, किन्तु इन गाथाओं से ध्वनित होता है कि सोमदेव अपने सभी परिवारजन तथा यज्ञ-शाला के उपाध्यायों आदि को लेकर आये थे। वे मुनि के गुणों से आकर्षित एवं प्रभावित होकर ही आये थे। यही कारण है कि उन्होंने मिलकर एक स्वर से कहा—हम आपकी सब प्रकार पूजा—सत्कार-सम्मान करते हैं। आपकी कोई भी वस्तु यहाँ तक कि चरणरज भी ऐसी नहीं है जो पूजनीय न हो, आप तो देवों के द्वारा पूजनीय हैं। हमारे पास आपकी पूजा के योग्य वस्तु तो नहीं है, फिर भी शालि निष्पन्न चावल आदि भोजन है, उसे ग्रहण कीजिए आदि। चरण-शरण इसलिए ग्रहण की कि उन्हें पूरा निश्चय हो गया था कि मुनि की चरण-शरण ग्रहण करने तथा पूजा से ही हमारे कुमारों की रक्षा तथा आरोग्य-प्राप्ति हो सकती है।

मुनि को आहारदान का प्रभाव : देवों द्वारा पंच दिव्यों का प्रकटीकरण—

मूल—तहियं गन्धोदय पुप्फवासं,
दिव्वा तहिं वसुहारा य वुट्ठा।
पहयाओ दुन्दुहीओ सुरेहिं,
आगासे अहोदाणं च घुट्टं ॥३६॥

छाया—तस्मिन् गन्धोदक-पुष्पवर्षः, दिव्या तस्मिन् वसुधारा च वृष्टा।
प्रहता दुन्दुभयः सुरैः, आकाशेऽहो दानं च घुष्टम् ॥३६॥

पद्यानुवाद—देवों ने वहाँ गंधोदक और, दिव्य पुष्प, धन बरसाया।
दुन्दुभी बजायी थी नभ में, 'अहोदान' हर्षित गाया ॥३६॥

अन्वयार्थ— **सुरेहिं**—देवों ने, **तहियं**—वहाँ (उस यज्ञशाला में), **गंधोदय**—अचित्त सुगन्धित जल (गन्धोदक) की, (तथा) **पुप्फवासं**—अचित्त फूलों की वर्षा की। **य**—और, **तहिं**—वहाँ, **दिव्वा**—दिव्य—देवों के द्वारा कृत, **वसुहारा वुट्ठा**—वसुधारा—धन की वृष्टि हुई। **दुन्दुहीओ**—दुन्दुभियाँ, **पहयाओ**—बजाई, **च**—और, **आगासे**—आकाश में, **अहोदाणं**—अहोदान का, **घुट्टं**—घोष किया ॥३६॥

भावार्थ—उस यज्ञशाला में देवों ने गन्धोदक और सुगन्धित अचित्त पुष्पों की वर्षा की, तथा वहाँ दिव्य वसुधारा भी बरसाई। फिर दुन्दुभियाँ बजाई और आकाश में अहोदानं—अहोदानं का उद्घोष किया।

विवेचन—पाँच दिव्यों का प्रकटीकरण—जब किसी विशिष्ट तपस्वी की दीर्घ तपस्या का किसी के घर पारणा होता तो पात्रदान की महिमा प्रदर्शित करने के लिये उस गृहस्थ के यहाँ देवगण पाँच दिव्य वस्तुएँ प्रकट करते थे। वे (जो) इस प्रकार हैं—(१) गन्धोदक की वर्षा, (२) पाँच वर्ण के अचित्त पुष्पों की वृष्टि, (३) दिव्य वसुधारा—स्वर्णादि द्रव्यों की अर्थात् सोनैयों की वर्षा। (४) देवदुन्दुभियों का नाद और (५) आकाश में 'अहोदानं' का उद्घोष।

मुनि के प्रभाव से विस्मित याज्ञिक विप्रों के उद्गार—

मूल—सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो,
न दीसई जाइ विसेस कोई।
सोवागपुत्तं हरिएस साहुं,
जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा ॥३७॥

छाया—साक्षात् खलु दृश्यते तपोविशेषः,
न दृश्यते जातिविशेषः कोऽपि।
श्वपाकपुत्रं हरिकेशसाधुं,
यस्येदृशी ऋद्धिर्महानुभागा ॥३७॥

पद्यानुवाद—प्रत्यक्ष दीखती तप महिमा,
है नहीं जाति की यह महिमा।
चाण्डालतनय हरिकेश साधु में,
ऋद्धि और तप की गरिमा ॥३७॥

अन्वयार्थ—(यह) **सक्खं खु**—साक्षात् (प्रत्यक्ष) ही, **तवो-विसेसो**—तप की विशेषता, महिमा, **दीसइ**—दिखाई दे रही है; **जाइ-विसेस**—जाति की विशेषता, **कोई**—कुछ भी, **न दीसई**—नहीं दीखती है। (क्योंकि) **सोवागपुत्तं**—चाण्डाल के पुत्र **हरिएस साहु**—हरिकेश साधु को (देखो) **जस्स**—जिसकी, **एरिसा**—ऐसी, **इड्ढि**—ऋद्धि (और), **महाणुभागा**—महाप्रभाव है ॥३७॥

भावार्थ—यह प्रत्यक्ष तप की महिमा दिखाई दे रही है, जाति की कोई महिमा नहीं दिखती। जिसकी इतनी बड़ी चमत्कारी ऋद्धि है, वह हरिकेश मुनि चाण्डाल का पुत्र है।

विवेचन—जाति-विशेषता की मान्यता पर करारी चोट—यज्ञशाला में उपस्थित ब्राह्मणों ने मासोपवासी हरिकेश मुनि को जब आहारदान दिया,

तब देवों ने जो पूर्वोक्त पांच दिव्यों का प्रकटीकरण किया, उससे जाति मदान्ध ब्राह्मणों की आँखें खुल गईं, उन्हें जाति की नहीं, तपस्या की विशेषता का लोहा मानना पड़ा। यह प्रत्यक्ष चमत्कार देखकर उनके मुख से वरवस उपर्युक्त उद्गार निकल पड़े।

मिथ्यात्व उपशान्त हुआ देख मुनि का ब्राह्मणों को उपदेश—

मूल—किं माहणा ! जोइ-समारभंता,
उदएण सोहिं बहिया विमग्गहा ?
जं मग्गहा बाहिरियं विसोहिं
न तं सुदिट्ठं कुसला वयंति ॥३८॥

कुसं च जूवं तण-कट्ठमग्गिं,
सायं च पायं उदगं फुसंता।
पाणाइं भूयाइं विहेडयंता,
भुज्जो वि मंदा पगरेह पावं ॥३९॥

छाया—किं ब्राह्मणा ! ज्योति समारभमाणाः,
उदकेन शुद्धिं बाह्यां विमार्गयथ ?
यां मार्गयथ बाह्यां विशुद्धिं,
न तत् सुदृष्टं कुशला वदन्ति ॥३८॥
कुशं च यूपं तृण-काष्ठमग्निं,
सायं च प्रातरुदकं स्पृशथ।
प्राणान् भूतान् विहेठयन्तः
भूयोऽपि मन्दाः प्रकुरुथ पापम् ॥३९॥

पद्यानुवाद—क्यों विप्र ! अग्नि प्रज्वालित कर,
बाहर जल से शोधन करते ?
जो बाह्यशुद्धि की खोज करे,
ना कुशल सुदृष्ट उसे कहते ॥३८॥

तृण, काष्ठ, अग्नि और दर्भ यूप,
सायं प्रातः जल स्पर्श करे।
कर प्राण-भूत जग की हिंसा,
मतिमन्द पाप फिर बन्ध करे ॥३९॥

अन्वयार्थ—माहणा—हे ब्राह्मणो !, **जोइ-समारभंता**—अग्नि का समारम्भ (यज्ञ) करते हुए, **किं**—क्या, **उदएण**—उदक=जल से, **बहिया**—बाहर से, **सोहिं**—शुद्धि को, **विमग्गहा**—चाह रहे हो ?, **जं**—जो, **बाहिरियं**—बाह्य, **सोहिं** शुद्धि को, **मग्गहा**—खोजते हैं, **तं**—उसे, **कुसला**—कुशल पुरुष, **सुदिट्ठं**—सुदृष्ट=सम्यग्द्रष्टा, **न**—नहीं, **वयंति**—कहते हैं ॥३८॥

कुसं—कुश, **जूवं**—यूप (यज्ञस्तम्भ), **तण-कट्ठं**—तृण, काष्ठ, **च**—और, **अग्गिं**—अग्नि का प्रयोग, (तथा) **पायं**—प्रातः, **च**—और, **सायं**—सन्ध्या, **उदगं फुसता**—जल का स्पर्श करते हुए, (तुम) **मंदा**—मन्द बुद्धि लोग, **पाणाइं**—प्राणियों और **भूयाइं**—भूत (वृक्ष आदि वनस्पति के) जीवों का **विहेडयंता**—विनाश करते हुए, **भुज्जो वि**—पुनः पुनः, **पावं**—पाप, **पगरेह**—किया करते हो ॥३९॥

भावार्थ—हे ब्राह्मणो ! तुम लोग अग्नि का समारम्भ (अग्निकायिक जीव वध) करते हुए क्या बाहर के जल से शुद्धि करना चाह रहे हो ? जो लोग बाह्यशुद्धि को खोजते हैं, उन्हें कुशल (तत्वज्ञ पुरुष) सुदृष्ट—सम्यग्दृष्टि-सम्पन्न नहीं कहते ॥३८॥

कुश, यूप (यज्ञ स्तम्भ), तृण, काष्ठ तथा अग्नि प्रयोग तथा प्रातःकाल और सायंकाल जल का स्पर्श करते हुए, तुम मन्दबुद्धि लोग बार-बार प्राणियों और भूत जीवों का विनाश करते हुए पापकर्म कर रहे हो ॥३९॥

विवेचन—वास्तविक शुद्धि का तत्वज्ञान—मुनि ने ब्राह्मणों को समझाया कि आप लोग जल से ही शुद्धि चाहते हो, किन्तु यह तो निश्चित है कि जल से केवल शारीरिक शुद्धि हो सकती है, आत्मिक शुद्धि नहीं। और बाह्यशुद्धि से आन्तरिक शुद्धि की कथमपि संभावना नहीं है। शरीर तो मल मूत्र आदि अशुचि का भण्डार है, उसकी शुद्धि भी शरीर पर केवल जल डाल लेने से नहीं हो सकती और मरने के बाद शरीर तो यहीं रह जायगा, सड़-गल जायगा या भस्म कर दिया जाएगा, आपके साथ परलोक में आत्मा ही जाएगी, सो शरीर की बाह्य शुद्धि से आत्मा तो अशुद्ध ही रहेगी। अतः अशुद्ध आत्मा को तो फिर अनेक बार जन्म-मरण करना पड़ेगा। इसलिए सम्यग्दृष्टि पुरुष के लिए उचित यही है कि वह आत्मा की शुद्धि करे। जो लोग शरीर-शुद्धि करके केवल बाह्यशुद्धि के मार्ग की गवेषणा करते हैं उनके उस उपाय को कुशल—तत्वज्ञ पुरुष सम्यग्दर्शन—मोक्षदायक मार्ग—नहीं कहते, यह ३८वीं गाथा का आशय है।

जोइ समारभंता : आशय—इन शब्दों का एक आशय यह है कि तुम लोग यज्ञ करते समय अग्नि का समारम्भ क्यों करते हो ? अग्नि समारम्भ

से आशय है—अग्नि प्रज्वलित करके अग्निकाय के जीवों का उपमर्दन करते हो। तुम्हारी (ब्राह्मणों की) मान्यता यह है कि आग में तृणादि होम देने से देवपूजा हो गयी, परन्तु अग्निकाय के जीवों का विनाश होने से तथा तृण-रूपी वनस्पति जीवों का नाश होने से कौन सा यज्ञ हुआ ? अथवा अग्नि से शुद्धि मानते हो तो किस की शुद्धि हुई ? शरीर की, मन की, या आत्मा की ? तीनों की शुद्धि अग्नि से सम्भव नहीं है। कहा भी है—

> शौचमाध्यात्मिकं त्यक्त्वा, भावशुद्ध्यात्मकं शुभम्।
> जलादिशौचं यत्रेष्टं मूढविस्मापनं हि तत्॥

—जिससे शुभ भावशुद्धि होती है, उस आध्यात्मिक शुद्धि को छोड़कर जहाँ केवल जलादि से शुद्धि मानी जाती है वह मूढ़ लोगों को धोखे में डालने का उपाय है।

"जोइ समारभंता' ये शब्द 'माहणा' के विशेषण है, अर्थात हे अग्नि का समारम्भ करने वाले ब्राह्मणो ! ऐसा एक टीकाकार का मत है।

शुद्धि का मार्ग या पापकर्म का ?— अगली गाथा में मुनि इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हुए कहते हैं—तुम लोग धर्माधर्म के विवेक से विकल होकर शुद्धि के बहाने से और अधिक पापकर्म-मलरूप अशुद्धि का उपार्जन कर रहे हो, यह आत्मशुद्धि का यथार्थ मार्ग नहीं है। जैसे कि—यज्ञ के लिए तुम कुशा लाते हो, यज्ञ स्तम्भ (यूप) का निर्माण करते हो, हवन के लिए वीरंणादि तृण और समिधा इकट्ठी करके उसका अग्नि में होम करते हो, तथा प्रातः सायं शुद्धि के निमित्त जल का स्पर्श करते हो, इस प्रकार की क्रियाओं में वनस्पति, जल आदि एकेन्द्रिय जीवों का तथा उनके आश्रित द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों का अनेक प्रकार से उपमर्दन होता है। जिससे हिंसा-जन्य पाप का ही संग्रह होता है। उन्हीं क्रियाओं को तुम लोग धार्मिक समझकर बार-बार करते हो परन्तु वे पापकर्मबन्ध की कारण हैं। अतः इन क्रियाओं के आत्मशुद्धि के बदले पापकर्म का संग्रह होकर आत्मा अधिकाधिक मलिन होता जाता है। जिस उपाय से कर्म मल का विशोधन होता है, तत्वज्ञ पुरुष उसी को वास्तविक आत्मशुद्धि का कारण मानते हैं।

यह उपदेश पहले क्यों नहीं दिया ?— प्रश्न होता है—मुनि ने यह उपदेश उन ब्राह्मणों को पहले क्यों नहीं दिया ? इसका समाधान यह है कि पहले ये लोग सर्वथा उन्मुख थे, मुनि की एक भी बात सुनने को तैयार नहीं थे। अब जब मुनि के तप-त्याग का प्रत्यक्ष प्रभाव उन्होंने देख लिया और मुनि को श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगे तब मुनि ने उनके मिथ्यात्व की मन्दता

जानकर ही उन्हें यह नात्विक उपदेश देना उचित समझा। ब्राह्मण विद्वान तो थे ही, उन्हें जब मुनि ने युक्तिपूर्वक समझाया तो वे अपनी भूल को समझ गये।

अगली गाथाओं में उनकी सम्यक् तत्व जिज्ञासा और उसका समाधान अंकित करते हैं—

याज्ञिकों की मुनि से श्रेष्ठ यज्ञ-सम्बन्धी जिज्ञासा—

मूल—कहं चरे ? भिक्खू ! वयं जयामो ?
पावाइं कम्माइं पणोल्लयामो।
अक्खाहि णे संजय ! जक्खपूइआ,
कहं सुजिट्ठं[1] कुसला वयन्ति ? ॥४०॥

छाया—कथं चरामो ? भिक्षो ! वयं यजामः ?,
पापानि कर्माणि प्रणुदामः।
आख्याहि नः संयत ! यक्षपूजित !,
कथं स्विष्टं कुशला वदन्ति ॥४०॥

पद्यानुवाद—हे भिक्षु ! करें किस भाँति यज्ञ,
हों नष्ट पाप जो मार्ग लिया।
हे यक्ष-पूज्य ! संयत ! बोलो,
कैसा सुज्ञों ने यज्ञ किया ॥४०॥

अन्वयार्थ—भिक्खू—हे भिक्षु ! वयं—हम, कहं—कैसे, चरे—(यज्ञ के लिए) प्रवृत्ति करें ? (कहं) जयामो—(हम कैसे) यज्ञ करें ? (कहं) पावाइं-कम्माइं—(किस प्रकार से) पापकर्मों को, पणोल्लयामो दूर करें। जक्खपूइआ संजय !—हे यक्ष-पूजित संयत ! णे—हमें, अक्खाहि—बताइए कि, कुसला—कुशल (तत्वज्ञ) पुरुषों ने, सुजिट्ठं—श्रेष्ठ यज्ञ, कहं—किस प्रकार का, वयंति—बताया है ?

भावार्थ—हे भिक्षु ! हम किस प्रकार से यज्ञक्रिया में प्रवृत्त हों ? हम किस प्रकार यज्ञ करें ? और किस प्रकार से पापकर्मों को दूर करें ? हे यक्षपूजित संयमी पुरुष ! आप हमें बताइए कि तत्वज्ञ पुरुषों ने श्रेष्ठ यज्ञ किस प्रकार का बताया है ?

विवेचन—याज्ञिक ब्राह्मणों की जिज्ञासा—यज्ञसम्बन्धी चार प्रश्न (१) हम यज्ञक्रिया के लिए कैसा आचरण करें ? (२) किस प्रकार से यज्ञ करें ? (३) कैसे पापकर्मों को नष्ट करें ? और (४) तत्वज्ञों द्वारा प्रतिपादित श्रेष्ठ

---

1 पाठान्तर—सुइट्ठं।

यज्ञ कौन-सा है ? ब्राह्मणों की यह जिज्ञासा उचित ही है कि जब तक वस्तु तत्व का यथार्थ ज्ञान न हो, तब तक उसका सम्यक् रीति से अनुष्ठान नहीं हो सकता। इन चारों प्रश्नों का सारांश यह है कि जिससे पापों का नाश हो, ऐसे यज्ञ का स्वरूप और उसके अनुष्ठान की विधि बताई जावे।

मुनि के द्वारा समाधान : श्रेष्ठयज्ञ की विधि

मूल—छज्जीवकाए असमारभंता,
मोसं अदत्तं च असेवमाणा।
परिग्गहं इत्थिओ माण-मायं,
एयं परिन्नाय चरंति दंता ॥४१॥

सुसंवुडो पंचहिं संवरेहिं,
इह जीवियं अणवकंखमाणो।
वोसट्ठकाओ सुइचत्तदेहो,
महाजयं जयई जन्नसिट्ठं ॥४२॥

छाया—षड्जीवकायानसमारभमाणाः मृषामदत्तं चासेवमानाः।
परिग्रहं स्त्रियो मानं मायां, एतत् परिज्ञाय चरन्ति दान्ताः ॥४१॥

सुसंवृतः पंचभिः संवरैः, इह जीवितमनवकांक्षन्।
व्युत्सृष्टकायः शुचित्यक्तदेहो महाजयं यजते यज्ञश्रेष्ठम् ॥४२॥

पद्यानुवाद—मिथ्याभाषण ,चोरी त्यागे, षट्कायजीव का वध न करे।
मैथुन मद माया संग्रह का, कर ज्ञान दान्त तज जग विचरे ॥४१॥

पाँचों संवर से संवृत जो, अविरत जीवन को ना चाहे।
उत्सृष्टकाय शुचि त्यक्तदेह, कर्मारिविजय वर यज्ञ कहे ॥४२॥

अन्वयार्थ—**दंता**—इन्द्रियों और मन पर दमन—नियन्त्रण रखने वाले, (मुनि), **छज्जीवकाये**—षड्जीव निकाय का, **असमारभंता**—समारम्भ (हिंसा) नहीं करते हैं, **मोसं अदत्तं च**—मृषावाद (असत्य) और अदत्तादान (चौर्य) का, **असेवमाणा**—सेवन नहीं करते हैं (तथा), **परिग्गहं**—परिग्रह, **इत्थिओ**—स्त्रियां, **माण-मायं**—मान और माया, **एयं**—इन सबको, **परिन्नाय**—स्वरूपतः जानकर और छोड़कर, **चरंति**—विचरण करते हैं ॥४१॥

(जो) **पंचहि संवरेहिं**—अहिंसादि पांच संवरों से, **सुसंवुडो**—सम्यक् प्रकार से संवृत होता है, (जो) **इह**—इस जन्म में, **जीवियं**—जीवन की, **अणवकंखमाणो**—

कर, प्रत्याख्यान परिज्ञा से उस आरम्भ से निवृत्त होते हैं। **एयं परिन्नाय**—इन सबको ज्ञपरिज्ञा से पाप के कारण जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से छोड़ कर। **सुसंवुडो**—जिसने अच्छी तरह से आश्रव द्वारों को आच्छादित कर दिया है, अथवा पापागमन द्वारों को निरुद्ध कर दिया है। **जीवियं अणवकंखमाणो**—जीवित—अर्थात्—असंयमी जीवन की आकांक्षा नहीं रखने वाला। **वोसट्ठकाओ**—जिसने परीषह और उपसर्ग के सहने में अपने शरीर पर से ममता या आसक्ति का उत्सर्ग (त्याग) कर दिया है। **सुइचत्त-देहो**—जो शुचि है, अर्थात् जिसके व्रत निर्मल-निरतिचार हैं। देह के प्रति निर्ममत्व होने से परिचर्या न करके देह की जिसने उपेक्षा—अवगणना कर दी है, अर्थात्—जो देहभाव को छोड़ चुका है, वह त्यक्तदेह साधु।

अध्यात्मयज्ञ के साधनों के विषय में प्रश्न—

मूल—के ते जोई ? के व ते जोइठाणे ?,
का ते सुया ? किं व ते कारिसंगं ?।
एहा य ते कयरा सन्ति ? भिक्खू !
कयरेण होमेण हुणासि जोइं ?॥४३॥

छाया—कि ते ज्योतिः ? किं वा ते ज्योतिः स्थानं ?,
कास्ते स्रुव ? किं वा ते करीषांगम् ?
एधाश्च ते कतराः ? शान्तिः भिक्षो !,
कतरेण होमेन जुहोषि ज्योतिः ॥४३॥

पद्यानुवाद—है कौन ज्योति, क्या स्थान ज्योति का ?,
स्रुव कौन तथा कण्डे कैसे ?
ईंधन है कौन, शान्ति कैसी,
किस होम से हवन करो कैसे ?॥४३॥

अन्वयार्थ—**भिक्खू**—हे भिक्षु ! (आपके द्वारा प्रतिपादित आध्यात्मिक यज्ञ में) **ते**—तुम्हारी, **जोई के ?**—ज्योति=अग्नि कौन सी है ? **व**—तथा, **ते**—तुम्हारा, **जोइठाणे**=अग्नि का स्थान (अग्निकुण्ड), **के**—कौन-सा है ? **ते**—तुम्हारी, **सुया**—स्रोआ=घी आदि डालने की कड़छी, **का**—क्या है ? **व**—और, **ते**—तुम्हारा, **कारिसंगं**—अग्नि प्रदीप्त करने का साधन (मधु घृतादि या कण्डे आदि साधन) **के**—कौन-सा है ? **य**—और, **ते**—तुम्हारी, **एहा**—समिधा (ईंधन), **कयरा**—कौन-

सी है ? संति—शान्तिपाठ (कौन-सा है ?) कयरेण होमेण—किस होम (हवन) से, (आप) हुणासि—हवन करते हैं ? (और) जोइं—ज्योति को (तृप्त करते हैं ?) ॥४३॥

भावार्थ—हे भिक्षो ! (आपके यज्ञ में) ज्योति (अग्नि) कौन सी है ? अग्नि-कुण्ड कौन-सा है ? (आहुति डालने की) कुड़छी क्या है ? अग्नि को प्रदीप्त करने वाले करीषांग कौन से हैं ? तुम्हारी समिधा क्या है और शान्ति पाठ कौन सा है ? और किस होम से अग्नि को प्रज्वलित करते हुए आप हवन करते हैं ॥४३॥

विवेचन—यज्ञ के उपकरणों के विषय में ये प्रश्न—प्रस्तुत गाथा में द्रव्य यज्ञ के उपकरणों को लेकर आध्यात्मिक यज्ञ के निम्नोक्त सात उपकरणों के विषय में प्रश्न किये गये हैं—अग्नि, अग्निकुण्ड, कुड़छी, करीषांग, समिधा, शान्तिपाठ तथा हवन ।

मुनि द्वारा अध्यात्मयज्ञ के साधनों का निरूपण—

मूल—तवो जोइ जीवो जोइठाणं,
जोगा सुया सरीरं कारिसंगं ।
कम्मेहा संजम जोग सन्ती,
होमं हुणामि इसिणं पसत्थं ॥४४॥

छाया—तपो ज्योतिर्जीवो ज्योतिःस्थानं,
योगाः स्रुवः शरीरं करीषाङ्गम् ।
कर्मैधाः संयमयोगाः शान्तिः,
होमं जुहोमि ऋषीणां प्रशस्तम् ॥४४॥

पद्यानुवाद- है तपोज्योति शुभस्थान जीव,
है स्रुवा योग कण्डा है तन ।
कर्मेन्धन संयम शान्तिपाठ,
करता हूँ मुनि का श्रेष्ठ यजन ॥४४॥

अन्वयार्थ—(मुनि) **तवो**—तप, **जोई**—ज्योति (अग्नि) है, **जीवो**—जीव=आत्मा, **जोइठाणं**—ज्योतिस्थान (अग्निकुण्ड) है । **जोगा**—मन, वचन और काया के योग (घृत आदि डालने की) कुड़छियाँ हैं, **सरीरं**—शरीर, **कारिसंगं**=(अग्नि को प्रदीप्त करने हेतु) कंडे हैं, **कम्मेहा**—कर्म, **समिधा**—ईंधन हैं । **संजमजोग**=संयम की प्रवृत्ति, **संती**—शान्तिपाठ है । **होमं**—चारित्ररूप यज्ञानुष्ठान से मैं, **हुणामि**—हवन करता हूँ, जो **इसिणं**—ऋषियों के लिए, **पसत्थं**—प्रशस्त है ॥४४॥

भावार्थ—ब्राह्मणो ! (मेरे यज्ञ में) तप अग्नि है, जीव—आत्मा ही

अग्निकुण्ड है। मन-वचन-काया के योग कुड़छियाँ हैं, शरीर करीषांग= कन्डे है। कर्म ईंधन है, संयम की प्रवृत्ति ही शान्ति पाठ है, इस प्रकार के हवन से तप रूप अग्नि को तृप्त करता हूँ, (जो) ऋषियों के लिए, प्रशस्त (श्रेष्ठ) है ॥४४॥

विवेचन—ब्राह्मणों के प्रश्नों के क्रमशः उत्तर—

(१) प्रश्न—यज्ञ में अग्नि क्या है? उत्तर—तप।

(२) प्रश्न—अग्निकुण्ड कौन सा है? उत्तर—जीवात्मा।

(३) प्रश्न—कुड़छी क्या है? उत्तर—मन-वचन काया की प्रवृत्तियाँ।

(४) कारिषांग (कन्डे) कौन से है? उत्तर—शरीर।

(५) प्रश्न—ईन्धन क्या है? उत्तर—शुभाशुभ कर्म।

(६) प्रश्न—शान्तिपाठ कौन सा है? उत्तर—संयम की प्रवृत्ति।

(७) प्रश्न—होम कौन सा है, जिससे अग्नि तृप्त होती है?
उत्तर - ऋषियों के लिए प्रशस्त चारित्र रूप यज्ञ।

ऋषियों के लिए प्रशस्त यज्ञ के साधन—ऋषि द्वादशविध तपरूपी अग्नि प्रज्वलित करके समस्त कर्मरूपी काष्ठों को जलाते हैं। जीव उस तप का आधार होने से अग्निकुण्ड है। मन-वचन-काया के निमित्त से शुभ व्यापार घृत रूप आहुति देकर तपोरूप अग्नि को प्रज्वलित करने में कारण बनते हैं। शरीर को कण्डे इसलिए बताया गया है कि शरीर की सहायता से ही तपोरूप अग्नि प्रदीप्त होती है। शरीर की सहायता के बिना तप हो नहीं सकता। कर्म ही ईन्धन है, क्योंकि इन्हें ही तपोरूपी अग्नि में जलाना है। १७ प्रकार के संयम की प्रवृत्ति ही सर्वजीवों के उपद्रवों की निवारक होने से उसे ही शान्ति पाठ बताया है। ऐसी हवन विधि से तपरूपी अग्नि में कर्मों या कषायों का हवन करना ही ऋषियों का प्रशस्त यज्ञ है। जो जीव-मात्र के लिए हितकर है, ऋषि लोग इस निर्दोष यज्ञ को ही उपादेय मानते हैं।

आध्यात्मिक स्नान और शुद्धि के साधनों की जिज्ञासा

मूल—के ते हरए ? के य ते सन्तितित्थे ?
कहिंसि ण्हाओ व रयं जहासि ?।
आइक्ख णे संजय ! जक्खपूइआ !
इच्छामो नाउं भवओ सगासे ॥४५॥

छाया—कस्ते ह्रदः किं च ते शान्तितीर्थः,
कस्मिन् स्नातो वा रजो जहासि ?
आचक्ष्व नः संयत ! यक्षपूजित !,
इच्छामो ज्ञातुं भवतः सकाशे ॥४५॥

अन्वयार्थ—जक्खपूइआ संजय—हे यक्ष-पूजित संयत ! णे—हमें, आइक्ख=बताइए कि, ते—आपका, हरए—ह्रद=जलाशय, के—कौन-सा है ? य—और, ते—आपका, संतितित्थे—शान्ति-तीर्थ, के—कौन-सा है ?, कहिंसि—(आप) कहां, ण्हाओ—स्नान करके, रयं—रज-मलिनता, जहासि—दूर करते हैं ? भवओ-सगासे—आप के पास, नाउं—(हम) जानना, इच्छामो—चाहते हैं ॥४५॥

भावार्थ—हे यक्षपूजित संयमीपुरुष ! हमें यह बताइए कि आपका जलाशय कौन-सा है ? और आपका शान्तितीर्थ कौन-सा है ? आप कहां स्नान करके रज-मलिनता दूर करते हैं। आपसे हम जानना चाहते हैं।

विवेचन—शुद्धि के विषय में तीन प्रश्न—प्रस्तुत गाथा में ब्राह्मणों द्वारा पूछे गये तीन प्रश्न हैं—(१) जलाशय, (२) शान्तितीर्थ और (३) स्नान करने का स्थान। ये तीनों प्रश्न उस सन्दर्भ में पूछे गये हैं, जबकि मुनि ने उनके द्वारा प्रातः सायं जलस्पर्श द्वारा की जाने वाली बाह्य शुद्धि को हिंसा-जनित एवं अनुचित बतलाया था। आन्तरिक शुद्धि से सम्बन्धित तीनों प्रश्नों के उत्तर आगे बतलाये जाते हैं—

आध्यात्मिक स्नान, उसके साधनों और आत्मशुद्धि का निरूपण—

मूल—धम्मे हरए बंभे संतितित्थे,
अणाविले अत्तपसन्नलेसे।
जहिंसि ण्हाओ विमलो विसुद्धो,
सुसीइभूओ पजहामिदोसं ॥४६॥
एयं सिणाणं कुसलेहिं दिट्ठं,
महासिणाणं इसिणं पसत्थं।
जहिंसि ण्हाया विमला विसुद्धा,
महारिसी उत्तमं ठाणं पत्त ॥४७॥
—त्तिबेमि।

छाया—धर्मो ह्रदः ब्रह्म शान्ति-तीर्थं, अनाविले आत्म-प्रसन्न-लेश्ये।
यस्मिन् स्नातो विमलो विशुद्धः, सुशीतीभूतः प्रजहामि दोषम् ॥४६॥

एतत् स्नानं कुशलैर्दृष्टं, महास्नानमृषीणां प्रशस्तम्।
यस्मिन् स्नाता विमला विशुद्धाः, महर्षय उत्तमं स्थानं प्राप्ताः ॥४७॥
—इति ब्रवीमि।

पद्यानुवाद—ब्रह्म शान्ति का तीर्थ, धर्म ह्रद,
स्वच्छ मुदित लेश्यावाला।
उसमें नहा, दोष को छोड़ूं,
विमल शीत शुचि गुण वाला ॥४६॥

कुशलों ने देखा स्नान यही,
ऋषियों का उत्तम स्नान महा।
पद पाया महा-ऋषीश्वर ने,
विमल विशुद्धवर, जिसमें नहा ॥४७॥

अन्वयार्थ—**धम्मे**—धर्म, (मेरा) **हरए**—ह्रद—जलाशय है, **बंभे**—ब्रह्मचर्य, **संतितित्थे**—शान्ति-तीर्थ है, (जो) **अणाविले**—अनाविल=निर्मल है, (जहाँ) **अत्त-पसन्न-लेसे**—आत्मा की लेश्या प्रशस्त हो जाती है। **जहिंसि**—जिस (शान्ति-तीर्थ) में, **ण्हाओ**—स्नान करके, (मैं) **विमलो**—भाव-मलरहित, (एवं) **विसुद्धो**—कर्म, कलंक-रहित, **सुसीइभूओ**—शारीरिक, मानसिक संताप से रहित शीतल-शान्त होता हुआ, **दोसं**—(आत्मा को विकृत करने वाले रागादि) दोषों को, **पजहामि**—दूर करता हूँ ॥४६॥

कुसलेहिं—कुशल—तत्त्वज्ञ पुरुषों ने, **एयं**—इसे ही, **सिणाणं**—(वास्तविक) स्नान, **दिट्ठं**—बताया है। **इसिणं**—ऋषियों के लिए, (यही) **महासिणाणं**—महान् स्नान, **पसत्थं**—प्रशस्त है। **जहिंसि**—जिस धर्मह्रद में, **ण्हाया**—स्नान करके, **महारिसी**—महर्षि, **विमला-विसुद्धा**—विमल कर्ममल रहित और विशुद्ध होकर, **उत्तमठाणं**—उत्तम स्थान को, **पत्ते**—प्राप्त हुए हैं ॥४७॥

त्तिबेमि—ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—(इस आध्यात्मिक यज्ञ में) धर्म (मेरा) ह्रद—जलाशय है, ब्रह्मचर्य शान्तितीर्थ है, जो निर्मल है, और (जिसमें अवगाहन करने से) आत्मा प्रशस्त लेश्या वाली हो जाती है। जिस शान्तितीर्थ में स्नान करके मैं विमल, विशुद्ध, सुशीतीभूत (संतापरहित शान्त-शीतल) होकर दोषों को दूर करता हूँ ॥४६॥

कुशल पुरुषों ने इसे ही स्नान कहा है। ऋषियों के लिए यही प्रशस्त महास्नान है। इस धर्मह्रद में स्नान करने वाले महर्षि विमल और विशुद्ध होकर उत्तम स्थान को प्राप्त हुए हैं, —ऐसा मैं कहता हूँ ॥४७॥

विवेचन—तीनों प्रश्नों के उत्तर—(प्र० १)—स्नान के लिए जलाशय कौन-सा है ? उ०—अहिंसादिरूप धर्म। (प्र० २)—शान्ति-पापशमन निमित्त तीर्थ—कौन-सा है ? उ०—ब्रह्मचर्य। (प्र० ३)—किस स्थान में स्नान करने से कर्मरजरूपमल दूर करके विमल होते हैं ? उ०—ब्रह्मचर्य तीर्थ में स्नान करने से।

इस प्रकार मुनि ने तीनों प्रश्नों का युक्तिसंगत उत्तर दिया है।

धर्म ह्रद क्यों ?—अहिंसा, सत्य आदिरूप अथवा क्षमा-मार्दवादि-रूप दशविध धर्म ही जलाशय है। क्योंकि धर्मरूपी जलाशय में स्नान करने से कर्मरूपी रज दूर होती है।

ब्रह्मचर्य शान्तितीर्थ क्यों ?—ब्रह्मचर्य समस्त व्रतों में महान् और कठोर व्रत है। इसकी आराधना से राग-द्वेष-मोह, तथा क्रोधादि कषाय एवं विषयों से होने वाले समस्त पापों का शमन हो जाता है, इसलिए ब्रह्मचर्य को शान्तितीर्थ कहा है। तथा ब्रह्मचर्यरूपी शान्तितीर्थ में नहाने से आत्म-शुद्धि इसलिए होती है कि इसकी साधना से समस्त कर्ममलों के मूलभूत रागद्वेष समूल नष्ट होते हैं। रागद्वेष के समूल नष्ट होने से पुनः कर्ममल की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए सहज ही आत्मा विशुद्ध हो जाती है। कहा भी है—

> **ब्रह्मचर्येण सत्येन तपसा संयमेन च।**
> **मातंगर्षिर्गतः शुद्धिं, न शुद्धिस्तीर्थयात्रया ॥**

—ब्रह्मचर्य, सत्य, तप और संयम के आचरण से मातंग ऋषि ने आत्म-शुद्धि प्राप्त की थी, केवल तीर्थयात्रा से आत्मशुद्धि नहीं होती। इसी ब्रह्मचर्यरूप शान्तितीर्थ में स्नान करने से आत्मा भावमल एवं कर्ममल से रहित होकर पूर्ण निर्मल-दोषमुक्त होता है।

आध्यात्मिक महास्नान से ही आत्मशुद्धि—अन्तिम गाथा में ऋषियों के लिए प्रशस्त और तत्त्वज्ञों द्वारा उपदिष्ट धर्मरूप ह्रद में स्नान करने को ही प्रशंसनीय माना है। आध्यात्मिक यज्ञ के लिए यही महास्नान है।

॥ हरिकेशीय : बारहवां अध्ययन समाप्त ॥

चित्त-सम्भूतीय : तेरहवां अध्ययन

[अध्ययन-सार]

इस अध्ययन का नाम 'चित्त-सम्भूतीय' है। इसमें 'चित्त' और 'सम्भूत' इन दोनों भ्राताओं के पिछले छह जन्मों के जीवन के उतार-चढ़ाव तथा उत्थान और पतन की बोलती कहानी अंकित है, जो एक ओर रूपमदजनित घृणाभाव और तपस्या सम्बन्धी निदान के कारण होने वाले उत्तरोत्तर पतन की गाथा का निर्देश करती है तो दूसरी ओर रूपमद के फलस्वरूप एक बार पतन होकर भी फिर संभल कर उत्तम संयम-पथ को अंगीकार करके तथा तपोमद के कारण होने वाले पतन से आत्मा को बचाने वाले साधक के उत्तरोत्तर उत्थान की गाथा का निर्देश करती है। संक्षेप में कहें तो इस अध्ययन में भोग के उच्च शिखर पर बैठे हुए व्यक्ति के गहरे पतन और त्याग के सर्वोच्च शिखर पर चढ़े हुए व्यक्ति के पूर्ण उत्थान का दिग्दर्शन है।

इस अध्ययन में जहाँ एक ओर जातिवाद की अतात्विकता और रूपमद तथा जातिमद के निकृष्ट परिणामों की चर्चा है, तो दूसरी ओर हीन जाति में पले हुए व्यक्ति में भी ज्ञान-दर्शन-चारित्र एवं तप का पुरुषार्थ हो तो वह अपने आपको विश्ववन्द्य एवं जगत्पूज्य बना सकता है, यह ध्वनित होता है। साथ ही यह भी बताया है कि उच्चचारित्री एवं उत्कृष्ट तपोधनी भी यदि भोगाकांक्षा का निदान करे तो उसे वीतरागता एवं भोगविरति का उज्ज्वल पथ मिलना दुर्लभ हो जाता है और निदानवश वह अपनी पिछली धर्माचरण की सारी कमाई को गंवा देता है, सावधान करने के बावजूद भी सजग नहीं हो पाता और निकृष्ट गति में जाकर संसार में भटकता रहता है।

टीका में घटनाक्रम इस प्रकार बताया गया है—

साकेतनरेश मुनिचन्द्र संसार से विरक्त होकर सागरचन्द्र मुनि के पास दीक्षित हो गये। एक बार वे विहार करते हुए एक विकट अटवी में भटक गये और सहसा एक गोकुल में पहुँच गये। वहाँ चार ग्वालों ने उनका

स्वागत किया। मुनि को उन्होंने अपने यहाँ से भिक्षा में दूध आदि दिया। और मुनि का धर्मोपदेश सुनकर चारों गोपालक उनके पास दीक्षित हो गये। उनमें से दो मुनियों ने चारित्र का निरतिचार पालन किया, शेप दो ने संयम का पालन तो किया किन्तु रूपमद के कारण साधुओं की कुरूपता और वस्त्रों की मलिनता से सतत घृणाभाव लिये हुए किया। चारों आयु पूर्ण करके देव गति में गये और वहाँ से घृणा करने के फलस्वरूप दो मुनि शंखपुर में शाण्डिल्य ब्राह्मण की दासी यशोमती के पुत्ररूप में उत्पन्न हुए।

एक बार वे अपने खेत में वृक्ष के नीचे सो रहे थे कि एक सांप ने उन्हें काट खाया। दोनों मरकर कालिंजर पर्वत पर मृगरूप में उत्पन्न हुए। वहाँ भी किसी व्याध के वाण से दोनों मारे गये और गंगातट पर हंस के रूप में उत्पन्न हुए। एक दिन एक मछुए ने उनको पकड़ा और मार डाला। फलतः दोनों हंस मरकर वाराणसी नगरी के वैभवसम्पन्न भूतदत्त नामक चाण्डाल के यहाँ पुत्ररूप से उत्पन्न हुए। माता-पिता ने दोनों में एक का नाम 'चित्त' और दूसरे का नाम 'सम्भूत' रखा।

उस समय वाराणसी के तत्कालीन राजा शंख का मंत्री नमुचि था। राजा ने किसी भयंकर अपराध के कारण भूतदत्त चाण्डाल को उसके वध का आदेश दिया। राजाज्ञा पाकर भूतदत्त चाण्डाल नमुचि को लेकर अपने घर आया। भूतदत्त ने नमुचि के समक्ष एक प्रस्ताव रखा कि यदि तुम भूमि-घर में रहकर मेरे इन दोनों पुत्रों को विद्याध्ययन करा दो तो मैं तुम्हें नहीं मारूँगा, अपने घर में छिपाये रखूँगा। नमुचि ने यह शर्त स्वीकार की और भूतदत्त के दोनों पुत्रों को अध्ययन कराने लगा। दोनों अनेक विद्याओं में पारंगत हो गये। किन्तु भूतदत्त की स्त्री जो नमुचि की परिचर्या करती थी, उसका उसके साथ अनुचित सम्बन्ध हो गया। भूतदत्त को जब इस घटना का पता लगा तो उसने कुपित होकर नमुचि को मारने का निश्चय कर लिया। भूतदत्त के दोनों पुत्रों ने नमुचि को विद्यागुरु जानकर वहाँ से भगा दिया। वहाँ से भागकर नमुचि हस्तिनापुर पहुँचा और वहाँ के चक्रवर्ती सनत्कुमार का राजमंत्री बन गया।

इधर गायन कला में निपुण 'चित्त' और 'सम्भूत' दोनों एक दिन वाराणसी के किसी उत्सव में सम्मिलित हुए। वहाँ उनके नृत्य और गीत से लोगों का इतना आकर्षण बढ़ा कि वे जहाँ भी गाते लोग अपना काम-धंधा छोड़कर वहाँ आ जाते। यहाँ तक कि स्पृश्यास्पृश्य का भेद भूल कर लोग उनसे सम्पर्क करने और उन्हें आदर देने लगे। नगर के कुछ प्रधान

पुरुषों ने राजा से शिकायत की कि इन दोनों चाण्डाल-पुत्रों ने हमारा धर्म भ्रष्ट कर दिया है। राजा ने उनकी शिकायत पर ध्यान देकर दोनों चाण्डाल-पुत्रों को नगर से बाहर चले जाने का आदेश दिया। अपमान के इस दंश से दोनों भाई तिलमिला उठे। एक बार वे फिर भेष बदलकर वाराणसी के किसी उत्सव में आये किन्तु लोगों ने उनके विलक्षण संगीत को सुनकर उन्हें पहचान लिया। जाति मदान्ध लोगों ने उन्हें बुरी तरह मार-पीट कर नगर से बाहर निकाल दिया।

इस प्रकार दूसरी बार अपमानित और तिरस्कृत होने पर उन्हें अपने जीवन से घृणा हो गयी। वे आत्महत्या करने पर उतारू हो गये। इसलिए वे एक पर्वत पर पहुँचे। वहाँ से कूदकर जीवन का अन्त करने की तैयारी में थे कि वहाँ एक निर्ग्रन्थ मुनि को तपस्या करते देखा। मुनि के पास जाकर दोनों ने भक्तिपूर्वक वन्दन किया। मुनि ने उनकी स्थिति जानकर कहा कि यों जीवन का अन्त करने की अपेक्षा इस बहुमूल्य जीवन से तप संयम का आचरण करना श्रेयस्कर है। मैं तुम्हें आत्मीय भाव से कल्याण-मार्ग की शिक्षा देकर मुनिधर्म में दीक्षित करूंगा। दोनों प्रतिबोध पाकर उक्त मुनि के शिष्य बन गये और दीक्षा ग्रहण करके वे ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की उत्कृष्ट आराधना करने लगे।

एक बार वे दोनों मुनि विचरण करते हुए हस्तिनापुर पधारे। वहाँ भिक्षाटन करते हुए सम्भूत मुनि को नमुचि ने पहचान लिया। उसे संदेह हुआ कि कहीं ये मुनि मेरे अनाचार का रहस्य प्रकट न कर दें। अतः नमुचि ने नागरिकों को भड़काया। फलतः उन्होंने उनको नगर में प्रवेश करने से रोक दिया। इससे मुनि का क्रोध उमड़ पड़ा, क्रोधावेश में आकर सम्भूत मुनि ने नगर पर तेजोलेश्या छोड़ी। मुख से धुंआ निकलता देख चित्तमुनि ने उन्हें बहुत समझाया, उससे वे शान्त हुए। परन्तु धुंआ फैला देख नागरिक लोक और सनत्कुमार चक्रवर्ती भयभीत हुए और अपनी रानी सहित मुनि के चरणों में पहुंचकर अपने अपराध के लिए क्षमा मांगने लगे। चक्रवर्ती की रानी ने भक्ति के आवेश में सम्भूत मुनि के चरणों में अपना सिर रखकर नमस्कार किया। रानी के बालों का कोमल स्पर्श एवं रूप-लावण्य को देखकर मोहित सम्भूत मुनि ने निदान की भावना की। चित्त मुनि के बहुत कुछ समझाने पर भी निदान कर लिया कि "मैं अपने घोर तप और संयम के प्रभाव से भविष्य में इसके जैसा चक्रवर्ती बनूं और ऐसे सुखों का अनुभव करूं।"

दोनों वहाँ से आयुष्य पूर्ण करके देवलोक में गये तथा वहाँ का आयुष्य पूर्ण करके चित्त पुरिमताल नगर में श्रेष्ठी पुत्र बने। और सम्भूत पूर्वकृत निदानानुसार काम्पिल्यपुर में ब्रह्मराज एवं चूलनी रानी के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। माता-पिता ने उसका नाम रखा ब्रह्मदत्त।

ब्रह्मदत्त के चक्रवर्ती बनने का घटनाक्रम बहुत लम्बा है। संक्षेप में इस प्रकार है—

एक बार ब्रह्मदत्त के पिता ब्रह्मराज असाध्य रोग से पीड़ित हो गये। बहुत उपचार कराये, किन्तु वे ठीक न हो सके। मरने से पूर्व उन्होंने निम्नोक्त चार मित्र राजाओं के हाथों में अपने राज्य की बागडोर सौंपते हुए कहा—मेरे राज्य की सन्तोषजनक व्यवस्था करना और जब ब्रह्मदत्त बड़ा हो जाय तब उसका राज्याभिषेक कर देना। चार राजा ये थे—

(१) काशी देश का अधिपति—कटक, (२) गजपुर का राजा, कणेरदत्त, (३) कौशल देश का स्वामी, दीर्घ और, (४) चम्पानगरी का राजा, पुष्पचूल।

चारों राजाओं ने ब्रह्मराज के आदेश को शिरोधार्य किया। ब्रह्मराज की मृत्यु के बाद चारों राजाओं में से सर्वप्रथम दीर्घ राजा को राज्य संचालन के लिए नियुक्त किया गया। राजमाता चुलनी के साथ राज्य-संचालन के विषय में मंत्रणा करते-करते दीर्घ का मन उस पर आसक्त हो गया। धनु मंत्री को राजमाता के इस अनाचार का पता लगा तो राजकुमार के लिए अहितकर समझकर अपने पुत्र वरधनु को, जो कि ब्रह्मदत्त का मित्र था, ब्रह्मदत्त के कान में यथावसर यह बात डालने के लिए कहा। ब्रह्मदत्त ने अपनी माता को दुश्चरित्रा जानकर एक दिन कौए और कोयल को अपने सामने रखकर दीर्घराज को सुनाते हुए कहा—'अरे नीच कौए! यदि तूने कोयल का संग नहीं छोड़ा तो तुझे प्राण-दण्ड दिये बिना नहीं छोड़ूंगा।' ब्रह्मदत्त का इस प्रकार का कृत्य देखकर दीर्घराजा समझ गया कि ब्रह्मदत्त हमारे इस अनाचार को जान गया है। दीर्घराजा ने चूलनी रानी के समक्ष सारा रहस्य खोल दिया। साथ ही यह भी कहा—"यह बालक यहाँ रहेगा, तो भविष्य में हमारे लिए बहुत दुःखदायी होगा। अतः या तो इसे समाप्त करदो, या फिर मैं वापस अपने राज्य में चला जाता हूँ।" विषयासक्त चुलनी रानी ने कहा—"आप जो कहते हैं वह सही है, इस कण्टक को निकाल देना चाहिए, किन्तु इतनी चतुरता से, कि लोकापवाद न हो।" इसके बाद दोनों ने मिलकर योजना बनाई, कि पहले ब्रह्मदत्त का विवाह कर दें, फिर इसे मारा जाय।

माता चुलनी ने नकली पुत्र-प्रेम जताकर ब्रह्मदत्त का विवाह पुष्पचूल राजा की कन्या पुष्पवती के साथ खूब धूम-धाम से कर दिया। रानी ने एक हजार स्तम्भ वाला लाख का महल (लाक्षागृह) बनवाया, और नव दम्पति को शयन के लिए वहाँ भेजा।

इसी बीच एक दिन मंत्री धनु ने राजा दीर्घ से निवेदन किया—"मैं वृद्ध हो चुका हूँ तथा मेरा पुत्र वरधनु राज्य कार्य संभालने में योग्य भी हो गया है, अतः मैं अपना पद उसे सौंपकर परलोक-हित साधना के लिए निवृत्त जीवन विताना चाहता हूँ।"

राजा दीर्घ ने छलपूर्वक मंत्री से कहा—"तुम्हारा विचार उत्तम है। तुम यहीं रहकर दान धर्म आदि करो।" मंत्री के लिए राजा ने गंगा के तट पर एक प्याऊ बनवा दी। वहाँ वह आगत पथिकों, परिव्राजकों आदि को यथेष्ट दान-मान देने लगा। दीर्घद्रष्टा मंत्री ने गुप्त रूप में प्याऊ से लाक्षागृह तक एक विशाल सुरंग बनवा दी।

रानी चुलनी ने नव विवाहित दंपती को बड़े समारोहपूर्वक नव-निर्मित लाक्षागृह में प्रवेश कराया। सभी ज्ञातिजनों को वहाँ से विदा कर मात्र वरधनु को कुमार की सेवा में रखा। कुमार को गाढ़ निद्रा में सोया जानकर मध्य रात्रि में लाक्षागृह में आग लगवादी। वरधनु भी पहले से सावधान था। कुमार दिग्मूढ़ सा होकर बोला—अब क्या करें ?

वरधनु ने ब्रह्मदत्त को एक गुप्त द्वार बताकर कहा—इस पर पाद-प्रहार करो। पाद-प्रहार (लात मारते ही) करते ही वह द्वार खुल गया। मंत्री के दो विश्वासी सेवक पहले से ही सुरंग द्वार पर घोड़े लिये तैयार खड़े थे। कुमार व वरधनु के निकलते ही सेवकों ने उन्हें घोड़ों पर चढ़ा लिये और पवन गति से दौड़कर रातभर में पचास योजन दूर चले गये। फिर देश-देशान्तर भ्रमण करते हुए वाराणसी पहुँचे। राजा कटक ने जब यह घटना-क्रम सुना तो उसने कुमार को पूर्ण सम्मान के साथ वाराणसी में रखा, अपनी पुत्री कटकावती से विवाह भी कर दिया। राजा पुष्पचूल को भी यह सब सूचना मिली तो वह भी वाराणसी आ पहुँचा। मंत्री धनु तथा कणेरदत्त भी आ मिले। यों सभी ने मिलकर सैन्य संगठन किया। वरधनु को सेनापति बनाया और कांपिल्यपुर पर चढ़ाई कर दी।

रानी चुलनी को यह सब पता चला तो वह गुप्त मार्ग से ही निकल गयी। साध्वियों के पास दीक्षा ग्रहण कर तपाराधना करने लग गई।

दीर्घराजा ने ब्रह्मदत्त की सेना का सामना किया। घमासान युद्ध हुआ। ब्रह्मदत्त ने युद्ध में दीर्घराजा को मौत के घाट उतार दिया। तभी 'चक्रवर्ती की जय हो' के घोष से दिग्मण्डल गूंज उठे।

ब्रह्मदत्त का चक्रवर्ती के रूप में अभिषेक हुआ। समस्त राज्य में खूब खुशियां मनाई गयीं।

एक बार चक्रवर्ती की सभा में एक नट मंडली आई। नट मंडली के अध्यक्ष ने चक्रवर्ती से निवेदन किया—"आज आपके समक्ष मधुकरी गीत-नृत्य का प्रदर्शन करना चाहता हूँ।" चक्रवर्ती की अनुमति प्राप्त कर नट ने नाटक प्रारम्भ किया। नाटक के भावपूर्ण नृत्य देखते हुए, मधुर गीत सुनते हुए चक्रवर्ती उसमें गहरा लीन हो गया। उसे अनुभूति होने लगी कि ऐसा नृत्य पहले भी कहीं देखा है? चिन्तन में गहरा लीन होने पर उसे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। देवलोक का दृश्य आंखों के सामने आया। सौधर्म देवलोक के पद्मगुल्म विज्ञान का समूचा दृश्य स्मृतियों में साकार हो उठा। पूर्वजन्म की स्मृतियाँ करते-करते चक्रवर्ती मूर्च्छित हो गया। शीतल उपचार करके उन्हें स्वस्थ किया गया। पिछले पाँच जन्म की याद आने लगी। अपने सगे भाई से मिलने को मन आतुर-बैचेन हो उठा। पर वह है कहाँ? कहाँ पता लगे उसका? भाई की खोज करने के लिए चक्रवर्ती ने एक श्लोक के दो चरण बनाये—

आस्व दासौ मृगौ हंसौ मातंगावमरौ तथा।

और अपने सेवकों को कहा—यह गाथा सर्वत्र प्रचारित कर दो, जो इस गाथा के अगले चरण की पूर्ति कर देगा उसे आधा राज्य दिया जायेगा।

चक्रवर्ती के आदेशानुसार गाथा प्रचारित हो गई। जन-जन के मुँह पर यह श्लोक नाचने लगा।

इधर चित्त के जीव ने देवलोक से च्यवकर पुरिमताल नगर के इभ्यसेठ के घर जन्म लिया। पूर्व संस्कारों के कारण वैराग्य हुआ और दीक्षा लेकर तपस्या—कायोत्सर्ग करने लगा। मुनि विहार करते हुए कांपिल्यपुर के बाहर मनोरम कानन में आकर ठहरे और कायोत्सर्ग में स्थित हो गये। पास ही एक किसान का खेत था। किसान खेत में रहेट चला रहा था और साथ ही यह गाथा भी बोलता जा रहा था—

आस्व दासौ मृगौ हंसौ मातंगावमरौ तथा।

मुनि के कानों में यह श्लोक पड़ा तो तुरन्त ही उन्होंने आगे के चरण को यों पूरा कर दिया—

एषा नौ षष्ठिका जातिः अन्योन्याभ्यां वियुक्तयोः ॥

किसान ने श्लोक पूर्ति सुनी तो वह मारे हर्ष के उछल पड़ा। आगे के चरण को वह रटता हुआ तुरन्त दौड़ा और राजसभा में पहुँचा। चक्रवर्ती को सूचना भेजी कि कोई श्लोक की पूर्ति लेकर आया है। चक्रवर्ती ने उसे बुलाया; श्लोक सुना, बस सुनते ही स्नेहवश मूर्च्छित हो गया।

सामंतों ने किसान को पकड़ लिया। यह कैसी पूर्ति की तुमने, जिसे सुनते ही सम्राट मूर्च्छित हो गये ? किसान को तो लेने के देने पड़ गये। जब उसे पीटा गया तो घबराकर उसने कहा— यह पूर्ति मैंने नहीं की, मेरे खेत के पास एक मुनि खड़े हैं, उन्होंने की है। तब तक शीतल उपचार से चक्रवर्ती को होश आ गया और सारी घटना पूछी।

सम्राट नंगे पाँवों दौड़कर मुनि के पास पहुँचे, वन्दना की और अब पूर्वपुण्य-पाप-फलों की चर्चा करने लगे।

प्रस्तुत अध्ययन में मुनि चित्त तथा चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त (संभूत) के इसी वार्तालाप का सुन्दर वैराग्यजनक वर्णन है। यह घटना इतनी प्रसिद्ध है कि बौद्धग्रन्थ (चित्तसंभूत जातक) में भी कुछ प्रकारान्तर से इसका उल्लेख आया है।

चित्तसंभूइज्जं : तेरसमं अज्झयणं

चित्र-सम्भूतीय : तेरहवां अध्ययन

ब्रह्मदत्त (सम्भूत) का काम्पिल्य में और चित्त का पुरिमताल में जन्म—

मूल—जाई-पराजिओ खलु, कासि नियाणं तु हत्थिणपुरम्मि ।
चुलणीए बंभदत्तो, उववन्नो पउमगुम्माओ ॥१॥
कम्पिले संभूओ, चित्तो पुण जाओ पुरिमतालम्मि ।
सेट्ठिकुलम्मि विसाले, धम्मं सोऊण पव्वइओ ॥२॥

छाया—जाति-पराजितः खलु, आकार्षीत् निदानं तु हस्तिनापुरे ।
चूलन्यां ब्रह्मदत्तः, उपपन्नः पद्मगुल्मात् ॥१॥
काम्पिल्ये सम्भूतः, चित्रः पुनर्जातः पुरिमताले ।
श्रेष्ठिकुले विशाले, धर्मं श्रुत्वा प्रव्रजितः ॥२॥

पद्यानुवाद—हस्तिनापुर में जाति-निमित्तक, किया निदान निन्दा पाकर ।
चूलनी-कुक्षि से ब्रह्मदत्त, जन्मा, वह सुरभव से आकर ॥१॥
सम्भूत-जन्म काम्पिल्यनगर और पुरिमताल में चित्त हुआ ।
हो सेठ-महाकुल में फिर भी, सुन धर्म प्रव्रज्या ग्रहण किया ॥२॥

अन्वयार्थ—**जाई-पराजिओ खलु**—वास्तव में, जाति से पराजित (तिरस्कृत) हुए (सम्भूतमुनि ने), **हत्थिणपुरम्मि**—हस्तिनापुर में, **नियाणं कासि**—(चक्रवर्ती बनने का) निदान किया था। **तु**—इसीलिए तो, (वह) **पउमगुम्माओ**—पद्मगुल्म-नामक देव-विमान से, (च्यव कर) **चुलणीए**—(मनुष्यभव मे) चूलनी (की कुक्षि) से, **बंभदत्तो**—ब्रह्मदत्त नामक चक्रवर्ती के रूप में, **उववन्नो**—उत्पन्न हुआ ॥१॥

कम्पिले—काम्पिल्यनगर में, **संभूओ**—संभूत का जीव (उत्पन्न हुआ।) **पुण**—फिर, **चित्तो**—चित्त (चित्र) का जीव, **पुरिमतालम्मि**—पुरिमताल नगर में, **विसाले**—विशाल, **सेट्ठिकुलम्मि**—श्रेष्ठिकुल में, **जाओ**—उत्पन्न हुआ। (फिर वह) और, **धम्मं**—(गुरुदेव से) धर्म, **सोऊण**—सुनकर, **पव्वइओ**—प्रव्रजित हो गया ॥२॥

के समक्ष मेरी पोल न खोल दें। अतः नमुचि मंत्री ने राजा और प्रजा को इनके विरुद्ध भड़काकर अपमानित एवं प्रताड़ित कराकर इन्हें नगर से वाहर निकाल दिया। अपमानित एवं दुःखित होने से सम्भूत मुनि ने रोष में आकर तेजोलेश्या छोड़ी, जिसके कारण नगर में चारों ओर धुंआ फैल गया। नगर की जनता को दुःखित देखकर स्वयं सनत्कुमार चक्रवर्ती अपनी रानी श्रीदेवी सहित दोनों मुनियों को शान्त करने और अपने अपराध की क्षमा याचना करने के लिए मुनि-चरणों में पहुँचे। दोनों मुनि समाधिमरण (संथारा) के लिए यावज्जीव अनशन कर चुके थे। चित्तमुनि तो समस्त जीवों से क्षमा याचना करके शान्त हो गये थे, परन्तु सम्भूत मुनि अब तक मन से शान्ति धारण नहीं कर सके थे। चक्रवर्ती ने बड़ी मुश्किल से सम्भूतमुनि को प्रसन्न किया। उस समय चक्रवर्ती की रानी ने भक्ति के आवेश में अपना मस्तक सम्भूत मुनि के पैरों पर रख दिया। चक्रवर्ती की रानी के केशों के स्पर्शजन्य सुखानुभव के कारण सम्भूत मुनि ने मन में इस प्रकार का निदान (नियाणा) कर लिया "धर्म के प्रभाव से आगामी भव में मैं भी चक्रवर्ती बनूं।"

मरकर दोनों मुनि सौधर्म नामक प्रथम देवलोक के पद्मगुल्म नामक विमान में देवरूप में उत्पन्न हुए। वहां से च्यवकर सम्भूत मुनि पूर्वभव में किये हुए निदान के फलस्वरूप ब्रह्मराज की रानी चुलनी की कुक्षि से ब्रह्मदत्त के रूप में उत्पन्न हुआ।

ब्रह्मदत्त चक्री और चित्तमुनि का काम्पिल्यपुर में मिलन

मूल—कम्पिल्लम्मि य नयरे,
समागया दोवि चित्त-सम्भूया।
सुह-दुक्ख फल-विवागं,
कहेंति ते एक्कमेक्कस्स ॥३॥

छाया—काम्पिल्ये च नगरे, समागतौ द्वावपि चित्त-सम्भूतौ।
सुख-दुःखफल-विपाकं, कथयत स्तावेकैकस्य ॥३॥

पद्यानुवाद—काम्पिल्य नगर में चित्त और,
संभूत परस्पर मिल पाये।
अपने सुख-दुःख का फल-विपाक,
दोनों को दोनों बतलाये ॥३॥

अन्वयार्थ—कम्पिल्लम्मि य नयरे—काम्पिल्य नामक नगर में, चित्त-सम्भूया—चित्त और सम्भूत, दो वि—दोनों ही, समागया—एकत्र मिले। (और) ते—वे दोनों, एक्कमेक्कस्स—परस्पर, एक दूसरे को, सुहदुक्खफलविवागं—सुख-दुःखरूप कर्म-फल-विपाक को, कहेंति—कहने लगे।

भावार्थ—काम्पिल्यनगर में (एक बार) चित्त और सम्भूत दोनों एकत्र मिले और उन दोनों ने परस्पर एक दूसरे से (पुण्य-पापोदय-जनित) पुण्य-पापजन्य सुख-दुःखरूप कर्मफल के सम्बन्ध में बातचीत की। (मिलने की घटना अध्ययन सार में अंकित है।)

ब्रह्मदत्त द्वारा पाँच भवों में सहोत्पत्ति और छठे भव में पृथक्ता का कथन—

मूल—चक्कवट्टी महिड्ढिओ, बंभदत्तो महायसो।
भायरं बहुमाणेण इमं वयणमब्बवी—॥४॥

आसिमो भायरा दोवि, अन्नमन्नवसाणुगा।
अन्नमन्नमणूरत्ता, अन्नमन्न-हिएसिणो ॥५॥

दासा दसण्णे[1] आसी, मिया कालिंजरे नगे।
हंसा मयंगतीराए, सोवागा कासि-भूमिए ॥६॥

देवा य देवलोगम्मि, आसि अम्हे महिड्ढिया।
इमा णो छट्ठिया जाई, अण्णमण्णेण जा विणा ॥७॥

छाया—चक्रवर्ती महर्द्धिकः, ब्रह्मदत्तो महायशाः।
भ्रातरं बहुमानेन, इदं वचनमब्रवीत् ॥४॥

आस्व भ्रातरौ द्वावपि, अन्योऽन्य-वशानुगौ।
अन्योऽन्यमनुरक्तौ, अन्योऽन्य-हितैषिणौ ॥५॥

दासौ दशार्णे आस्व, मृगौ कालिंजरे नगे।
हंसौ मृत-गंगा-तीरे, श्वपाकौ काशीभूम्याम् ॥६॥

देवौ च देवलोके, आस्वाऽऽवां महर्द्धिकौ।
इयं नौ षष्ठिका जातिः, अन्योऽन्येन या विना ॥७॥

---

१. पाठान्तर—दसण्णे।

पद्यानुवाद—महाऋद्धि-संयुत् चक्री था, महायशस्वी भूस्वामी।
बहुमान-पुरस्सर ब्रह्मदत्त, भाई से बोला हितकामी ॥४॥

हम दोनों पहले भाई थे, अन्योऽन्य प्रेम के वश रहते।
अनुरक्त परस्पर थे दोनों, हित एक दूसरे का कहते ॥५॥

थे दोनों दास दशार्ण बीच, मृग कालिंजर पर्वत पर थे।
मृतगंगा-तट पर रहे हंस, चाण्डाल बने काशी में थे ॥६॥

सौधर्म-लोक में देव हुए, हम ऋद्धिमान् दोनों भाई।
हम दोनों का छट्ठा भव है यह, जिसमें छूटी है मित्राई ॥७॥

अन्वयार्थ—**महिड्ढिओ**—महान् ऋद्धिवाले, **महायसो**—महान यशस्वी, **चक्कवट्टी**—चक्रवर्ती, **बंभदत्तो**—ब्रह्मदत्त ने, **बहुमाणेण**—बहुमान-पूर्वक=अत्यन्त आदर के साथ, **भायरं**—अपने (पूर्वभवीय बड़े) भाई (जो श्रेष्ठि कुलोत्पन्न एवं मुनि धर्म में दीक्षित थे) से। **इमं वयणमब्बवी**—इस प्रकार कहा—॥४॥

मो—हम, **दोवि**—दोनों ही, **भायरा**—भाई, **अन्नमन्नवसाणुगा**—परस्पर एक दूसरे के वशवर्ती, **अन्नमन्नमणूरत्ता**—एक दूसरे में (परस्पर) अनुरक्त, (और) **अन्नमन्नहिएसिणो**—एक दूसरे के हितैषी, **आसि**—थे ॥५॥

(हम दोनों पहले) **दसण्णे**—दशार्णदेश में, **दासा**—(शाण्डिल्य ब्राह्मण की यशोमती नाम की दासी से उत्पन्न) दासपुत्र, **आसी**—हुए थे। (वहाँ से मरकर फिर) **कालिंजरे नगे**—कालिंजर पर्वत पर, (हम दोनों) **मिया**—मृग हुए। (उस पर्याय से निकल कर हम) **मयंगतीराए**—मृतगंगा के किनारे, **हंसा**—हंस हुए। (तदनन्तर हम) **कासीभूमिए**—काशी भूमि=नगरी में, **सोवागा**—श्वपाक=चाण्डाल हुए ॥६॥

य—और (फिर), **देवलोगम्मि**—देवलोक में, **अम्हे**—हम, **महिड्ढिया**—महर्द्धिक, **देवा**—देव, **आसि**—थे। **इमा**—यह, **णो**—हमारी, **छट्ठिया जाई**—छठी जाति (जन्म) है, **जा**—जो, **अन्नमन्नेण**—एक दूसरे (के स्नेह) से, **विणा**—रहित हुई ॥७॥

भावार्थ—महान् ऋद्धि-सम्पन्न और महायशस्वी चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने अतिशय सम्मान के साथ अपने (पूर्वभवीय बड़े) भाई (चित्तमुनि) से इस प्रकार कहा—॥४॥

(इस जन्म के पूर्व) 'हम दोनों परस्पर वशवर्त्ती, परस्पर अनुरक्त और एक दूसरे के हितैषी भाई-भाई थे' ॥५॥

(हम दोनों पहले) दशार्णदेश में दास थे (दासपुत्र), (फिर) कालिंजर

पद्यानुवाद—कर निदान चक्री पद का, नृप ! तुमने मन कुध्यान किया।
उस भोग्य कर्म के फलस्वरूप, हमने वियोग फल प्राप्त किया ।।८।।

अन्वयार्थ—**राय**—हे राजन ! **तुमे**—तुमने, **नियाणप्पगडा कम्मा**—निदान कृत (भोगाभिलाषारूप) कर्मों का, **विचिंतिया**—विशेषरूप से (आर्त्तध्यान रूप से) चिन्तन किया। **तेसिं**—उन्हीं (निदानकृत कर्मों) के, **फलविवागेण**—फलविपाक (कर्मफलोदय) से (हम इस जन्म) में, **विप्पओगं**—वियोग को, **उवागया**—प्राप्त हुए हैं ।।८।।

भावार्थ—(मुनि) राजन ! तुमने निदान कृत कर्मों का विशेषरूप से चिन्तन किया, उन्ही कर्मों के फलोदय से हम दोनों का इस जन्म में वियोग हुआ है।

विवेचन—**इस जन्म में परस्पर वियोग का मूल कारण**—ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की यह जिज्ञासा थी कि इस जन्म में हमारे परस्पर बिछुड़ने का क्या कारण है ? इसका समाधान प्रस्तुत गाथा में चित्तमुनि द्वारा किया है कि तुम्हारे द्वारा किया गया निदान ही इस जन्म में हमारे परस्पर वियोग का कारण है।

'निदान' का विशेषार्थ—'निदान' जैन पारिभाषिक शब्द है। उसका शब्दशास्त्र की दृष्टि से अर्थ है—जिसके द्वारा तप आदि क्रियाएं अवश्य निस्सार कर दी जाती हैं, उसे निदान कहते हैं।[1]

कथा—हस्तिनापुर में नमुचि मंत्री द्वारा अपने प्रति किये हुए अपराध के कारण क्षुब्ध संभूत मुनि ने तेजोलेश्या छोड़ी थी, वह समस्त पुरवासियों और चक्रवर्ती सनत्कुमार के अनुरोध से, वापस समेट ली। मुनि का कोप शान्त हो गया।

उसके पश्चात दोनों मुनियों ने संल्लेखना अंगीकार करके अनशन करना प्रारम्भ किया। मुनियों ने नमुचि आदि समस्त सम्बन्धित व्यक्तियों से क्षमायाचना कर ली और अपने आत्मभाव में लीन थे तभी उनकी तपस्या से प्रभावित होकर सनत्कुमार चक्रवर्ती अपनी रानियों सहित मुनियों को वन्दना करने आये थे। चक्रवर्ती ने अत्यन्त भक्तिभावपूर्वक मुनिराजों के चरणों में वन्दना की। चक्रवर्ती की पटरानी ने सम्भूत मुनि के चरणों में अपना मस्तक रख दिया। रानी की सुकोमल केश राशि के स्पर्श-सुख से

---

१. **व्युत्पत्ति—नितरां दीयंते खण्ड्यन्ते तपःप्रभृतीन्यनेनेति निदानम् ।**

प्रभावित हो सम्भूत मुनि आगामी भव में चक्रवर्ती वनने का निदान (नियाणा) करने को आतुर हो गये थे कि उनके हार्दिक अभिप्राय को जानकर चित्त-मुनि ने विचार किया—'अहो ! मोहराज की दुर्जयता और इन्द्रियों की दुर्दान्तता कितनी प्रवल है कि जिन-वचनों के रहस्यज्ञ एवं उत्कृष्ट तपश्चरण करने वाले सम्भूत मुनि भी रानी की कोमल केशराशि के स्पर्शमात्र से मोहवश निदान करने को तत्पर हो रहे हैं। मुझे इन्हें अवश्य ही सावधान करना चाहिए।' यों सोचकर चित्तमुनि ने सम्भूतमुनि को सावधान करने की दृष्टि से कहा—'भाई ! यह क्या कर रहे हो ? इस प्रकार के दुर्ध्यान एवं अशुभ अध्यवसायों से अपनी रक्षा करो। इन निःसार और परिणाम में अति दारुण दुःखदायक भोगों की वाञ्छा करके तप से विशुद्ध हुई अपनी आत्मा को पुनः मलिन और अनन्त संसार परिभ्रमणकारी क्यों बना रहे हो ? अतः भूलकर भी ऐसा निदान मत करो। निदान से तुम्हारे द्वारा आचरित मोक्षदायक सव धर्मानुष्ठान निष्फल हो जायेगा। तुम्हारी की-कराई तपस्या या साधना भी मिट्टी में मिल जाएगी। अतः निदान का विचार छोड़ो। अगर निदान कर लिया है तो उसकी आलोचना-प्रतिक्रमण करके शुद्ध हो जाओ।' चित्तमुनि के द्वारा इस प्रकार समझाने पर भी संभूतमुनि निदान को न छोड़ सके। उन्होंने इस प्रकार निदान कर ही लिया—"अगर मेरे तपश्चरण एवं धर्माचरण का कुछ फल है तो इसके प्रभाव से मैं भी आगामी भव में चक्रवर्ती वनूं।"

गाथा का फलितार्थ—इस गाथा का फलितार्थ यही है; चित्तमुनि ने कहा—मैंने तुम्हें इस प्रकार के निदान करने से वहुत रोका था, लेकिन तुम माने ही नहीं, उन्हीं निदानकृत-कर्मों के फलोदय से आज हम दोनों विछुड़ गये हैं—तुम भोगों के शिखर पर वैठे हुए चक्रवर्ती वने हो और मैं त्याग के सुमेरु पर वैठा हुआ मुनि वना हूँ। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, चारों दृष्टियों से तुम्हारे और मेरे वीच पर्याप्त अन्तर पड़ गया है।

ब्रह्मदत्त द्वारा पूर्व शुभकर्मकृत सुखभोग का कथन—

मूल—सच्चसोयप्पगडा, कम्मा मए पुराकडा।
ते अज्ज परिभुञ्जामो, किं नु चित्ते वि से तहा ? ॥९॥

छाया—सत्य-शौच-प्रकटानि, कर्माणि मया पुराकृतानि।
तान्यद्य परिभुञ्जे, किन्तु चित्तोऽपि तानि तथा ॥९॥

पद्यानुवाद—सत्य-शौचमय प्रकट कर्म, मैंने पहले कर लिये भले।
हूँ आज भोगता फल उसका, क्या चित्त ! तुम्हें भी वही मिले ॥९॥

अन्वयार्थ—**मए**—मैंने, (सम्भूत मुनि के रूप में) **पुरा**—पूर्व, **सच्च-सोयप्पगडा**—सत्य और शौच (शुद्धि) से प्रकट (प्रसिद्ध) जो, **कम्मा**—कर्म, **कडा**=किये थे, **अज्ज**—आज, **ते**—उन्हीं (कर्मों के फल) को, **परिभुंजामो**—भोग रहा हूँ, **से**—उन (शुभ कर्मों के फल) को, **किं नु**—क्या, **चित्ते वि**=चित्त (तुम) भी, **तहा**—उसी प्रकार भोग रहे हो ? ॥९॥

भावार्थ—(ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती) हे चित्त ! मैंने पूर्वजन्म में सत्य और शौच से प्रसिद्ध जो कर्म किये थे, आज उनके फल का मैं परिभोग कर रहा हूँ। क्या तुम भी उन कृत कर्मों का फल उसी प्रकार भोग रहे हो ?

विवेचन—सच्च-सोय-प्पगडाकम्मा : तात्पर्य—सत्य अर्थात मिथ्याचरणरहितता और शौच अर्थात् आत्मशुद्धिकारक अथवा मायाचारीवर्जनरूप से प्रसिद्ध यानी धर्ममय अनुष्ठान से प्रसिद्ध शुभफलदायक कर्म।

फलितार्थ—इस गाथा का फलितार्थ यह है कि ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने चित्तमुनि से कहा कि पूर्वजन्मकृत शुभकर्मों के फलस्वरूप जो राजसुख तथा स्त्री रत्न आदि के उपभोग का सुख-भोग कर रहा हूँ, क्या तुम भी (चित्त) वैसे सुफल भोग रहे हो ? तात्पर्य यह है कि तुम उन सुकृतों का फल कहाँ भोग रहे हो, क्योंकि तुम तो भिक्षुक बनकर कष्ट पा रहे हो, इसलिए तुम्हारे द्वारा किये वे सुकृत निष्फल हो गये।

यहां चक्रवर्ती अपने सुखों को अनुपम मान रहा है, और मुनि के सुखों को नगण्य। अथवा यह आक्षेप भी हो सकता है कि चित्त ! यदि आपने कोई निदान नहीं किया तो मेरे से क्या विशेषता प्राप्त की ? मुझे ऐसा मालूम होता है कि या तो तुम अपने पूर्वकृतकर्मों का फल अपनी इच्छा से ही नहीं भोग रहे हो, अथवा उन कर्मों का शुभफल तुम्हें मिला ही नहीं है।

चित्तमुनि द्वारा विषय-सुख और आत्मसुख की उपलब्धि का कथन—

मूल—सव्वं सुच्चिण्णं सफलं नराणं,
कडाण कम्माण न मोक्ख[1] अत्थि।
अत्थेहिं कामेहिं य उत्तमेहिं,
आया ममं पुण्ण-फलोववेए ॥१०॥

१. पाठान्तर—मोक्खु।

जाणासि[1] संभूय ! महाणुभागं,
महिड्ढियं पुण्ण—फलोववेयं ।
चित्तं पि जाणाहि तहेव रायं,
इड्ढी जुई तस्स वि य प्पभूया ॥११॥

महत्थरूवा वयणऽप्पभूया,
गाहाऽणुगीया नरसंघ—मज्झे ।
जं भिक्खुणो सीलगुणोववेया,
इहऽज्जयंते समणोम्हि जाओ ॥१२॥

छाया—सर्वं सुचीर्णं सफलं नराणां,
कृतेभ्यः कर्मभ्यो न मोक्ष अस्ति ।
अर्थैः कामैश्चोत्तमैः,
आत्मा मम पुण्य—फलोपेतः ॥१०॥

जानासि सम्भूत ! महानुभागं,
महर्द्धिकं पुण्य-फलोपेतम् ।
चित्तमपि जानीहि तथैव राजन् !,
ऋद्धिद्युतिस्तस्यापि च प्रभूता ॥११॥

महार्थरूपा वचनाऽल्पभूता,
गाथानुगीता नर-संघ-मध्ये ।
यां भिक्षवः शील-गुणोपेताः,
इहाऽर्जयन्ति, श्रमणोऽस्मि जातः ॥१२॥

पद्यानुवाद—शुभ कर्म सफल नर के होते,
है कृतकर्मों से मुक्ति नहीं ।
उत्तम अर्थ और कामों से,
शुभ फल आत्मा यह भोग रही ॥१०॥

सम्भूत ! जान अतिभाग्यवान्,
समृद्धियुक्त शुभफल वाला ।
इस चित्त-जीव को भी राजन् !
जानो यों कान्ति—ऋद्धिवाला ॥११॥

---

१. जणाहि—चूर्णि ।

वहु-अर्थ स्वल्प-शब्दों वाली,
गाथा गाई मुनि जन-गण में।
अर्जन करते मुनि शील—ज्ञानयुत,
सुन मैं भी वना श्रमण क्षण में ॥१२॥

अन्वयार्थ—(मुनि)—**नराणं**—मनुष्यों के द्वारा, **सुचिण्णं**—अच्छे किये हुए (समाचरित) **सव्वं**—सभी (सत्कर्म,) **सफलं**—सफल (होते हैं।), **कडाण कम्माण**—किये हुए कर्मों से, **मोक्ख**—मोक्ष=छुटकारा, **न अत्थि**—नहीं हैं, **ममं**—मेरी, **आया**—आत्मा भी, **उत्तमेहिं**—उत्तम, **अत्थे,हि य**—अर्थों और, **कामेहि**—कामों द्वारा, **पुण्णफलोववेए**—पुण्यरूप फलों से युक्त रही है ॥१०॥

संभूय—हे सम्भूत ! (जैसे तुम अपने आपको) **महाणुभागं**—महा-भाग्यवान्, **महिड्ढियं**—महाऋद्धिसम्पन्न, (और) **पुण्णफलोववेयं**—पुण्य फल से युक्त, **जाणासि**—जानते हो; **चित्तं वि**—चित्त को भी, **तहेव**—उसी प्रकार, **जाणाहि**—समझो। **रायं**—हे राजन् ! **तस्स वि**—उस (चित्त) के पास भी, **प्पभूया**—प्रचुर, **इड्ढि**—ऋद्धि, **य**—और, **जुइ**—द्युति (तेजस्विता) रही है ॥११॥

(किन्तु स्थविरों ने) **नरसंघमज्झे**—जन समुदाय में, **वयणऽप्पभूया**—अल्प अक्षरों वाली, (किन्तु) **महत्थरूवा**—महार्थरूप, **गाहा**—गाथा, **अणुगीया**—गाई (कही) थी, **जं**—जिसे (सुनकर), **भिक्खुणो**—साधु, **सील गुणोववेया**—शील और गुणों से युक्त होकर, **इह**—इस (श्रमणधर्म) में, **अज्जयंते**—अजित—प्राप्त करते हैं अथवा (उसकी प्राप्ति के लिए) प्रयत्न करते हैं। (उसे सुनकर) (मैं भी) **समणो**—श्रमण, **जाओऽम्हि**—हो गया हूँ ॥१२॥

भावार्थ—मनुष्यों के द्वारा सम्यक् प्रकार से कृत सभी कर्म सफल (फलदायक) होते हैं। किये हुए कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं होता, अथवा मुक्ति नहीं मिलती। मेरी आत्मा भी उत्तमोत्तम अर्थों (सांसारिक धन-धान्यादि पदार्थों) और कामों (शब्दादि विषय भोगों) के द्वारा, पुण्य फल से युक्त रही है ॥१०॥

हे सम्भूत ! जैसे तुम अपने आपको महाभाग्यशाली, महाऋद्धिसम्पन्न और पुण्यफल से युक्त समझते हो, उसी तरह चित्त को भी समझो। राजन् ! चित्त के पास भी प्रचुर ऋद्धि और द्युति विद्यमान थी ॥११॥

(किन्तु) अल्पाक्षर और महान् अर्थरूप गाथा (स्थविरों ने) जनसमूह के वीच गाई, जिसे (सुनकर) शील और गुणों से युक्त साधु अतिप्रयत्नपूर्वक अर्जित करते हैं। (उसे सुनकर) मैं भी श्रमण बन गया हूँ ॥१२॥

विवेचन—शंका का समाधान—पूर्वगाथा में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के उद्गारों से ऐसा ध्वनित होता था कि मैंने तो अपने पूर्वकृत शुभकर्मों के फलस्वरूप राज्य वैभव, नारी तथा पंचेन्द्रियों का उत्कृष्ट विषयरूप सुखोपभोग प्राप्त किया, परन्तु चित्त ! तुमने तो अपने सुकृतों के फलस्वरूप कुछ भी नहीं पाया, ऐसे ही निर्धन और विषयसुख से वंचित रहे; इस शंका का समाधान चित्त मुनि अपने शब्दों से देते हैं कि तुम ऐसा मत समझो कि पूर्वकृत शुभकर्म निष्फल जाता है, प्रत्येक सुकृत कर्म अवश्य ही फलित होता है क्योंकि किये हुए शुभ या अशभ कर्मों का फल भोगे बिना, कर्मो से मुक्ति नहीं हो सकती। कहा भी है—

कृतकर्म क्षयो नास्ति, कल्पकोटिशतैरपि।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥

किये हुए कर्म करोड़ों कल्पों (युगों) में भी नष्ट नहीं होते। प्राणी के द्वारा किये हुए शुभाशुभ कर्म का फल उसे अवश्यमेव भोगना पड़ता है।

कदाचित् ब्रह्मदत्त के मन में ऐसी शंका हो सकती है कि इस समय तो आप (चित्तमुनि) के इस रूप को देखते हुए आप फक्कड़ राम दीखते हैं, आपके जीवन में कोई वैभव-सम्पन्नता या अन्य सुखोपभोगों की प्रचुरता नहीं मालूम होती। इसका समाधान मुनि इसी गाथा (१०) के उत्तरार्द्ध या ११वीं गाथा से करते हैं कि मैं भी उन पूर्वकृत पुण्यों के फलस्वरूप उत्तमोत्तम अर्थ-कामों से सम्पन्न था। तुम्हारी तरह मुझे भी महाभाग्यशाली और महाऋद्धि सम्पन्न समझो। इस चित्त के जीव के पास भी अपार ऋद्धि और द्युति थी। इसलिए तुम्हें यह नहीं मानना चाहिए कि चित्त ने सुकृत कर्मों का कुछ भी फल प्राप्त नहीं किया।

विवेचन—वृद्ध परम्परा से इन दोनों गाथाओं का फलितार्थ—इन दोनों गाथाओं का फलितार्थ यह भी है कि जिस प्रकार तुमने सम्भूत मुनि के रूप में निदानयुक्त होकर उस निदान के प्रभाव से ब्रह्मराज और चूलनी रानी के यहाँ ब्रह्मदत्त के रूप में अवतरित होकर चक्रवर्ती पद पाया है, वैसे ही चित्त साधु ने भी निदान रहित तप—संयम के प्रभाव से देवलोक से च्यव कर सुसमृद्ध धनसार श्रेष्ठी के यहाँ पुत्ररूप में जन्म पाया है। वहाँ भी चक्रवर्ती की तरह ऋद्धि, वैभव-सम्पन्नता और तेजस्विता थी। मैं भी उस अवस्था में प्रतिदिन याचकों को एक करोड़ स्वर्णमुद्राएँ दान दिया करता था। समस्त ऋतुओं के अनुकूल सुखदायक सुरम्य उच्च प्रासादों में निवास करता हुआ समग्र भोगों का उपभोग करता था। मैं भी अनेक हाथी, घोड़े,

रथ, और यानों तथा धन-धान्यादि ऋद्धि-सम्पत्ति से सम्पन्न था। मेरे भी अनेक सुकुमार कामिनियाँ थीं। उनसे परिवृत होकर मैं भी विविध प्रकार के नाटकों को देखता, वाद्यों और गीतों के कर्णप्रिय शब्दों को सुनता हुआ विशिष्ट सुखों का उपभोग करता था। किसी भी सुख-सामग्री का अभाव मेरे यहां नहीं था। पूर्वकृत सुकृत का प्रभाव मुझे हर प्रकार से आनन्दित करता था।

पुनः शंका-समाधान—इन वाक्यों को सुनकर कदाचित् पुनः शंका हो सकती है कि जब तुम्हारे पास इतनी ऋद्धि तथा सुख-सम्पन्नता थी तो उसे छोड़ क्यों दी, क्यों ऐसी दरिद्रता और कष्टदायिनी जिंदगी अपनाई ? इसी शंका का समाधान चित्तमुनि १२वीं गाथा में करते हैं, जिसका भावार्थ पहले दिया जा चुका है। मुनि के वक्तव्य का आशय यह है कि मैं उसी गाथा को सुनकर संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर मुनि बना हूँ, दरिद्रता के कारण नहीं।

ब्रह्मदत्त द्वारा चित्तमुनि को भोगों के लिए आमंत्रण

मूल—उच्चोयए महु कक्के य बंभे,
पवेइया आवसहा य रम्मा।
इमं गिहं चित्त! धणप्पभूयं,
पसाहि पंचाल-गुणोववेयं ॥१३॥
नट्टेहि गीएहि य वाइएहिं,
नारीजणाइं परिवारयंतो।
भुञ्जाहि भोगाइं इमाइं भिक्खू!,
मम रोयइ पव्वज्जा हु दुक्खं ॥१४॥

छाया—उच्चोदयो मधुः कर्कश्च ब्रह्मा,
प्रवेदिता आवसथाश्च रम्याः।
इदं गृहं चित्त! धन-प्रभूतं,
प्रशाधि पंचाल-गुणोपेतम् ॥१३॥
नाट्यैर्गीतैश्च वादित्रैः,
नारीजनान् परिवारयन्।
भुङ्क्ष्व भोगानिमान् भिक्षो!,
मह्यं रोचते प्रव्रज्या खलु दुःखम् ॥१४॥

पद्यानुवाद—उच्चोदय कर्क मध्य ब्रह्म,
मधु रम्यावास सजे सारे।
धन-धान्य भरा घर भोग करो,
पांचाल-मुख्य शोभा धारे ॥१३॥
तुम नाट्य, गीत और वाद्य-सहित,
नारी-जन से परिवृत होकर।
भोगो इन भोगों को, भिक्षो !,
लगती मुनिता मुझे दुःखकर ॥१४॥

अन्वयार्थ—उच्चोयए—उच्च, उदय, **महु**—मधु, **कक्के**—कर्क, **य**—और, **बंभे**—ब्रह्म, (ये पाँच प्रकार के मुख्य प्रासाद), **य**—और भी, (अनेक प्रकार के) **रम्मा**—रम्य, **आवसहा**—प्रासाद हैं, जो, **पवेइया**—देव-कारीगरों ने बनाये हैं या (वास्तुशास्त्र में) कहे हैं, **चित्त !**—हे चित्त !, **पंचाल-गुणोववेयं**—पांचालदेश के विशिष्ट गुणों—इन्द्रियों के मनोज्ञविषयों से युक्त, (तथा) **धणप्पभूयं**—धनधान्य आदि से प्रचुर—पूर्ण, **इमं गिहं**—इस घर को, **पसाहि**—स्वीकार करो ॥१३॥

भिक्खू—हे भिक्षो ! (तुम) **नट्टेहि**—नाट्य, **गीएहि**—गीत, **य**—और, **वाइएहिं**—वाद्यों के साथ, **नारीजणाइं**—नारीजनों से, **परिवारयंतो**—घिरे हुए, **इमाइं भोगाइं**—इन भोगों को, **भुंजाहि**—भोगो। **मम रोयइ**—मेरे लिए यही रुचिकर है। **पव्वज्जा हु दुक्खं**—प्रव्रज्या निश्चय ही दुःखप्रद लगती है ॥१४॥

भावार्थ—हे चित्त ! उच्च, उदय, मधु, कर्क और ब्रह्म, ये पाँच प्रकार के प्रासाद तथा और अनेक प्रकार के रमणीय प्रासाद जो कारीगर देवों द्वारा निर्मित हैं, (इनके अतिरिक्त) पांचाल देश के विशिष्ट इन्द्रिय गुणों से युक्त एवं धन-धान्यादि से परिपूर्ण इस घर को भी स्वीकार करो। अर्थात्—इनका उपभोग करो ॥१३॥

हे भिक्षु ! तू नाट्य, गीत और वाद्यों के साथ इन कामिनियों से परिवृत होकर इन भोगों को भोग। मुझे यही रुचिकर लगता है। प्रव्रज्या वस्तुतः दुःखरूप है ॥१४॥

विवेचन—भोगसामग्री के उपभोग का आमंत्रण—पूर्वोक्त गाथाओं से मुनि द्वारा स्पष्टीकरण किये जाने पर भी ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को पूर्वसंस्कारवश मुनि दीक्षा नीरस, कष्टदायिनी और प्राप्त भोगों को ठुकराने जैसी लगती है। तथा यह भी सम्भव है कि उसके मन में यह भी शंका हो कि शायद चित्त ने स्थविरों के मुँह से शास्त्रगाथा श्रवण करके आवेश में आकर या गृहकलह से तंग आकर दीक्षा ले ली हो। इस कारण वह दीक्षा को अरुचि-

कर एवं दुःखकर बताकर प्रासाद, धन-धान्यादि भोग सामग्रीपूर्ण गृह एवं नारी तथा नृत्य-गीतादि इन्द्रिय विषय सुख सामग्री के उपभोग का साग्रह अनुरोध कर रहा है।

चित्तमुनि द्वारा अशाश्वत भोगों को छोड़कर गृहत्याग की प्रेरणा—

मूल—तं पुव्वनेहेण कयाणुरागं,
नराहिवं कामगुणेसु गिद्धं।
धम्मस्सिओ तस्स हियाणुपेही,
चित्तो इमं वयणमुवाहरित्था ॥१५॥

सव्वं विलवियं गीयं,
सव्वं नट्टं विडंबियं।
सव्वे आभरणा भारा,
सव्वे कामा दुहावहा ॥१६॥

बालाभिरामेसु दुहावहेसु,
न तं सुहं कामगुणेसु रायं!
विरत्तकामाण तवोधणाणं,
जं भिक्खुणं सीलगुणे रयाणं ॥१७॥

नरिंद! जाई अहमा नराणं,
सोवाग-जाई दुहओ गयाणं।
जहिं वयं सव्वजणस्स वेस्सा,
वसीय सोवाग-निवेसणेसु ॥१८॥

तीसे य जाईइ उ पावियाए,
वुच्छामु सोवाग-निवेसणेसु।
सव्वस्स लोगस्स दुगुंछणिज्जा,
इहं तु कम्माइं पुरे कडाइं ॥१९॥

सो दाणिसिं राय! महाणुभागो,
महिड्ढिओ पुण्णफलोववेओ।
चइत्तु भोगाइं असासयाइं,
आयाण-हेउं अभिणिक्खमाहि ॥२०॥

वाल-मनोहर दुःखदायी,
कामों में वह सुख कहीं नहीं।
जो काम-विरत उन तपोधनी,
मुनियों को सुख है प्राप्त यहीं ॥१७॥

अधम जाति चाण्डाल मनुज की,
हमने दो वार वहाँ जन्म लिया।
हम रहे वहाँ सवके निन्दित हो,
वस चाण्डालगृहों में कर्म किया ॥१८॥

उस पापयुक्त चाण्डाल-जाति में,
जन्म वास हमने पाया।
सव जन के घृणापात्र होकर,
इस भव में (फिर) संचित फल पाया ॥१९॥

महाभाग हे भूप! यहां अव,
पुण्य-फलोचित पद पाकर।
दीक्षा के हेतु वढो आगे,
नश्वर भोगों को ठुकरा कर ॥२०॥

अन्वयार्थ—**पुव्वनेहेण**—पूर्वभव के स्नेह से, **कयाणुरागं**—अनुरक्त (अनुराग किये हुए) (तथा), **कामगुणेसु गिद्धं**—कामगुणों (काम-भोगों) में आसक्त, **तं नराहिवं**—उस नराधिप राजा को, **तस्स**—उसके, **हियाणुपेही**—हितानुप्रेक्षी, हित चिन्तक (एवं), **धम्मस्सिओ**—धर्म में स्थिर हुए, **स चित्तो**—उस चित्त मुनि के जीव ने, **इमं वयणं उदाहरित्था**—यह वचन कहे ॥१५॥

सव्वं—सव, **गीयं**—गीत=गान, **विलवियं**—विलापरूप हैं। **सव्वं**—सव, **नट्टं**—नाट्य, **विडंवियं**—विडम्वना रूप हैं। **सव्वे**—समस्त, **आभरणा**—आभूषण, **भारा**—भाररूप हैं (और) **सव्वे**—सभी, **कामा**—कामभोग, **दुहावहा**—दुःखावह (दुःखदायक) हैं ॥१६॥

रायं—हे राजन्! **वालाभिरामेसु**—अज्ञानियों को अभिराम (सुन्दर) दिखने वाले, **दुहावहेसु**—दुःखप्रद, **कामगुणेसु**—कामभोगों में, **तं सुहं न**—वह सुख नहीं है, **जं**—जो सुख, **विरत्तकामाण**—काम-भोगों से विरक्त **तवोधणाणं**—तपोधनी, **सील-गुणेरयाणं**—शीलादि गुणों में रत, **भिक्खूणं**—भिक्षुओं को होता है ॥१७॥

नरिंद—हे नरेन्द्र! **नराणं**—मनुष्यों में (जो) **अहमाजाई**—अधमजाति, **सोवाग जाई**—श्वपाक (चाण्डाल) जाति है, **दुहओ गयाणं**—उसमें हम दोनों उत्पन्न हो चुके हैं। **वयं**—हम दोनों, **सोवाग निवेसणेसु**—चाण्डालों की वस्तियों में,

वसीय—रहते थे, **जहिं**—जहाँ, **सव्वजणस्स**—सब लोगों के, **वेस्सा**—द्वेष (घृणा) के पात्र थे ॥१८॥

तीसे—उस, **पावियाए जाईइ उ**—पापिष्ठ चाण्डाल जाति में तो (हमारा जन्म हुआ था) **सोवागनिवेसणेसु**—तथा चाण्डालो की बस्ती में, **मु**—हम दोनों, **वुच्छा**—रहे थे। (तब) **सव्वस्स लोगस्स**—सभी लोगों के, **दुगुंछणिज्जा**—घृणा-पात्र (बने हुए थे।) **तु**—किन्तु, **इहं**—इस जन्म में, (जो श्रेष्ठता प्राप्त है, वह) **पुरेकडाई कम्माइं**—पूर्वजन्मकृत (शुभ) कर्मों का फल है ॥१९॥

राय—हे राजन् ! **सो**—(पूर्वजन्म में निन्दित) वही (सम्भूत का जीव तू), **दाणिसि**—इस समय, **महाणुभागो**—महाभाग्यशाली, **महिड्ढिओ**—महान ऋद्धि सम्पन्न, (तथा) **पुण्णफलोववेओ**—पुण्य-फलों से युक्त (सम्राट बना) है। (अतः), **असासयाइं**—अशाश्वत (विनाशी), **भोगाइं**—काम-भोगों को, **चइत्तु**—छोड़कर, **आयाण-हेउं**—आदान अर्थात् चारित्र (धर्म की आराधना) के हेतु, **अभिणिक्खमाहि**—अभिनिष्क्रमण कर ॥२०॥

भावार्थ—पूर्वभव के स्नेहवश अनुरागी तथा कामभोगों में आसक्त उस राजा (चक्रवर्ती) को, धर्म में स्थिर एवं उसके हितैषी चित्तमुनि ने ये उद्गार कहे ॥१५॥

सब गीत विलापरूप हैं, सभी नाटक विडम्बनारूप हैं, सभी आभूषण भारभूत हैं तथा समस्त कामभोग दुःखप्रद हैं ॥१६॥

राजन् ! मूढ़जनों के लिए रमणीय किन्तु (वस्तुतः) दुःखावह काम-भोगों में वह सुख नहीं है, जो सुख काम-विरक्त, शीलादि गुणों में रत, तपोधन भिक्षुओं को प्राप्त है ॥१७॥

हे नरेन्द्र ! चाण्डाल जाति, जो मनुष्यों में अधमजाति (मानी जाती) है, उसमें हम दोनों ने जन्म लिया था। जहाँ हम दोनों चाण्डालों के आवासों में सब लोगों के (घृणापात्र) होकर रहते थे ॥१८॥

उस पापिष्ठ चाण्डाल जाति में, (जन्म लेकर हम दोनों) चाण्डाल के घर में रहते थे, तब सभी लोगों के घृणापात्र बने हुए थे, किन्तु इस जन्म में, जो उच्चता या श्रेष्ठता प्राप्त है, वह पूर्वजन्म में किये हुए शुभकर्मों के फल हैं ॥१९॥

हे राजन् ! (पूर्वजन्म में निन्दित) वही (सम्भूत का जीव) तू इस समय महाभाग्यवान्, महाऋद्धि-सम्पन्न एवं पुण्यफलों से युक्त (सम्राट बना) है, अतः अशाश्वत (क्षणिक) इन कामभोगों को छोड़कर अब तू चारित्रधर्म की आराधना हेतु अभिनिष्क्रमण (दीक्षा ग्रहण) कर ॥२०॥

विवेचन—१४वीं गाथा में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती द्वारा चित्तमुनि को नृत्य-गीतादि राग-रंग, नारियों एवं काम-भोगों का यथेच्छ सुखोपभोग करने का आमंत्रण दिया गया था, इसके उत्तर में साधुधर्मनिष्ठ हितचिन्तक चित्तमुनि ने जो कहा, वह १६वीं, १७वीं गाथा में अंकित है। चित्तमुनि के कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार उन्मत्त मनुष्य एवं अबोध बालक आदि के गीत शिक्षा विहीन होने से निरर्थक एवं विलाप तुल्य प्रतीत होता है। जिस प्रकार सद्यःपतिवियोग से दुःखित किसी विधवा स्त्री को कोई सुन्दर गीत सुनाए तो वह उसके आनन्द का नहीं, विलाप का कारण बनता है, इसी प्रकार संयमी पुरुषों के लिए ये गीत विलापतुल्य निरर्थक हैं। ये सुखदायक नहीं है। और ये नाटक भी विडम्बनारूप ही हैं। जैसे यक्षादि व्यन्तर से आविष्ट व्यक्ति के शरीर की चेष्टाएँ विकृतिपूर्ण होती हैं, तथा शराबी भी मद्य के नशे से कुचेष्टाएँ करता हैं, उसी प्रकार की विडम्बनारूप ये नाटकीय चेष्टाएँ हैं। उसी प्रकार ये आभूषण भी संयमी पुरुषों के लिए भारभूत ही हैं। बहिरात्मा जीव भले ही आभूषणों को मोहवश सुखदायक माने, परन्तु अन्तरात्मा जीव के लिए तो ये भारभूत एवं निरर्थक हैं। जैसे कोई नारी सोने का मुलम्मा लगे हुए वजनदार आभूषण को सोने का आभूषण समझ-कर पहन लेती है, परन्तु जब उसे असलियत मालूम होती है तो वह उसी आभूषण को भारभूत समझकर फैंक देती है, उसी प्रकार के ये स्वर्णादि आभूषण हैं। ज्ञानी इनको भार ही मानता है।

अब रही बात विषय-भोगों के उपभोग की, ये तृष्णा एवं लालसा के परिवर्द्धक होने से एक प्रकार से दुःखरूप ही हैं। किम्पाकफल के समान ये देखने, चखने और सूँघने में भले ही मनोज्ञ लगें, परन्तु जैसे किम्पाकफल का उपभोग विनाश का कारण होता है, वैसे ही शब्दादि विषयों का आसक्ति-पूर्वक उपभोग भी भोक्ता का समूल विनाश कर डालते हैं। ये विषय-भोग, परमार्थ से अनभिज्ञ अज्ञानी जनों को ही रमणीय एवं सुखदायक लगते हैं, परन्तु विरक्त एवं तत्वज्ञ साधु वर्ग के लिए ये पुनः पुनः जन्म-मरणादि रूप भयंकर दुःख के कारण हैं। इन्हें सुख के हेतु समझना, मृत्यु को जीवन समझने के समान महामूढ़ता है। ये शब्दादि विषय ईर्ष्या, विषाद आदि के कारणभूत होकर चित्त में व्याकुलता तथा व्यग्रता पैदा करते हैं। इनमें आसक्ति से आत्मा अपने स्वरूप से भ्रष्ट होकर नरक, निगोद आदि भवों में जाकर नाना दुःखों को भोगती हैं।

विषयरत और विषय-विरक्त के सुख की तुलना अशक्य—प्रस्तुत १७

वीं गाथा में मूढ़जनों को प्रिय एवं परिणाम में दुःखद कामभोगों में वह सुख कहाँ, जो काम-भोगों से विरक्त शीलगुणानुरक्त साधुओं को होती है ? जो लोग विवेकविकल हैं, उन्हें ही काम-भोगादि विपय प्रिय लगते हैं परन्तु वास्तव में ये समस्त दुःखों के मूल हैं। क्योंकि विषयी पुरुपों को विषय-वासना से कदापि सुख-शान्ति नहीं मिलती, प्रत्युत वे प्रतिक्षण अशान्त एवं संतप्त रहते हैं, जबकि संयमशील तपस्वी पुरुषों को आत्मरमणता से जो अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। उस आनन्द के एक कण का सहस्रांश भी काम-भोगों में उपलब्ध नहीं होता। कहा भी है—

यच्च कामसुखं लोके, यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते, नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥

लोक में जो कामजनित सुख है, और जो देवों का महान् सुख माना जाता है, ये दोनों सुख तृष्णाक्षयजनित सुख के समक्ष सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं है।

चित्तमुनि ने यह ध्वनित कर दिया है कि आध्यात्मिक सुख में मस्त संयमी पुरुप इन काम-भोगजनित दुःखमूलक सुख की ओर कैसे मुड़ सकता है।

धर्म के फलस्वरूप प्राप्त उच्चता का सदुपयोग करो—गा० १८ से २० तक में चित्तमुनि ने ब्रह्मदत्त चक्री को यह समझाया है—कहाँ तो एक दिन हम अधमाधम चाण्डाल जाति में उत्पन्न हुए थे, जहाँ हमारे साथ किसी की सहानुभूति नहीं थी, सभी हमसे द्वेप और घृणा करते थे, इस प्रकार के घृणित जीवन से ऊपर उठकर हमने जो समस्त काम-भोगों से विरक्त होकर, तथा जातिगत तिरस्कार एवं दुःखों को समभाव से सहकर मुनिधर्म का आचरण किया। जिससे अशुभकर्मों का क्षयोपशम हुआ, और शुभकर्मों का बन्ध पड़ा, उसके फलस्वरूप आज इतनी उच्च स्थिति में तुम (सम्भूत का जीव) पहुँचे हो, अब इस जीवन को क्षणभंगुर भोगों में समाप्त न करके, भोगों का स्वेच्छा से त्याग करके चारित्रधर्म को अंगीकार करो। क्योंकि चाण्डाल जाति से उद्धार होते-होते इस चक्रवर्ती रूप स्थिति तक पहुँचे हो, इसमें श्रुत-चारित्र धर्म ही सहायक हुआ है। अतः यदि तुम शाश्वत सुख की प्राप्ति करना चाहते हो, तो इन अशाश्वत भोगों का परित्याग करके उसी चारित्र धर्म की छत्रछाया में आ जाओ।

कर्मों का फल स्वयं को अवश्य भोगना पड़ेगा : अतः महाहिंसक कर्म न करने की प्रेरणा—

मूल—इह जीविए राय ! असासयम्मि,
धणियं तु पुण्णाइं अकुव्वमाणो ।
से सोयइ मच्चु-मुहोवणीए,
धम्मं अकाऊण परंमि[1] लोए ॥२१॥

जहेह सीहो व मियं गहाय,
मच्चू नरं नेइ हु अंतकाले ।
न तस्स माया व पिया व भाया,
कालम्मि तम्मंसहरा[2] भवंति ॥२२॥

न तस्स दुक्खं विभयंति नाइओ,
न मित्तवग्गा, न सुया, न बंधवा ।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं,
कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥२३॥

चिच्चा दुपयं च चउप्पयं च,
खेत्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं ।
कम्मप्पबीओ[3] अवसो पयाइ,
परं भवं सुन्दर-पावगं वा ॥२४॥

तं इक्कगं तुच्छसरीरगं से,
चिईगयं दहिय उ पावगेणं ।
भज्जा य पुत्तोऽवि य नायओ य,
दायारमन्नं अणुसंकमंति ॥२५॥

उवणिज्जइ जीवियमप्पमायं,
वण्णं जरा हरइ नरस्स रायं ।
पंचालराया ! वयणं सुणाहि,
मा कासि कम्माणि महालयाणि ॥२६॥

पाठान्तर १. परंसि २. तम्मिंऽसहरा ३. सकम्मबीओ

छाया—इह जीविते राजन्! अशाश्वते,
धनितं (अधिकं) तु पुण्यान्यकुर्वाणः।
य शोचति मृत्यु-मुखोपनीतः
धर्ममकृत्वा परस्मिंल्लोके ॥२१॥

यथेह सिंहो वा मृगं गृहीत्वा,
मृत्युर्नरं नयति खलु अन्तकाले।
न तस्य माता वा पिता वा भ्राता,
काले तस्मिन्नंशधरा[1] भवन्ति ॥२२॥

न तस्य दुःखं विभजन्ति ज्ञातयः,
न मित्रवर्गा न सुता न बान्धवाः।
एकः स्वयं प्रत्यनुभवति दुःखं,
कर्तारमेवानुयाति कर्म्म ॥२३॥

त्यक्त्वा द्विपदं च चतुष्पदं च,
क्षेत्रं गृहं धन—धान्य च सर्वम्।
कर्मात्म—द्वितीयोऽवशः प्रयाति,
परं भवं सुन्दरं पापकं वा ॥२४॥

तदेककं तुच्छ—शरीरकं तस्य,
चितिगतं दग्ध्वा तु पावकेन।
भार्या च पुत्रोऽपि च ज्ञातयश्च,
दातारमन्यमनुसंक्रामन्ति ॥२५॥

उपनीयते जीवितमप्रमादं,
वर्णं जरा हरति नरस्य राजन्!
पांचालराज! वचनं शृणु,
मा कार्षीः कर्माणि महालयानि ॥२६॥

पद्यानुवाद—अस्थिर इस जीवन में भूधव!
जो अतिशय पुण्य न कर पाता।
विना धर्म के मरण-काल,
और परभव में वह पछताता ॥२१॥

पाठान्तर—१. तस्यांशधरा

ज्यों मृगपति मृगवर को धरता,
त्यों मृत्यु मनुज को (गह) ले जाती।
ना माता, भ्राता और पिता,
उस क्षण में होते हैं साथी ॥२२॥

पुत्र, मित्र, या बन्धु ज्ञाति-जन,
उस दुःख में भागी नहीं बनते।
स्वयं अकेला दुःख भोगे नर,
कर्त्ता के पीछे फल चलते ॥२३॥

द्विपद चतुष्पद क्षेत्र भवन,
धन धान्य और माया तजकर।
परभव में सुख दुःख पाने को,
वह जाता कर्म-विवश बनकर ॥२४॥

यह तुच्छ देह चिति पर रख के,
पावक से उसे जलाते हैं।
पत्नी, पुत्र, बन्धुजन सब,
फिर अन्य दातृ-संग जाते हैं ॥२५॥

सतत कर्म यह जीवन हरता,
जरा कान्ति का हरण करे।
पांचालराज ! यह बात श्रवण कर,
मत महाकर्मों का बन्ध करे ॥२६॥

अन्वयार्थ—**राय**—हे राजन् ! **इह असासयम्मि जीविए**—इस अशाश्वत मानव-जीवन में, (जो) **धणियं**—अधिक, **पुण्णाइं**—पुण्यकर्म, **अकुव्वमाणो**—नहीं करता है, **से**—वह, **मच्चुमुहोवणीए**—मृत्यु के मुख में पहुंचने पर, **सोयइ**—शोक (पश्चात्ताप) करता है। (और) **धम्मं अकाऊण**—धर्म नहीं करने के कारण, **परंमिलोए**—परलोक में (भी पश्चात्ताप करता है।) ॥२१॥

जहा—जैसे, **इह**—यहाँ, **सीहो**—सिंह, **मियं**—मृग को, **गहाय**—पकड़ कर ले जाता है, वैसे ही, **अन्तकाले**—अन्तकाल में, **मच्चू हु**—मृत्यु निश्चित ही, **नरं**—मनुष्य को, **नेइ**—ले जाता है। **कालम्मि**—मृत्यु के समय में, **तस्स**—उसके, **माया व पिया**—माता या पिता, **व**—और, **भाया**—भाई-बन्धु (कोई भी) **तम्मि**—उस (मृत्युदुःख) में, **अंसहरा**—अंशधर=हिस्सेदार, **न भवंति**—नहीं होते ॥२२॥

तस्स दुक्खं—उसके दुःख को, **नाइओ**—जाति (ज्ञाति) के लोग, **न विभयंति**—बंटा नहीं सकते, (और) **न मित्तवग्गा**—न ही मित्रवर्ग, **न सुया, न बंधवा**—और

न पुत्र एव वन्धु ही (दुःख में हिस्सा बंटा सकते हैं।) सयं—वह स्वयं, एक्को—अकेला ही, दुक्खं—प्राप्त दुःख को, पच्चणुहोइ—भोगता (अनुभव करता) है, क्योंकि कम्मं—कर्म, कत्तारमेव—कर्त्ता का ही, अणुजाइ—अनुसरण करता है ॥२३॥

दुपयं—द्विपद—सेवक आदि, चउप्पयं—चतुष्पद—पशु आदि चौपाये जानवर, खेत्तं—खेत, गिहं—घर, च—और, धण-धन्नं—धन-धान्य आदि, सव्व—सब कुछ, चिच्चा—छोड़कर, (यह) अवसो—पराधीन जीव, कम्मप्पवीओ—स्वकृतकर्मों को अपने साथ लिए, सुन्दर-पावगं वा—सुन्दर अथवा असुन्दर (पापयुक्त=खराब), परं भवं—परभव को, पयाइ—जाता है ॥२४॥

तं—उस जीवरहित, इक्कगं—एकाकी, चिईगयं—चिता पर रखे हुए, तुच्छसरीरगं—तुच्छ शरीर को, उ—तो, पावगेणं—अग्नि से; डहिय—जला कर, भज्जा—भार्या (पत्नी), य—और, पुत्तोवि य—पुत्र भी, य—तथा, नायओ—जाति के लोग भी, अन्नं—अन्य, दायारं—आश्रयदाता का, अणुसंकमंति—अनुसरण करते हैं ॥२५॥

रायं—राजन्, (कर्मों के द्वारा) जीवियं—यह जीवन, अप्पमायं—किसी प्रकार की भूल (प्रमाद) किये विना, उवणिज्जइ—(मृत्यु के समीप) ले जाया जा रहा है। (और यह), जरा—वृद्धावस्था, नरस्स—मनुष्य के, वण्णं—(शारीरिक) वर्ण (रूप-रंग या कांति) का, हरइ—हरण कर रही है। पंचालराया—पांचालराज, वयणं सुणाहि—मेरी बात सुनो, महालयाइं—पंचेन्द्रियवधादि महानिकृष्ट, कम्माइं—पापकर्मों को, माकासि—मत करो ॥२६॥

भावार्थ—हे राजन्! इस अशाश्वत मानव-जीवन में जो प्रचुर पुण्य कर्म नहीं करता, वह मृत्यु निकट आने पर पछताता है, और धर्म न करने पर परलोक में भी दुःखानुभव करता है ॥२१॥

जैसे यहाँ सिंह हरिण को पकड़कर ले जाता है, वैसे ही मृत्यु अन्तकाल में मनुष्य को अवश्य ही ले जाता है। मृत्युकाल में उसके माता-पिता या भाई-वन्धु कोई भी मरणदुःख में हिस्सेदार नहीं होते ॥२२॥

उस दुःख को न तो जाति के लोग बांट सकते हैं, और न मित्र, पुत्र, या वन्धु ही, जीव स्वयं अकेला ही प्राप्त दुखों को भोगता है, क्योंकि कर्म, कर्ता का ही अनुसरण करते हैं ॥२३॥

द्विपद, चतुष्पद, खेत, घर तथा धन-धान्य आदि सब कुछ यहीं छोड़कर पराधीन (कर्मविवश) जीव कृतकर्मों के साथ सुन्दर या असुन्दर परभव को जाता है ॥२४॥

उस निर्जीव तथा चिता पर रखे हुए एकाकी तुच्छ शरीर को अग्नि

से जलाकर पत्नी, पुत्र या जाति-जन भी किसी आश्रयदाता का अनुसरण करते हैं ॥२५॥

राजन् ! (कर्मों के द्वारा) किसी प्रकार की असावधानी (प्रमाद) रखे विना प्रतिक्षण यह जीवन मृत्यु के निकट ले जाया जा रहा है और यह वृद्धावस्था मनुष्य के शारीरिक लावण्य को हरण कर रही है। इस लिए हे पांचालराज ! *मेरे वचन को सुनो और (पंचेन्द्रियवधादि) महान* दुष्कर्मों को मत करो ॥२६॥

विवेचन—भोगों को छोड़कर धर्माचरण या पुण्याचरण—प्रस्तुत ६ गाथाओं (२१ से २६ तक) में चित्तमुनि ने भोगों में लिप्त तथा धर्म और पुण्य कर्म से दूर ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को विश्लेषण करके यह समझाया है कि भोगों का त्याग करके धर्माचरण या पुण्याचरण क्यों करना चाहिए ? पिछली गाथाओं में उन्होंने कामभोगों की तथा तज्जनित सुखों की निःसारता एवं क्षणिकता तथा दुःखोत्पादकता सिद्ध कर दी थी। इन गाथाओं के द्वारा वे कहते हैं कि उन भोगों का उपभोग भी तुम तभी कर सकते हो, जबकि तुम्हारा आयुष्य कर्म वलवान् हो, तथा जरा, व्याधि आदि से तुम्हारा जीवन न घिरा हो; परन्तु यह तो निश्चित है कि मृत्यु एक दिन अप्रत्याशित रूप से आती है, उसका समय भी निश्चित नहीं है, कभी-कभी अचानक ही आ धमकती है, वह किसी के साथ कोई रियायत नहीं करती, कोई भी दूसरा व्यक्ति मृत्यु के पंजे से मनुष्य को छुड़ा नहीं सकता, और न ही मृत्यु के दुःख को भोगने में दूसरा कोई हिस्सेदार वनता है। इस प्रकार आवीचिमरण के द्वारा जीव प्रतिक्षण मृत्यु के निकट पहुँच रहा है। परन्तु जो मृत्यु के आने से पूर्व *ही संभलकर इन क्षणिक भोगों तथा हिंसादि पापकर्मों का परित्याग करके* धर्माचरण नहीं करता अथवा प्रचुर पुण्यकर्मों का संचय नहीं करता, वह मृत्यु के समय भी पछताता है और मृत्यु के पश्चात दुर्गति में जाने पर भी पछताता है। धर्मविहीन या पुण्यविहीन व्यक्ति के पास मृत्यु के समय या बाद में सिवाय पश्चात्ताप के और कोई उपाय शेष नहीं रहता।

जिस धन-धान्य, द्विपद-चतुष्पद आदि भोग-सामग्री को या स्त्री, पुत्रादि शरीर से सम्बद्ध वस्तुओं को सहायक मानता है, जिन पर तुझे नाज है, वह कोई भी तुझे मृत्यु या कर्मों से छुड़ाने में समर्थ नहीं है, न ही शरणदाता हो सकते हैं, पुण्यविहीन या धर्मशून्य व्यक्ति के कर्म भी उसे शीघ्र मृत्यु के निकट ले जाते हैं, जरा और व्याधि भी उसके शरीर को नष्ट-भ्रष्ट करने में लग जाती है, फिर भोग या भोग सामग्री का

उपभोग करने की शक्ति नहीं रहती; विवश होकर उसको दुर्गति का मेहमान बनना पड़ता है, जहाँ दुःखों की प्रचुरता है। इन गाथाओं में बतलाया है कि हे ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ! तुम समय रहते धर्माचरण में लग जाओ, दुष्कर्मों को छोड़कर सत्कर्मों में संलग्न हो जाओ; इसमें तुम्हारा भला है।

इन गाथाओं में नास्तिकवाद का निराकरण और परलोक, पुनर्जन्म, पुण्य-पाप, धर्म-धर्मफल, शरीर और आत्मा की पृथकता, जीव को अपने धन-धान्यादि या कुटुम्ब आदि की अशरणता ध्वनित की गई है।

ब्रह्मदत्त द्वारा भोगों को त्यागने की असमर्थता व्यक्त—

मूल—अहं पि जाणामि जहेह साहू,
जं मे तुमं साहसि वक्कमेयं।
भोगा इमे संगकरा हवंति,
जे दुज्जया अज्जो ! अम्हारिसेहिं ॥२७॥

हत्थिणपुरम्मि चित्ता !,
दट्ठूण नरवइं महिड्ढियं।
कामभोगेसु गिद्धेणं,
नियाणमसुहं कडं ॥२८॥

तस्स मे अपडिकंतस्स,
इमं एयारिसं फलं।
जाणमाणो वि जं धम्मं,
कामभोगेसु मुच्छिओ ॥२९॥

नागो जहा पंक-जलावसन्नो,
दट्ठुं थलं नाभिसमेइ तीरं।
एवं वयं काम-गुणेसु गिद्धा,
न भिक्खुणो मग्गमणुव्वयामो ॥३०॥

छाया—अहमपि जानामि यथेह साधो !
यन्मम त्वं साधयसि वाक्यमेतत्।
भोगा इमे संगकरा भवन्ति,
ये दुर्जया आर्य ! अस्मादृशैः ॥२७॥

हस्तिनापुरे चित्त !,
दृष्ट्वा नरपतिं महर्द्धिकम् ।
कामभोगेषु गृद्धेन,
निदानमशुभं कृतम् ॥२८॥

तस्मान् मेऽप्रतिक्रान्तस्य,
इदमेतादृशं फलम् ।
जानन्नपि यद्धर्मं,
कामभोगेषु मूर्च्छितः ॥२९॥

नागो यथा पंकजलावसन्नः,
दृष्ट्वा स्थलं नाभिसमेति तीरम् ।
एवं वयं कामगुणेषु गृद्धाः,
न भिक्षोमार्गमनुव्रजामः ॥३०॥

पद्यानुवाद—मुनिवर ! जैसा तुम बोल रहे,
मैं भी तो वैसा जान रहा ।
ये भोग रागवर्द्धक होते,
हमसे दुर्जय, मन मान रहा ॥२७॥

नगर हस्तिनापुर में मेरा,
लख, चक्री-वैभव, खिला जिया ।
तब काम-भोग से मूर्च्छित हो,
निदान भोग का अशुभ किया ॥२८॥

प्रतिक्रमण ना किया दोष का,
मैंने उसका यह फल पाया ।
धर्म जानते हुए, मन मूर्च्छित,
काम—भोग में ललचाया ॥२९॥

जैसे कीचड़ में फंसा करि,
तट देख, न वहां पहुँच पाता ।
वैसे कामों में लीन बना मैं,
मुनि-पथ पर ना चल पाता ॥३०॥

अन्वयार्थ—साहू—हे साधो ! **जहेह**—जैसे कि इस संसार में, **तुमं**—तुमने, **जं**—जो, **मे**—मुझे, **एयं वक्कं**—इस प्रकार के वचन से, **साहसि**—शिक्षण दिया—सिखाया है, (उसे) **अहं पि**—मैं भी, **जाणामि**—जानता हूं कि, **इमे भोगा**—ये काम-भोग, **संगकरा**—संसार में बन्धनकारक, **हवंति**—होते हैं; (किन्तु) **अज्जो**—आर्य, **अम्हारिसेहिं**—हमारे जैसे लोगों के लिए (तो), **जे**—ये, **दुज्जया**—दुर्जय हैं ॥२७॥

चित्ता—हे चित्त ! हत्थिणपुरम्मि—हस्तिनापुर में, महिड्ढियं—महान् ऋद्धि वाले, नरवइं—उस नरपति=चक्रवर्ती को, दट्ठूण—देखकर, कामभोगेसु—काम-भोगों में, गिद्धेणं - आसक्त होकर मैंने, असुहं नियाणं—अशुभ निदान, कडं—कर लिया था ॥२८॥

मे—मैंने, तस्स—उस निदान रूप दोष का, अपडिकंतस्स—प्रतिक्रमण नहीं किया, उसी का, इमं एयारिसं—ऐसा यह, फलं—फल है, जं धम्मं जाणमाणोवि—कि धर्म को जानता हुआ भी, कामभोगेसु—कामभोगों में, मुच्छिओ—मूर्च्छित (अत्यासक्त) हो रहा हूँ। (उनका त्याग नहीं कर पा रहा हूँ।) ॥२६॥

जहा—जैसे, पंकजलावसन्नो—पंकजल=दलदल में (फंसा) धंसा हुआ, नागो—हाथी, थलं—स्थल को, दट्ठुं—देखकर भी, तीरं—किनारे पर, नाभिसमेइ—नहीं पहुंच पाता; एवं—इसी प्रकार, कामगुणेसु—काम-भोगों में, गिद्धा—आसक्त, वयं—हम, (जानते हुए भी), भिक्खुणोमग्गं—भिक्षु के मार्ग का, न अणुव्वयामो—अनुसरण नहीं कर पाते ॥३०॥

भावार्थ—हे मुनिवर ! जैसे कि तुम मुझे जो सिखा रहे हो, उसे मैं भी जानता हूँ कि ये काम-भोग बन्धन में डालने वाले हैं। किन्तु आर्य ! हम जैसे लोगों के लिए तो ये अत्यन्त दुर्जय हैं ॥२७॥

हे चित्त ! हस्तिनापुर में उस महान् ऋद्धि वाले चक्रवर्ती को देखकर काम-भोगों में आसक्त होकर मैंने अशुभ निदान कर लिया था ॥२८॥

फिर मैंने उस निदान रूप दोष का प्रतिक्रमण नहीं किया, उसी (कर्म) का यह फल है कि मैं धर्म को जानता हुआ भी कामभोगों में आसक्त हूँ। (उन्हें नहीं छोड़ पा रहा हूँ।)॥२६॥

जैसे दलदल में धंसा हुआ हाथी स्थल को देखकर भी किनारे पर नहीं पहुँच पाता, वैसे ही हम काम-भोगों में आसक्त जन जानते हुए भी भिक्षुमार्ग का अनुसरण नहीं कर सकते ॥३०॥

विवेचन—भोगत्याग की असमर्थता—ब्रह्मदत्त चक्री अंतःकरण से अपनी असमर्थता व्यक्त करता है कि आपने भोगत्याग का जो उपदेश दिया, वह मैं भी जानता हूँ, किन्तु ये कामभोग इतने जबर्दस्त बन्धनकारक हैं कि इनसे पिंड छुड़ाना हम जैसे दुर्बल मन वाले के लिए असम्भव है। इसका कारण यह है कि मैंने पूर्वजन्म में हस्तिनापुर में सनत्कुमार चक्री के वैभव को देखकर निदान कर लिया था, और आपके द्वारा सावधान करने पर भी मैंने प्रतिक्रमण करके उस दोष का निवारण नहीं किया। इसी का यह फल है कि मैं जिनोक्त धर्म को जानता हुआ भी दलदल में धंसे हाथी की तरह भोगों को छोड़कर त्याग के पावन पथ पर नहीं चल सकता।

मुनि द्वारा ब्रह्मदत्त को आर्य-कर्म करने की प्रेरणा

मूल---अच्चेइ कालो तूरंति राइओ,
न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा।
उविच्च भोगा पुरिसं चयंति,
दुमं जहा खीणफलं व पक्खी ॥३१॥

जइ तंसि भोगे चइउं असत्तो,
अज्जाइं कम्माइं करेहि रायं!।
धम्मे ठिओ सव्व-पयाणुकंपी,
तो होहिसि देवो इओ विउव्वी ॥३२॥

छाया—अत्येति कालस्त्वरन्ते रात्रयः, न चाऽपि भोगा पुरुषाणां नित्याः।
उपेत्य भोगाः पुरुषं त्यजन्ति; द्रुमं यथा क्षीणफलमिव पक्षी ॥३१॥
यदि त्वमसि भोगान् त्यक्तुमशक्तः आर्याणि कर्माणि कुरु राजन्!
धर्मस्थितः सर्वप्रजानुकम्पी तस्माद् भविष्यसि देव इतो वैक्रियी ॥३२॥

पद्यानुवाद—जाता समय, रात्रियाँ जातीं,
भोग पुरुष के नित्य नहीं।
मिलकर भोग छोड़ते नर को,
फलहीन वृक्ष खग रहे नहीं ॥३१॥
राजन्! यदि भोग न तज सकते,
तो आर्यकर्म भी कर डालो।
हो प्रजाहितैषी धर्मशील,
जिससे सुर का शुभ पद पा लो ॥३२॥

अन्वयार्थ—(राजन्!) **कालो**—समय, **अच्चेइ**—व्यतीत हो रहा है। **राइओ**—रात्रियाँ, **तूरंति**—दौड़ती जा रही हैं। **पुरिसाण**—मनुष्यों के, **भोगा यावि**—काम-भोग भी, **न निच्चा**—नित्य नहीं हैं। **भोगा**—काम-भोग, **उविच्च**—प्राप्त होकर भी, **पुरिसं**—(क्षीणपुण्य वाले) व्यक्ति को, (उसी प्रकार) **चयंति**—छोड़ देते हैं, **जहा**—जिस प्रकार, **खीणफलं**—क्षीणफल वाले, **दुमं**—वृक्ष को, **पक्खीव**—पक्षी ॥३१॥

रायं—हे राजन्! **जइ**—यदि, **तं**—तू, **भोगे चइउं**—काम-भोगों को छोड़ने में, **असत्तोसि**—अशक्त, असमर्थ है, तो **अज्जाइं कम्माइं**—आर्य-कर्म ही, **करेह**—कर। **धम्मे ठिओ**—धर्म में स्थित होकर, **सव्वपयाणुकंपी**—सब जीवों के प्रति

दया करने वाला (बन), तो—जिससे कि, तू इओ—यहां से, (मरकर परलोक में) विउव्वी देवो—वैक्रिय शरीर धारी देव, होहिसि—हो सके ॥३२॥

भावार्थ—राजन् ! समय बीतता जा रहा है। रातें बहुत तेजी से दौड़ रही हैं। मनुष्यों के काम-भोग भी नित्य नहीं हैं। क्षीण पुण्य वाले व्यक्ति को ये कामभोग पास आकर भी उसी प्रकार छोड़ देते हैं, जिस प्रकार क्षीणफल वाले वृक्ष को पक्षी छोड़ देते हैं ॥३१॥

राजन् ! यदि तू कामभोगों को छोड़ने में असमर्थ है तो आर्यकर्म ही कर। धर्म में स्थिर होकर समस्त प्राणियों के प्रति अनुकम्पाशील बन, ताकि तू यहाँ से (मरकर परलोक में) वैक्रियशरीरधारी देव तो हो सके ॥३२॥

विवेचन—फलितार्थ—भोगों की प्राप्ति शुभकर्मों के अधीन है। जब तक व्यक्ति के पुण्यकर्म प्रबल हैं, तब तक उसे सांसारिक कामभोगों की प्राप्ति होती है। पाप कर्म का उदय होगा, और आयुष्य क्षीण होने लगेगा, तब यदि तू भोगों को नहीं छोड़ेगा, तब भी भोग तुझे छोड़ देंगे। अतः जीवन के जो क्षण शेष रहे हैं, उन्हें सार्थक करो, समय रहते धर्माचरण में पुरुषार्थ करके बिगड़ती हुई बाजी को सुधार लो।

यदि भोगों का सर्वथा त्याग करने में असमर्थ हो तो कम से कम आर्य कर्म तो करो, जिससे कि तुम मोक्षगति नहीं तो देवगति तो प्राप्त कर सको। इसके लिए संक्षेप में दो उपाय हैं—(१) धर्म पर स्थिर रहो और (२) प्राणियों पर दयाभाव रखो।

भोगासक्त ब्रह्मदत्त से निराश मुनि का अन्यत्र गमन—

मूल—न तुज्झ भोगे चइऊण बुद्धी,
गिद्धोसि आरम्भ-परिग्गहेसु।
मोहं कओ एत्तिओ विप्पलावो,
गच्छामि राय! आमंतिओसि ॥३३॥

छाया—न तव भोगान् त्यक्तुं बुद्धिः,
गृद्धोऽसि आरम्भ-परिग्रहेषु।
मोघंकृत एतावान् विप्रलापः,
गच्छामि राजन्! आमन्त्रितोऽसि ॥३३॥

पद्यानुवाद—ना भोग-त्याग की मति तेरी,
आरम्भ परिग्रह मूर्च्छित हो।
तो व्यर्थ प्रलाप किया मैंने,
जाता हूँ भूप! उपेक्षित हो ॥३३॥

अन्वयार्थ—**भोगे**—भोगों को **चइऊण**—छोडने की, **तुज्झ**—तेरी, **बुद्धी**—बुद्धि, **न**—नहीं है, (मैंने देखा कि तू) **आरम्भ-परिग्गहेसु**—आरम्भ और परिग्रह में, **गिद्धोसि**—अत्यन्त आसक्त (गृद्ध) है। (मैंने) **एत्तिओ विप्पलावो**—इतना विप्रलाप—उपदेश, **मोहं कओ**—व्यर्थ ही किया, (जो) **आमंतिओसि**—तुम्हें सम्बोधित किया। **रायं**—राजन्! (अब मैं) **गच्छामि**—जा रहा हूँ ॥३३॥

भावार्थ—राजन्! भोगों को त्यागने की तेरी बुद्धि नहीं है। तू आरम्भ और परिग्रह में अत्यन्त आसक्त हो रहा है। मैंने व्यर्थ ही तेरे को इतनी शिक्षा दी, और तुम्हें सम्बोधित किया (समझाया)। अब मैं जा रहा हूँ ॥३३॥

विशेषार्थ—विप्पलावो : विप्रलाप :—यहाँ प्रसंगवश विप्रलाप का अर्थ है, विविध प्रकार से समझाने के लिए वचन बोला—बातें करना।

आमंतिओसि :—(१) तुझे सम्बोधित किया—समझाया, (२) तुझे सम्बोधित कर दिया है—कह दिया है, तेरी अनुमति ले ली है।

काम-भोगों में अत्यासक्त ब्रह्मदत्त का नरकगमन—

मूल—पंचालराया वि य बम्भदत्तो,
साहुस्स तस्स वयणं अकाउं।
अणुत्तरे भुंजिय कामभोगे,
अणुत्तरे सो नरए पविट्ठो ॥३४॥

छाया—पाञ्चाल-राजाऽपि च ब्रह्मदत्तः, साधोस्तस्य वचनमकृत्वा।
अनुत्तरान् भुक्त्वा कामभोगान्, अनुत्तरे स नरके प्रविष्टः ॥३४॥

पद्यानुवाद—पाञ्चाल भूप वह ब्रह्मदत्त, मुनिवर का वचन अमानित कर।
गया अनुत्तर नरक बीच, अतिशय भोगों का अनुभव कर ॥३४॥

अन्वयार्थ—**पंचालराया**—पांचाल देश का राजा, **बंभदत्तो वि य**—ब्रह्मदत्त ने भी, **तस्स साहुस्स**—उस (चित्त) मुनि के, **वयणं**—वचनों का, **अकाउं**—पालन नहीं किया। (अतः) **सो**—वह, **अणुत्तरे कामभोगे**—उत्कृष्ट कामभोगों को भोग कर, **अणुत्तरे नरए**—अनुत्तर (सप्तम) नरक में, **पविट्ठो**—प्रविष्ट हुआ—पहुँचा।

भावार्थ—पांचाल देश के राजा ब्रह्मदत्त ने उस मुनि के वचन का पालन नहीं किया। अतः अनुत्तर काम-भोगों को भोगकर अनुत्तर नरक-अप्रतिष्ठान नामक सप्तम नरक पृथ्वी में गया।

उत्कृष्ट संयम पालन से चित्तमुनि का मुक्तिगमन—

मूल—चित्तो वि कामेहि विरत्तकामो,
उदग्ग चारित्त तवो महेसी।
अणुत्तरं संजम पालइत्ता,
अणुत्तरं सिद्धिगइं गओ ॥३५॥
—त्तिबेमि

छाया—चित्तोऽपि कामेभ्यो विरक्तकामः,
उदग्र चारित्रतपा महर्षिः।
अनुत्तरं संयमं पालयित्वा,
अनुत्तरं सिद्धिगतिं गतः ॥३५॥
—इति ब्रवीमि

पद्यानुवाद—काम-भोग से विरत चित्त भी,
उग्र तपस्वी व्रतधारी।
निर्दोष विरति का पालन कर,
हो गए सिद्धिगति अधिकारी ॥३५॥

अन्वयार्थ—**कामेहि**—काम-भोगों से, **विरत्तकामो**—जिसकी कामनाएँ विरत हो चुकी हैं, कामना-निवृत, **उदग्ग-चारित्त-तवो**—उत्कृष्टचारित्री एवं उत्कृष्ट तपोधनी, **महेसी**—महर्षि, **चित्तो वि**—चित्त मुनि भी, **अणुत्तरं संजम**—अनुत्तर (सर्वोत्कृष्ट) संयम का, **पालइत्ता**—पालन करके, **अणुत्तरं**=अनुत्तर, **सिद्धिगइं**=सिद्धिगति (मुक्ति) को, **गओ**=प्राप्त हुए। **त्तिबेमि**—ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—कामभोगों की लालसा से निवृत्त, उत्कृष्ट चारित्री, तपोधनी, महर्षि चित्तमुनि भी सर्वोत्कृष्ट संयम का पालन करके अनुत्तर सिद्धिगति को प्राप्त हुए। —ऐसा मैं कहता हूँ।

उपसंहार—**अणुत्तरं संजम पालइत्ता : विशेषार्थ**—अनुत्तर अर्थात् जिनाज्ञा विशुद्ध सप्तदशविध संयम का उत्कृष्ट रूप से पालन करके।

उत्कृष्ट भोग और उत्कृष्ट त्याग का परिणाम—उपसंहारात्मक अंतिम दो गाथाओं में सर्वोत्कृष्ट भोग का फल अनुत्तर नरक तथा सर्वोत्कृष्ट त्याग का फल अनुत्तर सिद्धिगति बताया गया है।

॥ चित्त-सम्भूतीय तेरहवां अध्ययन समाप्त ॥

इषुकारीय : चौदहवां अध्ययन

[अध्ययन-सार]

इस अध्ययन का नाम 'इषुकारीय' है। इषुकार नगर की यह घटना है। वहीं ये छहों जीव प्रतिबुद्ध होकर प्रव्रजित हुए थे। इसी कारण इस अध्ययन का नाम इषुकारीय रखा गया है।

इषुकार नगर कुरुक्षेत्र प्रदेश के अन्तर्गत था। नगरनरेश का नाम भी इषुकार था। उसकी रानी का नाम कमलावती था।

इस नगर में भृगु नामक राजपुरोहित रहता था। उसकी पत्नी यशा थी। भृगुपुरोहित बहुत ही धनाढ्य और राजमान्य था। किन्तु कोई सन्तान न होने के कारण वह बहुत चिन्तित रहता था। एक बार दो देव, श्रमण वेश में भृगु के यहाँ आये। उन्हें भृगु पुरोहित के यहाँ जन्म लेना था। अतः उन्होंने अपने अवधिज्ञान में देखकर भृगु से कहा—"तुम चिन्ता न करो। तुम्हारे दो पुत्र होंगे किन्तु वे बाल्य-काल में ही प्रव्रजित हो जायेंगे।"

भृगु कुछ निश्चिन्त हुआ, किन्तु मन में यह भय था कि वे बाल्यावस्था में ही मुनि बन जायेंगे। यथासमय दोनों देवों ने अपनी भविष्यवाणी के अनुसार भृगु पुरोहित के यहाँ पुत्र के रूप में जन्म लिया। पुरोहित-पत्नी यशा बच्चों में साधुओं के प्रति भय की भावना भरती रहती थी। वह कहती रहती थी कि वे साधु अपने पास छुरी-कैंची रखते हैं, वे बालकों को उठाकर ले जाते हैं और मार डालते हैं, उनके पास कभी मत जाना। मां की इस कुशिक्षा ने बालकों के मन में साधुओं के प्रति भय बिठा दिया था। इसलिए वे साधुओं के पास नहीं फटकते थे।

जिनके पूर्वजन्म के संस्कार प्रबल होते हैं, उन्हें पुण्ययोग से कोई न कोई निमित्त मिल ही जाता है। एक बार वे दोनों बालक नगर के बाहर खेल रहे थे, तभी सामने से साधुओं को आते देखकर घबरा गये और झट-पट एक वृक्ष पर चढ़ गये। वहां से चुपचाप देखने लगे कि वे साधु क्या करते हैं? साधुओं ने वृक्ष के नीचे आकर रजोहरण से चींटियों को एक ओर सुरक्षित किया, चारों ओर जमीन देखी-भाली, फिर झोली में से भिक्षा

पात्र निकालकर यतनापूर्वक भोजन करने लगे। साधुओं के दयामय व्यवहार को देखकर दोनों बच्चों का भय और भ्रम दूर हुआ। वे सोचने लगे—ऐसे दयालु साधु तो हमने कहीं देखे हैं। स्मृति पर जोर लगाया तो वे साधु अत्यन्त परिचित से लगे। ऊहापोह करते-करते उन बालकों को पूर्वजन्म में स्वयं के साधु होने का स्मरण हो आया, अन्तर्मन में प्रसन्नता हुई। दोनों बालक वृक्ष से नीचे उतरे, मुनियों के पास आये। मुनियों ने उन्हें जिज्ञासु समझकर प्रतिबोध दिया। दोनों ने दीक्षा ग्रहण करने का निश्चय किया। माता-पिता को अपने निश्चय से अवगत किया। किन्तु पिता बड़े मनोरथ के बाद हुए इन पुत्रों को सहसा अपने से पृथक होने देना नहीं चाहता था। वैदिक परम्परा के अनुसार अनेक युक्तियों-प्रयुक्तियों से उसने दोनों पुत्रों को समझाया। बालकों ने भी पिता की युक्तियों का अकाट्य उत्तर दिया। अन्त में निरुत्तर होकर भृगु पुरोहित स्वयं बालकों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण करने तैयार हो गया। पुरोहित ने पत्नी यशा को भी समझाया। पहले तो उसने भी अनेक तर्क-वितर्क प्रस्तुत किये किन्तु पति को पुत्रों के साथ दीक्षा लेने के लिए दृढ़ देखकर वह भी दीक्षित होने को तैयार हो गई।

जिसका कोई उत्तराधिकारी नहीं होता उसकी सम्पत्ति का स्वामी राजा होता है। इस परम्परा के अनुसार भृगु पुरोहित का धन राज्यभण्डार में जमा करने की घोषणा हुई।

रानी कमलावती को यह सूचना मिली तो उसने राजा इषुकार को समझाया कि यह धन-वैभव, भोग आदि सभी अनित्य एवं क्षणिक हैं, जीवन भी क्षणभंगुर है। अतः इन पापों के स्रोत का क्यों संग्रह कर रहे हो? एक दिन अवश्य मरना है, तब भोग तुम्हें छोड़ देंगे। अतः भोगों के पीछे दिवाने होकर अपने अमूल्य मानव जीवन को नष्ट मत करो। यही उत्तम अवसर है, भोगों का त्याग करके कर्मबन्धनों को काटकर शाश्वत मोक्षधाम में पहुंचने का। अतः एक मात्र धर्म को अपनाओ जो सदैव हमारा रक्षक है। धन, भोग आदि रक्षा करने वाले नहीं हैं। शाश्वत धन की खोज करिये, वही आत्मा का रक्षक है।

रानी का युक्तिसंगत उपदेश सुनकर राजा भोगों से विरक्त एवं प्रतिबुद्ध हो गया। दोनों ने सर्वस्व छोड़कर प्रव्रज्या ग्रहण करने का निश्चय कर लिया।

इस प्रकार राजा, रानी, भृगु पुरोहित, उसकी पत्नी यशा और दोनों पुत्र यों छहों व्यक्ति दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं।

प्रव्रज्या ग्रहण करने की बात का श्रीगणेश होता है—भृगु पुरोहित के दोनों पुत्रों से। उन्हीं के निमित्त से भृगु पुरोहित को तथा भृगु पुरोहित के निमित्त से उसकी पत्नी यशा को दीक्षा की भावना जागती है तथा रानी कमलावती के निमित्त से राजा इषुकार की भावना जागती है।

इस अध्ययन से पूर्वजन्म, पूर्वजन्म के प्रबल संस्कार, पुण्योदय, जाति-स्मरणज्ञान, विरक्ति के संस्कारों का अंकुरित हो जाना आदि महत्वपूर्ण तथ्य प्रमाणित होते हैं। आस्तिकता और क्रियावादिता का महत्वपूर्ण अध्ययन भी इसके साथ जुड़ा हुआ है।

मनुष्य जन्म की सार्थकता भोगों के उपभोग, धनासक्ति एवं इन्द्रिय-विषय सुखों में नहीं है अपितु इनके त्याग एवं वैराग्य में है। सच्चा सुख और स्वतन्त्रता भी इसी में है। यही इस अध्ययन का निष्कर्ष है।

□ □

उसुयारिज्जं : चउद्दसमं अज्झयणं

(इषुकारीय : चौदहवां अध्ययन)

देवलोक से इषुकार नगर में जन्मे छह विरक्त व्यक्तियों का परिचय

मूल—देवा भवित्ताण पुरे भवम्मी,
केई चुया एगविमाणवासी।
पुरे पुराणे उसुयारनामे,
खाए समिद्धे सुरलोगरम्मे ॥१॥

सकम्मसेसेण पुराकएणं,
कुलेसु दग्गेसु य ते पसूया।
निव्विण्ण-संसारभया जहाय,
जिणिंदमग्गं सरणं पवन्ना ॥२॥

पुमत्तमागम्म कुमार दोवी,
पुरोहिओ तस्स जसा य पत्ती।
विसालकित्ती य तहोसुयारो,
रायत्थ देवी कमलावई य ॥३॥

छाया—देवा भूत्वा पुरा भवे, केचिच्च्युता एकविमानवासिनः।
पुरे पुराणे इषुकारनाम्नि, ख्याते समृद्धे सुरलोकरम्ये ॥१॥
स्वकर्म-शेषेण पुराकृतेन कुलेषूदग्रेषु च ते प्रसूताः।
निर्विण्णाः संसार भयाद्, हित्वा जिनेन्द्रमार्गं शरणं प्रपन्नाः ॥२॥
पुंस्त्वमागम्य कुमारौ द्वावपि, पुरोहितस्तस्य यशा च पत्नी।
विशालकीर्तिश्च तथेषुकारः, राजा च देवी कमलावती च ॥३॥

पद्यानुवाद—हो पूर्वजन्म में देव कई, सुरलोक से च्युत होकर आए।
प्राचीन नगर इषुकार ख्यात, सुरपुर-सम सम्पद् को पाए ॥१॥

निज शेष पुराकृत कर्मों से, अति उच्चकुलों में जन्म लिया।
भवभय से पा निर्वेद, छोड़, जग आर्हत्पथ स्वीकार किया ॥२॥
पुरुषरूप धर युगलपुत्र, प्रोहित और पत्नी यशेश्वरी।
विशालकीर्ति इषुकार भूप, देवी कमला थी प्रेमभरी ॥३॥

अन्वयार्थ—**पुरे भवम्मी**—पूर्वजन्म में, **देवा भवित्ताण**—देव होकर, **एग-विमाणवासी**—एक ही विमान के वासी, **केई**—कुछ जीव; **चुया**—देवलोक से च्युत हुए; (और) **सुरलोगरम्मे**—देवलोक के समान सुरम्य, **पुराणे**—प्राचीन, **खाए**—विख्यात (एवं) **समिद्धे**—समृद्ध, **उसुयारनामे पुरे**—इषुकार नामक नगर में (उत्पन्न हुए।) ॥१॥

पुराकएणं—पूर्वजन्म में कृत, **सकम्मसेसेण**—अपने अवशिष्ट कर्मों के कारण, **ते**—वे (छहों जीव) **कुलेसूदग्गेसु**—उच्च (उदग्र) कुलों में, **पसूया**—उत्पन्न हुए। **य**—और, **निविण्णसंसारभया**—संसार (जन्म-मरण रूप) के भय से उद्विग्न होकर, (उन्होंने) **जहाय**—(काम भोगों का) परित्याग कर, **जिणिंदमग्गं**—जिनेन्द्रमार्ग की, **सरणं पवन्ना**—शरण ली ॥२॥

अत्थ—इस भव में, **पुमत्तमागम्म**—पुरुषरूप को पाकर, **कुमार दोवी**—दोनों पुरोहित-कुमार, **पुरोहिओ**—पुरोहित, **य**—और, **तस्स**—उसकी, **पत्ती-जसा**—पत्नी यशा, **तह**—तथा, **विसालकित्ती**—विशालकीर्त्ति वाला, **उसुयारो राय**—इषुकार नामक राजा, **य**—और (उसकी रानी) **कमलावई देवी**—कमलावती देवी, (ये छह व्यक्ति थे।)

भावार्थ—पूर्वजन्म में देव होकर एक ही विमान (सौधर्म देवलोक के पद्मगुल्म) में रहने वाले कुछ जीव देवलोक से च्युत हुए और देवलोक के तुल्य रमणीय प्राचीन प्रसिद्ध एवं समृद्धिशाली इषुकार नाम के नगर में (उत्पन्न हुए) ॥१॥

पूर्वजन्म में कृत अपने अवशिष्ट कर्मों के कारण वे छहों जीव उच्च कुलों में उत्पन्न हुए और (क्रमशः) संसार-भय से खिन्न होकर, उन्होंने काम-भोगों को छोड़कर आर्हत-मार्ग की शरण ग्रहण की ॥२॥

पुरुषरूप को प्राप्त कर दोनों पुरोहित-पुत्र, पुरोहित और उसकी पत्नी यशा, तथा विशालकीर्ति वाला इषुकार नामक राजा और उसकी रानी कमलावती देवी; (ये छह व्यक्ति थे।) ॥३॥

विवेचन—पूर्वजन्म में ये छहों व्यक्ति कौन थे?—वृत्तिकार के अनुसार ये छहों जीवों में से दो जीव गोवल्लभ नामक गोप के नन्ददत्त और नन्दप्रिय के जीव थे, जो पूर्वजन्म में चारित्राराधना के फलस्वरूप देव बने और वहाँ

संसारविरक्त दोनों पुरोहित-पुत्रों ने पिता से मुनिदीक्षा की अनुमति माँगी—

मूल—जाई-जरा-मच्चु-भयाभिभूया,
बहिं विहाराभिणिविट्ठचित्ता।
संसार चक्कस्स विमोक्खणट्ठा,
दट्ठूण ते कामगुणे विरत्ता ॥४॥

पिय-पुत्तगा दोन्नि वि माहणस्स,
सकम्मसीलस्स पुरोहियस्स।
सरित्तु पोराणिय तत्थ जाइं,
तहा सुचिण्णं तव-संजमं च ॥५॥

ते कामभोगेसु असज्जमाणा,
माणुस्सएसु जे यावि दिव्वा।
मोक्खाभिकंखी अभिजायसड्ढा,
तायं उवागम्म इमं उदाहु ॥६॥

असासयं दट्ठु इमं विहारं,
बहु-अंतरायं, न य दीहमाउं।
तम्हा गिहंसि न रइं लहामो,
आमंतयामो चरिस्सामु मोणं ॥७॥

छाया—जाति-जरा-मृत्यु-भयाभिभूतौ, वहिर्विहाराभिनिविष्टचित्तौ।
संसारचक्रस्य विमोक्षणार्थं दृष्ट्वा तौ कामगुणेभ्यो विरक्तौ ॥४॥

प्रिय-पुत्रकौ द्वावपि ब्राह्मणस्य, स्वकर्मशीलस्य पुरोहितस्य।
स्मृत्वा पौराणिकीं तत्र जातिं, तथा सुचीर्णं तपः संयमं च ॥५॥

तौ कामभोगेष्वसजन्तौ, मानुष्यकेषु ये चापि दिव्याः।
मोक्षाभिकांक्षिणावभिजातश्रद्धौ, तातमुपागम्येदमुदाहरताम् ॥६॥

अशाश्वतं दृष्ट्वेमं विहारं, बह्वन्तरायं न च दीर्घमायुः।
तस्माद् गृहे न रतिं लभावहे, आमन्त्रयावश्चरिष्यावो मौनम् ॥७॥

इमं—इस, **विहारं**—मनुष्यभव को, **असासयं**—अशाश्वत=अनित्य; (तथा) **बहु अंतरायं**—(रागादि) अनेक अन्तरायों वाला, **दट्ठु**—देखकर, **य**—और, **दीहं-आउं न**—हमारा आयुष्य भी दीर्घ नहीं है, **तम्हा**—इस कारण, **गिहंसि**—घर में, **रइं**—आनन्द, **न लहामो**—नहीं पा रहे हैं, (अतः) **आमंतयामो**—हम आपसे अनुमति माँगते (चाहते) हैं कि, **मोणं चरिस्सामु**—हम मुनिधर्म (मौन) का आचरण करें ।।७।।

भावार्थ—(मुनियों को) देखकर वे दोनों पुरोहित-पुत्र जन्म, जरा और मृत्यु के भय से उद्विग्न हो उठे, उनका चित्त संसार से बाह्य स्थान—मोक्ष में तल्लीन हो गया। (फलतः) वे संसार-चक्र से विमुक्त होने के लिए शब्दादि काम-गुणों से विरक्त हो गए ।।४।।

(यज्ञयागादि) स्वकर्म में निरत उस राजपुरोहित भृगु ब्राह्मण के दोनों ही प्रियपुत्र अपने पूर्वजन्म को तथा उस जन्म में सम्यक् प्रकार से आचरित तप और संयम को स्मरण करके (कामभोगों से विरक्त हो गए।) ।।५।।

मनुष्य सम्बन्धी तथा देव-सम्बन्धी कामभोगों में जो अनासक्त, एक मात्र मोक्षाभिलाषी एवं तत्त्वज्ञान की रुचि से सम्पन्न हो गये थे, वे दोनों पुरोहित-पुत्र अपने पिता के पास आकर इस प्रकार कहने लगे—।।६।।

(पिताजी !) यह मनुष्य जीवन अशाश्वत है, फिर इसमें रोग आदि बहुत से विघ्न हैं और आयुष्य भी लम्बा नहीं है, इस कारण हमें अब घर में कोई आनन्द नहीं मिलता है, अतः आपसे अनुमति माँगने आये हैं कि हम अब मुनि धर्म का आचरण करेंगे ।।७।।

विवेचन—दोनों कुमारों को विरक्ति का निमित्त—प्रस्तुत चार गाथाओं में भृगु पुरोहित के दोनों पुत्रों की विरक्ति का वर्णन है। दोनों कुमारों ने जब से निर्ग्रन्थ मुनियों को देखा, तब से उन्हें उनके प्रति आकर्षण पैदा हुआ। ऊहापोह करते-करते उन्हें अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो आया कि पूर्वजन्म में ऐसे ही मुनि से हमने संसारचक्र से विमुक्त होने के लिए मुनि-दीक्षा ग्रहण की थी और भली-भांति तप-संयम का आचरण किया था। हमने मुनिदीक्षा इसलिए ली थी कि संसार से मुक्त हुए बिना जन्म, जरा, मृत्यु आदि के दुःखों से छुटकारा नहीं हो सकता। और फिर यह मानव-जीवन नश्वर है, रोगादि अनेक विघ्नों से पूर्ण है, तथा आयुष्य अल्प है। इसलिए अब हमें फिर इस संसारचक्र में क्यों फंसना चाहिए? सांसारिक काम-भोग ही जन्म-मरण के कारण हैं और वे अनित्य हैं, उनसे हमें अनासक्त रहना

चाहिए। इस प्रकार के चिन्तन से पुरोहित पुत्रों को संसार से विरक्ति हो गई, मुनि एवं जातिस्मरणज्ञान इसमें निमित्त बने। शास्त्रकार इन दोनों पुरोहित-पुत्रों की विरक्ति के प्रतीक निम्नोक्त विशेषण प्रस्तुत करते हैं—जन्म-जरा-मरण-भय से उद्विग्न, मोक्ष की ओर आकृष्ट, कामगुणों से विरक्त, मनुष्य और देव-सम्बन्धी कामभोगों में अनासक्त, मोक्षाभिकांक्षी, एवं श्रद्धा सम्पन्न।

बहिविहाराभिणिविट्ठचित्ता : बहि—अर्थात् संसार से बाहर, जो विहार यानी स्थान है, वह बहिर्विहार अर्थात्—मोक्ष है। उसमें जिसका चित्त अभिनिविष्ट—आदरयुक्त अथवा तल्लीन हो गया था।[1]

आशय यह है कि पुरोहित के इन दोनों पुत्रों को मुनियों का दर्शन होते ही वे दोनों अपनी खोई हुई निधि को खोजने लगे। सोचा कि यह संसार तो जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि आदि के दुःखों से व्याप्त है; जहाँ इनका भय नहीं है, ऐसा स्थान एक-मात्र मोक्ष ही है। मोक्ष-मार्ग का पथिक होने पर ही जीव संसार-परिभ्रमण से विमुक्त हो सकता है। इसलिए दोनों पुत्रों—देवभद्र और यशोभद्र का चित्त मोक्ष-मार्ग में विहरण करने में तल्लीन हो गया।

कठिन शब्दार्थ—अभिजायसड्ढा : दो अर्थ—(१) जिनमें तत्त्वज्ञान की रुचि उत्पन्न हो गई थी, वे, (२) आत्म-कल्याण की दृढ़ रुचि वाले।

इमं विहारं : आशय—इस प्रत्यक्ष विहार अर्थात् मनुष्य जन्म को।

पिता ने वैदिक मान्यतानुसार पुत्रों को अभी प्रव्रज्या लेने से रोका—

मूल—अह तायगो तत्थ मुणीण तेसिं,
तवस्स वाघायकरं वयासी।
इमं वयं वेयविओ वयंति,
जहा न होइ असुयाण लोगो ॥८॥

अहिज्ज वेए परिविस्स विप्पे,
पुत्ते पडिठ्प्प गिहंसि जाया।
भोच्चाण भोए सह इत्थियाहिं,
आरण्णगा होह मुणी पसत्था ॥९॥

---

१. बृहद्वृत्ति पत्र, ३९७।

छाया—अथ तातकस्तत्र मनुयोस्तयोः,
तपसो व्याघातकरमवादीत् ।
इमां वाचं वेदविदो वदन्ति,
यथा न भवति असुतानां लोकः ॥८॥

अधीत्य वेदान् परिवेष्य विप्रान्,
पुत्रान् प्रतिष्ठाप्य गृहे जातौ !
भुक्त्वा भोगान् सह स्त्रीभिः,
आरण्यकौ भवतं मुनी प्रशस्तौ ॥९॥

पद्यानुवाद—भू-सुर ने उत्तर में उनको,
संयम व्याघातक बात कही ।
वेदों के ज्ञाता कहते हैं,
संतति-विहीन का लोक नहीं ॥८॥

पढ़कर वेद विप्र भोजन दे,
घर में सुत को स्थापित करके ।
लो भोग भोग नारी के संग,
हो आरण्यक मुनिव्रत धर के ॥९॥

अन्वयार्थ—**अह**—(पुत्रों की मुनि बनने की भावना सुनने के) पश्चात्, **तायगो**—पिता ने, **तत्थ**—उस अवसर में, **तेसिं मुणीणं**—उन भावमुनियों के, **तवस्स**—तपस्या में, **वाघायकर**—बाधा उत्पन्न करने वाली, (यह बात) **वयासी**—कही कि (पुत्रो !) **वेदविओ**—वेदों के ज्ञाता, **इम वयं**—इस प्रकार वचन, **वयंति**—कहते हैं **जहा**—जैसे कि, **असुयाण**—पुत्रहीन व्यक्तियों का, **लोगो**—परलोक (सद्गति), **न होई**—नहीं होता ॥८॥

(अतः) **जाया**—हे पुत्रो ! (पहले), **वेए**—वेदों का, **अहिज्ज**—अध्ययन करके, **विप्पे**—ब्राह्मणों को, **परिविस्स**—भोजन देकर, **इत्थियाहिं सह**—स्त्रियों के साथ, **भोए**—भोगों को, **भोच्चाण**—भोगकर (तदनन्तर), **पुत्ते**—पुत्रों को, **गिहंसि**—घर में **पडिठप्प**—स्थापना करके (फिर दोनों), **आरण्णगा**—आरण्यक (अरण्यवासी), **पसत्था**—प्रशस्त-श्रेष्ठ, **मुणी**—मुनि, **होइ**—बनना ॥९॥

भावार्थ—(पुत्रों की मुनि बनने की भावना) सुनने के बाद उस अवसर में पिता ने उन भावमुनियों के तप संयम में बाधा उत्पन्न करने वाली यह बात कही कि पुत्रो ! वेद के ज्ञाताओं का यह कहना है कि जिसके पुत्र नहीं होता उसकी सद्गति नहीं होती ॥८॥

भृगुपुरोहित की मनःस्थिति : शोकसंतप्त एवं धन-भोगादिमोहप्रेरित—

मूल—सोयग्गिणा आयगुणिंधणेणं,
मोहानिला पज्जलणाहिएणं।
संतत्तभावं परितप्पमाणं,
लालप्पमाणं बहुहा बहुं च ॥१०॥
पुरोहियं तं कमसोऽणुणंतं,
निमंतयंतं च सुए धणेण।
जहक्कमं कामगुणेहि चेव,
कुमारगा ते पसमिक्ख वक्कं ॥११॥

छाया—शोकाग्निना आत्मगुणेन्धनेन, मोहानिलात् प्रज्वलनाधिकेन।
संतप्तभावं परितप्यमानं, लालप्यमानं बहुधा बहुं च ॥१०॥
पुरोहितं तं क्रमशोऽनुनयन्तं, निमंत्रयन्तं च सुतौ धनेन।
यथाक्रमं कामगुणैश्चैव, कुमारकौ तौ प्रसमीक्ष्य वाक्यम् ॥११॥

पद्यानुवाद—आत्मगुणेन्धन मोहपवन और शोकवह्नि से जलता था।
परितप्त हृदय सुत-ममता से, बहुविधि करके समझाता था ॥१०॥
भू-सुर धन, भोगों से क्रमशः सुत को आमंत्रण प्रेम करे।
देख पुरोहित को वैसे, यों पुत्र ज्ञान की बात करे ॥११॥

अन्वयार्थ—**आयगुणिंधणेणं**—अपने रागादिगुणरूप ईंधन (तथा) **मोहाणिला पज्जलणाहिएणं**—मोहरूपी पवन से अधिकाधिक प्रज्वलित, **सोयग्गिणा**—शोकरूपी अग्नि से, **संतत्तभावं**—संतप्त अन्तःकरण वाले, **परितप्पमाणं**—(चारों ओर से शोकावेश से) परितप्त होते हुए, **बहु च बहुहा**—बहुत प्रकार से और बहुत बार (बार-बार), **लालप्पमाणं**—(मोहवश दीन-हीन) वचन बोलते हुए—॥१०॥

सुए—पुत्रों को, **कमसो**—क्रमशः (एक के बाद एक), **अणुणंतं**—(घर में रहने का) अनुनय करते हुए, (तथा) **धणेणं**—धन के, **च**—एवं, **कामगुणेहिं चेव**—काम-भोगों के लिए भी, **जहक्कमं**—यथाक्रम (पूर्वगाथोक्त क्रम) से, **निमंतयंतं**—निमंत्रण (प्रलोभन) देते हुए, **तं पुरोहितं**—अपने पिता पुरोहित को, **ते कुमारगा**—उन दोनों कुमारों ने, **पसमिक्ख**—भलीभांति (मोहाच्छादित) देखकर, **वक्कं**—यह वचन कहा—॥११॥

भावार्थ—अपने (रागादि) गुणरूप ईंधन से तथा मोहरूपी वायु से अधिकाधिक प्रज्वलित एवं शोकाग्नि के कारण संतप्त अन्तःकरण वाले,

परिव्वयंते अणियत्तकामे,
अहो य राओ परितप्पमाणे ।
अन्नप्पमत्ते धणमेसमाणे,
पप्पोति मच्चुं पुरिसे जरं च ॥१४॥

इमं च मे अत्थि, इमं च नत्थि,
इमं च मे किच्च इमं अकिच्चं ।
तं एवमेवं लालप्पमाणं,
हरा हरंति त्ति कहं पमाए ? ॥१५॥

छाया—वेदा अधीता न भवन्ति त्राणं,
भोजिता द्विजा नयन्ति तमस्तमसि ।
जाताश्च-पुत्रा न भवन्ति त्राणं,
को नाम तवाऽनुमन्येतैतत् ॥१२॥

क्षणमात्र-सौख्या वहुकालदुःखा,
प्रकामदुःखा, अनिकाम-सौख्याः ।
संसारमोक्षस्य विपक्षभूताः,
खानिरनर्थानां तु कामभोगाः ॥१३॥

परिव्रजन् अनिवृत्तकामः,
अह्नि च रात्रौ परितप्यमानः ।
अन्य-प्रमत्तो धनमेषयन्,
प्राप्नोति मृत्युं पुरुषो जरां च ॥१४॥

इदं च मेऽस्ति, इदं च नास्ति,
इदं च मे कृत्यमिदमकृत्यम् ।
तमेवमेवं लालप्यमानं,
हरा हरन्तीति कथं प्रमादः ? ॥१५॥

पद्यानुवाद—पढ़ कर वेद न होती रक्षा,
विप्र खिलाये तमस गिरे ।
पुत्र हुए भी त्राण नहीं,
फिर वचन आपका कौन करे ? ॥१२॥

भावार्थ—(पुरोहित-पुत्र—) 'पढ़े हुए वेद रक्षणकर्ता नहीं होते, ब्राह्मणों को कराया हुआ भोजन (भोजन कराने वाले को उसके पापकर्मों के फलस्वरूप) तमस्तम नामक नरक में ले जाता है, अपने जात (औरस) पुत्र भी रक्षा करने वाले नहीं होते। अतः आपकी इस (पूर्वोक्त) बात का कौन अनुमोदन करेगा ? ॥१२॥

ये कामभोग क्षणभर के लिए सुख देते हैं, जबकि चिरकाल तक दुःख देते हैं। अतः ये अधिक दुःख और थोड़ा सुख देने वाले हैं। ये संसार से मुक्त होने में बाधक हैं और अनर्थों की खान हैं ॥१३॥

जो व्यक्ति विषय-भोगों की कामनाओं से निवृत्त नहीं है, वह अहर्निश अतृप्ति की अग्नि में संतप्त होता हुआ, भटकता रहता है, तथा दूसरों के लिए प्रमादी बनकर धन की खोज में लगा हुआ (एक दिन) जरा और मृत्यु को प्राप्त हो जाता है ॥१४॥

यह मेरे पास है और यह नहीं है, यह मुझे करना है और यह नहीं करना है—इस प्रकार बार-बार (व्यर्थ) बोलने वाले उस व्यक्ति को आयुष्य का अपहरण करने वाले काल (दिन-रात) उठा ले जाते हैं। ऐसी स्थिति में प्रमाद क्यों किया जाये ॥१५॥

विवेचन—भृगु पुरोहित की चार बातों का पुत्रों द्वारा युक्तियुक्त समाधान- भृगु पुरोहित ने संसार-विरक्त पुत्रों के समक्ष चार बातें रखी थीं—(१) पहले वेदों को पढ़ो, (२) ब्राह्मणों को भोजन दो, (३) विवाह करके पुत्र उत्पन्न करो, और (४) कामभोगों का यथेच्छ उपभोग करो। इन चार गाथाओं (१२ से १५ तक) में पुरोहित-कुमारों ने उक्त चारों बातों का क्रमशः युक्तिपूर्वक समाधान किया है।

(१) **वेदा अहीया न भवंति ताणं : व्याख्या**—पढ़े गये वेद वेदपाठी की मरण से रक्षा नहीं कर सकते। वस्तुतः मनुष्य का धर्माचरण ही मृत्यु से या दुर्गति से उसकी रक्षा कर सकता है। वेदज्ञाताओं ने भी कहा है—

शिल्पमध्ययनं नाम, वृत्तं ब्राह्मण लक्षणम्।

'अध्ययन तो कला है, वस्तुतः ब्राह्मण का लक्षण तो आचरण है।'

(२) **भुत्ता दिया निंति तमंतमेणं** :—(क) ब्राह्मणों को भोजन कराने पर भी, भोजन कराने वाले को उसके पापकर्म नरक गमन से बचा नहीं सकते, बल्कि वे तमस्तम नामक सप्तम नरक में ले जाते हैं।

(ख) जो ब्राह्मण वैडालिक वृत्ति के हैं, पशुवध, आस्रव-सेवन आदि

इमं च मे अत्थि : विशेषार्थ—यह धन-धान्य आदि तो मेरे घर में हैं, किन्तु सोना, चाँदी, आभूषण या अमुक भोगसामग्री नहीं है, मुझे छहों ऋतुओं में सुखद गृह का निर्माण करना है, इस व्यापार में लाभ नहीं है, इसलिए इसे नहीं करना है, इस प्रकार है और नहीं के चक्कर में पड़ा मनुष्य आत्मकल्याण को भूल जाता है, और एक दिन काल आयुष्य के क्षणों का हरण करके ले जाता है। दिन और रात ये आयुष्य के हरणकर्ता हैं। इसलिए हमें अब प्रमाद करना कैसे उचित है।

अणिगामसोक्खा : विशेषार्थ—अनिकाम अर्थात् अप्रकृष्ट=तुच्छ सुख वाले।

पुरोहित-कथन—

श्रमणत्व का फल यहीं प्राप्त हैं, फिर श्रमण क्यों बनते हो

मूल—धणं पभूयं सह इत्थियाहिं,
सयणा तहा कामगुणा पगामा।
तवं कए तप्पइ जस्स लोगो,
तं सव्व साहीणमिहेव तुब्भं ॥१६॥

छाया—धनं प्रभूतं सहस्त्रीभिः,
स्वजनास्तथा कामगुणाः प्रकामाः।
तपः कृते तप्यति यस्यलोकः,
तत् सर्वं स्वाधीनमिहैव युवयोः ॥१६॥

पद्यानुवाद—नारी के संग धन प्रभूत है,
स्वजन कामगुण विपुल रहा।
तप करते जन जिस कारण,
स्वाधीन यहां सब तुम्हें अहा! ॥१६॥

अन्वयार्थ—**जस्स कए**—जिसके लिए, **लोगो**—लोग, **तवं तप्पइ**—तप तपते हैं, अर्थात्-तपस्या करते हैं, **तं सव्वं**—वह सब, **पभूयं धणं**—प्रचुर धन, **इत्थियाहिं सह**—स्त्रियाँ और उनके साथ, **पगामा कामगुणा**—उत्कृष्ट काम-भोग, **तहा**—तथा, **सयणा**—स्वजन, **इहेव**—यहीं, **तुब्भं**—तुम्हें, **साहीणं**—स्वाधीन (रूप से प्राप्त) हैं। (फिर परलोक के सुखों के लिए क्यों भिक्षु बनते हो?) ॥१६॥

भावार्थ—(भृगु पुरोहित ने कहा—) जिसकी प्राप्ति के लिए लोग तप करते हैं, वह सब प्रचुर धन, स्त्रियाँ तथा उनके साथ अत्यधिक काम-

गुणोह—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि गुण समूह अथवा अठारह हजार शीलांग।

वंहिविहार—प्रतिबन्ध रहित विहार (बृहद् वृत्ति पत्र ४०१)

पुरोहित-कथन—शरीर नष्ट होते ही आत्मा नष्ट हो जाता है—

मूल—जहा य अग्गी अरणीउऽसन्तो,
खीरे घयं तेल्ल महातिलेसु।
एमेव जाया! सरीरंसि सत्ता,
संमुच्छई नासइ नावचिट्ठे ॥१८॥

छाया—यथा चाग्निररणितोऽसन्,
क्षीरे घृतं तैलं महातिलेषु।
एवमेव जातौ! शरीरे सत्त्वाः,
संमूर्च्छन्ति नश्यन्ति नावतिष्ठन्ते ॥१८॥

पद्यानुवाद—जैसे तिल में तेल, क्षीर-घृत,
अनल अरणि से प्रकटाता।
वैसे तन से जीव प्रकट होता,
न किन्तु है टिक पाता ॥१८॥

अन्वयार्थ—**जहा य**—जैसे, **अरणीउ**—अरणि में, **अग्गी**—अग्नि, **खीरे**—दूध में, **घयं**—घृत, **तेल्ल महातिलेसु**—अथवा तिलों में तैल, **असन्तो**—असत (अविद्यमान) होते हुए भी उत्पन्न होता है। **जाया**—हे पुत्रो, **एमेव**—इसी प्रकार, **सरीरंसि**—शरीर में, **सत्ता**—जीव (सत्व) भी, (असत् ही) **संमुच्छई**—पैदा होता है और, **नासइ**—नष्ट हो जाता है, **नावचिट्ठे**—(शरीर का नाश होने पर जीव का कुछ भी) अस्तित्व नहीं रहता ॥१८॥

भावार्थ—पुत्रो! जैसे अरणि के काष्ठ में अग्नि, दूध में घी, अथवा तिलों में तेल विद्यमान (असत्) न होते हुए भी उत्पन्न होता है, वैसे ही इस शरीर में जीव (आत्मा) भी असत् ही उत्पन्न होता है, और नष्ट हो जाता है। (शरीर का नाश होने पर जीव का अस्तित्व) नहीं रहता ॥१८॥

विवेचन—जीव के अस्तित्व का निषेध : क्यों?—भृगु पुरोहित को पुत्रों ने जब कहा कि हमें धनादि से क्या प्रयोजन, क्योंकि हम तो धर्म-पालन करने हेतु श्रमण बनेंगे, जिसका फल, परलोक में आत्मिक सुख है। तब पुरोहित ने धर्म एवं आत्मा से उनकी आस्था हटाने के लिए कहा—जब

आत्मा के आन्तरिक दोष (रागद्वेषादि या मिथ्यात्वादि) के कारण ही उसके बन्ध होता है और बन्ध ही संसार का हेतु कहा गया है।

विवेचन—आत्मा के असत् होने का निराकरण—पुरोहित-पुत्रों ने कहा—आत्मा का अस्तित्व है, किन्तु वह अमूर्त्त (शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि के अभावरूप) होने से इन्द्रियों के द्वारा जाना नहीं जाता। अमूर्त होने से आत्मा का नित्य अस्तित्व है। वह कभी नष्ट या उत्पन्न नहीं होती। प्रश्न होता है—अमूर्त आत्मा के बन्ध कैसे हो जाता है, इसके उत्तर में कहा गया है—आत्मा का शरीर में बन्ध अवश्य ही अध्यात्महेतुक है। अर्थात्—आत्मा के आन्तरिक मिथ्यात्व, अविरति आदि के कारण ही इसका शरीर में बन्ध होता है। आत्मा का शरीर में बन्ध होना ही संसार हेतु—भवभ्रमण का कारण है, अर्थात्—जब तक आत्मा शरीर से (कर्मों के कारण) बद्ध है, तब तक जीव भवभ्रमण करता है।

पुत्र—पापकर्म करना और घर में रहना रुचिकर नहीं—

मूल—जहा वयं धम्ममजाणमाणा,
पावं पुरा कम्ममकासि मोहा।
ओरुज्झमाणा परिरक्खियंता,
तं नेव भुज्जो वि समायरामो ॥२०॥

अब्भाहयंमि लोगंमि,
सव्वओ परिवारिए।
अमोहाहि पडंतीहिं,
गिहंसि न रइं लभे ॥२१॥

छाया—यथाऽऽवां धर्ममजानानौ, पापं पुरा कर्माकार्ष्व मोहात्।
अवरुध्यमानौ परिरक्ष्यमाणौ, तन्नैव भूयोऽपि समाचरावः ॥२०॥

अभ्याहते लोके, सर्वतः परिवारिते।
अमोघाभिः पतन्तीभिः, गृहे न रतिं लभावहे ॥२१॥

पद्यानुवाद—हम धर्मज्ञान के बिना मोहवश,
पाप किये पहले भारी।
अवरोधित परिरक्षित होकर,
फिर वह नहीं करेंगे दुःखकारी ॥२०॥

हो रहा लोक है अतिपीड़ित,
दुःख से यह चारों ओर घिरा।
आती हैं काली रात यहाँ,
घर में मिलता सुख नहीं जरा ॥२१॥

अन्वयार्थ—(पिताजो !) जहा—जैसे, वयं—हम (दोनों), धम्ममजाणमाणा—धर्म से अनभिज्ञ दशा में, मोहा—मोहवश, (हम) पुरा—पहले, पावंकम्मं—पापकर्म, अकासि—करते रहे, (और आपके द्वारा हम) ओरुज्झमाणा—रोके जाते रहे, परिरक्खियंता—चारों ओर से (बन्द करके) रखा गया, तं—उस पापकर्म को, भुज्जो वि—अब पुनः, नेव समायरामो—नहीं करेंगे ॥२०॥

अब्भाहयंमि लोगंमि—लोक अभ्याहत—पीड़ित है, सव्वओ—चारों ओर से, परिवारिए—घिरा हुआ है। अमोहाहिं पडंतीहिं—अमोघाएँ पड़ रही हैं, (ऐसी स्थिति में) गिहंसि—घर में, रइं न लभे—हम घर में आनन्द नहीं पा रहे हैं ॥२१॥

भावार्थ—पिताजी ! पहले आपके द्वारा (घर से बाहर जाने से) हम रोके गये, हमें चारों ओर से (बन्द करके) रखा गया। अतः जब तक हम दोनों धर्म से अनभिज्ञ थे, तब तक मोहवश पापकर्म करते रहे। अब हम उस पापकर्म को पुनः नहीं करेंगे ॥२०॥

यह लोक पीड़ित है, चारों ओर से घिरा हुआ है। अमोघाएं पड़ रही हैं, ऐसी स्थिति में हम घर में आनन्द नहीं पा रहे हैं ॥२१॥

पुरोहित का प्रश्न —लोक किससे पीड़ित, किससे घिरा ?

मूल—केण अब्भाहओ लोगो ? केण वा परिवारिओ ?
का वा अमोहा वुत्ता ? जाया ! चितावरो हुमि ॥२२॥

छाया—केनाभ्याहतो लोकः ? केन वा परिवारितः।
का वाऽमोघा उक्ताः ?, जातौ ! चिन्तापरो भवामि ॥२२॥

पद्यानुवाद—किससे पीड़ित हो रहा लोक,
और घिरा हुआ है यह किससे ?
है कौन अमोघा कहलाती,
हूँ पुत्र ! बड़ा चिन्तित इससे ॥२२॥

अन्वयार्थ—**जाया**—पुत्रो ! **लोगो**—यह लोक, **केण**—किससे, **अब्भाहओ**—आहत—पीड़ित है ? **वा**—अथवा (वह), **केण**—किससे, **परिवारिओ**—घिरा हुआ है, **वा**—और, **अमोहा**—अमोघा, **का**—किसे, **वुत्ता**—कहा गया है ?, (यह जानने के लिए) **चितावरो हुमि**—मैं चिन्तातुर हूँ ॥२२॥

भावार्थ—पिता—'पुत्रो ! यह लोक किससे पीड़ित है ? अथवा यह किससे घिरा हुआ है ? अमोघा किसे कहा गया है ? मैं यह जानने के लिए चिन्तित हूँ' ॥२२॥

विवेचन—पुत्रों की बात का पिता पर यत्किंचित् प्रभाव—ज्यों ही पुत्रों ने कहा कि हम पूर्वोक्त कारणों से अब घर में जरा भी सुख नहीं पा रहे हैं, घर हमारे लिए अब जेलखाना है। पिता इन बातों से चौंक गया, उसकी जिज्ञासा बुद्धि प्रकट हुई और पूछा कि लोक किससे आहत और परिवारित है ? और अमोघा क्या है ? आदि।

पुत्रों द्वारा उत्तर—मृत्यु से पीड़ित, जरा से परिवृत और अमोघा अधर्मरात्रि

मूल—मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो, जराए परिवारिओ।
अमोहा रयणी वुत्ता, एवं ताय ! वियाणह ॥२३॥

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जंति राइओ ॥२४॥

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जंति राइओ ॥२५॥

छाया—मृत्युनाऽभ्याहतो लोकः, जरया परिवारितः।
अमोघा रजनी उक्ता, एवं तात ! विजानीहि ॥२३॥

या या व्रजति रजनी, न सा प्रतिनिवर्तते।
अधर्मं कुर्वाणस्य, अफला यान्ति रात्रयः ॥२४॥

या या व्रजति रजनी, न सा प्रतिनिवर्तते।
धर्मं च कुर्वाणस्य, सफला यान्ति रात्रयः ॥२५॥

पद्यानुवाद— यह लोक मृत्यु से पीड़ित है, और जरा रोग से घिरा हुआ।
है रात्रि अमोघा कहलाती, हे तात ! जानलें शास्त्र दुआ ॥२३॥

जो जो जाती है बीत निशा, वे नहीं लौटकर हैं आतीं।
करते अधर्म जो जन जग में, उनकी ये रातें विफल जातीं ॥२४॥

जो जो जाती है निशा बीत, वे नहीं लौट कर हैं आतीं।
करते जो धर्माराधन हैं, उनकी वे रातें सफल जातीं ॥२५॥

अन्वयार्थ—लोगो—यह लोक, मच्चुणा—मृत्यु (के आतंक) से, अब्भाहओ—पीड़ित (आहत) है, जराए—और जरा से परिवारिओ—घिरा हुआ है। अमोहा-रयणी—रात्रि को अमोघा, वुत्ता—कहा है, तात—हे पिताजी ! एवं—इस प्रकार आप, वियाणह—भलीभांति जान लें ॥२३॥

जा जा—जो-जो, रयणी—रात्रि, वच्चई—जा रही है, सा—वह, न पडिनियत्तइ—लौटकर नहीं आती, अहम्मं—अधर्म, कुणमाणस्स—करने वाले की, राइओ—रात्रियां, अफला जंति—निष्फल जाती हैं ॥२४॥

जा-जा—जो-जो, रयणी—रात्रि, वच्चइ—बीती जा रही है, सा—वह न पडिनियत्तइ—वापस लौटकर नहीं आती। धम्मं च कुणमाणस्स—धर्म करने वाले की, राइओ—रात्रियां, सफला जंति—सफल जाती हैं ॥२५॥

भावार्थ—पिताजी ! यह आप अच्छी तरह से जान लें कि यह लोक मृत्यु से पीड़ित है, और वृद्धावस्था से घिरा हुआ है, अमोघा रात्रि को कहा गया है ॥२३॥

जो जो रात्रि जा रही है, वह वापस लौटकर नहीं आती। अधर्म करने वाले की रात्रियां निष्फल जाती हैं ॥२४॥

जो जो रात्रि बीती जा रही है, वह लौटकर वापस नहीं आती। किन्तु धर्म करने वाले की रात्रियां सफल होती हैं ॥२५॥

विवेचन—पिता के प्रश्नों का समाधान—यह जगत् मृत्यु से आक्रान्त

—पीड़ित है, अर्थात्—मृत्यु प्राणिमात्र को पीड़ित करती है और वह वृद्धावस्था से घिरा हुआ है। मात्र बाल सफेद हो जाने का नाम ही जरा नहीं है, अपितु बल, वीर्य और पराक्रम की हानि भी जरा है। अमोघा—कभी निष्फल नहीं जाने वाली रात्रि[1] को यहाँ अमोघा कहा गया है। धर्म करने वाले की रात्रियाँ सफल होती हैं जबकि अधर्म करने वाले की रात्रियाँ निष्फल जाती हैं। निष्फल रात्रियाँ मनुष्य के लिए पश्चात्ताप, दुःख और भवभ्रमण की कारण बनती हैं।

पुरोहित—बाद में हम सब साथ ही दीक्षा ग्रहण करेंगे—

मूल—एगओ संवसित्ताणं, दुहओ सम्मत्त-संजुया।
पच्छा जाया ! गमिस्सामो, भिक्खमाणा कुले-कुले ॥२६॥

छाया—एकतः समुष्य, द्वये सम्यक्त्व-संयुताः।
पश्चाज्जातौ ! गमिष्यामः, भिक्षमाणाः कुले कुले ॥२६॥

पद्यानुवाद—पुत्रो ! हम सब एक साथ रह, दर्शन व्रत धारण करलें।
फिर संयम में बढ़ करके, घर-घर भिक्षा ले तन धरलें ॥२६॥

अन्वयार्थ—जाया—पुत्रो ! (पहले) **दुहओ**—तुम दोनों और हम दोनों (हम) (कुछ समय तक), **एगओ**—एक जगह, या एक साथ, **संवसित्ताणं**—सुख से रहकर, **सम्मत्तसंजुया**—सम्यक्त्व और (उपलक्षण से गृहस्थ के) व्रतों से युक्त हों, (अर्थात्—उनका पालन गृहवास मे रहकर करें), **पच्छा**—पश्चात् (ढलती आयु में) प्रव्रजित होकर, **कुले-कुले**—घर-घर में, **भिक्खमाणा**—भिक्षा ग्रहण करते हुए, **गमिस्सामो**—विचरण करेंगे ॥२६॥

भावार्थ—पुत्रो ! पहले हम सब (कुछ समय) एक साथ रहकर सम्यक्त्व और व्रतों से युक्त हों, (उनका पालन करें), तत्पश्चात् वृद्धावस्था में (हम सब) प्रव्रजित होकर घर-घर में भिक्षा ग्रहण करते हुए विचरेंगे।

विवेचन—पुरोहित द्वारा पुत्रों को गृहवास में रोकने के लिए आश्वासन—इस गाथा का तात्पर्य यह है कि भृगु पुरोहित पुत्रों से कहता

---

१. चूंकि दिन के बिना रात नहीं होती, इसलिए यहाँ रात्रि से दिन-रात दोनों समझना चाहिए—दिवसाऽविनाभावित्वात् तासां दिवसाश्च —शान्त्याचार्यकृत बृहद्वृत्ति पत्र ४०३
जिस प्रकार दिन का अन्त रात्रि में है, उसी प्रकार जीव की अन्तिम स्थिति मृत्यु है, अतः मृत्यु का लाक्षणिक अर्थ रात्रि है।

ज्जियामो—स्वीकार करलें, **जहिं पवन्ना**—जिसे प्राप्त कर, (हमें), **न पुणब्भवामो**—इस संसार में पुनः जन्म लेना पड़ेगा। (हमारे लिए इस संसार में) **किंचि**—कोई भी विषयसुख का उपभोग, **अणागमं**—अनागत—अप्राप्त, **नेव अत्थि**—नहीं हैं, (क्योंकि वे अनन्त वार भोगे जा चुके हैं।) ॥२८॥

भावार्थ—पिताजी ! जिसकी मृत्यु के साथ मैत्री है, अथवा मृत्यु के आने पर जो दूर भाग सकता है, या जो यह जानता है कि मैं कभी मरूँगा ही नहीं, वही आगामी कल का भरोसा कर सकता है ॥२७॥

(अतः पिताजी ! आइए,) हम आज ही राग को दूर करके हमारी श्रद्धा के योग्य मुनिधर्म को अंगीकार कर लें, जिसे प्राप्त कर लेने पर हमें (इस संसार में) पुनः जन्म नहीं लेना पड़ेगा और (हमारे लिए इस संसार में) कोई भी विषय सुखभोग अनागत—अभुक्त नहीं है, (क्योंकि इस संसार में सब प्राणियों को ये सब भोग अनन्त वार प्राप्त हो चुके हैं।)॥२८॥

विवेचन—पिता के दो प्रस्तावों का पुत्रों द्वारा सशक्त प्रतिवादात्मक समाधान—२६वीं गाथा में भृगु पुरोहित ने दो प्रस्ताव पुत्रों के समक्ष रखे थे—(१) वृद्धावस्था में हम सब प्रव्रजित होंगे, (२) अभी गृहवास में रहकर विषय-सुखों का उपभोग कर लो। इन दोनों प्रस्तावों का समाधान इन दोनों गाथाओं (२७-२८) में पुत्रों द्वारा किया गया है कि (१) मृत्यु का कोई भरोसा नहीं है कि कब आ धमके, अतः वृद्धावस्था तक प्रतीक्षा नहीं की जा सकती। पता नहीं वृद्धावस्था आएगी भी या नहीं ? इसलिए हम सबको आज ही प्रव्रजित हो जाना चाहिए। ताकि हमें जन्म-जरा-मृत्यु का पुनः शिकार न होना पड़े। (२) आप भोगों को भोगने के लिए कह रहे हैं, लेकिन इस संसार में कोई भी विषय-सुख अप्राप्त या अनुपभुक्त नहीं है, सभी विषय-सुख उपभुक्त हैं। उच्छिष्ट (जूठे) भोगों के पुनः सेवन करने की लालसा श्रेयस्कर नहीं है।

विणइत्तु रागं :—स्वजन आदि के प्रति राग-मोह को हटा कर।

णे सद्धा खमं :—मुनिधर्म ही हमारी श्रद्धा—तत्त्वरुचि के योग्य है, क्योंकि श्रद्धाहीन साधुधर्म निष्फल है।

प्रबुद्ध पुरोहित का पत्नी से कथन—

मूल—पहीणपुत्तस्स हु नत्थि वासो,
वासिट्ठि ! भिक्खायरिआइ कालो।
साहाहि रुक्खो लहए समाहिं,
छिन्नाहि साहाहि तमेव खाणुं ॥२९॥

पंखा-विहूणो व्व जहेह पक्खी,
भिच्चा - विहूणो व्व रणे नरिंदो ।
विवन्नसारो वणिओ व्व पोए,
पहीणपुत्तो मि तहा अहंपि ॥३०॥

छाया—प्रहीणपुत्रस्य खलु नास्ति वासः,
वाशिष्ठि ! भिक्षाचर्यायाः कालः ।
शाखाभिर्वृक्षो लभते समाधिं,
छिन्नाभिः शाखाभिस्तमेव स्थाणुम् ॥२९॥
पक्षविहीन इव यथेह पक्षी,
भृत्यविहीनो व रणे नरेन्द्रः ।
विपन्नसारो वणिगिव पोते,
प्रहीणपुत्रोऽस्मि तथाऽहमपि ॥३०॥

पद्यानुवाद—हो पुत्रहीन का वास नहीं,
वाशिष्ठि ! काल यह भिक्षा का ।
पाता समाधि तरु शाखा से,
है शाख हीन ठूंठ-कक्षा का ॥२९॥

पंखहीन पक्षी जैसे,
सेना बिन निर्बल नृप रण में ।
धनहीन वणिक ज्यों नौका पर,
त्यों त्यक्तपुत्र मैं हूँ जन में ॥३०॥

अन्वयार्थ—वासिट्ठि—हे वाशिष्ठि ! पहीणपुत्तस्स—पुत्रों के बिना मेरा इस घर में, वासो—निवास, नत्थि हु—हर्गिज नहीं हो सकता। (अतः मेरे लिए अब) भिक्खायरिआइ—भिक्षाचर्या का, कालो—काल ही (उचित है), रुक्खो—वृक्ष, साहाहि—शाखाओं से, समाहि—समाधि=शोभा, लहए—पाता है, साहाहि छिन्नाहि शाखाओं के कट जाने पर, तमेव—उसी वृक्ष को, (लोग) ठाणु—ठूँठ (कहते हैं।) ॥२८॥

जहा—जैसे, इह—इस लोक में, पंखाविहूणो—पंखों से रहित, पक्खी—पक्षी, व्व—तथा, रणे—युद्ध में, भिच्चा विहूणो—भृत्यों सैनिकों से रहित, नरिंदो—राजा, व्व—एवं, पोए—जलपोत (जहाज) पर, विवन्नसारो—धन-माल रहित, वणिओ—

वणिक (असहाय होकर खेद पाता है।) तहा—वैसे ही, **पहीणपुत्तो**—पुत्रों से विहीन **अहमवि**—मैं भी (असहाय एवं खिन्न), **मि**—हूँ ॥३०॥

भावार्थ—'हे वाशिष्ठि ! पुत्रों के विना मेरा निवास इस घर में बिलकुल उचित नहीं। अब मेरे लिए भिक्षाचर्या का अवसर आ गया है क्योंकि वृक्ष शाखाओं से ही शोभा पाता है। शाखाओं से कट जाने पर उसी को लोग ठूंठ कहते हैं ॥२६॥

इस लोक में जैसे पंखों के विना पक्षी, सैनिकों के बिना राजा, तथा जलपोत में धन नष्ट हो जाने पर वणिक असहाय होकर खेद पाता है, वैसे ही पुत्रों के विना मैं भी असहाय एवं शोभाहीन हूँ ॥३०॥

विवेचन—पुत्रों के बिना मेरा गृहवास अनुचित : पुरोहित के उद्गार—पिछली दो गाथाओं में दोनों पुत्रों द्वारा दिये गये समाधान से भृगु पुरोहित प्रतिबुद्ध हो गया, उसने अपनी धर्मपत्नी वशिष्ठ गोत्रीया यशा ब्राह्मणी[1] को दीक्षा लेने के मार्ग में विघ्नभूत मानकर उसे दृष्टान्तों द्वारा समझाते हुए कहा—वृक्षों की शाखाएँ कट जाने पर वह शोभाहीन ठूँठ मात्र रह जाता है। जिस प्रकार वृक्ष की शोभा शाखाओं से है, इसी प्रकार मेरी शोभा भी इन पुत्रों से है। पक्षविहीन पक्षी, रण में सैनिक रहित राजा तथा जलपोत में धर्मविहीन वणिक की जैसी दुर्दशा होती है, वैसी ही दुर्दशा पुत्रों के अभाव में मेरी होगी। अतः जब ये पुत्र समझाने पर भी घर में नहीं रहना चाहते हैं, ये मुनि बनना चाहते हैं, ऐसी स्थिति में मेरा घर में रहना उचित नहीं है। पुत्रों के साथ मुझे भी मुनि बनना ही श्रेयस्कर है।

पुरोहित-पत्नी का कथन—

मूल—सुसंभिया कामगुणा इमे ते,
संपिण्डिया अग्गरसप्पभूया।
भुंजामु ता कामगुणे पगामं,
पच्छा गमिस्सामु पहाणमग्गं ॥३१॥

छाया—सुसंभृताः कामगुणा इमे ते,
सम्पिण्डिता अग्र्य-रस-प्रभूताः।
भुंजीवहि तावत् कामगुणान्, प्रकामं,
पश्चात् गमिष्यावः प्रधानमार्गम् ॥३१॥

---

1. प्राचीन परम्परा के अनुसार किसी को गोत्र से सम्बोधित करना गौरव का सूचक माना जाता था। (शान्त्याचार्य)

पद्यानुवाद—अतिशय सुन्दर शब्दादि विषय,
पुंजीकृत उत्तम रस वाले।
भोगों का मनभर अनुभव कर,
फिर चलें मुक्तिपथ मतवाले ॥३१॥

अन्वयार्थ—(पुरोहित पत्नी) **इमे**—ये, **ते**—तुम्हारे, **कामगुणा**—पंचेन्द्रिय विषयक काम-भोग के पदार्थ, **सुसंभिया**—सम्यक् प्रकार से संस्कृत हैं, (और) **संपिंडिया**—सुसंग्रहीत हैं। (तथा ये) **अग्गरसप्पभूया**—अग्र्य (प्रधान शृंगार) रस के उत्पादक हैं। (अतः पहले हम) **ता कामगुणे**—उन पंचेन्द्रियविषयक काम-भोगों को **पगामं**—यथेष्ट, **भुंजाम**—भोग लें। **पच्छा**—बाद में भुक्तभोगी बनकर ढलती वय में, **पहाण मग्गं**—प्रधान मार्ग=प्रव्रज्या रूप मोक्ष मार्ग पर, **गमिस्सामु**—चलेंगे ॥३१॥

भावार्थ—स्वामिन्! ये तुम्हारे इन्द्रियविषयक कामभोग के साधन सुसंस्कृत और सुसंगृहीत हैं, तथा ये प्रधान शृंगार रस के उत्पादक हैं। अतः पहले हम उन्हें यथेच्छ भोग लें। तत्पश्चात ढलती उम्र में हम प्रव्रज्या प्रधान (मोक्ष) मार्ग पर चलेंगे।

विवेचन—'कामगुणा' के तीन विशेषण—कामगुण अर्थात्—पंचेन्द्रियों को सुख देने वाले पदार्थ तीन विशेषताओं से युक्त हैं—(१) **सुसंभिया** सुसम्भृत—अर्थात्—अच्छे-अच्छे वस्त्र, सरस स्वादिष्ट मिष्टान्न, पुष्प, चन्दन, नाटक, वाद्य, गीत, वीणा, वेणु ताल आदि वस्तुएँ सम्यक् प्रकार से संस्कृत हैं, सुसज्जित हैं तथा (२) **संपिंडिया**—सम्यक् एक जगह संग्रहीत हैं और (३) **अग्गरस-प्पभूया**=अर्थात्—जो अग्र्य यानी प्रधान शृंगार रस के उत्पादक हैं अग्रय रस प्रचुर हैं, या जिनमें प्रचुर अग्र्य=श्रेष्ठ रस=आनन्द आता है।

पुरोहित का पत्नी को उद्‌बोध—

मूल—भुत्ता रसा भोइ! जहाइ णे वओ,
न जीवियट्ठा पजहामि भोए।
लाभं अलाभं च सुहं च दुक्खं,
संविक्खमाणो[1] चरिस्सामि मोणं ॥३२॥

छाया—भुक्तारसा भवति! जहाति नो वयः,
न जीवितार्थं प्रजहामि भोगान्।
लाभमलाभं च सुखं च दुःखं,
संवीक्षमाणश्चरिष्यामि मौनम् ॥३२॥

---

१ पाठान्तर—'संचिक्खमाणो'।

पद्यानुवाद—भोगे रस भगवती चली आयु,
जीवन हित हम ना भोग तजें।
लाभ हानि सुख दुःख एकसम,
देख हृदय मुनि धर्म भजें ॥३२॥

अन्वयार्थ—**भोइ**—हे ब्राह्मणी (भवति) ! **रसा**—विषय-रसों को (हम) **भुत्ता**—बहुत भोग चुके हैं। **णे**—हमें (अब), **वओ**—युवावस्था, **जहाइ**—छोड़ रही है। (मैं) **जीवियट्ठा**—असंयमी जीवन या स्वर्गीय जीवन के लिए, **भोए**—इन भोगों को, **न पजहामि**—नहीं छोड़ रहा हूँ, (किन्तु) **लाभ अलाभं**—लाभ और अलाभ, वांछित वस्तु की प्राप्ति और उसकी अप्राप्ति, **च**—तथा, **सुहं च दुक्खं**—सुख और दुःख को, **संविक्खमाणो**—समभाव से देखते हुए, **मोणं चरिस्सामो**—मुनिधर्म का आचरण करूंगा ॥३२॥

भावार्थ—हे भगवति ! हम विषय-रसों को बहुत भोग चुके। अब युवावस्था हमसे विदा ले रही है। मैं स्वर्गीय सुखों की प्राप्ति के लिए इन भोगों का परित्याग नहीं कर रहा हूँ, किन्तु लाभ और अलाभ, सुख और दुःख में समभाव का आलम्बन लेकर मुनिधर्म का आचरण करूँगा।

पुरोहित-पत्नी की कथा—

मूल—माहू तुमं सोयरियाण सम्भरे,
जुण्णो व हंसो पडिसोत्तगामी।
भुंजाहि भोगाइ मए समाणं,
दुक्खं खु भिक्खायरिया विहारो ॥३३॥

छाया—मा खलु त्वं सोदर्याणां, स्मार्षीः,
जीर्ण इव हंसः प्रतिस्रोतगामी।
भुंक्ष्व भोगान् मया समं,
दुःखं खलु भिक्षाचर्या—विहारः ॥३३॥

पद्यानुवाद—आवे न याद निज सोदर की,
वन जीर्ण हंसवत् प्रतिगामी।
इसलिए भोग लें साथ भोग,
भिक्षुक जीवन है दुःखकामी ॥३३॥

अन्वयार्थ—**पडिसोत्तगामी**—विपरीत धारा में बहने वाले (प्रतिस्रोतगामी), **जुण्णो हंसो व**—बूढ़े हंस की तरह, **तुमं**—तुम्हें, **सोयरियाणं**—सहोदर बन्धुओं को,

माहु संभरे—याद न करना पड़े (अतः) मए समाणं—मेरे साथ, भोगाइं—भोगों को, भुंजाहि—भोगो। (यह) भिक्खायरिया-विहारो—भिक्षाचर्या और (ग्रामानुग्राम) विहार, खु—निश्चय ही, दुक्खं—दुःख रूप है ॥३३॥

भावार्थ—'विपरीत धारा में बहने वाले बूढ़े हंस की तरह कहीं तुम्हें फिर अपने बन्धुओं का स्मरण न करना पड़े। अतः मेरे साथ भोगों को भोगो। भिक्षाचर्या और (ग्रामानुग्राम) विहार निश्चय ही दुःखरूप कष्टकारी है।

विवेचन—जीर्ण हंस की उपमा का आशय—जिस प्रकार बूढ़ा हंस विपरीत जलप्रवाह में तैरने लगता है, किन्तु तैरने में असमर्थ होकर बाद में अनुस्रोत जलप्रवाह में तैरने का स्मरण करता हुआ, मन में खिन्न होता है कि मैंने विपरीत जलप्रवाह में तैरना क्यों प्रारम्भ किया? अनुकूल जलप्रवाह के मार्ग में तैरना ही मेरे लिए अच्छा होता, इसी प्रकार तुम (पुरोहित) भी अभी प्रतिस्रोतगामी बनने की सोच रहे हो, परन्तु जब बूढ़े हंस की तरह इस मार्ग पर चलने में थक जाओगे, भिक्षाचर्या वृत्ति सहन नहीं होगी, तब गृहवास को स्मरण करोगे, पश्चात्तापपूर्वक अपने गृहस्थित भाइयों को याद करोगे, पुनः अनुकूल प्रवाह की ओर तैरने का स्मरण करोगे। अतः इससे तो अच्छा है, अभी तुम गृहवास में ही रहकर सुखकर दाम्पत्य सुख भोगों का उपभोग करो।

मूल—जहा य भोई! तणुयं भुयंगो,
निम्मोयणिं हिच्च पलेइ[1] मुत्तो।
एमेए[2] जाया पयहंति भोए,
तोहं कहं नाणुगमिस्समेक्को? ॥३४॥

छिदित्तु जालं अबलं व रोहिया,
मच्छा जहा कामगुणे पहाय।
धोरेयसीला तवसा उदारा,
धीराहु भिक्खायरियं चरंति ॥३५॥

पाठान्तर—१. पलाइ २. एमेव।

छाया—यथा च भवति ! तनुजां भुजंगः,
निर्मोचनीं हित्वा पर्येति मुक्तः।
एवमेतौ जातौ प्रजहीतो भोगान्,
तौ अहं कथं नोनुगमिष्याम्येकः ?॥३४॥
छित्त्वा जालमबलमिव रोहिता,
मत्स्या यथा कामगुणा-प्रहाय।
धौरेयशीलास्तपसा उदाराः
धीराः खलु भिक्षाचर्यां चरन्ति ॥३५॥

पद्यानुवाद—छोड़ केंचुली यथा सर्प, निःस्नेहभाव से गमन करे।
वैसे भोग त्याग जाते सुत, हम क्यों न गमन का भाव धरें ?॥३४॥
जैसे रोहित मत्स्य पुराना, जाल काट बाहर आता।
वैसे धीर उदार तपस्वी, भोग छोड़ मुनिव्रत पाता ॥३५॥

अन्वयार्थ—**भोई**—भवति ! (प्रिये !), **जहा**—जैसे, **भुयंगो**—भुजंग—सांप, **तणुयं निम्मोयणिं**—अपने शरीर से उत्पन्न हुई केंचुली को, **हिच्च**—छोड़कर, **मुत्तो**—मुक्तमन से **पलेइ**—चलता है, **एमेए जाया**—इसी तरह ये दोनों पुत्र, **भोए**—भोगों को, **पयहंति**—सर्वथा छोड़ रहे हैं, (तब), **हं एक्को**—मैं अकेला, (रहकर क्या करूँगा ?) **कहं न**—क्यों न, **ते**—उनका, **अणुगमिस्सं**—अनुगमन करूँ ?॥३४॥

रोहियामच्छा—रोहित मत्स्य, **जहा**—जैसे, **अबलं जालं व**—कमजोर जाल को, **छिंदित्तु**—काट कर, (बाहर निकल जाते है) वैसे ही, **धोरेयसीला**—ग्रहण किये गुरुतर भार को वहन करने वाले, **उदारा तवसा**—उदार (प्रधान) तपस्वी (तथा) **धीरा**—धीर साधक, **कामगुणे**—कामगुणों को, **पहाय**—छोड़कर, **भिक्खायरियं चरंति**—भिक्षाचर्या के पथ पर चल पड़ते हैं ॥३५॥

भावार्थ—हे भवति ! जैसे सांप अपने शरीर से उत्पन्न केंचुली को छोड़कर मुक्तमन से चलता है, वैसे ही ये दोनों पुत्र भोगों को सर्वथा छोड़कर जा रहे हैं। तब मैं अकेला उनका अनुगमन क्यों न करूँ ? ॥३४॥

जैसे रोहित मत्स्य कमजोर जाल को काट कर बाहर निकल जाते हैं, वैसे धारण किये हुए गुरुतर संयम-भार को वहन करने वाले प्रधान तपस्वी धीर श्रमण भी कामगुणों को सर्वथा त्याग कर भिक्षाचर्या-पथ पर चल पड़ते हैं ॥३५॥

विवेचन—पुरोहित-पत्नी की शंकाओं का समाधान—पुरोहित-पत्नी ने भृगु पुरोहित के समक्ष पिछली गाथा में दो शंकाएँ प्रस्तुत की थीं—(१)

आप प्रतिस्रोतगामी बन रहे हैं, परन्तु कहीं आपको वापस इसी (भोग) मार्ग पर न आना पड़े। (२) भिक्षाचर्या-पथ पर विचरण अत्यन्त कष्टकर है। इन दोनों का समाधान प्रस्तुत दो गाथाओं (३४-३५) में पुरोहित द्वारा किया गया है—(१) मेरे दोनों पुत्र तरुण अवस्था में ही विषय-सुखों को उसी तरह छोड़कर जा रहे हैं, जैसे सांप कंचुली छोड़कर उन्मुक्त मन से चला जाता है, वापिस मुड़कर भी नहीं देखता। तब क्या मैं भुक्तभोगी उनका अनुसरण नहीं कर सकता ? (२) रोहित मत्स्य की तरह धर्मधुरंधर धीरश्रमण काम-गुणों के जाल को काटकर भिक्षाचर्या-पथ पर आसानी से चल पड़ता है, उसी प्रकार मेरे लिए भिक्षाचर्या पथ कुछ भी कठिन नहीं है।

प्रबुद्ध पुरोहित-पत्नी : पुत्रों और पति के साथ दीक्षा लेने को तैयार—

मूल—नहेव कुंचा समइक्कमन्ता,
तयाणि जालाणि दलित्तु हंसा।
पलेन्ति पुत्ता य पई य मज्झं,
तोहं कहं नाणुगमिस्समेक्का ॥३६॥

छाया—नभसीव क्रौंचाः समतिक्रामन्तः
ततानि जालानि दलित्वा हंसा।
परियान्ति पुत्रौ च पतिश्च मम,
तानहं कथं नानुगमिष्याम्येका ॥३६॥

पद्यानुवाद—जैसे क्रौंच हंसगण नभ में, काट जाल को उड़ जाये।
जाते पुत्र और मेरे पति, क्यों मैं न चलूं मन हर्षाये ॥३६॥

अन्वयार्थ—(जिस प्रकार) **कुंचा**—क्रौंच पक्षी, **हंसा**—और हंस, **तयाणि जालाणि**—बहेलिया द्वारा बिछाये हुए जालों को, **दलित्तु**—काट कर, **नहेव**—आकाश में, **समइक्कमंता**—स्वतन्त्र उड़ जाते हैं, (वैसे ही) **मज्झं**—मेरे, **पुत्ता य**—पुत्र और, **पई य**—पति भी, (मोहजाल तोड़ कर) **पलेंति**—जा रहे हैं, (तब) **एक्काहं**—मैं अकेली (पीछे रहकर क्या करूंगी ?), **कह न**—क्यों न, **ते**—उनका, **अणुगमिस्सं**—अनुगमन करूं ॥३६॥

भावार्थ—जैसे क्रौंच पक्षी और हंस बहेलिया द्वारा फैलाये हुए जालों को काटकर आकाश में स्वतन्त्र उड़ जाते हैं, वैसे ही मेरे पुत्र और पति भी मोहजाल तोड़कर जा रहे हैं, तब मैं पीछे अकेली (रहकर क्या करूंगी ?) मैं भी क्यों न उनका अनुसरण करूं ? ॥३६॥

कमलावती रानी द्वारा इषुकार राजा को प्रतिबोध—

मूल—पुरोहियं तं ससुयं सदारं,
सोच्चाऽभिनिक्खम्म पहाय भोए ।
कुडुंबसारं विउलुत्तमं तं,
रायं अभिक्खं समुवाय देवी ॥३७॥

वंतासी पुरिसो रायं !, न सो होइ पसंसिओ ।
माहणेण परिच्चत्तं, धणं आदाउमिच्छसि ॥३८॥

सव्वं जगं जइ तुहं, सव्वं वावि धणं भवे ।
सव्वं पि ते अप्पज्जत्तं, नेव ताणाय तं तव ॥३९॥

मरिहिसि रायं ! जया तया वा,
मणोरमे कामगुणे पहाय ।
एक्को हु धम्मो नरदेव ! ताणं,
न विज्जइ अन्नमिहेह किंचि ॥४०॥

नाऽहं रमे पक्खिणि पंजरे वा,
संताणछिन्ना चरिस्सामि मोणं ।
अकिंचणा उज्जुकडा निरामिसा,
परिग्गहारंभ - नियत्तदोसा ॥४१॥

दवग्गिणा जहा रण्णे, डज्झमाणेसु जंतुसु ।
अन्ने सत्ता पमोयंति, रागद्दोसवसंगया ॥४२॥

एवमेव वयं मूढा, कामभोगेसु मुच्छिया ।
डज्झमाणं न बुज्झामो, रागद्दोसऽग्गिणा जगं ॥४३॥

भोगे भोच्चा, वमित्ता य, लहुभूयविहारिणो ।
आमोयमाणा गच्छन्ति, दिया कामकमा इव ॥४४॥

इमे य बद्धा फंदन्ति, मम हत्थऽज्जमागया ।
वयं च सत्ता कामेसु, भविस्सामो जहा इमे ॥४५॥

सामिषं कुललं दृष्ट्वा, बाध्यमानं निरामिषम् ।
आमिषं सर्वमुज्झित्वा, विहरिष्यामि निरामिषम् ॥४६॥

गृद्धोपमांस्तु ज्ञात्वा, कामान् संसारवर्द्धनान् ।
उरगः सौपर्णेय - पार्श्वेव, शंकमानस्तनु चरेत् ॥४७॥

नाग इव बन्धनं छित्त्वा, आत्मनो वसतिं व्रजेत् ।
एतत् पथ्यं, महाराज !, इषुकार ! इति मया श्रुतम् ॥४८॥

पद्यानुवाद—सुत-दारा संग भूसुर ने, तज भोग महाव्रत धार लिया ।
सुन लुब्ध हुआ भूपति उस धन पर, रानी ने उपदेश दिया ॥३७॥

राजन् ! नहीं प्रशंसित होते, जो खाते हैं किया वमन ।
कैसे लेना चाह रहे हो ? ब्राह्मण ने जो छोड़ा धन ॥३८॥

यह सारा जग हो तेरा यदि, सब धन भी तेरा हो जाए ।
है वह सब तेरे अपर्याप्त, उनसे न त्राण तब हो पाए ॥३९॥

जब छोड़ मनोरम कामभोग, राजन् ! तू मरकर जाएगा ।
रक्षक तब होगा एक धर्म, रक्षक न अन्य तू पाएगा ॥४०॥

पंजर में पक्षिन-सम रहती, कर बन्ध छेद मैं विचरूंगी ।
निष्कांचन मन सरल भोग तज दोषरहित हो विहरूंगी ॥४१॥

दावानल से जल कर मरते, वन में जीवों को देख यथा ।
जिन पर सवार है राग-द्वेष, हर्षित होते वे जीव वृथा ॥४२॥

ऐसे ही हम सब मूढ़ बने, आसक्त विषयसुख-भोगों में ।
राग-द्वेष में जलता जग, पर बोध जगे ना लोगों में ॥४३॥

भोग-भोग कर त्याग करे, ज्ञानी लघुकर्मा बनते हैं ।
खग-कुल-सम इच्छाचारी हो, हर्षित मन हो वे चलते हैं ॥४४॥

हे आर्य ! हाथ आये मेरे, हैं बंधे काम ये उछल रहे ।
हम काम-गुणों में बंधे रहे, अब होंगे ज्यों सुत विचर रहे ॥४५॥

देख कुलल के पास मांस, झपटे खग, नहीं निरामिष पर ।
आमिषवत् पूर्ण भोग तजकर; विहरूंगी मैं अविषय बन कर ॥४६॥

लो जान गोध की उपमा से, है काम-भोग भव-वर्धन-कर ।
शंकित हो इनसे चलें. यथा चलता खगपति से अहि डरकर ॥४७॥

जैसे गज बन्धन तोड़ विपिन, बसने को हर्षित हो जाता ।
हमने यह पथ्य सुना राजन् कर राग-त्याग शिव-पद पाता ॥४८॥

अन्वयार्थ—**ससुयं सदारं**—अपने पुत्रों और पत्नी के साथ, **तं पुरोहियं**—उस पुरोहित ने, **भोए पहाय**—भोगों को त्याग कर, **अभिनिक्खम्म**—अभिनिष्क्रमण (गृहत्याग किया है) **सोच्चा**—यह सुनकर, **तं विउलुत्तमं कुडुम्बसारं**—उस कुटुम्ब की विपुल और उत्तम धन सम्पत्ति की, **अभिकखं**—चाह रखने वाले, **रायं**—राजा इपुकार को, **देवी**—रानी कमलावती ने, **समुवाय**—कहा ॥३७॥

(रानी), **रायं**—हे राजन् ! **माहणेण**—ब्राह्मण (भृगु-पुरोहित) के द्वारा, **परिच्चत्तं**—परित्यक्त, **धणं**—धन को, **आदाउमिच्छसि**—तुम ग्रहण करना चाहते हो **वंतासी सो पुरिसो**—वमन किये हुए पदार्थ को खाने वाला (जो) पुरुष होता है, वह; **पसंसिओ**—प्रशंसनीय, **न होइ**—नहीं होता ॥३८॥

जइ—यदि, **सव्वं जगं**—सारा जगत् (और) **सव्वं वावि धणं**—जगत् का) समस्त धन भी, **तुहं**—तुम्हारा, **भवे**—हो जाए, (तो भी), **सव्वंपि**—वह सभी, **ते**—तुम्हारे लिए, **अपज्जत्तं**—अपर्याप्त ही होगा। (और) **तं**—वह धन, **तव ताणाय**—तुम्हारी रक्षा करने में समर्थ **नेव**—नहीं होगा ॥३९॥

राय !—राजन् !, (एक दिन) **मणोरमे**—इन मनोज्ञ, **कामगुणे**—कामभोगों को, **पहाय**—छोड़कर, **जयावा**—जब, **मरिहिसि**—मरोगे, **तया**—तब, **एक्को हु**—एकमात्र, **धम्मो**—धर्म ही, **ताणं**—रक्षक होगा। **नरदेव**—हे नृप ! **इहेह**—इस संसार में इस मृत्यु के आने पर, **अन्नं**—धर्म के अतिरिक्त, **किंचि**—और कोई भी, (रक्षा करने वाला) **न विज्जई**—नहीं है ॥४०॥

वा—जैसे, **पंजरे**—पींजरे में वन्द हुई, **पक्खिणि**—पक्षिणी, **न रमे**—सुख का अनुभव नहीं करती, उसी तरह, **अहं**—मैं भी (जरा-मरणादि के उपद्रव से युक्त इस भवरूपी पींजरे में) आनन्द का अनुभव नहीं करती। अतः अब मैं), **संताणछिन्ना**—पारिवारिक स्नेहवन्धनों को तोड़ कर, **अकिंचणा**—अकिंचन (द्रव्य-भाव-परिग्रह से रहित), **उज्जुकडा**—(मायादि शल्यों से रहित) सरल, **निरामिसा**—शब्दादि विषय-भोगों में अनासक्त, (तथा), **परिग्गहारंभनियत्तदोसा**—परिग्रह और आरम्भ (हिंसा) के दोषों से निवृत्त होकर, **मोणं**—मुनि-धर्म का, **चरिस्सामि**—आचरण करूंगी ॥४१॥

जहा—जैसे, **रण्णे**—अरण्य में लगे, **दवग्गिणा**—दावानल में, **डज्झमाणेसु जंतुसु**—जलते हुए जन्तुओं को (देखकर), **अन्ने सत्ता**—अन्य जीव, **रागद्दोसवसं-गया**—राग-द्वेष के वशीभूत होकर, **पमोयंति**—प्रमुदित होते हैं।—**एवमेव**—उसी प्रकार, **कामभोगेसु मुच्छिया**—कामभोगों में मूर्च्छित, **वयंमूढा**—हम मूढ़ लोग भी, **रागद्दोसऽग्गिणा**—राग-द्वेष की अग्नि में, **डज्झमाणं जगं**—जलते हुए जगत् को, **न बुज्झामो**—नहीं समझ रहे हैं ॥४२-४३॥

(आत्मार्थी साधक) **भोगे भोच्चा**—भोगों को भोग कर **य**—और (यथावसर उन्हें), **वमित्ता**—त्याग कर, **लहुभूय-विहारिणो**—वायु की तरह अप्रतिवद्ध लघुभूत

होकर विचरण करते हैं। **कामकमादिया इव**—अपनी इच्छानुसार विचरण करने वाले पक्षियों (द्विजों) की तरह; **आमोयमाणा**—आमोद करते हुए वे (प्रसन्नतापूर्वक) **गच्छन्ति**—स्वतंत्र विहार करते हैं ॥४४॥

अज्ज—हे आर्य ! **मम हत्थमागया**—मेरे और आपके हाथ में आए हुए, तथा, **बद्धा**—अनेक विध उपायों द्वारा (रक्षित नियन्त्रित किये हुए) **इमे**—ये शब्दादि कामभोग, **फंदंति**—(अस्थिर स्वभाव होने से) क्षणिक है। **वयं च**—(अभी) और हम, **कामेसु**—(इन अस्थिर) विषयभोगों में, **सत्ता**—आसक्त हैं। (किन्तु), **जहा इमे**—जैसे ये पुरोहित परिवार के लोग, (बन्धनमुक्त हुए) हैं वैसे ही हम भी, **भविस्सामो**—होंगे ॥४५॥

सामिसं कुललं—मांस को दबाये हुए पक्षी को, **बज्झमाणं दिस्स**—(अन्य मांसलोलुपी पक्षियों द्वारा) पीड़ित किये जाते हुए (तथा), **निरामिसं**—निरामिष (मांस रहित होने पर उसी को निराकुल) **दिस्स**—देखकर, (मैं भी), **सव्वं आमिसं**—आमिष अर्थात्—मांसोपम सब शब्दादि कामभोगों को, **उज्झित्ता**—छोड़कर, **निरामिसा**—भोगरूप आमिष से रहित हो, **विहरिस्सामि**—विचरण करूंगी ॥४६॥

संसारवड्ढणे—संसार बढ़ाने वाले, **कामे**—कामभोगों को, **गिद्धोवमे**—गीध के समान, **नच्चाणं**—जान कर उनसे, **तु**—तो वैसे ही, **संकमाणो**—शंकित होकर **तणु चरे**—यतनापूर्वक चलना चाहिए, **व**—जैसे कि, **सुवण्णपासे**—गरुड़ के समीप, **उरगो**—सांप, (शंकित होकर चलता है।) ॥४७॥

व—जैसे, **नागो**—हाथी, **बंधणं छित्ता**—बन्धन को तोड़कर, **अप्पणो**—अपने, **वसहिं**—निवास स्थान (विंध्याटवी) में, **वए**—चला जाता है, वैसे ही हमें भी, **अप्पणो वसहिं**—(कर्मबन्धनों को काटकर) अपने स्वस्थान—मोक्ष में चलना चाहिए। **महाराय उसुयारि** !—हे महाराज इषुकार !, **एयं पत्थं**—यही एकमात्र श्रेयस्कर (पथ्य) है, **त्ति**—ऐसा, **मे सुयं**—मैंने ज्ञानी मुनिराजों से सुना है ॥४८॥

भावार्थ—अपने पुत्रों और पत्नी के साथ भृगुपुरोहित ने भोगों का त्याग कर अभिनिष्क्रमण किया है, यह सुन कर उस कुटुम्ब की प्रचुर और श्रेष्ठ धन सम्पत्ति की चाह रखने वाले राजा इषुकार को रानी कमलावती ने कहा—॥३७॥

(कमलावती रानी-) "राजन् ! ब्राह्मण के द्वारा परित्यक्त धन को तुम ग्रहण करना चाहते हो. किन्तु लोक में वमन किये हुए पदार्थ को खाने वाला पुरुष प्रशंसनीय नहीं होता" ॥३८॥

"यदि सारा जगत् और जगत् का सारा धन तुम्हारा हो जाए, तो भी वह सब तुम्हारे लिए अपर्याप्त ही होगा। और वह धन भी तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकेगा" ॥३९॥

"राजन् ! एक दिन मनोरम कामभोगों को छोड़कर जब मरोगे, तब एकमात्र धर्म ही रक्षक होगा। हे नरदेव ! इस संसार में इस मृत्यु के अवसर पर धर्म के अतिरिक्त और कोई रक्षा करने वाला नहीं है" ॥४०॥

"जैसे पींजरे में बंद हुई पक्षिणी सुख का अनुभव नहीं करती, उसी तरह मैं भी इस राजप्रसाद या भवरूपी पींजरे में आनन्द का अनुभव नहीं करती। अतः अब मैं पारिवारिक स्नेह बन्धनों को तोड़ कर अकिंचन, सरल, शब्दादि विषयभोगों में अनासक्त तथा परिग्रह और आरम्भ के दोषों से निवृत्त होकर मुनिधर्म का आचरण करूंगी" ॥४१॥

"जैसे वन में लगे हुए दावानल में जलते हुए प्राणियों को देख कर अन्य जीव रागद्वेष के वशीभूत होकर प्रमुदित होते हैं, उसी प्रकार कामभोगों में मूर्च्छित हम मूढ़ लोग भी राग-द्वेष की अग्नि में जलते हुए जगत् को नहीं समझ रहे हैं ॥४२—४३॥"

"आत्मार्थी साधक भोगों को भोगकर और यथावसर उनका त्याग कर वायु की तरह अप्रतिबद्ध और लघुभूत होकर विचरण करते हैं। स्वेच्छानुसार विचरण करने वाले पक्षियों की तरह आमोद (प्रसन्नता) का अनुभव करते हुए स्वतंत्र विहार करते हैं।" ॥४४॥

"हे आर्य ! मेरे और आपके हाथ में आए हुए तथा अनेकविध उपायों द्वारा नियंत्रित किये हुए ये शब्दादि कामभोग वस्तुतः क्षणिक हैं। अभी हम इन अस्थिर कामभोगो में आसक्त हैं, किन्तु जैसे पुरोहित परिवार के लोग बन्धनमुक्त हुए हैं, वैसे ही हम भी बंधन मुक्त होंगे" ॥४५॥

"मुख में मांस को दबाए हुए पक्षी को, अन्य मांसलोलुप पक्षियों द्वारा पीड़ित किये जाते हुए तथा निरामिष (मांस से रहित होने पर उसी) पक्षी को (निराकुल) देखकर मैं भी मांसोपम सभी काम-भोगों को छोड़कर भोगरूप आमिष से रहित होकर विचरण करूंगी" ॥४६॥

"संसार को बढ़ाने वाले कामभोगों को गीध के समान जानकर उनसे वैसे ही शंकित होकर यतनापूर्वक चलना चाहिए, जैसे कि गरुड़ के पास सांप (शंकित होकर चलता है)" ॥४७॥

"जैसे हाथी बन्धन को तोड़कर अपने निवास स्थान में चला जाता है, वैसे ही हमें भी अपने ज्ञानावरणीयादि कर्म-बन्धनों को काटकर अपने स्व-स्थान—मोक्ष में चला जाना चाहिए। हे महाराज इषुकार ! यही एकमात्र श्रेयस्कर है, ऐसा मैंने ज्ञानियों से सुना है" ॥४८॥

कठिन शब्दों के अर्थ—निरामिसं—गाथा ४१ के तृतीय चरण में **'आमिष'** शब्द भोगों की आसक्ति के अर्थ में तथा गाथा ४६ में **आमिष** शब्द 'मांस' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। देखें शान्त्याचार्य कृत टीका पत्र ४०९-१०।

टीकाकार के अनुसार **लघुभूत** के दो अर्थ होते हैं—(१) वायु की तरह अप्रतिबद्धविहारी, (२) तथा संयमशील होने से क्रोधादि उपधि से हलके होकर विहार करना!

राजा और रानी प्रबुद्ध होकर दीक्षा के लिए तैयार हुए—

मूल—चइत्ता विउलं रज्जं, कामभोगे य दुच्चए।
निव्विसया निरामिसा, निन्नेहा निप्परिग्गहा ॥४९॥

सम्मं धम्मं वियाणित्ता, चिच्चा कामगुणे वरे।
तवं पगिज्झऽक्खायं, घोरं घोरपरक्कमा ॥५०॥

छाया—त्यक्त्वा विपुलं राज्यं, कामभोगांश्च दुस्त्यजान्।
निर्विषयौ निरामिषौ, निःस्नेहौ निष्परिग्रहौ ॥४९॥

सम्यग्धर्मं विज्ञाय, त्यक्त्वा कामगुणान् वरान्।
तपः प्रगृह्य यथाख्यातं, घोरं घोरपराक्रमौ ॥५०॥

पद्यानुवाद—राजा रानी विपुल राज्य, और कामभोग दुस्त्यज तज कर।
निर्विषय निरामिष स्नेहहीन, हो गए जगत् बन्धन से पर ॥४९॥

वे सम्यग्धर्म—स्वरूपजान, उत्तम भोगों को तज करके।
जिन-कथित घोर तप धार लिए, पौरुष दृढ़मनमें धरकरके ॥५०॥

अन्वयार्थ—**विउलं**—विशाल, **रज्जं**—राज्य को, **य**—और, **दुच्चए कामभोगे**—दुस्त्यज कामभोगों को, **चइत्ता**—छोड़कर, (राजा और रानी), **निव्विसया**—निर्विषय, **निरामिसा**—निरामिष, **निन्नेहा**—निःस्नेह (और) **निप्परिग्गहा**—निष्परिग्रह हो गए ॥४९॥

धम्मं—धर्म (श्रुत—चारित्ररूपधर्म) को, **सम्मं**—सम्यक् रूप से, **वियाणित्ता**—जानकर, **वरे कामगुणे**—उपलब्ध श्रेष्ठ कामगुणो (विषय-भोगों) को, **चिच्चा**—छोड़कर (दोनों ही) **अहऽक्खायं**—जिस प्रकार तीर्थंकरों ने उपदेश दिया उसी अनुसार, **घोरं तवं**—घोर तप को, **पगिज्झ**—अंगीकार करके, **घोरपरक्कमा**—संयम में घोर पराक्रमी बने ॥५०॥

भावार्थ—विशाल राज्य को और दुस्त्यज कामभोगों का परित्याग कर राजा और रानी भी विषयों की आसक्ति से रहित, आमिष अर्थात्—आकांक्षा, से रहित, निःस्नेह--स्वजनादिसंग से रहित, एवं बाह्याभ्यन्तर-परिग्रह से मुक्त हो गए ॥४९॥

सम्यक् रूप से श्रुत—चारित्र धर्म को जानकर उपलब्ध श्रेष्ठ काम-भोगों को छोड़कर, दोनों ही यथाख्यात घोर तप को स्वीकार कर संयम में घोर पराक्रमी बने ॥५०॥

छह व्यक्तियों द्वारा विरक्ति, दीक्षा और मुक्ति प्राप्ति—

मूल—एवं ते कमसो बुद्धा, सव्वेधम्म-परायणा ।
जम्म-मच्चु-भउव्विग्गा, दुक्खस्संतगवेसिणो ॥५१॥

सासणे विगयमोहाणं, पुव्विं भावण-भाविया ।
अचिरेणेव कालेण, दुक्खस्संतमुवागया ॥५२॥

राया सह देवीए, माहणो य पुरोहिओ ।
माहणी दारगा चेव, सव्वे ते परिनिव्वुडे ॥५३॥
—त्ति बेमि ।

छाया—एवं ते क्रमशो बुद्धाः, सर्वे धर्म—परायणाः ।
जन्म—मृत्यु—भयोद्विग्नाः, दुःखस्यान्तगवेषिणः ॥५१॥

शासने विगतमोहानां, पूर्वं भावना—भाविताः ।
अचिरेणैव कालेन, दुःखस्यान्तमुपागताः ॥५२॥

राजा सह देव्या, ब्राह्मणश्च पुरोहितः ।
ब्राह्मणी दारकौ चैव, सर्वे ते परिनिर्वृताः ॥५३॥
—इति ब्रवीमि ।

पद्यानुवाद—यों देवदत्त आदिक क्रम से, सब धर्मपरायण बुद्ध हुए ।
हो जन्म-मरण-भय से विह्वल, दुःखान्त-शोध-सन्नद्ध हुए ॥५१॥
अर्हत्—शासन मोह त्याग, वे पूर्व-भावना-भावित जन ।
कर गए अन्त सब दुःखों का, कर अल्पकाल में मुक्तिगमन ॥५२॥

राजा रानी के संग चला, पत्नी-संग विप्र पुरोहित भी ।
युग-पुत्र लगे पहले शिवपथ, हुए दुःख से मुक्त सभी ॥५३॥

अन्वयार्थ—**एवं**—इस प्रकार, **ते सव्वे**—वे सब, **कमसो**—क्रमशः, **बुद्धा**—प्रतिबुद्ध हुए, **धम्मपरायणा**—सभी धर्मपरायण बने, **जम्ममच्चुभउविग्गा**—जन्म और मृत्यु के भय से उद्विग्न हुए। **दुक्खस्संतगवेसिणो**—(अतः वे सब) दुःख के अन्त करने की गवेषणा—खोज में (लग गए।)॥५१॥

पुव्विं—जिन्होंने पूर्वजन्म में, **भावण-भाविया**—अनित्य-अशरण आदि भावनाओं से अपनी आत्मा को भावित किया था; **ते सव्वे**—वे सब, **राया सह देवीए**—राजा और रानी, **माहणो य पुरोहिओ**—ब्राह्मण-पुरोहित, **माहणी दारगा चेव**—उसकी पत्नी यशा ब्राह्मणी और उसके दोनों ही पुत्र, **सासणे**—वीतराग अर्हत्—शासन में, **विगय-मोहाणं**—मोह को दूर कर, **अचिरेणेव कालेण**—थोड़े ही समय में, **दुक्खस्संतमुवागया**—दुःख का अन्त कर गए (और) **परिनिव्वुडे**—मुक्त (परिनिर्वाण प्राप्त) हो गए ॥५२-५३॥ **त्ति बेमि**—ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—इस प्रकार वे सब प्रतिबुद्ध होकर सभी धर्मपरायण बने, एवं जन्म और मृत्यु के भय से उद्विग्न हुए। अतः वे सब दुःख का सर्वथा अन्त करने की खोज में लग गये ॥५१॥

जिन्होंने पूर्वजन्म में अनित्य आदि भावनाओं से अपनी आत्मा को भावित किया था, वे सब—राजा अपनी रानी के सहित, ब्राह्मण पुरोहित, उसकी पत्नी ब्राह्मणी यशा, और उसके दोनों ही पुत्र, अर्हत्-शासन में मोह को दूर कर थोड़े ही समय में, दुःख का सर्वथा अन्त पा गये और मुक्त हो गये ॥५२-५३॥

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विशेषार्थ—**दुक्खस्संतगवेसिणो** : विशेषार्थ—शारीरिक, मानसिक या आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक दुःखों का अन्त किस प्रकार होगा? इसकी खोज में तल्लीन बने हुए।

॥ इषुकारीय : चौदहवां अध्ययन समाप्त ॥

सभिक्षुक : पन्द्रहवां अध्ययन

[अध्ययन-सार]

इस अध्ययन का नाम—'सभिक्षुक' है। इसकी प्रत्येक गाथा के अन्त में 'स भिक्खू' (स भिक्षु:) पद आता है, इसलिए इस अध्ययन का नाम 'सभिक्षुक' रखा गया है। वस्तुतः इसमें सद्भिक्ष अथवा सच्चे भिक्षु के लक्षण दिये गये हैं।

भिक्षा प्राप्त करने का अधिकार उसी साधक को होता है, जो अपने घर-परिवार, धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद, तथा समस्त बाह्य परिग्रह को छोड़कर सर्वथा एकाकी एवं निसर्ग पर निर्भर होकर आकाशीवृत्ति या कापोतीवृत्ति से जीवन चलाता है। वही सच्चा भिक्षाजीवी है।

किन्तु भिक्षाजीवी अनगार बन जाने पर भी उसे अन्न, वस्त्र, मकान पात्र, तथा अन्य आवश्यक धर्मोपकरणों की आवश्यकता होती है, उसके लिए वह क्या करे और कैसे अपने संयमपथ पर निर्बाध होकर चले, इसके लिए प्रस्तुत अध्ययन में उन सब बाधक तत्वों को गिनाया है। जो भिक्षा जीवी निर्ग्रन्थ के मार्ग में पद-पद पर आते हैं और जिनसे निरपेक्ष रहकर या जिन्हें त्यागकर संयमी को अपने आग्नेयपथ पर चलना होता है।

सर्वप्रथम वह भिक्षु जीवन में बाधक माया, निदान और सांसारिक भूतपूर्व सम्बन्धियों से संस्तव एवं काम-कामना का त्याग करता है, इतना निःस्पृह और साथ ही अप्रतिबद्धविहारी होकर वह परिचितों या अति-भक्तिशील गृहस्थों के यहाँ प्रायः आहार-पानी न लेकर अज्ञात-अपरिचित घरों से ही आहार पानी की गवेषणा करता है। वह रात्रिभोजन या रात्रि भिक्षा नहीं करता, न ही मनोज्ञ सचित्त या अचित्त किसी पदार्थ में आसक्त होता है। भिक्षाजीवी रहते हुए अनेक परीषह या उपसर्ग आते हैं, परन्तु प्राज्ञ शास्त्रज्ञ एवं समदर्शी साधक असंयम से विरत होकर आत्मा की रक्षा करता हुआ विचरण करता है। भिक्षा करते समय उसे आक्रोश, वध, अलाभ,

क्षुधा-पिपासा, शीतोष्ण, दंश-मशक आदि कई परीषहों का सामना करना पड़ता है। किन्तु वह प्रतिकूल परिस्थिति में व्यथित नहीं होता और न अनुकूल परिस्थिति गें हर्षित नही होता है। समभावपूर्वक सब कुछ सहता है। वह सत्कार, सम्मान, पूजा प्रतिष्ठा, वन्दना प्रशंसा आदि को कतई नहीं चाहता, न ही उसके लिए विज्ञापन करता है। उसके तप, संयम, व्रत, ज्ञान-दर्शन, आचार आदि सब सत्कार, पूजा आदि की दृष्टि से नहीं होते वह अपनी आत्मशुद्धि के लिए ही इन्हें करता हैं। जिन कारणों से या जिन स्त्री-पुरुषों के संग से संयमी जीवन छूट जाय और किसी भी प्रकार के मोहनीय कर्म का बंध होता हो, उससे वह दूर रहता है। वह अपना जीवननिर्वाह किसी भी प्रकार की विद्या, मंत्र, मूल, शिल्प, वैद्यक, वमन, विरेचन, नेत्रांजन, स्नान आदि बताकर या उसका प्रयोग करके नहीं करता। और न ही जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुओं के लिए किसी भी शासक, धनिक या शिल्पी की चाटुकारी करता है, नही ऐसे लोगों की प्रशंसा एवं पूजा करता कराता है। नहीं इहलौकिक फल की प्राप्ति के लिये वह दीक्षा के पूर्व और पश्चात् परिचित गृहस्थों से मेलजोल बढ़ाता है। यदि कोई गृहस्थ साधु के संयमीजीवन के लिए आवश्यक वस्तुएं होने पर भी नहीं देता या सर्वथा इन्कार कर देता है तो भिक्षु को उस पर द्वेषभाव रखना उचित नहीं है। एक वात और वाधक वनती है भिक्षाजीवी के जीवन में, कभी-कभी कई गृहस्थ भिक्षु से अपना कोई कार्य कराने या आशीर्वाद पाने के लिए सरस स्वादिष्ट आहारपानी का लालच देते हैं, परन्तु भिक्षाजीवी सच्चा भिक्षु शुद्ध आहार-पानी लेकर वदले में सांसारिक लोगों का किसी प्रकार का व्यावसायिक या गार्हस्थ्यसम्वन्धी कार्य नहीं करता, न ही आशीर्वाद देकर उपकार करता हैं। क्योंकि यह सौदेवाजी है, और सौदेवाजी से साधु का संयमीजीवन चौपट हो जाता है।

वह भिक्षा के लिए ऊँचे-ऊँचे या धनिकों के घर ताक-ताककर नहीं जाता, किन्तु अत्यन्त साधारण घरों में भी भिक्षाटन करता है, और वहाँ जो भी ओसामण, कांजी—जौ का पानो, ठंडा भोजन आदि नीरस तुच्छ पिण्ड मिल जाता है, उसे भी समभाव से लेकर उदरस्थ कर लेता है, किन्तु ऐसे नीरस आहार की या आहारदाता की निन्दा नहीं करता।

भिक्षाजीवी साधु देवों, मनुष्यों या तिर्यञ्चों के भयानक शब्दों से या अपमानजनक आक्रोश वचनों को सुनकर डरता या घबराता नहीं। न ही अनेकवादों को जानकर वह घबराता है। अपितु किसी को पीड़ित न करते

हुए समदर्शी होकर अपने संयम एवं धर्म में स्थिर, उपशान्त एवं शास्त्र के परमार्थ का गवेषक होकर रहता है, ऐसा प्राज्ञ साधक ही परिषहों को जीत पाता है।

अन्त में कहा गया है कि ऐसा भिक्षु जितेन्द्रिय, शत्रु-मित्र से रहित, गृहमुक्त, अप्रतिबद्ध, निस्पृह, मन्दकषायी, तथा नीरस किन्तु अल्पभोजी होता है। वह गृहवास छोड़कर एकमात्र संयम में ही रमण करता है।

कुल मिलाकर सद्भिक्षु के मुख्य-मुख्य एवं महत्वपूर्ण लक्षण प्रस्तुत अध्ययन में अंकित किये गए हैं। □

पन्नरसमं अज्झयणं : सभिक्खुयं

पन्द्रहवाँ अध्ययन : सभिक्षुक (सद्भिक्षु के लक्षण)

मौनचारी यावत् अज्ञातैषी—

मूल—मोणं चरिस्सामि समिच्च धम्मं,
सहिए उज्जुकडे नियाणछिन्ने ।
संथवं जहिज्ज अकामकामे,
अन्नायएसी परिव्वए जे स भिक्खू ॥१॥

छाया—मौनं चरिष्यामि समेत्य धर्म सहित ऋजुकृतश्छिन्न-निदानः ।
संस्तवं जह्यादकामकामः, अज्ञातैषी परिव्रजेद् यः स भिक्षुः ॥१॥

पद्या०—धर्म ज्ञातकर मुनिव्रत लूँगा, ऋजुक्रिय मुनि सह छिन्न-निदान ।
जग-परिचय तज कामरहित, अज्ञातगवेषी वह मुनि जान ॥१॥

अन्वयार्थ—**धम्मं**—धर्म को, **समिच्च**—स्वीकार कर, **मोणं**—मुनित्व-मुनिभाव का, **चरिस्सामि**—आचरण करूंगा, (उक्त संकल्पपूर्वक) **जे**—जो, **सहिए**—अन्य स्थविर साधुओं के साथ एवं ज्ञानादि से युक्त रहता है; **उज्जुकडे**—जो सरलता से (मायारहित) क्रिया करता है, **नियाणछिन्ने**—जिसने निदानों का छेदन कर दिया है, **संथवं जहिज्ज**—जो पूर्व-सांसारिक सम्बन्धियों से परिचय का त्याग करता है, **अकाम-कामी**—तथा जो कामभोगों की कामना से रहित है, **अन्नायएसी**—अपनी जाति तप आदि को परिचय दिये बिना अज्ञातरूप में कुलों (घरों) से जो भिक्षा की गवेपणा करता है, और **परिव्वए**—जो अप्रतिबद्ध-भाव से विहार करता है, **स भिक्खु**—वही भिक्षु है—सद्भिक्षु है ॥१॥

भावार्थ—"धर्म को स्वीकार कर मुनि भाव का आचरण करूंगा", इस प्रकार के संकल्पपूर्वक जो अन्य स्थविर मुनियों के साथ रहता है, तथा ज्ञानादि गुणों से युक्त रहकर जो सरलता से क्रिया करता है, जिसने निदानों, का छेद=त्याग कर दिया है, जो सांसारिक सम्बन्धियों से परिचय=संसर्ग का त्याग करता है, जो कामभोगों की वांछा नहीं करता, जो अपरिचित रूप से घरों में प्रवेश कर आहार-पानी की गवेषणा करता है, तथा जो अप्रतिबद्ध होकर विहार करता है, वही (वास्तविक) भिक्षु (सद्भिक्षु) है ॥१॥

विवेचन—भिक्षुत्व की चतुर्भंगी और सद्भिक्षुत्व—वृत्तिकार ने भिक्षुत्व की चतुर्भंगी बताई है—(१) सिंहरूप से प्रव्रज्या ग्रहण करना, और सिंहरूप से ही उसका पालन करना, (२) सिंहरूप से प्रव्रज्या ग्रहण करना, किंतु शृगालरूप से उसका पालन करना, (३) शृगालरूप से दीक्षा ग्रहण करना किंतु सिंहरूप से उसका पालन करना, और (४) शृगालरूप से प्रव्रज्या लेना और शृगालरूप से ही उसका पालन करना। इस चतुर्भंगी में सर्वोत्तम भंग है—सिंहरूप से प्रव्रजित होना और सिंहरूप से ही निरतिचारपूर्वक उसका पालन करना। यही सद्भिक्षु या वास्तविक भिक्षु का लक्षण है।

समिच्च धम्मं :—(१)क्षमा आदि दशविध श्रमण-धर्म को पाकर (२) श्रुत चारित्ररूप धर्म को स्वीकार कर, और (३) पंच-महाव्रतरूप धर्म (दीक्षा) को ग्रहण कर।

मोणं—दो अर्थ—(१) मुनियों का कर्म या भाव, (२) मुनि धर्म=श्रामण्य।

सहिए : दो रूप : तीन अर्थ—(१) सहित :—जो बहुश्रुत स्थविर साधुओं के साथ रहता है एकाकी नहीं रहता[1] (२) सहित :—जो ज्ञान-दर्शनादि गुणों से युक्त है,[2] अथवा (३) स्वहित—जो स्वहित में तत्पर हो, =आत्महिता-भिलाषी हो।[3]

उज्जुकडे : ऋजुकृत : दो अर्थ—(१) जो सरलता से क्रिया करता है, (२) मायारहित होकर सरलता से जो तप करता है।

अन्नायएसी : दो अर्थ—(१) अपनी जाति आदि का परिचय दिये बिना ही जो आहारादि की एषणा करता है। (२) जिन कुलों में साधु के जाति कुल, तप-नियमादि गुणों का परिचय नहीं है, उन अज्ञात-अपरिचित घरों से भिक्षा की गवेषणा करता है।

रागविरत यावत् मूर्च्छारहित—

मूल—राओवरयं चरेज्ज लाढे,
विरए वेयवियाऽऽयरक्खिए।
पन्ने अभिभूय सव्वदंसी,
जे कम्हिवि न मुच्छिए स भिक्खू ॥२॥

---

१. आचार्य नेमिचन्द्र : सुखबोधा, पत्र २१४
२. उत्तरा. चूर्णि पृ २३४
३ बृहद्वृत्ति पत्र ४१४

पंतं सयणासणं भइत्ता,
सीउण्हं विविहं च दंसमसगं ।
अव्वग्गमणे असंपहिट्ठे,
जे कसिणं अहियासए स भिक्खू ॥३॥

छाया—आक्रोश-वधं विदित्वा धीरः,
मुनिश्चरेद् लाढ़े नित्यमात्मगुप्तः ।
अव्यग्रमना असम्प्रहृष्टः,
यः कृत्स्नमध्यास्ते स भिक्षुः ॥३॥

प्रान्तं शयनासनं भुक्त्वा,
शीतोष्णं विविधं च दंश-मशकम् ।
अव्यग्रमना असम्प्रहृष्टः,
यः कृत्स्नमध्यास्ते स भिक्षुः ॥४॥

पद्यानुवाद—आक्रोश-वधाधिक जान हृदय,
मुनि आत्मवशी ले कर्म निदान ।
तज हर्ष-शोक सब सहन करे,
हो धीर शान्त मन, वह मुनि जान ॥३॥

तुच्छ शयन आसन पाकर,
शीतोष्ण दंश का कष्ट महान् ।
जो व्यग्र और ना हृष्ट बने,
अति सहे कष्ट, लो वह मुनि जान ॥४॥

अन्वयार्थ—अक्कोस-वहं—आक्रोश=कठोरवचन एवं वध=मारपीट को, विइत्तु—(अपने कृत कर्मों का फल) जानकर, धीरे मुणी—धीर साधु, लाढे—संयम में तत्पर या प्रसन्न रहता है, निच्चमायगुत्ते—जो सदा असंयमस्थानों या आश्रवों से अपनी आत्मा का रक्षण कर विचरता है, अव्वग्गमणे—जिसका मन व्यग्र—अशुभध्यान में लीन या व्याकुल नहीं है। असंपहिट्ठे—जो दूसरों पर आक्रोश करने या किसी पर कोई आक्रोश कराने में स्वयं हर्ष नहीं करता है, जे—जो (समभाव से), कसिणं—सब कुछ, अहियासए—सहन करता है, स भिक्खू—वह भिक्षु है ॥३॥

जे—जो, पंतं सयणमासणं—प्रान्त=निःसार=तुच्छ, शयन तथा आसन उपलक्षण से भोजन, आच्छादन, वस्त्र आदि, समभाव से, भइत्ता—स्वीकार

करता है। **विविहं**—विविध प्रकार के, **सी उण्हं**—शीत, उष्ण, (तथा), **दंसमसगं**—डांस-मच्छर आदि के अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों एवं परीषहों में, **अव्वग्गमणे असंपहिट्ठे**—जो व्याकुलचित्त (व्यथित) और हर्षित नहीं होता। **जे कसिणं अहियासए**—जो सब कुछ (समभाव से) सह लेता है, **सः भिक्खू**—वह भिक्षु है ।।४।।

भावार्थ—कठोर वचन और मारपीट को स्वीकृत कर्मों का फल जानकर धीर मुनि संयम में प्रसन्न रहता है, जो असंयमस्थानों से नित्य अपनी आत्मा का रक्षक होकर विचरता है। जिसका मन अव्यग्र=अशुभध्यान में लीन नहीं हैं, जो हर्षातिरेक से रहित है, जो समभाव से सब कुछ सहन करता है, वह भिक्षु है ।।३।।

जो तुच्छ आसन और शयन को स्वीकार कर लेता है, सर्दी-गर्मी एवं डांस मच्छर आदि के उपसर्गों और परिषहों में जिसका मन अव्यग्र-आकुलता रहित रहता है, तथा अनुकूल संयोग में हर्षित नहीं होता एवं समभाव से जो सब कुछ सहन कर लेता है, वह भिक्षु है ।।४।।

सत्कारादि न चाहने वाला यावत् आत्मगवेषक—

मूल—नो सक्कियमिच्छई न पूयं,
नो विय वन्दणगं कुओ पसंसं।
से संजए सुव्वए तवस्सी,
सहिए आयगवेसए स भिक्खू ।।५।।

छाया—नो सत्कृतमिच्छति न पूजां,
नो अपि च वन्दनकं कुतः प्रशंसाम्।
स संयतः सुव्रतस्तपस्वी,
सहित आत्मगवेषकः सभिक्षुः ।।५।।

पद्यानुवाद—महिमा पूजा की चाह नहीं,
जिसको न ख्याति वन्दन का ध्यान।
वह व्रती, तपी, संयत, ज्ञानी,
आत्मान्वेषी है श्रमण महान् ।।५।।

अन्वयार्थ—(जो) **सक्कियं**—सत्कार, **नो**—नहीं, **इच्छइ**—चाहता, **न पूयं**—न ही पूजा (चाहता है), **नो विय वंदणगं**—और न ही वन्दन तक (चाहता है), (तो फिर) **कुओ पसंसं**—प्रशंसा कैसे चाहेगा? **से**—जो, **संजए**—संयत, **सुव्वए**—सुव्रती,

तवस्सी—तपस्वी, सहिए—ज्ञान-दर्शन चारित्र से युक्त (और), आयगवेसए—आत्मा की गवेषणा (खोज) करता है, स—वह भिक्खू—भिक्षु है ॥५॥

भावार्थ—जो साधक सत्कार, पूजा और वन्दना नहीं चाहता है, वह प्रशंसा कैसे चाहेगा ? अतः जो संयत, सुव्रती, तपस्वी, सहित एवं आत्म-गवेषक है वही सद्भिक्षु है ॥५॥

विवेचन—सत्कार पूजा, वन्दना और प्रशंसा की चाहः आत्मार्थी के लिए ये चारों बातें बाधक हैं। **सत्कार की चाह** का अर्थ है—स्वयं जिस गांव या नगर में पहुँचे वहाँ का जनसमूह बड़ी संख्या में स्वागत के लिए सामने आए, सभा में प्रवेश करते ही लोग खड़े होकर आदर दें, जय-जयकार करें तथा विहार करे तब दूर-दूर तक लोग पहुँचाने आएँ, ऐसी इच्छा रखना। **पूजा की चाह** का अर्थ है—लोग सुन्दर वस्त्र, पात्र, सरस स्वादिष्ट आहार आदि से सम्मानित करें, ऐसी चाह। **वन्दन की इच्छा** का अर्थ है—लोग मुझे देखते ही द्वादशावर्त पूर्वक या 'तिक्खुत्तो' के पाठ से वन्दना करें। नमन करें। **प्रशंसा की चाह** का अर्थ है—दूर-दूर तक लोग मेरी तथा मेरे कार्यों एवं गुणों की सराहना करें, जन-जन में मेरी प्रसिद्धि हो, लोगों की जवान पर मेरा नाम चढ़ जाए, ऐसी आकांक्षा रखना। निःस्पृही साधु के लिए ये सब परभाव हैं, संयम में बाधक हैं, अतः जिसे इनकी चाह नहीं हो, वही भिक्षु सच्चा व्रती, तपस्वी, संयमी, सम्यग्ज्ञान-दर्शन सम्पन्न एवं आत्म-गवेषी है।

सहिएः तीन अर्थ—(१) ज्ञान-दर्शन से युक्त, (२) निर्मल आचार से युक्त अथवा (३) सर्वजीवों का हितान्वेषी।

आयगवेसएः आत्मगवेषकः विशेषार्थ—जो कर्ममल को दूर करके शुद्ध आत्मा का गवेषक रहकर तप करता है।

निष्कर्ष—सद्भिक्षु प्रशंसा, वन्दना, पूजा, सत्कार आदि के लिए न तो संयम पालन करता है, न व्रताचरण करता है, न तप करता है और न ही ज्ञानदर्शनयुक्त आचार का पालन करता है। वह एकमात्र अपनी आत्मा पर चढ़े हुए कर्ममलों के आवरण को दूर करके आत्मशुद्धि के लिए ही संयम, व्रत, तप आदि करता है।

असंयमी जीवन-त्यागी यावत् कुतूहल रहित—

मूल—जेण पुण जहाइ जीवियं, मोहं वा कसिणं नियच्छई।
नरनारिं पजहे सया तवस्सी, न य कोऊहलं उवेइ स भिक्खू ॥६॥

विवेचन—प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि संयमी साधु विविध लौकिक विद्याओं का अपनी जीविका चलाने में उपयोग नहीं करे। विद्वान साधु अनेक प्रकार की विद्याओं का ज्ञाता होता है, परतीर्थिओं से मुकावले में कभी इनका उपयोग होता है। पर वह जीविका चलाने में, लोगों को आश्चर्य-चकित करने के लिये इनका उपयोग नहीं करता, क्योंकि वह इनको पाप सूत्र मानता हैं। यहाँ दश प्रकार की विद्याएँ बताई गई हैं; जैसे—

१. **छिन्नविद्या**—वस्त्र या पात्र के कटे भाग एवं छिद्र को देखकर शुभाशुभ का ज्ञान करना।

२. **स्वरविद्या**—षड्ज आदि स्वरों से मनुष्य की पहचान करना या संगीत के स्वर को पहचानना, प्रकारान्तर से नासिका के वाम—दक्षिण भाग से चलने वाली वायु से तीन नाड़िओं में से कौनसी नाड़ी चल रही है और कौनसी नाड़ी में कौन सा कार्य करना लाभकारी होता है, इसका ज्ञान करना स्वर विद्या है।

३. **भौमविद्या**—भूमि में कहाँ, कौनसी वस्तु मिल सकती है ? कहाँ कैसी कृषि हो सकती है। आदि रूप से भूमि का लाभा-लाभ रूप समझना।

४. **अन्तरिक्षविद्या**—आकाश के ग्रह, नक्षत्र और तारों की गति से वर्ष और समय का शुभाशुभ रूप जानना।

५. **स्वप्नविद्या**—स्वप्न के द्वारा शुभाशुभ फलों का जिससे ज्ञान हो, वह स्वप्नविद्या है।

६. **लक्षणशास्त्र**—इसके द्वारा स्त्री, पुरुष और हाथी-घोड़े आदि के शरीरस्थ मप-तिलक और रेखाओं से शुभाशुभ जाना जाता है।

७. **दण्डविद्या**—दण्ड कैसा लाभकारी होता है, कितनी गांठ वाला क्या फल देता है, इत्यादि जानकारी देने वाली दण्ड विद्या।

८. **वास्तुविद्या**—भवन-निर्माण सम्बन्धी जानकारी, मकान का मुख किधर रखना, कहां रसोई घर, शयन घर, आदि कहाँ करना शुभ और कहां अशुभ होगा, इसकी जानकारी करना।

९. **अंग विचारविद्या**—हाथ, पाँव, आँख, ललाट आदि अंगों के स्फुरण के शुभाशुभ फल का विचार करना।

१०. **स्वर विचय**—तीतर, कोचरी आदि पशु पक्षिओं की आवाज से शुभाशुभ फल बताने वाली विद्या। इत्यादि विद्याओं से जीविका नहीं चलाता

वह भिक्षु है। संयमी साधु को मुधाजीवी कहा गया है। वह गृहस्थ का कार्य करके या लोभ-लालच बताकर उनके बल से भिक्षा प्राप्त नहीं करता। साधु के लिए दशवैकालिक सूत्र (८/५१) में कहा गया है कि मुनि नक्षत्र, स्वप्न, योग—दो वस्तुओं का संयोग, भूत-भविष्य के निमित्त मंत्र और भैषज्य—औषध स्वयं जानकर भी गृहस्थ को नहीं बतावे। इससे प्रतीत होता है कि मुनि के लिये इन विद्याओं को जानना और संघहित के लिये शिष्यादि को बताना निषिद्ध नहीं है। फिर आगे इसी विषय को स्पष्ट करते हैं—

मंत्रादि से चिकित्सा न करने वाला—

मूल—मन्तं मूलं विविहं वेज्जचिन्तं,
वमण-विरेयण-धूमणेत्त-सिणाणं।
आउरे सरणं तिगिच्छियं च,
तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू ॥८॥

छाया—मन्त्रं मूलं विविधां वैद्यचिन्तां, वमन विरेचन धूमनेत्र स्नानम्।
आतुरे शरणं चिकित्सितं च, तत्परिज्ञाय परिव्रजेत् स भिक्षुः ॥८॥

पद्यानुवाद—मंत्र मूल बहु वैद्यक चिन्ता, धूमनेत्र वान्ति वा स्नान।
रोग चिकित्सा आर्त स्मरण तज, चले त्याग पर श्रमण महान् ॥८॥

अन्वयार्थ—मंतं—(विविध देवाराधन से सिद्ध होने वाले विविध मन्त्र, **मूलं**—(जड़ी बूटी आदि), **विविहं वेज्जचिंतं**—(आयुर्वेद आदि) विविध विद्याओं का चिन्तन, **वमण-विरेयणं-धूम-णेत्त-सिणाणं**—वमन, विरेचन, धूम, नेत्रांजन (सुरमा), तथा स्नान, **आउरे सरणं**—रोगादिपीड़ित होने पर माता आदि सम्बन्धियों का स्मरण, **च तिगिच्छियं**—और चिकित्सा, **तं परिन्नाय**—इन सबको ज्ञपरिज्ञा से सदोष जानकर तथा प्रत्याख्यानपरिज्ञा से अपने या दूसरों के लिए त्याग कर (जो) **परिव्वए**—(अप्रतिबद्धभाव से साधुमार्ग में) विचरण करता है, **स भिक्खू**—वह भिक्षुक है ॥८॥

भावार्थ—मंत्र, मूल, विविध विद्याओं का चिन्तन, वमन, विरेचन, धूम, नेत्रांजन, स्नान एवं रोगादि से आतुर होने पर माता आदि का स्मरण तथा चिकित्सा आदि को स्वरूप से जानकर इनका त्याग करके जो (अप्रतिबद्ध होकर) विचरण करता है, वह भिक्षु है ॥८॥

क्षत्रियादि की श्लाघा करने वाला—

मूल—खत्तिय गण-उग्गराय पुत्ता,
माहण भोइय विविहा य सिप्पिणो ।
नो तेसिं वयइ सिलोग-पूयं,
तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू ॥९॥

छाया— क्षत्रिय-गणोग्रराजपुत्राः ब्राह्मण-भोगिका विविधाश्च शिल्पिनः ।
नो तेषां वदति श्लोक पूजे, तत्परिज्ञाय परिव्रजेत् स भिक्षुः ॥९॥

पद्यानुवाद—क्षत्रिय, माहण, राजपुत्र, गण-उग्र विविध शिल्पी लो जान ।
उनकी महिमा ना ख्याति करे, वह त्यागी जानो श्रमण महान् ॥९॥

अन्वयार्थ—**खत्तिय-गण-उग्ग-रायपुत्ता**—क्षत्रिय राजा, मल्ल आदि गण, उग्र-(आरक्षकादि) राजपुत्र (राजकुमार) (तथा) **माहण**—ब्राह्मण, **भोइय**—भोगिक, **य**—और, **विविहा य सिप्पिणो**—विविध प्रकार के जो शिल्पी हैं, **तेसिं**—उनकी, **सिलोगपूयं**—श्लोक=प्रशंसा और वस्त्रादि से सम्मान के रूप—पूजा (के विषय) में, **नो वयइ**—(कभी कुछ भी) नहीं कहता, (किन्तु) **तं परिन्नाय**—इसे त्याज्य जान त्याग करके, **परिव्वए**—विचरता है, **स भिक्खू**—वह भिक्षु है ॥९॥

भावार्थ—क्षत्रिय, गण, उग्र राजपुत्र, ब्राह्मण और भोगिक (सामन्त) तथा विविध प्रकार के शिल्पियों आदि की प्रशंसा और दुशाले आदि से सम्मान पूजा के विषय में जो कभी कुछ भी नहीं कहता, इसे हेय समझ-कर त्याग करके विचरण करता है, वह भिक्षु है ॥९॥

विवेचन—पिछली दो गाथाओं में साधु के लिये बताया कि वह विद्याएँ बताकर आहार आदि प्राप्त नहीं करे । तथा मंत्र मूल विविध वैद्य-कीय विचार सदोष जानकर छोड़ दे । क्योंकि मंत्र मूल विद्याएँ बताने से छोटे-बड़े जीवों का आरम्भ और संयम साधना में विक्षेप होना सम्भव है । साधु की निशुल्क चिकित्सा का लाभ उठाने को स्त्री-पुरुषों की भीड़ लगी रहेगी, इससे संयमी का ज्ञान, ध्यान बराबर नहीं हो पायेगा अतः सदोष जानकर विद्या आदि का वर्णन करे ।

गृहस्थों से अतिपरिचय का निषेध—

मूल—गिहिणो जे पव्वइएण दिट्ठा,
अप्पव्वइएण व संथुया हविज्जा ।
तेसिं इह लोइय-फलट्ठा,
जो संथवं न करेइ स भिक्खू ॥१०॥

छाया—गृहिणो ये प्रव्रजितेन दृष्टाः,
अप्रव्रजितेन च संस्तुता भवेयुः।
तेषामिह लौकिकफलार्थं,
यः संस्तवं न करोति स भिक्षुः ॥१०॥

पद्यानुवाद—दीक्षा लेने से पहले या पीछे,
परिचित या देखे हो मतिमान्।
उनका लौकिक फल पाने हित,
जो करे न संस्तव वह मुनि जान ॥१०॥

अन्वयार्थ—जे—जिन, गिहिणो—गृहस्थों को, पव्वइएण—प्रव्रजित होने के बाद, दिट्ठा—देखा (परिचय किया) है, व—अथवा, अपव्वइएण—प्रव्रज्या लेने से पहले (अप्रव्रजितावस्था में) (जो), संथुआ—परिचित, हविज्जा—हुए हों, तेसिं—उन गृहस्थों के साथ, इहलोइयफलट्ठा—इहलौकिक फल की प्राप्ति हेतु, जो—जो साधक, संथवं—संस्तव=अत्यधिक परिचय, न करेइ—नहीं करता; स भिक्खू—वह भिक्षु है ॥१०॥

भावार्थ—जो गृहस्थ दीक्षा लेने से पहले या पीछे देखे हुए या परिचित हो, उसके साथ इहलौकिक फल की प्राप्ति के लिए जो संसर्ग या मेल-जोल नहीं करता, वह भिक्षु है ॥१०॥

विवेचन—इहलोइयफलट्ठाः—इहलौकिक फल, अर्थात् गृहस्थों से वस्त्र, पात्र, सरस स्वादिष्ट आहार आदि प्राप्त होगे इसलिए।

गृहस्थों के साथ संस्तव से हानि—"संसर्गजा दोष गुणा भवन्ति", इस न्याय के अनुसार साधु गृहस्थों का अत्यधिक संसर्ग करेगा, तो उसमें राग वृद्धि होने से चारित्र के गुणों में हानि होने की संभावना होती है, अति संसर्ग से ज्ञानध्यान में विक्षेप पड़ेगा, जप-तप की साधना भंग होगी, कदाचित् संयम से पतन भी हो जाय, इसीलिए कहा गया है—गिहिसंथवं न कुज्जा, कुज्जा साहूहिं संथवं—अर्थात्—गृहस्थों से अधिक परिचय न करे, साधुओं के साथ ही परिचय करे, ताकि त्याग, तप, संयम में वृद्धि हो।

शयनादि के नहीं देने पर प्रद्वेष नहीं करे—

मूल—सयणासण - पाण - भोयणं,
विविहं खाइमं - साइमं परेसिं।
अदए पडिसेहिए नियंठे,
जे तत्थ न पउस्सई स भिक्खू ॥११॥

छाया—शयनासन - पान - भोजनं, विविधं खाद्यं-स्वाद्यं परेभ्यः ।
अदद्भ्यः प्रतिषिद्धो निर्ग्रन्थः, यस्तत्र न प्रदुष्यति स भिक्षुः ॥११॥

पद्यानुवाद—शयनासन भोजन पान विविध,
खादिम-स्वादिम ना करे प्रदान।
दाता मुनि को प्रतिषेध करे,
उन पर न कुपित जो वह मुनि जान ॥११॥

अन्वयार्थ—**सयणासण-पाण-भोयणं**—शयन, आसन, पान और भोजन (तथा) **विविहं**—विविध प्रकार के, **खाइमं साइमं**—खाद्य और स्वाद्य पदार्थ (कोई), **अदए**—न दे, **परेसिं**—गृहस्थों में होते हुए भी (मांगने पर भी), **पडिसेहिए**—निषेध करदे (तो) **जे नियंठे**—जो निर्ग्रन्थ, **तत्थ**—उन पर, **न पउस्सइ**—प्रद्वेष नहीं करता, **स भिक्खू**—वह भिक्षु है ॥११॥

भावार्थ—शयन, आसन, पान, भोजन तथा विविध प्रकार के खादिम स्वादिम पदार्थ अपने यहाँ होते हुए भी कोई गृहस्थ स्वयं न दे, अथवा माँगने पर भी इन्कार कर दे तो जो निर्ग्रन्थ उनके प्रति द्वेष नहीं रखता, वह भिक्षु है ॥११॥

विवेचन—गाथा की व्याख्या—कोई साधु किसी गृहस्थ के यहाँ गया। उस गृहस्थ के घर में प्रचुर शयनीय उपकरण हैं, मोदकादि अशन है, द्राक्षादि का पानक (पेय) भी है, नाना प्रकार के खजूर, खोपरा आदि, खादिम हैं, और इलायची, लौंग आदि स्वादिम पदार्थ भी हैं, परन्तु वह साधु को नहीं देता, सकारण माँगने पर भी इन्कार कर देता है, अथवा टाल-मटूल कर देता है या इस प्रकार से निषेध कर देता है कि अरे भिक्षु ! हमारे यहाँ मत आना, तो उसके इस वाक्य को सुनकर मन में द्वेषभाव न लाये कि धिक्कार है इस दुष्ट को कि घर में वस्तु होते हुए भी नहीं देता, अथवा मुझे मांगने पर इन्कार कर दिया। इस प्रकार जो द्वेष नहीं करता वही सद्-भिक्षु है।

आहारादि के बदले में गृहस्थों का कार्य न करने वाला—

मूल—जं किंचि आहार-पाणं विविहं,
खाइम-साइमं परेसिं लद्धुं।
जो तं तिविहेण नाणुकम्पे,
मण-वय-काय-सु संवुडे स भिक्खू ॥१२॥

छाया—यत् किंचिदाहार पानं विविधं, खाद्य-स्वाद्यं परेभ्यो लब्ध्वा।
य स्तेन त्रिविधेन नानुकम्पते, संवृत-मनो वाक्कायः स भिक्षुः ॥१२॥

पद्यानुवाद—जो अशन पान और खाद्य स्वाद्य,
यत्किंचित् गृही से कर आदान।
जो त्रिविध योग आशीष न दे,
संवृत योगी है वह मुनि जान ॥१२॥

अन्वयार्थ—**जो**—जो साधक, **परेसिं**—गृहस्थों से, **जं किंचि**—यत्किंचित्, **आहार-पाणं**—आहार और पानी (तथा) **विविहं**—विविध प्रकार का, **खाइम-साइमं**—खाद्य और स्वाद्य पदार्थ, **लद्धुं**—पाकर, **तं**—उन पर, **तिविहेण**—मन, वचन-काया से (त्रिविध प्रकार से), **नाणुकंपे**—अनुकम्पा नहीं करता (अर्थात् द्रव्य उपकार, नहीं करता, आशीर्वाद नहीं देता) (अपितु), **मण-वय-काय-सुसंवुडे**—मन, वचन और काया से सम्यक् प्रकार से संवृत रहता है, **स भिक्खू**—वह भिक्षु है ॥१२॥

भावार्थ—ज्ञान, दान, और जीवन शुद्धि के मार्ग में लगाना ही मुनि का गृहस्थों के प्रति उपकार है। भिक्षु थोड़ा लेकर अधिक से अधिक देता है। जो साधु गृहस्थों से जो कुछ भी आहार-पानी और नाना प्रकार के खाद्य-स्वाद्य पदार्थ प्राप्त करके मन-वचन एवं काया इन तीनों योगों के बदले में उन का कोई काम-उपकार (अनुकम्पा) नहीं करता, अपितु जो त्रिविधि योग से सुसंवृत होता है, वह भिक्षु है ॥१२॥

विवेचन—दो व्याख्याएँ—१. गृहस्थों से आहारादि प्राप्त करके बदले में उन्हें पुत्र-धन-लौकिक विद्यादि-प्राप्ति का आशीर्वाद नहीं देता, अथवा बदले में उनका कोई व्यवसायादि या गृहादि से सम्बन्धित कार्य करके उपकार नहीं करता। २. द्रव्य उपकार सावद्य और स्वार्थ भाव को पुष्ट करने वाला है। अतः साधु गृहस्थों को द्रव्य उपकार नहीं करता। ऐसा अर्थ किया गया है।

नीरस आहारादि की निन्दा न करने वाला—

मूल—आयामगं चेव जवोदणं च,
सीयं च सोवीर-जवोदगं च।
नो हीलए पिण्डं नीरसं तु,
पन्तकुलाइं परिव्वए स भिक्खू ॥१३॥

छाया—आयामकं चैव यवौदनं च, शीतं सौवीरं यवोदकं च।
न हीलयेत् पिण्डं नीरसं तु, प्रान्तकुलानि परिव्रजेत् स भिक्षुः ॥१३॥

पद्यानुवाद—आयामक यव-ओदन काँजी,
यव-उदक शीत भोजन लो जान।
नीरस भोजन निन्दा न करे,
विचरे लघु कुल में श्रमण महान् ॥१३॥

अन्वयार्थ—आयामगं—धान्य का ओसामण, चेव—तथा, जवोदणं च—जौ से बना हुआ ओद अर्थात्-भोजन, सीयं च—ठंडा भोजन, सोवीर जवोदगं च—कांजी का पानी और जौ का पानी, नीरसं तु पिंडं—ऐसे नीरस (स्वाद रहित) पिण्ड की, (जो साधु) नो हीलए—हीलना=निन्दा नहीं करता, (अपितु), पंतकुलाणि—प्रान्त—अत्यन्त साधारण घरों में, परिव्वए—भिक्षाटन करता है, स भिक्खू—वह भिक्षु है ॥१३॥

भावार्थ—ओसामण, जौ का भोजन, ठंडा भोजन, काँजी का पानी तथा जौ का पानी, जैसे नीरस पिण्ड (आहार) की जो निन्दा नहीं करता, अपितु साधारण घरों में भी भिक्षा के लिए जाता है, वह भिक्षु है। भिक्षु का आहार शरीर-पोषण के लिये नहीं अपितु संयम यात्रा के निर्वाह मात्र के लिए होता है।

विवेचन—निष्कर्ष—जो भिक्षु नीरस आहार-पानी गृहस्थ से पाकर उस गृहस्थ की या उस पिण्ड की निन्दा नहीं करता, न ही उक्त आहार-पानी की अवहेलना—अवज्ञा करके फेंकता है, बल्कि समभाव से उदरस्थ कर लेता है, तथा ऐसे शुद्ध आहार के लिए जो साधारण निर्धनों के घरों में भी जाता है, वह सद्भिक्षु है।

भयानक शब्द सुनकर भयभीत न ही होवे—

मूल—सद्दा विविहा भवन्ति लोए,
दिव्वा माणुस्सगा तहा तिरिच्छा।
भीमा भय भेरवा उराला,
जो सोच्चा न बहिज्जई स भिक्खू ॥१४॥

छाया—शब्दा विविधा भवन्ति लोके,
दिव्या मानुष्यकास्तथा तैरश्चा;।
भीमा भय-भैरवा उदाराः,
यः श्रुत्वा न बिभेति स भिक्षुः ॥१४॥

पद्यानुवाद—देव मनुज और तिर्यंचों के,
विविध शब्द सुनते मतिमान।
भीम भयंकर शब्दों को सुन,
डरे नहीं वह श्रमण महान् ॥१४॥

अन्वयार्थ—लोए—लोक में, **दिव्वा**—देवसम्बन्धी (दिव्य), **माणुस्सगा**—मनुष्य सम्बन्धी, **तहा**—तथा, **तिरिच्छा**—तिर्यंच-सम्बन्धी **विविहा**—अनेक प्रकार के, **भीमा**—भयंकर, **भयभेरवा**—भय के कारण महाभय को उत्पन्न करने वाले, **उराला**—ऊँची आवाज वाले बड़े, **सद्दा**—शब्द, **भवंति**—होते हैं, **जो**—जो साधक, **सोच्चा**—उन्हें सुनकर, **न वहिज्जई**—नहीं डरता, **स भिक्खू**—वह भिक्षु है ॥१४॥

भावार्थ—इस लोक में देवों, मनुष्यों और तिर्यंचों के अनेक प्रकार के भयंकर, महाभयोत्पादक और महान् (ऊँची आवाज वाले) शब्द होते हैं। जो साधक उन्हें सुनकर भी भयभीत नहीं होता, वह भिक्षु है ॥१४॥

संयमी यावत् दूसरों को कष्ट न देने वाला—

मूल—वादं विविहं समिच्च लोए,
सहिए खेयाणुगए य कोवियप्पा।
पन्ने अभिभूय सव्वदंसी,
उवसन्ते अविहेडए स भिक्खू ॥१५॥

छाया—वादं विविधं समेत्य लोके, सहितः खेदानुगतश्च कोविदात्मा।
प्राज्ञोऽभिभूय सर्वदर्शी, उपशान्तोऽविहेठकः स भिक्षुः ॥१५॥

पद्यानुवाद—वाद-वहुल जग जान साधु सह,
संयमी शास्त्र का रखता ज्ञान।
प्राज्ञ सहिष्णु समदर्शी,
उपशान्त शान्त वह श्रमण महान् ॥१५॥

अन्वयार्थ—लोए—लोक में (प्रचलित) **विविहं**—विविध, **वादं**—धर्म एवं दर्शनविषयक वादों को, **समिच्च**—जान कर भी (जो), **सहिए**—ज्ञान-दर्शन-चारित्र से युक्त होकर, **खेयाणुगए**—खेद अर्थात् संयम में लगा (अनुगत) रहता है, (तथा) (जो) **कोवियप्पा**—विद्वान् है; **पण्णे**—प्राज्ञ है, **य**—और, **अभिभूय**—परीषहों को जीतकर (राग-द्वेष-निवारण करके), **सव्वदंसी**—सभी प्राणियों प्रतिसमदर्शी हैं, (और) **उवसंते**—उपशान्त हैं, **अविहेडए**—किसी को वाधा नहीं पहुंचाता या अपमानित नहीं करता, **स भिक्खू**—वह भिक्षु हैं ॥१५॥

भावार्थ—इस संसार में अनेक प्रकार के धर्मविषयक वादों को जान-कर भी जो ज्ञान-दर्शन-चारित्र से युक्त होकर अपने संयम में संलग्न रहता है, जिसे शास्त्रों का परमार्थ उपलब्ध है, जो प्राज्ञ है, परीषहों को जीतकर जो (रागद्वेष निवारण करके) सबके प्रति समदर्शी है, उपशान्त है, किसी को अपमानित या पीड़ित नहीं करता, वह भिक्षु है ॥१५॥

विवेचन—फलितार्थ—जो विविध मत-मतान्तरों को जानकर जरा भी घबराता नहीं, प्रत्युत अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्र एवं संयम में स्थिर रहता है, शास्त्रों के परमार्थ को जानकर वह बुद्धिमान् साधक दूसरे मतवालों को अपमानित या पीड़ित नहीं करता, सभी जीवों को आत्मवत् देखता है; उपशान्त रहता है, वही सद्‌भिक्षु है।

शिल्पजीवी न हो, यावत् एकाकी विचरण करने वाला—

मूल—असिप्पजीवी अगिहे अमित्ते,
जिइंदिए सव्वओ विप्पमुक्के।
अणुक्कसाई लहु अप्पभक्खी,
चेच्चा गिहं एगचरे स भिक्खू ॥१६॥
—त्ति बेमि

छाया—अशिल्पजीव्यगृहोऽमित्रः, जितेन्द्रियः सर्वतो विप्रमुक्तः।
अणु-कषायी लघ्वल्पभक्षी, त्यक्त्वा गृहमेकचरः स भिक्षुः ॥१६॥
—इति ब्रवीमि

पद्यानुवाद—है मुक्त संग-गृह-मित्र रहित, अशिल्पजीवी वशितेन्द्रिय जान।
मंद कषायी लघ्वासी, गृह त्याग चले वह श्रमण महान् ॥१६॥

अन्वयार्थ— (जो) **असिप्पजीवी**—शिल्पजीवी नहीं है, **अगिहे**—घरबार से रहित है, **अमित्ते**—जिसका कोई मित्र एवं शत्रु नहीं है, **जिइंदिए**—जो जितेन्द्रिय है, **सव्वओ विप्पमुक्के**—जो सर्वथा परिग्रह से मुक्त है, **अणुक्कसाइ**—जिसके कषाय अणु अर्थात् मन्द हैं, **लहु अप्पभक्खी**—जो हलका नीरस और अल्प भोजन करता है, **चेच्चा गिहं**—जो गृहवास छोड़ कर, **एगचरे**—अकेला यानी राग-द्वेष से रहित होकर एकमात्र संयम में विचरण करता है, **स भिक्खू**—वह भिक्षु है।

—त्तिबेमि—ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—जो साधक शिल्पजीवी नहीं है, जिसका अपना कोई घर या आश्रम नहीं है, न ही कोई मित्र या शत्रु है, जो जितेन्द्रिय है, सब प्रकार

के परिग्रह से विमुक्त है, जिसके कषाय मन्द हैं, जो नीरस एवं अल्प भोजन करता है, जो गृहवास छोड़कर एकमात्र संयम में ही विचरण करता है; वह भिक्षु है।

—ऐसा मैं कहता हूं।

विवेचन—जैन साधु चित्रकारी, दस्तकारी आदि किसी शिल्प से जीविका नहीं चलाता, उसके कोई अपना घर या आश्रम नहीं होता। प्राणि-मात्र के साथ मैत्री होने से उनकी किसी व्यक्ति विशेष के साथ मैत्री या शत्रुता नहीं होती। वह जितेन्द्रिय और सर्वथा-धनादि परिग्रह से मुक्त होता है। जिसकी क्रोधादि कषायें मन्द होती हैं, और घर से निकलकर राग-द्वेष से दूर एकाकी भाव में विचरण करता है। संसार के मायावी बन्धन जिसको छू न पावे, वही भिक्षु है।

दशवैकालिक सूत्र के १० अध्ययन का नाम भी सभिक्षु है। उसमें भिक्षु के आचार का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। ऐसे ही उत्तराध्ययन का ३५ वां अध्ययन भी "अनगार मार्ग" है, इसमें भी अनगार का मार्ग बताया है। पाठक उनसे विशेष जानकारी ले सकते हैं।

॥ पन्द्रहवां सभिक्षु अध्ययन समाप्त ॥

ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान : सोलहवाँ अध्ययन

[अध्ययन-सार]

इस अध्ययन का नाम ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान है। क्योंकि इसमें ब्रह्मचर्य में समाधि प्राप्त करने के लिए दश ब्रह्मचर्य-समाधि स्थानों का विशद निरूपण किया गया है।

ब्रह्मचर्य साधक जीवन की अमूल्य निधि है। साधक जीवन की शुद्ध साधना का सिंहद्वार, तपश्चरण में उत्कृष्ट, संयमी जीवन की आधारशिला, अमरत्व, स्वर्ग एवं अपवर्ग का प्रवेशद्वार, कुगति निवारक, अन्तरंग से शुद्ध साधना की कसौटी, वैचारिकपवित्रता का स्रोत, चारित्र का प्राण, आनन्द का अक्षयकोष, संयम का मेरुदण्ड, रत्नत्रय का मूल, मोक्षप्राप्तिदायक गुणों का समावेशक, सौन्दर्य का मूल स्रोत, समग्र श्रेयस्कर कार्यों का जनक एवं नैतिकता और आध्यात्मिकता का आधार ब्रह्मचर्य है।

परन्तु ब्रह्मचर्य का केवल शरीर से पालन करना, या खूंटे से बंधे हुए घोड़े की तरह सामाजिक दवाव से, अथवा मात्र नरक के भय से औपचारिक रूप से ब्रह्मचर्य-पालन का कोई विशेष महत्व नहीं। और वह ब्रह्मचर्य भी कागज के फूल की तरह कृत्रिम है, जिसमें ब्रह्मचर्य की कोरी प्रतिज्ञा हो, परन्तु उसके पालन में साधक-वाधक कारणों का कोई ज्ञान न हो, उसकी सुरक्षा के लिए ब्रह्मचर्यघातक विविध भयस्थानों से वचने का कोई उपाय न किया गया हो। अतः शुद्ध और निष्ठापूर्वक सुरक्षात्मक उपायों के साथ पालन किया गया ब्रह्मचर्य ही साधक जीवन में खास उपादेय होता है। वैसा शुद्ध एवं सुरक्षित ब्रह्मचर्य ब्रह्मचर्य-समाधि युक्त होने पर ही हो सकता है। इसलिए इस अध्ययन में ब्रह्मचर्य की सभी प्रकार से, सभी उपायों से सुरक्षा तथा सभी वाधक एवं घातक कारणों से रक्षा करने के मूलमंत्रों का वर्णन किया गया है। इन मंत्रों को ही ब्रह्मचर्य समाधिस्थान कहा गया है जो संख्या में दस हैं।

इस अध्ययन में सर्वप्रथम शुद्ध ब्रह्मचर्य समाधिस्थान की अनिवार्यता एवं उपयोगिता वताकर जम्बूस्वामी की दस ब्रह्मचर्य समाधिस्थान की जिज्ञासा का तथा प्रत्येक ब्रह्मचर्य समाधिस्थान का विशद एवं पृथक्-पृथक्

वर्णन किया गया है। साथ ही उक्त ब्रह्मचर्य समाधि-स्थान को न अपनाने पर साधक को प्राप्त होने वाले दुष्परिणामों का भी उल्लेख किया गया है।

ब्रह्मचर्य समाधि के दस स्थान इस प्रकार हैं—

(१) विविक्त शयनासन,
(२) स्त्रीकथावर्जन,
(३) स्त्री के साथ एकासन एवं वार्तालाप का निषेध,
(४) स्त्री के अंगोपांग टकटकी लगाकर न देखना,
(५) स्त्री के वासनावर्धक शब्दादि श्रवण न करना,
(६) पूर्वानुभूत भोगों के स्मरण का निषेध,
(७) विकारवर्धक आहार निषेध,
(८) परिमाण से अधिक आहार का निषेध,
(९) शृंगार विभूषा का निषेध
(१०) शब्दादि पांच कामभोगों में आसक्ति का निषेध।

ये ही ब्रह्मचर्य की नौ बाड़ें और एक कोट है। इनका सम्यक् प्रकार से पालन करना ही ब्रह्मचर्य समाधि प्राप्त करना है।

प्रथम गद्य में और तत्पश्चात् पद्य में ब्रह्मचर्य समाधि के सुरक्षात्मक नियम बनाकर भिक्षु को उनका दृढ़तापूर्वक पालन करने का निर्देश किया गया है। फिर समुच्चय में इन दसों से विपरीत ब्रह्मचर्य समाधि भंग करने के कारणों का उल्लेख तीन गाथाओं (१२-१३-१४) में किया गया है।

अन्त में ब्रह्मचर्य समाधि के लिए साधक में आवश्यक प्रमुख सद्गुणों की चर्चा १५ वीं गाथा में की गई है। फिर दो गाथाओं (१६-१७) में ब्रह्मचर्य की महत्ता और फलश्रुति दी गई है।

कुल मिलाकर ब्रह्मचर्य-समाधि के आवश्यक अंगों का बहुत ही सुन्दर ढंग से क्रमशः प्रतिपादन किया है।

प्रत्येक समाधिस्थान के वर्णन के साथ समाधिस्थान का पालन न करने से होने वाले दुष्परिणामों का उल्लेख बार-बार पुनरुक्ति करके किया गया है, उसका कारण प्राचीन सूत्र रचना शैली तथा ब्रह्मचर्य समाधि में बाधक बातों से सावधानी रखने पर जोर देना प्रतीत होता है। प्रत्येक साधक के लिये यह अध्ययन विशेष रूप से मननीय है। १५ वें अध्ययन में भिक्षु का स्वरूप बतलाया। भिक्षु के विविध गुणों में कनक-कान्ता का त्यागी होना मुख्य है। भिक्षु के गुणों में ब्रह्मचर्य की प्रधानता है। अतः इस १६ वें अध्ययन में ब्रह्मचर्य का स्वरूप और उसकी रक्षा के स्थानों—साधनों का वर्णन किया गया है।

बंभचेरसमाहिठाणं : सोलसमं अज्झयणं

सोलहवां अध्ययन : ब्रह्मचर्य समाधि स्थान

ब्रह्मचर्य समाधिस्थानः (ब्रह्मचर्य सुरक्षा के लिए अनिवार्य)

मूल—सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—
इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं दस बम्भचेर समाहिठाणा पन्नत्ता
जे भिखू सोच्चा, निसम्म, संजम बहुले, संवर-बहुले, समाहि॰ गुत्त,
गुत्तिन्दिए, गुत्तबम्भयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा ॥१॥

छाया—श्रुतं मया आयुष्मन् ! तेन भगवतैवमाख्यातम्—
इह-खलु स्थविरैर्भगवद्भिर्दश ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थानानि प्रज्ञप्तानि,
यानि भिक्षुःश्रुत्वा, निशम्य, संयम-बहुलः संवर-बहुलः, समाधि-बहुलः, गुप्तः, गुप्तेन्द्रियः, गुप्त-ब्रह्मचारी, सदाऽप्रमत्तो विहरेत् ॥१॥

पद्या०—आयुष्मन् ! मैंने श्रवण किया, जो वीर प्रभु ने फरमाया।
ब्रह्म समाधि के दश स्थानक, स्थविरों ने ऐसा बतलाया ॥१॥
कर श्रवण मनन उन स्थानों का, संयत संवर सद्गुप्तिधर।
हो गुप्तेन्द्रिय और ब्रह्मगुप्त, विचरे शिवपथ आलस तजकर ॥२॥

अन्वयार्थ—आयुसं—आयुष्मन् ! मे सुयं—मैंने सुना है, तेण भगवया—उन भगवान ने, एवमक्खायं—ऐसा कहा है, इह—इस निर्ग्रन्थ प्रवचन में, खलु—निश्चय से, थेरेहिं भगवंतेहिं—स्थविर भगवन्तों ने, खलु, दसबंभचेरसमाहिठाणा—दस ब्रह्मचर्य—समाधिस्थान, पन्नत्ता—बतलाए हैं, जे—जिन्हें, सोच्चा—सुनकर, निसम्मा—(जिनके) अर्थ का निश्चय कर, भिक्खू—भिक्षु, संजम-बहुले—संयम में अधिकाधिक लक्ष्य रखने वाला, संवर-बहुले—संवर में अधिकाधिक सम्पन्न, समाहि-बहुले—समाधि में विपुलसम्पन्न होकर, गुत्ते—मन-वचन काया का गोपन (संरक्षण) करे, गुत्तिदिए—इन्द्रियों को नियन्त्रित करे, गुत्तबम्भयारी—ब्रह्मचर्य को (नौ गुप्तियों से) सुरक्षित रखे (और) सया—सदा अप्पमत्ते—अप्रमत्त होकर, विहरेज्जा—विचरण करे ॥११॥

भावार्थ—आयुष्मन् ! मैंने सुना है, उन भगवान् ने ऐसा कहा है—इस निर्ग्रन्थ-प्रवचन में स्थविर भगवन्तों ने दस ब्रह्मचर्य-समाधि के स्थान बतलाये

हैं, जिन्हें सुनकर और जिनके अर्थ का निश्चय करके भिक्षु संयम में, संवर में और समाधि में अधिकाधिक सम्पन्न होकर, मन-वचन-काया का गोपन करे, इन्द्रियों को नियंत्रित करे, ब्रह्मचर्य को नौ बाड़ों से सुरक्षित रखे और सदा अप्रमत्त होकर विचरण करे।

विवेचन—ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थानः—निश्चयनय की दृष्टि से ब्रह्मचर्य का अर्थ है—आत्मा अर्थात् आत्म-स्वभाव में रमण या विचरण करना और उसका बाह्य व्यावहारिक दृष्टि से अर्थ हैं,—सर्वेन्द्रिय-संयम, इन्द्रिय-मनोनिग्रह, जननेन्द्रिय-संयम, वीर्यरक्षण, सर्व-मैथुन-विवरण आदि।

ब्रह्मचर्य में चित्त का सम्यक् प्रकार से जम जाना, चित्त का दृढ़ हो जाना; मन, बुद्धि, चित्त और अन्तःकरण का तथा सभी इन्द्रियों एवं अंगोंपांगों का ब्रह्मचर्य के साथ एकरस हो जाना, उसी में तल्लीन हो जाना, ब्रह्मचर्य से विचलित न होना—ब्रह्मचर्य समाधि है। इस प्रकार की ब्रह्मचर्य-समाधि के स्थान साधन अर्थात् कारण—ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान है। ऐसे ब्रह्मचर्य समाधिस्थान दस हैं।

'सुयं मे' :—इस पंक्ति का तात्पर्य यह है कि पंचम गणधर श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य श्री जम्बूस्वामी से कह रहे हैं कि मैंने सुना है, उन सर्वज्ञसर्वदर्शी तीर्थंकर भगवान् श्री महावीर स्वामी ने ऐसा कहा है, कि इस जिनशास्त्र में स्थविरों ने अर्थात्—तीर्थंकरोक्त अर्थ को धारण करने की शक्ति वाले, विशिष्ट माहात्म्यसम्पन्न, मेरी अपेक्षा वृद्ध, गौतम आदि पूर्व गणधर भगवन्तों ने ये ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान बतलाए हैं। अर्थात्—केवल मैं ही इन्हें नहीं कह रहा हूँ, किन्तु अतिशयज्ञानी तीर्थंकरों और गौतमादि वृद्ध गणधरों ने भी इन्हें कहा है।

सोच्चा एवं निसम्म में अन्तर—यद्यपि शब्दशास्त्र की दृष्टि से दोनों का अर्थ 'सुनकर' होता है, किन्तु यहाँ वृत्तिकार ने दोनों का अन्तर स्पष्ट किया है। सोच्चा का अर्थ है—शब्दतः कान में सुनकर और निसम्म का अर्थ है—मन में उसके अर्थ का अवधारण—निश्चय करके।

संजमबहुलो आदि का विशेषार्थ—**संजम बहुलो—**संयम का अर्थ है—चारित्र। उत्तरोत्तर चारित्र के परिणाम की प्रधानता—वृद्धि वाला होकर,

संवरबहुलो—आश्रवद्वारों निरोधों की प्रधानता वाला तथा **समाहिबहुलो**—जिसके समाधि, अर्थात् चित्त की स्वस्थता प्रधान रूप से हो।

निष्कर्ष—इन दस ब्रह्मचर्य समाधिस्थानों को सुनकर एवं अर्थ का निर्णय करके पूर्वोक्त विशिष्ट साधना से युक्त साधक ब्रह्मचर्यपालन में मन-वचन-काया से स्थिर हो सकता है।

३. ब्रह्मचर्य समाधिस्थानों की जिज्ञासा—

मूल—कयरे खलु ते थेरेहिं, भगवन्तेहिं, दस बम्भचेर समाहि-
ठाणा पन्नत्ता; जे भिक्खू सोच्चा, निसम्म, संजम-बहुले,
संवर-बहुले, समाहि-बहुले, गुत्ते, गुत्तिन्दिए, गुत्त बम्भयारी
सया अप्पमत्ते विहरेज्जा ? ॥२॥

छाया—कतराणि खलु तानि स्थविरैर्भगवद्भिर् दशब्रह्मचर्यसमाधि-
स्थानानि प्रज्ञप्तानि, यानि भिक्षुः श्रुत्वा, निशम्य, संयमबहुलः,
संवर-बहुलः, समाधि-बहुलः, गुप्तः, गुप्तेन्द्रियः, गुप्त-ब्रह्मचारी,
सदाऽप्रमत्तो विहरेत् ॥२॥

पद्यानु०—क्या कहा गणधर ने यहाँ, उस ब्रह्मचर्य समाधि का।
पद कौन-से वे युक्त हैं, दश अन्तकर, भवव्याधि का ? ॥३॥
सुनकर जिन्हें कर अर्थ निश्चय, संयमादि-समाधि का।
अभ्यास से गोपन करे, तन-मन-वचन की साधिका ॥४॥
इन्द्रियों की विषय सुख में, प्रीति जीवन में बचा।
नौ गुप्तियों से रख सुरक्षित, ब्रह्मव्रत को सर्वदा ॥५॥
इस भांति मन में सर्वथा, मुनि स्वस्थता धारण करे।
कर अप्रमत्त-विहार वह, बहुक्लेश काया का हरे ॥६॥

अन्वयार्थ—थेरेहिं भगवंतेहिं—स्थविर भगवन्तों ने, ते कयरे खलु—वे कौन-से, **दसबंभचेरसमाहिठाणा**—दस ब्रह्मचर्य समाधिस्थान, **पन्नत्ता**—बतलाए हैं,—जे—जिन्हें, **सोच्चा**—सुनकर, **निसम्म**—जिनके अर्थ का निश्चय कर, **भिक्खू**—भिक्षु, **संजम-बहुले, संवरबहुले, समाहिबहुले**—संयम, संवर और समाधि से अधिकाधिक उच्च-परिणामों वाला होकर, **गुत्ते**—मन-वचन-काया का गोपन करे, **गुत्तिदिए**—इन्द्रियों को नियंत्रित रखे, **गुत्तबंभयारी**—ब्रह्मचर्य को सुरक्षित रखे, (और) **सया अप्पमत्ते**—सदा अप्रमत्त होकर, **विहरेज्जा**—विहरण करे ? ॥२॥

भावार्थ—(जम्बू स्वामी ने जिज्ञासा के साथ पूछा) स्थविर भगवान ने वे कौन से ब्रह्मचर्य-समाधि के दश स्थान बतलाये हैं, जिन्हें सुनकर, जिनका अर्थ निश्चय कर, भिक्षु, संयम, संवर और समाधि का पुनः पुनः अभ्यास करे। मन, वचन और तन का गोपन करे, इन्द्रियों को उनके विषयों से बचाये, ब्रह्मचर्य को नौ गुप्तियों से सुरक्षित रखे और सदा अप्रमत्त होकर विहार करे ? ॥२॥

जिज्ञासा का समाधान—

मूल—इमे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं दस बंभचेरसमाहिठाणा पन्नत्ता, जे भिक्खू सोच्चा निसम्म संजमबहुले संवरबहुले समाहिबहुले गुत्ते गुत्तिदिए गुत्तबंभयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा ॥३॥

छाया—इमानि खलु स्थविरैर्भगवद्भिर्दश-ब्रह्मचर्य समाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि, यानि भिक्षुः श्रुत्वा, निशम्य संयम-बहुलः, संवर-बहुलः, समाधि-बहुलः, गुप्तः, गुप्तेन्द्रियः गुप्त-ब्रह्मचारी, सदाऽप्रमत्तो विहरेत् ॥३॥

पद्यानु०—उस ब्रह्मचर्य-समाधि के पद, दश स्थविर प्रभु ने कहे।
सुनकर जिन्हें, कर अर्थ-निश्चय, भिक्षु संयम में रहे ॥७॥

साधक करे अभ्यास, बारम्बार ब्रह्म-समाधि का।
गोपन करे अति यत्न से, तन-मन-वचन की साधिका ॥८॥

निज इन्द्रियों का प्रिय विषय, से नित्य ही रक्षण करे।
कर दश सुरक्षा से सुरक्षित, ब्रह्मव्रत पालन करे ॥९॥

इस भांति मन में हो मुदित, मुनि स्वस्थता धारण करे।
विहरे जगत में शान्ति से, बहु-व्याधि का वारण करे ॥१०॥

अन्वयार्थ—**इमे**—ये (आगे क्रमशः कहे जाने वाले) हैं, **ते खलु**—वे ही, **दसबंभचेरसमाहिठाणा**—दस ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान (जिन्हें) **थेरेहिं भगवंतेहिं**—स्थविर भगवन्तों ने, **पन्नत्ता**—बतलाए हैं; **जे**—जिन्हें, **सोच्चा**—कानों से सुनकर, **निसम्म**—मन से अर्थ का अवधारण कर, **भिक्खू**—भिक्षु, **संजमबहुले-संवरबहुले-समाहिबहुले**—संयम, संवर और समाधि के अधिकाधिक अभ्यास से सम्पन्न होकर, **गुत्ते**—मन वचन-काया का गोपन करे, **गुत्तिदिए**—इन्द्रियों को वश में रखे, **गुत्तबंभयारी**—

ब्रह्मचर्य को सुरक्षित रखे (और), **सयाऽप्पमत्तो**—सदा अप्रमत्त होकर, **विहरेज्जा**—विचरण करे ॥४॥

भावार्थ—(सुधर्मा स्वामी ने कहा)—ये है (आगे क्रमशः कहे जाने वाले), दस ब्रह्मचर्य-समाधि स्थान, जिन्हें स्थविर भगवन्तों ने बतलाए हैं, जिन्हें सुनकर, मन से अर्थ-निश्चय कर, भिक्षु संयम, संवर और समाधि से अधिकाधिक अभ्यस्त होकर, मन-वचन-काया का गोपन करे, इन्द्रियों को वश में रखे: ब्रह्मचर्य को सुरक्षित रखे और सदा अप्रमत्त होकर विचरण करे ॥४॥

प्रथम ब्रह्मचर्य—समाधि-स्थान : स्थान-संयम—

मूल—······ तंजहा—विवित्ताइं सयणासणाइं सेविज्जा, से निग्गंथे ।

नो इत्थी-पसु-पंडग-संसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ, से निग्गंथे ।

[प्र०] तं कहमिति चे ?

[उ०] आयरियाह—निग्गंथस्स खलु इत्थी पसु-पंडग-संसत्ताइं सयणासणाइं सेवमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलि-पन्नत्ताओ वा, धम्माओ भंसेज्जा ।

तम्हा नो इत्थि-पसु-पंडग-संसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ, से निग्गंथे ॥५॥

छाया—तद्यथ—विविक्तानि शयनासनानि सेवेत, स निर्ग्रन्थः ।

नो स्त्री पशु-पण्डक-संसक्तानि शयनासनानि सेविता भवति स निर्ग्रन्थः ।

(प्र०) तत्कथमिति चेत् ?

(उ०) आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्री-पशु-पण्डक-संसक्तानि शयनासनानि सेवमानस्य ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा, कांक्षा वा, विचिकित्सा वा, समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलि-प्रज्ञप्ताद्-धर्माद्-भ्रश्येत्,

तस्मान्नो स्त्री-पशु-पण्डक संसक्तानि शयनासनानि सेविता भवति स निर्ग्रन्थः ॥५॥

पद्या०—करता यहाँ जो नित्य ही, एकान्त शय्या स्थल वसन।
निर्ग्रन्थ वह जो बैठता, निर्दोष आसन कर चयन ॥११॥

निर्ग्रन्थ पशु-नारी-नपुंसक, से सदा हटकर रहे।
इनसे घिरे आसन-शयन का, वह नहीं सेवन करे ॥१२॥

गुरुदेव ! यह क्यों ? शिष्य ने, पूछा जभी आचार्य से।
आचार्य ने उत्तर दिया, निज शिष्य को अति चाव से ॥१३॥

नारी, नपुंसक और पशु, से जो घिरा गृहवास है।
करते न सेवन मुनि उन्हें, रागादि का आवास है ॥१४॥

फिर ब्रह्मव्रत के विषय में, उस ब्रह्मचारी के हृदय।
कांक्षा, विसंशय और शंका, स्वतः लेती है उदय ॥१५॥

अथवा नहीं तो ब्रह्मव्रत का, पूर्ण होता नाश है।
यदि बच सका इससे कहीं, तो रोग वा आवास है ॥१६॥

फिर दीर्घकालिक रोग या, आतंक होता है उसे।
वह भ्रष्ट होता है जगत् में, केवली के धर्म से ॥१७॥

अतएव नारी-पशु-नपुंसक, से शयन जो हों घिरे।
निर्ग्रन्थ वैसे वास का, निश्चय नहीं सेवन करे ॥१८॥

अन्वयार्थ—'''**तं जहा**—वे (दस स्थान क्रमशः) इस प्रकार हैं—(जो) **विवित्ताइं**—विविक्त, **सयणासणाइं**—शयन और आसनों का, **सेविज्जा**—सेवन करता है, **से निग्गंथे**—वह निर्ग्रन्थ है। (अर्थात्) (जो) **इत्थी-पसु-पंडग-संसत्ताइं**—स्त्री, पशु और नपुंसक से संसक्त, **सयणासणाइं**—शयन और आसन का, **नो सेवित्ता हवइ**—सेवन नहीं करता है, **से निग्गंथे**—वह निर्ग्रन्थ है।

[प्र०] **तं कहमिति चे ?**—ऐसा क्यों ? इस प्रकार पूछने पर—

[उ०] **आयरियाह**—आचार्य ने कहा—, **इत्थी-पसु-पंडग-संसत्ताइं**—स्त्री, पशु और नपुंसक से संसक्त, **सयणासणाइं**—शयन और आसनों का, **सेवमाणस्स**—सेवन करने वाले, **बंभयारिस्स निग्गंथस्स**—ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ के, **बंभचेरे**—ब्रह्मचर्य में, **संका वा**—शंका, , **कंखा वा**—कांक्षा या, **वितिगिच्छा वा**—विचिकित्सा, **समुप्पज्जिज्जा**—समुत्पन्न होती है, **भेयं वा लभेज्जा**—अथवा ब्रह्मचर्य का भंग (विनाश) होता है; **उम्मायं वा**—या फिर उन्माद, **पाउणिज्जा**—प्राप्त होता है; **दीहकालियं वा रोगायंकं**—अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक, **हवेज्जा**—होता है

केवलि-पन्नत्ताओ वा धम्माओ—अथवा वह केवलि-प्ररूपित धर्म से, भंसेज्जा—भ्रष्ट हो जाता है। तम्हा—इसलिए, इत्थी-पसु-पंडग-संसत्ताइं—स्त्री, पशु और नपुंसक से संसक्त, सयणासणाइं—शयन और आसन का, नो सेवित्ता हवइ—जो सेवन नहीं करता; से निग्गंथे—वह निर्ग्रन्थ है ॥५॥

भावार्थ—वे (दस स्थान क्रमशः) इस प्रकार हैं—(१) जो विविक्त शयन और आसनों का सेवन करता है वह निर्ग्रन्थ है। (अर्थात्—) जो स्त्री, पशु और नपुंसक से संसक्त शयन और आसन का सेवन नहीं करता है, वह निर्ग्रन्थ है।

यह क्यों ? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—स्त्री, पशु और नपुंसक से आकीर्ण शयन और आसन का सेवन करने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को, ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न हो सकती है अथवा उन्माद उत्पन्न होता है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है, अथवा दीर्घ-कालिक रोग और आतंक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट होता है। इसलिए, जो स्त्री, पशु और नपुंसक से आकीर्ण-शयन और आसन का सेवन नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ है ॥५॥

विवेचन—प्रथम ब्रह्मचर्य समाधिस्थान : विविक्तशयनासनसेवन—प्रस्तुत सूत्र में प्रथम ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान का स्वरूप और उसका पालन न करने से होने वाले अनर्थों का निर्देश किया है।

विविक्त : चार अर्थ—प्रस्तुत सन्दर्भ में विविक्त के चार अर्थ किये गये हैं—(१) एकान्त अर्थात्—जनता की भीड़ और कोलाहल से दूर।

(२) जनसम्पर्क-रहित—अधिक जनसम्पर्क से साधना में विक्षेप पड़ता है, इसलिए जनसम्पर्करहित स्थान प्रशस्त माना गया है।

(३) पवित्र—वेश्याओं, हत्यारों, चोर-डाकुओं, कसाईयों आदि के अपवित्र वातावरण से रहित, और

(४) स्त्री, या पशु और नपुंसक से असंसक्त।

असंसक्त की व्याख्या—संसक्त का अर्थ—सेवित, संसर्गयुक्त, संस्पृष्ट एवं आकीर्ण भी होता है। इसलिए स्त्री-पशु-नपुंसक से असंसक्त स्थान का अर्थ है—देवी, मानुषी या तिर्यंच-स्त्री-संसर्ग, अथवा पशु-पक्षी के संसर्ग, अथवा नपुंसक के संसर्ग से रहित स्थान। इसका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है।

शयन का अर्थ—शय्या—ठहरने का स्थान या रहने का स्थान भी है। इसलिए जहाँ स्त्रियाँ रहती हों, सोती-बैठती हों, पुनः पुनः उनका आगमन होता हो, जहाँ महिलाएँ श्रृंगार करती हों, नहाती-धोती दिखाई देती हों, जहाँ वेश्याएँ या कामुक स्त्रियाँ रहती हों, अथवा गृहस्थ अपनी पारिवारिक स्त्रियों के साथ रहता हो, अथवा जहाँ पशु बाँधे जाते हों, या नपुंसक रहते हों, ऐसा स्थान या मकान ब्रह्मचर्य साधक के लिए वर्जित है। स्त्रीजनों से अनाकीर्ण शयन और आसन को भी असंसक्त कहा गया है।

शयन का अर्थ है—शयनीय कक्ष, आवासस्थान, अथवा पट्टा या संस्तारक (बिछौना) आदि शयनीय उपकरण। आसन का अर्थ है—चौकी, बाजोट, पादपीठ, आदि या बैठने का आसन आदि। इस सन्दर्भ में असंसक्त का अर्थ होता है—जिस पट्टे, चौकी, बिछौने, आसन आदि से स्त्री का संस्पर्श (संघट्टा) हो उसे सेवन न करना। बल्कि जहाँ स्त्रियों के राग-रंग, नृत्यादि होते हों, सुरीले कामोत्तेजक गायन होते हों, ऐसे अपवित्र और दूषित स्थानों से दूर रहना भी असंसक्त या विविक्त का अर्थ है।

स्त्री-पशु-नपुंसक संसक्त अविविक्त स्थान—शयनासन-सेवन के सात दुष्परिणाम—इसकी चर्चा करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—ऐसे साधक के ब्रह्मचर्य के विषय में लोगों को (१) **शंका**—हो सकती है कि यह साधु ब्रह्मचारी है या नहीं। अथवा स्त्री आदि से संसक्त स्थान में रहने से चित्त स्त्री आदि की ओर आकृष्ट हो जाता है, मानसिक ब्रह्मचर्य दूषित हो जाता है, स्वयं के मन में भी ऐसी शंका हो जाती है कि मैथुनसेवन से नौ लाख जीवों का वध होता है, ऐसा जिनोक्त कथन सत्य है या मिथ्या ?, फिर ऐसे व्यक्ति के मन में—(२) **कांक्षा**—भोगेच्छा भी उत्पन्न हो सकती है, ब्रह्मचर्य में—(३) **विचिकित्सा**—फल के विषय में सन्देहावली—भी उत्पन्न हो सकती है कि मैं ब्रह्मचर्य-पालन में इतना भारी कष्ट उठाता हूँ, इसका कुछ भी फल मिलेगा या नहीं ? क्योंकि विषयभोगसेवन से तात्कालिक सुख मिलता है। इत्यादि। इसी तरह (४) **भेद**—चारित्र का विनाश तथा कामपरवशतावश—(५) **उन्माद** हो सकता है। निःशंक होकर स्त्री आदि से युक्त स्थानादि के सेवन से कामेच्छा के उद्रेक के कारण अनिद्रा, आहारादि में अरुचि, (६) **दाहज्वरादि रोग एवं आतंक**—शीघ्र घातक शूल आदि व्याधि हो जाती है।

स्त्री को बार-बार देखने आदि से कामाधिक्य के कारण निम्नोक्त

दश कामभाव उत्पन्न हो जाते हैं—(१) चिन्ता, (२) दर्शनेच्छा, (३) दीर्घनिःश्वास, (४) काम-ज्वर, (५) अंगों में दाह, (६) आहार में अरुचि, (७) कम्प, (८) उन्माद, (९) प्राणों के अस्तित्व की आशंका और (१०) जीवन-त्याग अथवा आत्म-हत्या।

(७) धर्मभ्रंश—इन सब अनिष्टों के उत्पन्न होने पर ब्रह्मचर्य समाधि नहीं रहती, वह केवली प्रज्ञप्त श्रुत-चारित्र धर्म से भी भ्रष्ट हो जाता है।

द्वितीय ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान : कथा-संयम

मूल—नो इत्थीणं कहं कहित्ता हवइ, से निग्गन्थे।

न कहमिति चे ?

आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं कहं कहेमाणस्स, बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा।

तम्हा नो इत्थीणं कहं कहेज्जा ॥६॥

छाया—नो स्त्रीणां कथां कथयिता भवति, स निर्ग्रन्थः।

तत्कथमिति चेत् ?

आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीणा कथां कथयतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा, कांक्षा वा, विचिकित्सा वा समुत्पद्येत भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातंको भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत्।

तस्मान्नो स्त्रीणां कथां कथयेत् ॥६॥

पद्या०—नारी जनों की जो कथा, करता नहीं निर्ग्रन्थ वह।
यह क्यों ? कहा आचार्य ने कहते सकल सद्ग्रन्थ यह ॥१९॥

जो गोष्ठियों में नारियों की, रसमयी करता कथा।
उस ब्रह्मचारी संत को, ऐसी कथा देती व्यथा ॥२०॥

फिर ब्रह्मव्रत के विषय में, उस ब्रह्मचारी के हृदय।
कांक्षा विसंशय और शंका, स्वतः लेती है उदय ॥२१॥

अथवा नहीं तो ब्रह्मव्रत का, पूर्ण होता नाश है।
यदि बच गया उससे कहीं, तो रोग फिर उन्माद है ॥२२॥
या दीर्घकालिक रोग वा आतंक होता है उसे।
वह भ्रष्ट होता है जगत् में केवली के धर्म से ॥२३॥
अतएव नारी की कथा; करना नहीं मुनि-कर्म है।
निज पूर्वजों की नीति पर, चलना यही शुभ धर्म है ॥२४॥

अन्वयार्थ—(जो) **इत्थीणं**—स्त्रियों की (रूप, लावण्य आदि से सम्बन्धित कामोत्तेजक) **कहं**—कथा, **नो कहित्ता हवइ**—नहीं करता है, **से निग्गंथे**—वह निर्ग्रन्थ है। **तं कहमिति चे ?**—ऐसा क्यों ? इस प्रकार पूछने पर, **आयरियाह**—आचार्य कहते हैं, **इत्थीणं**—स्त्रियों की, **कहं**—कथा, **कहेमाणस्स**—करने वाले, **बंभयारिस्स निग्गंथस्स**—ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ के, **बंभचेरे**—ब्रह्मचर्य में, **खलु**—अवश्य ही, **संका वा, कंखा वा वितिगिच्छा वा**—शंका, कांक्षा या विचिकित्सा, **समुप्पज्जिज्जा**—उत्पन्न होती है, **भेयं वा लभेज्जा**—अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है, **उम्मायं वा पाउणिज्जा**—अथवा उन्माद पैदा होता है; **दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा**—अथवा फिर दीर्घकालिक रोग और आतंक हो जाता है; **केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा**—अथवा वह केवलिप्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। **तम्हा**—इसलिए, (निर्ग्रन्थ) **इत्थीणं कहं**—स्त्रियों की कथा, **नो कहेज्जा**—नहीं करे ॥६॥

भावार्थ—जो स्त्रियों की कथा नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ है। यह क्यों ? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—स्त्रियों की कथा करने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा, या विचिकित्सा उत्पन्न होती है, अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है, अथवा उन्माद उत्पन्न होता है, अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है, अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए केवल स्त्रियों के बीच में कथा न करे अथवा स्त्रियों की रूप—वेशादि की कथा नहीं करे।

विवेचन—द्वितीय ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान : स्त्री-कथापरिहार—स्त्री-कथा की दो व्याख्याएँ शास्त्र में मिलती हैं।

(१) स्त्रियों के अंगोपांग, रूप, लावण्य, हास-विलास, हाव-भाव, चाल-ढाल, या वस्त्राभूषण आदि की कामराग बढ़ाने वाली कथा चर्चा करना।

(२) केवल स्त्रियों के बीच बैठकर कथा करना। स्त्रियों से सम्बन्धित वर्ण, देश, जाति, कुल, रूप, नाम, नैपथ्य (पोशाक) और परिजन की कथा करने से, हास्यरस या शृंगाररसप्रधान मोहोत्पादक या कामोत्तेजक कथाएँ करने से या सुनने से ब्रह्मचर्य का आंशिक या पूर्णरूप से भंग होने की संभा-

बनी रहती है। जिस प्रकार नींबू या खटाई का वर्णन सुनने या चिन्तन करने से मुंह में पानी आने लगता है, उसी प्रकार स्त्रियों के रूप आदि की प्रशंसा करने-सुनने से विषयविकार की वृद्धि होती है, ज्ञान-ध्यान से मन उचट जाता है, मानसिक शान्ति भंग होती है। अन्य दोषों का वर्णन तो मूलपाठ में है ही।

तृतीय ब्रह्मचर्य-समाधिस्थान : एकासनवर्जन—

मूल—नो इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेज्जागए विहरित्ता हवइ, से निग्गन्थे।

तं कहमिति चे?

आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेज्जा-गयस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा, समुप्पज्जिज्जा भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा,

तम्हा खलु नो निग्गन्थे इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेज्जागए विहरेज्जा ॥७॥

छाया—नो स्त्रीभिः सार्धं सनिपद्यागतो विहर्ता भवति स निर्ग्रन्थः।

तत् कथमिति चेत्?

आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीभिः सार्धं सन्निषद्यागतस्य ब्रह्म-चारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वा कांक्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत भेदं व लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात, दीर्घकालिको वा रोगातंको भवेत्, केवलि-प्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत्।

तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थः स्त्रीभिः सार्धं सन्निपद्यागतो विहरेत् ॥७॥

पद्यानु०—जो एक आसन पीठ पर, बैठे न नारी संग में।
निर्ग्रन्थ वह, यह क्यों?, कहे आचार्य उक्त प्रसंग में ॥२५॥
जो नारियों के संग आसन, एक पर है बैठता।
उस ब्रह्मचारी-संत के, मन में दुराशय पैठता ॥२६॥
फिर ब्रह्मव्रत के विषय में, उस ब्रह्मचारी के हृदय।
कांक्षा, विसंशय और शंका, स्वतः लेती है उदय ॥२७॥

अथवा नहीं तो ब्रह्मव्रत का पूर्ण होता नाश है।
यदि बच गया उससे कहीं तो, रोग फिर उन्माद है ॥२८॥
या दीर्घकालिक रोग वा, आतंक होता है उसे।
वह भ्रष्ट होता है जगत् में, केवली के धर्म से ॥२९॥

अतएव आसन पीठ कुछ भी, बैठने के वास्ते।
बैठे न नारी संग मुनि, निज ब्रह्मरक्षण वास्ते ॥३०॥

अन्वयार्थ—(जो) **इत्थीहिं सद्धिं**—स्त्रियों के साथ, **सन्निसेज्जागए**—एक ही निषद्या (आसन) पर, **नो विहरित्ता हवइ**—नहीं बैठता है, **से निग्गंथे**—वह निर्ग्रन्थ है। **तं कहमिति चे ?**—ऐसा क्यों ? इस प्रकार पूछने पर, **आयरियाह**—आचार्य कहते हैं; **इत्थीहिं सद्धिं**—स्त्रियों के साथ, **सन्निसेज्जागयस्स**—एक आसन (निषद्या) पर बैठने वाले, **बंभयारिस्स निग्गंथस्स**—ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ का, **बंभचेरे**—ब्रह्मचर्य के विषय में, **संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा**—शंका, कांक्षा या विचिकित्सा, **समुप्पज्जिज्जा**—उत्पन्न होती है। **भेयं वा लभेज्जा**—ब्रह्मचर्य का भंग होता है, **उम्मायं वा पाउणिज्जा**—अथवा उन्माद पैदा होता है, **दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा**—अथवा उसके शरीर में दीर्घकालिक रोग या आतंक उत्पन्न होता है; **केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा**—या फिर वह केवलिप्रज्ञप्त (श्रुत-चारित्ररूप) धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। **तम्हा**—अतः, **निग्गंथे**—निर्ग्रन्थ, **इत्थीहिं सद्धिं**—स्त्रियों के साथ, **सन्निसेज्जागए**—एक आसन पर, **नो खलु विहरेज्जा**—हर्गिज नहीं बैठे ॥७॥

भावार्थ—जो स्त्रियों के साथ पीठ आदि एक आसन पर नहीं बैठता, वह निर्ग्रन्थ है। यह क्यों ? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—स्त्रियों के साथ एक आसन पर बैठने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा, या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद उत्पन्न होता है अथवा दीर्घकालिक रोक या आतंक उत्पन्न होता है, एवं केवलीकथितधर्म से भ्रष्ट होता है, इसलिए स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठे।

विवेचन—तृतीय ब्रह्मचर्य-समाधिस्थान : एक निषद्यानुपवेशन—ब्रह्मचर्य साधक को नारी के साथ एक आसन (पट्टे, चौकी, चटाई, आसन बिछौने या दरी) आदि किसी भी बैठने के उपकरण पर न बैठना, यह इस समाधिस्थान का आशय है अन्यथा इससे होने वाले अनिष्ट तो पूर्वोक्त हैं ही।

सन्निसेज्जागए नो विहरेत्ता : भावार्थ—निषद्या (पूर्वोक्त आसन) पर स्थित होकर नहीं बैठे।

एकासन पर बैठने का निषेध क्यों ?—एक आसन पर बैठने से नारी का संस्पर्श या शरीरसंसर्ग होने से विषयरस की जागृति होती है, जिससे ब्रह्मचर्यव्रत भंग होने की आशंका रहती है। परस्पर का अलगाव मिटने से ऐसे साधक या साधिका के विषय में लोग आशंकावश मिथ्या भ्रम फैला सकते हैं, स्त्रीवेद और पुरुषवेद के पुद्‌गलों का परस्पर ऐसा आकर्षण है कि उन पुद्‌गलों के स्पर्श से परस्पर विकार उत्पन्न होने की संभावना रहती है। अतः ब्रह्मचारी को वेदस्वभाव को ध्यान में रखकर न तो नारी का स्पर्श करना चाहिए, और न ही उसके साथ एक आसन पर बैठना चाहिए। बल्कि जिस स्थान या आसन पर स्त्री बैठी हो, उस पर स्त्री के उठने के एक मुहूर्त तक नहीं बैठना चाहिए, यह प्राचीन परम्परा है। नारी के साथ एक आसन पर बैठने से, स्त्री-स्पर्श या स्त्रीसंसर्ग से ब्रह्मचर्य के साथ दृढ़ मनोयोग टूट जाता है।

चतुर्थ ब्रह्मचर्य समाधि स्थान : दृष्टिसंयम—

मूल—नो इत्थीणं इन्दियाइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोइत्ता निज्झाइत्ता हवइ, से निग्गन्थे।

तं कहमिति चे ?

आयरियाह--निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं इन्दियाइं, मणोहराइं, मणोरमाइं आलोएमाणस्स, निज्झायमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु निग्गन्थे नो इत्थीणं इन्दियाइं मणोहराइं, मणोरमाइं, आलोएज्जा, निज्झाएज्जा ॥८॥

छाया—नो स्त्रीणामिन्द्रियाणि मनोहराणि मनोरमाण्यालोकयिता निर्ध्याता भवति स निर्ग्रन्थः।

तत्कथमिति चेत् ?

आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीणामिन्द्रियाणि मनोहराणि मनोरमाण्यवलोकमानस्य निर्ध्यायतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वा,

कांक्षा वा, विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातंको भवेत्, केवलि-प्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत् ।

तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थः स्त्रीणामिन्द्रियाणि मनोहराणि मनोरमाण्यालोकयेन्निध्यायेत् ॥८॥

पद्यानु०—जो नारियों के मृदु मनोहर, अंग और उपांग को।
अतिशय मनोरम इन्द्रियों के, कामवर्धक ढंग को ॥३१॥

आँखें गड़ा देखे नहीं, सोचे न उस पर कुछ कभी।
है परम उत्तम साधु वह, नमनीय जग कहता सभी ॥३२॥

यह क्यों ? कहा आचार्य ने, जो नारियों के अंग को।
अतिशय मनोरम और मनहर, कामवर्द्धक ढंग को ॥३३॥

आंखे गड़ा उस रूप को, जो देखने वाले श्रमण।
अथवा सतत प्रिय प्रेयसी का, जो करे चिन्तन मनन ॥३४॥

फिर ब्रह्मव्रत के विषय में, उस ब्रह्मचारी के हृदय।
काँक्षा, विसंशय और शंका, स्वतः लेती है उदय ॥३५॥

अथवा नहीं तो ब्रह्मव्रत का पूर्ण होता नाश है।
यदि बच गया उससे कहीं, तो रोग वा उन्माद है ॥३६॥

या दीर्घकालिक रोग वा, आतंक होता है उसे।
वह भ्रष्ट होता है जगत् में, केवली के धर्म से ॥३७॥

अतएव नारी के मनोरम, मृदुल मनहर अंग को।
आँखें गड़ा देखे, न सोचे, मुनि सतत उस रंग को ॥३८॥

अन्वयार्थ—(जो) इत्थीणं—स्त्रियों की, मणोहराइं मणोरमाइं—मनोहर और मनोरम, इंदियाइं—इन्द्रियों को, नो आलोइत्ता निज्झाइत्ता हवइ—नहीं देखता है, और न ही (उसके विषय में) चिन्तन करता है; से निग्गंथे—वह निर्ग्रन्थ है। तं कहमिति चे ?—ऐसा क्यों ? इस प्रकार पूछने पर, आयरियाह—आचार्य कहते हैं, इत्थीणं—स्त्रियों की, मणोहराइं मणोरमाइं इंदियाइं—मनोहर और मनोरम इन्द्रियों को, अलोएमाणस्स—देखने वाले (और) निज्झाएमाणस्स—(उनके विषय में) चिन्तन करने वाले, बंभयारिस्स निग्गंथस्स—ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को, बंभचेरे—ब्रह्मचर्य के विषय में, संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा—शंका, कांक्षा या विचिकित्सा, समुप्पज्जिज्जा—उत्पन्न होती है; भेयं वा लभेज्जा—अथवा ब्रह्मचर्य का भंग

होता है, **उम्मायं वा पाउणिज्जा**—अथवा उन्माद पैदा होता है, **दीहकालियं वा रोगायंकं**—या फिर दीर्घकालिक रोग और आतंक, **हवेज्जा**—हो जाता है; **केवलि-पन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा**—अथवा वह केवलि-प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। **तम्हा**—इसलिए, **निग्गंथे**—निर्ग्रन्थ, **इत्थीणं**—स्त्रियों के, **मणोहराइं-मणोरमाइं इंदियाइं**—मनोहर और मनोरम इन्द्रियों को, **नो खलु आलोएज्जा निज्झाएजा**—हर्गिज देखे नहीं और उनके विषय में चिन्तन भी करे नहीं ॥८॥

भावार्थ—जो स्त्रियों की मनोहर और मनोरम इन्द्रियों को दृष्टि गड़ाकर नहीं देखता, उसके बारे में चिन्तन नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ है। यह क्यों? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—स्त्रियों की मनोहर और मनोरम इन्द्रियों को दृष्टि गड़ाकर देखने वाले और उनके विषय में चिन्तन करने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है, अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है, अथवा उन्माद पैदा होता है, अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक हो जाता है और केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

इसलिए स्त्रियों के अंगों और मृदु मनोरम इन्द्रियों को दृष्टि गड़ाकर न देखे और न उनके विषय में चिन्तन ही करे ॥८॥

विवेचन—चतुर्थ ब्रह्मचर्य समाधि स्थान : स्त्री-अंगोपांग-अदर्शन—स्त्रियों के अंगोपांग मनोरम एवं चित्ताकर्षक होते हैं उनके निरीक्षणमात्र से साधकों के मन में राग विकार पैदा होना संभव है। नारी की मनोरम इन्द्रियों को टकटकी लगाकर देखने से साधक का मन विषयरस के प्रति अनुरक्त होता है, फिर सहसा विचलित हो जाता है।

दशवैकालिकसूत्र में बताया गया है कि ब्रह्मचारी साधक स्त्रियों के अंग-प्रत्यंग, संस्थान (आकृति); सुन्दर आलाप, नेत्र विन्यास आदि पर टक-टकी लगा कर न देखे. क्योंकि ये कामराग को बढ़ाने वाले हैं। आत्महितैषी साधु, स्त्री की ओर ताककर देखना तो दूर रहा, दीवार, पोस्टर एवं कागज या काष्ठ पर चित्रित सुअलंकृत नारी की ओर भी ताककर न देखे। जिस प्रकार पतंगा दीपक के प्रकाश पर मुग्ध होकर उस पर गिरकर अपने शरीर को जला लेता है, उसी प्रकार नारी के रूप पर मुग्ध होकर कामी पुरुष नारी रूप के आग्नेय प्रकाश में स्वयं को गिराकर अपने संयमी जीवन को दग्ध (नष्ट) कर डालता है।

पंचम ब्रह्मचर्य समाधि-स्थान: श्रुतिसंयम—

मूल—नो इत्थीणं कुड्डन्तरंसि वा, दूसन्तरंसि वा, भित्तन्तरंसि वा, कुइयसद्दं वा, रुइयसद्दं वा, गीयसद्दं वा, हसियसद्दं वा, थणियसद्दं वा, कंदियसद्दं वा, विलवियसद्दं वा, सुणेत्ता हवइ, से निग्गन्थे ।

त कहमिति चे ?

आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं कुड्डन्तरंसि वा, दूसन्तरंसि वा, भित्तंतरंसि वा, कूइयसद्दं वा रुइयसद्दं वा गीयसद्दं वा, हसियसद्दं वा, थणियसद्दं वा, कन्दियसद्दं वा, विलवियसद्दं वा, सुणेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा, वितिगिच्छा वा, समुप्पज्जिजज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा ।

तम्हा खलु निग्गन्थे नो इत्थीणं कुन्ड्डतरंसि वा, दूसन्तरंसि वा, भित्तंतरंसि वा, कुइय-सद्दं वा, रुइय-सद्दं वा, गीय-सद्दं वा, हसिय-सद्दं वा, थणिय-सद्दं वा, कन्दिय-सद्दं वा, विलविय–सद्दं वा सुणेमाणे विहरेज्जा ॥६॥

छाया—नो स्त्रीणां कुड्यान्तरे वा, दूष्यान्तरे वा, भित्त्यन्तरे वा, कूजितशब्दं वा, रुदितशब्दं वा, गीतशब्दं वा, हसित-शब्दं वा, स्तनितशब्दं वा, क्रन्दितशब्दं वा, विलपितशब्दं वा श्रोता भवति स निर्ग्रन्थः ।

तत्कथमिति चेत् ?

आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीणां कुड्यान्त रे वा, दूष्यान्तरे वा, भित्त्यन्तरे वा कूजितशब्दं वा, रुदितशब्दं वा, गीतशब्दं वा, हसितशब्दं वा, स्तनितशब्दं वा क्रन्द्रितशब्दं वा, विलपितशब्दं वा शृण्वतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वा, कांक्षा वा, विचिकित्सा वा, समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातंको भवेत्, केवलि प्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत् ।

तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थः स्त्रीणां कुड्यान्तरे वा, दूष्यान्तरे वा, भित्त्यन्तरे वा, कूजितशब्दं वा, रुदितशब्दं वा, क्रन्दितशब्दं वा, विलपितशब्दं वा शृण्वन् विहरेत् ॥९॥

पद्या०—दीवार मिट्टी की जहां, दे ध्यान अन्तर भाग से।
परदे तथा दीवार पक्की, के पहुँचकर पास से ॥३९॥

सुनता नहीं जो नारियों के, हास्य रोदन गीत है।
कूजन तथा प्रविलाप गर्जन, और क्रन्दन, सन्त है ॥४०॥

यह क्यों ? कहा आचार्य ने, उस मृत्तिका दीवार के।
परदे तथा दीवार पक्की, भीतरी संभाग के ॥४१॥

जो नारियों के हास रोदन, गीत क्रन्दन को अहा।
गर्जन तथा कूजन रवों को, सन्त जन सुनते रहा ॥४२॥

फिर ब्रह्मव्रत के विषय में, उस ब्रह्मचारी के हृदय।
कांक्षा विसंशय और शंका, स्वतः लेती है उदय ॥४३॥

अथवा नहीं तो ब्रह्मव्रत का, पूर्ण होता नाश है।
यदि बच गया उससे कहीं, तो रोग फिर उन्माद है ॥४४॥

या दीर्घकालिक रोग वा, आतंक होता है उसे।
वह भ्रष्ट होता है जगत् में, केवली के धर्म से ॥४५॥

अत एव मिट्टी भीत या परदा, सुदृढ़ दीवार के।
ब्रह्मचारी ना सुने वे, शब्द चित्त विकार के ॥४६॥

अन्वयार्थ—(जो), कुड्डंतरंसि वा—मिट्टी की दीवार के अन्तर से, दूसंतरंसि वा—या कपड़े के पर्दे के अन्तर से, भित्तंतरंसि वा—अथवा पक्की दीवार के अन्तर से, इत्थीणं—स्त्रियों के, कुइयसद्दं वा—कूजन के शब्द, रुइयसद्दं वा—रोने के शब्द, गीयसद्दं वा—या गीत शब्द, हसियसद्दं वा—अथवा हास्य के शब्द, थणियसद्दं वा—या स्तनित—गर्जन शब्द को, कंदियसद्दं वा—आक्रन्दन शब्द को, विलवियसद्दं वा—अथवा विलाप के शब्द को, नो सुणेत्ता हवइ—नहीं सुनता है, से निग्गंथे—वह निर्ग्रन्थ है। से कहिमिति चे ?—ऐसा क्यों? इस प्रश्न के उत्तर में, आयरियाह—आचार्य ने कहा—कुड्डंतरंसि वा, दूसंतरंसि वा भित्तंतरंसि वा—मिट्टी की दीवार के अन्तर से, पर्दे के अन्तर से से अथवा पक्की दीवार के अन्तर से, इत्थीणं कुइयसद्दं वा, गीयसद्दं वा, हसियसद्दं वा, थणियसद्दं वा कंदियसद्दं वा, विलवियसद्दं वा,—स्त्रियों के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, स्तनित, क्रन्दन एवं विलाप के शब्दों को, सुणेमाणस्स—

सुनने वाले, **बंभयारिस्स निग्गंथस्स**—ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ के, **बंभचेरे**—ब्रह्मचर्य के विषय में, **संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा**—शंका, कांक्षा या विचिकित्सा, **समुप्पज्जिज्जा**—उत्पन्न होती है, **भेयंवा**—अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश हो जाता है, **उम्मायं वा पाउणिज्जा**—या उन्माद पैदा हो जाता है। **दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा**—या फिर दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है, **केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ**—अथवा केवलिप्ररूपित धर्म से, **भंसेज्जा**—भ्रष्ट हो जाता है। **तम्हा**—अतः **निग्गंथे**—निर्ग्रन्थ, **कुड्डंतरंसि वा दूसंतरेसिवाभित्तंतरंसिवा वा**—मिट्टी की दीवार के अन्तर से, पर्दे के अन्तर से अथवा पक्की दीवार के अन्तर से, **इत्थीणं कुइयसद्दं वा, रुइयसद्दं वा, गीयसद्दं वा हसियसद्दं वा, थणियसद्दं वा, कंदियसद्दं वा, विलवियसद्दं वा**—स्त्रियों के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, गर्जन, आक्रन्दन या विलाप शब्दों को, **नो सुणेमाणे विहरेज्जा**—नहीं सुने ॥

भावार्थ—जो मिट्टी की दीवार के अन्तर से, परदे के अन्तर से या पक्की दीवार के अन्तर से, स्त्रियों के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, गर्जन, आक्रन्दन या विलाप के शब्दों को नहीं सुनता, वह निर्ग्रन्थ है।

यह क्यों ? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—मिट्टी की दीवार के अन्तर से, परदे के अन्तर से, अथवा पक्की दीवार के अन्तर से, स्त्रियों के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, गर्जन, आक्रन्दन या विलाप के शब्दों को सुनने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, काँक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है, अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद उत्पन्न होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है, और वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

इसलिए मिट्टी की दीवार के अन्तर से, परदे के अन्तर से वा पक्की दीवार के अन्तर से, स्त्रियों के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, गर्जन, आक्रन्दन या विलाप के शब्दों को नहीं सुने ॥१॥

विवेचन—पंचम ब्रह्मचर्य समाधि-स्थानः कुड्यान्तरशब्दश्रवणादिवर्जन—इस गुप्ति या वाड़ में दो बातों का निषेध है—(१) दीवार, टाटी, पर्दे आदि की ओट में जहाँ स्त्री-पुरुष दाम्पत्यक्रीड़ा करते हों, वहाँ न रहे (२) स्त्रियों की मधुर ध्वनि, गीत, रुदन आदि के शब्द न सुने। अर्थात् स्त्रियों के कामोद्दीपक शब्द सुनकर ब्रह्मचारी साधक का मन ब्रह्मचर्य से उसी तरह विचलित हो जाता है, जैसे मेघगर्जन सुनकर मोर और पपीहे कामोन्मत्त होकर बोलने लगते हैं। अतः ब्रह्मचारी को ऐसे स्थान में नहीं रहना चाहिए और न ही ऐसे शब्द कानों में पड़ने पर उसमें रस लेना चाहिए।

अतएव अपने पूर्व-गृह-कृत कामक्रीड़ा का स्मरण।
करके न ब्रह्म-समाधि से, च्युत हों कभी ना संतजन ॥५२॥

अन्वयार्थ—(जो), **निग्गंथे**—निर्ग्रन्थ, **पुव्वरयं**—संयमग्रहण से पूर्व गृहवास में की हुई रति (तथा), **पुव्वकीलियं**—पूर्वकृत क्रीड़ा का, **अणुसरित्ता नो हवइ**—अनुस्मरण नहीं करता, **से निग्गंथे**—वह निर्ग्रन्थ है। **तं कहमिति चे?**—ऐसा क्यों, यह पूछने पर, **आयरियाह**—आचार्य ने कहा—**पुव्वरयं**—संयमग्रहण करने से पूर्व की रति, (तथा) **पुव्वकीलियं**—पूर्वकृत क्रीड़ा का; **अणुसरमाणस्स**—अनुस्मरण करने वाले, **बंभयारिस्स निग्गंथस्स**—ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को, **संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा**—शंका, कांक्षा और विचिकित्सा, **समुप्पज्जिज्जा**—उत्पन्न होती है। **भेदं वा लभेज्ज वा**—अथवा ब्रह्मचर्य का भंग हो जाता है, **उम्मायं वा पाउणिज्जा**—अथवा उन्माद पैदा होता है। **दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा**—अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है, **केवलि-पन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा**—अथवा वह केवलिप्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। **तम्हा**—अतः, **निग्गंथे**—निर्ग्रन्थ, **पुव्वरयं**—दीक्षित होने से पूर्व की रति, **पुव्वकीलियं**—पहले की क्रीड़ा का, **नो**—खलु, **अणुसरेज्जा**—अनुस्मरण न करे ॥१०॥

भावार्थ—जो गृहवास में की हुई रति और क्रीड़ा का अनुस्मरण नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ है।

यह क्यों? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—गृहवास में की हुई रति और क्रीड़ा का अनुस्मरण करने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है, अथवा उन्माद उत्पन्न होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है और वह केवली कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

इसलिए गृहवास में की हुई रति और क्रीडा का अनुस्मरण नहीं करे ॥१०॥

विवेचन—छठा ब्रह्मचर्य समाधि-स्थान—पूर्वभुक्त भोग—स्मरण-वर्जन—स्त्री के साथ पूर्व (गृहस्थ) जीवन में भोगे हुए शब्दादि पाँचों काम-गुणों में से एक भी विषयभोग का स्मरण करने से ब्रह्मचर्य भंग हो जाता है। इसलिए यह समाधि स्थान बताया गया है।

सप्तम ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान : रससंयम—

मूल—नो पणीयं आहारं आहरित्ता हवइ, से निग्गन्थे।
तं कहमिति चे?

आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु पणीयं पाण-भोयणं आहारेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे पणीयं आहारं आहरेज्जा ॥११॥

छाया—नो प्रणीतमाहारमाहर्ता भवति स निर्ग्रन्थः।
तत्कथमिति चेत्?
आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु प्रणीतमाहार-माहरतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वा, कांक्षा वा, विचिकित्सा वा, समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलि-प्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थः प्रणीतमाहारमाहरेत् ॥११॥

पद्यानु०—जो पुष्ट सरसाहार का, सेवन यहाँ करता नहीं।
निर्ग्रन्थ वह, यह किस तरह? आचार्य बोले सुन यहीं ॥५३॥
जो पुष्ट भोजन पान का, करता सदा सेवन यहां।
मन ब्रह्मभावों से विरत, उस व्यक्ति का बनता कहाँ? ॥५४॥
नित पुष्ट भोजन पान से, उस ब्रह्मचारी के हृदय।
कांक्षा, विसंशय और शंका, स्वतः लेती है उदय ॥५५॥
अथवा नहीं तो ब्रह्मव्रत का, पूर्ण होता नाश है।
यदि बच गया उससे कहीं तो, रोग बस उन्माद है ॥५६॥
या दीर्घकालिक रोग वा, आतंक होता है उसे।
वह भ्रष्ट होता है जगत् में, केवली के धर्म से ॥५७॥
अतएव मुनि को चाहिए, वह पुष्टकर आहार का।
सेवन करे ना भूल से,-विपरीत मुनि व्यवहार का ॥५८॥

अन्वयार्थ—(जो), **पणीयं आहारं**—प्रणीत—रसयुक्त पौष्टिक आहार, **नो आहरित्ता हवइ**—नहीं करता है, **से निग्गंथे**—निर्ग्रन्थ है। **तं कहमिति चे?**—ऐसा क्यों? इस प्रकार पूछने पर, **आयरियाह**—आचार्य ने कहा—**पणीयं**—रसयुक्त पौष्टिक, **पाण-भोयणं**—पान-भोजन, **आहरेमाणस्स**—सेवन करने वाले, **बंभयारिस्स निग्गन्थस्स**—ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ का, **बंभचेरे**—ब्रह्मचर्य के विषय में, **संका वा कंखा वा वतिगिच्छा वा**—शंका, कांक्षा या विचिकित्सा, **समुप्पज्जिज्जा**—उत्पन्न होती है, **भेयं**

वा लभेज्जा—अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है, **उम्मायं वा पाउणिज्जा**—अथवा उन्माद पैदा होता है। **दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा**—या फिर दीर्घकालिक रोग और आतंक हो जाता है, **केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ**—अथवा केवलि प्ररुपित धर्म से. **भंसेज्जा**—भ्रष्ट हो जाता है। **तम्हा**—इसलिए, **निग्गंथे**—निर्ग्रन्थ, **पणीयं आहारं**—प्रणीत आहार, **नो आहारेज्जा**—नहीं करे ॥११॥

भावार्थ—जो प्रणीत (पुष्ट) आहार नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ है।

यह क्यों ? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—प्रणीत—पान भोजन करने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है, अथवा उन्माद उत्पन्न होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है और वह केवली कथित-धर्म से भ्रष्ट हो जाता है ॥११॥

इसलिए निर्ग्रन्थ प्रणीत आहार नहीं करे।

विवेचन—सातवां ब्रह्मचर्य समाधि-स्थान : प्रणीत आहार-त्याग:—प्रणीत आहार का अर्थ है—ऐसा सरस स्निग्ध आहार, जिससे घृत बिन्दु झर रहे हों, जो घृतादि से परिपूर्ण हो, घृतादि से पूर्ण आहार पौष्टिक और दुष्पाच्य होता है। स्निग्ध आहार धातु को दीप्त करता है, धातु के दीप्त होने से मनोविकार बढ़ता है, मनोविकार-वृद्धि से अंग-कुचेष्टा होती है, या वीर्यपात होता है और इससे मनुष्य प्रायः भोग में प्रवृत्त हो जाते हैं। इसी तरह प्रतिदिन सरस स्निग्ध एवं स्वादिष्ट पौष्टिक आहार करने वाला साधक अपने बहुमूल्य ब्रह्मचर्य-महाव्रत को मलिन या भंग कर डालता है।

अष्टम ब्रह्मचर्य समाधि-स्थान भोजनसंयम—

मूल—नो अइमायाए पाणभोयणं आहारेत्ता हवइ, से निग्गन्थे,
तं कहमिति चे ?
आयरियाह-निग्गन्थस्स खलु अइमायाए पाण-भोयणं आहारेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलि पन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा।
तम्हा खलु नो निग्गन्थे अइमायाए पाणभोयणं भुंजिज्जा।१२।

छाया—नो अतिमात्रया पान-भोजनमाहर्ता भवति स निर्ग्रन्थः।
तत्कथमिति चेत् ?

आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खल्वतिमात्रया पान-भोजनमाहर्ता ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वा, कांक्षा वा, विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत् केवलि प्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत् ।

तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थोऽतिमात्रया पान-भोजनं भुंजीत ॥५८॥

पद्यानुवाद—परिमाण से वढ़ जो न खाता, और पीता है यहाँ ।
निर्ग्रन्थ वह, यह किस तरह ? गुरुदेव ने उत्तर कहा ॥५९॥

परिमाण से वढ़ पान भोजन, जो यहाँ सेवन करे ।
मन ब्रह्मभावों से विरत, हो सत्यपथ विस्मृत करे ॥६०॥

फिर अधिक भोजन पान से, उस ब्रह्मचारी के हृदय ।
कांक्षा विसंशय और शंका, स्वतः लेती है उदय ॥६१॥

अथवा नहीं तो ब्रह्मव्रत का, पूर्ण होता नाश है ।
यदि बच गया उससे कहीं, तो रोग बस उन्माद है ॥६२॥

या दीर्घकालिक रोग वा, आतंक होता है उसे ।
वह भ्रष्ट होता है जगत् में, केवली के धर्म से ॥६३॥

अतएव मुनि को चाहिए, अतिपान वा आहार का ।
भूलकर नहीं सेवन करे, विपरीत मुनि व्यवहार का ॥६४॥

अन्वयार्थ—(जो) **अइमायाए**—अति मात्रा में, **पाण-भोयणं**—पान-भोजन, **नो आहारेत्ता भवइ**—खाता-पीता नहीं है; **से निग्गंथे**—वह निर्ग्रन्थ है । **तं कहमिति चे**—ऐसा क्यों ? इस प्रकार पूछने पर, **आयरियाह**—आचार्य ने कहा—, **अइमायाए**—मात्रा से अधिक, **पाणभोयणं आहारेमाणस्स**—पान-भोजन करने वाले, **बंभयारिस्स निग्गंथस्स**—ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को, **बंभचेरे**—ब्रह्मचर्य में, **संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा**—शंका, कांक्षा अथवा विचिकित्सा, **समुप्पज्जिज्जा**—उत्पन्न होती है । **भेयं वा लभेज्जा**—अथवा ब्रह्मचर्य भंग हो जाता है, **उम्मायं वा पाउणिज्जा**—अथवा उन्माद पैदा होता है । **दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा**—अथवा दीर्घकालिक रोग एवं आतंक होता है । **केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा**—या फिर वह केवलिप्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट हो जाता है । **तम्हा**—इसलिए, **निग्गंथे**—निर्ग्रन्थ, **अइमायाए**—अति मात्रा में **पाण-भोयणं**—पान और भोजन, **नो भुंजिज्जा**—न पीए; न खाए ॥१२॥

भावार्थ—जो मात्रा से अधिक भोजन पानी का सेवन नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ है ।

यह क्यों ? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—मात्रा से अधिक पीने

और खाने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद उत्पन्न होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है एवं वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

इसलिए मात्रा से अधिक पान-भोजन नहीं करना चाहिये ॥१२॥

विवेचन—आठवाँ ब्रह्मचर्य समाधि-स्थान : अतिभोजन-त्याग— प्रमाण से अधिक भोजन करने से ब्रह्मचर्य को तो क्षति पहुँचती ही है, साथ ही तन और मन की भी अत्यधिक क्षति होती है। अधिक आहार करने से पेट उसी तरह फटने लगता है, जिस तरह सेर की हंडिया में सवा सेर अन्न भरने से, अधिक आहार करने से मनुष्य के रूप, वल, कान्ति, ओज और गात्र क्षीण हो जाते हैं, उसे प्रमाद, निद्रा, आलस्य और दीर्घसूत्रता घेर लेते हैं, पाचन शक्ति भी क्षीण हो जाती है, अजीर्ण, गैस, अपच, उदर शूल, अतिसार आदि रोग का भय रहता है। जठराग्नि कुपित हो जाती है। इस प्रकार शारीरिक और मानसिक हानियाँ है ही, आत्मिक हानि भी कम नहीं है। इसीलिए ब्रह्मचर्य समाधि के लिए इस गुप्ति की अत्यन्त आवश्यकता वतलाई है।

नवम ब्रह्मचर्य समाधि-स्थानः विभूषा संयम—

मूल—नो विभूसाणुवाई हवइ, से निग्गन्थे।

तं कहमिति चे ?

आयरियाह—विभूसावत्तिए विभूसिय-सरीरे इत्थिजणस्स अभिलसणिज्जे हवइ। तओणं तस्स-इत्थिजणेणं अभिलसणिज्ज-माणस्स वंभयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा।

तम्हा खलु नो निग्गन्थे विभूसाणुवाई सिया ॥१३॥

छाया—नो विभूषानुपाती भवति, स निर्ग्रन्थः

तत्कथमिति चेत् ?

आचार्य आह—विभूषावर्तिको विभूषितशरीरः स्त्रीजनस्याऽ-

भिलषणीयो भवति। ततस्तस्य स्त्री जनेनाभिलष्यमाणस्य ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वा, कांक्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलि-प्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत्।

तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थो विभूषानुपाती स्यात् ॥१३॥

पद्या०—जो संयमी भूषा न करता, है यहां निर्ग्रन्थ वह।
यह क्यों? कहा आचार्य ने, है सूत्र का निर्देश यह ॥६५॥

पड़ गयी आदत जिसे, तन के सजाने की यहां।
वैसी सुसज्जित देह पर, आसक्त महिला होती वहाँ ॥६६॥

फिर नारियों की चाह पर, उस ब्रह्मचारी के हृदय।
काँक्षा, विसंशय और शंका, स्वतः लेती है उदय ॥६७॥

अथवा नहीं तो ब्रह्म व्रत का, पूर्ण होता नाश है।
यदि बच गया उससे कहीं, तो रोग वश उन्माद है ॥६८॥

या दीर्घकालिक रोग वा, आतंक होता है उसे।
वह भ्रष्ट होता है जगत् में, केवली के धर्म से ॥६९॥

अतएव मुनि को चाहिए, वह तन सुसज्जित ना करे।
निर्दोष सादा वेषधर, मुनि धर्म को शोभित करे ॥७०॥

अन्वयार्थ—(जो) **विभूसाणुवाई**—विभूषानुपाती, **नो हवइ**—नहीं होता है, अर्थात्—शरीर आदि की विभूषा नहीं करता, **से निग्गंथे**—वह निर्ग्रन्थ होता है। **तं कहमिति चे?**—ऐसा क्यों? इस प्रकार पूछने पर, **आयरियाह**—आचार्य ने कहा—**विभूसावत्तिए**—जिसकी मनोवृत्ति विभूषा करने की होती है, **विभूसियसरीरे**—वह शरीर को विभूषित करता-सजाता है, (फलतः) **इत्थिजणस्स**—स्त्रियों द्वारा, **अभिलसणिज्जे**—अभिलषणीय होता है, (अर्थात्—उसे स्त्रियाँ चाहती हैं) **तओणं**—तब फिर, **इत्थिजणेणं अभिलसिज्जमाणस्स**—स्त्रियों द्वारा चाहे जाने वाले, **तस्स**—उस ब्रह्मचारी को, **बंभचेरे**—ब्रह्मचर्य के विषय में, **संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा**—शंका, कांक्षा या विचिकित्सा, **समुप्पज्जिज्जा**—उत्पन्न होती है, **भेयं वा लभेज्जा**—अथवा ब्रह्मचर्य का नाश होता है, **उम्मायं वा पाउणिज्जा**—या फिर वह उन्माद को प्राप्त हो जाता है, **दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा**—अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक हो जाता है, **केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा**—अथवा वह केवलिप्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। **तम्हा**—अतः, **निग्गंथे**—निर्ग्रन्थ, **विभूसाणुवाई**—विभूषानुपाती, **नो सिया**—न बने ॥१३॥

भावार्थ—जो भिक्षु शरीर की विभूषा नहीं करता है। वह निर्ग्रन्थ है।

ऐसा क्यों ? इस प्रकार पूछने पर आचार्य ने कहा—जिसकी मनोवृत्ति विभूषा करने की होती है, वह शरीर को सुसज्जित करता है, फलतः वह स्त्रियों द्वारा चाहे जाने योग्य हो जाता है। स्त्रियों द्वारा चाहे जाने वाले ब्रह्मचारी को फिर ब्रह्मचर्य में शंका, कांक्षा अथवा विचिकित्सा उत्पन्न होती है, अथवा ब्रह्मचर्य का भंग हो जाता है, या फिर उन्माद पैदा हो जाता हैं, अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक हो जाता है, या वह केवलि-प्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। अतः निर्ग्रन्थ हर्गिज विभूषानुपाती नहीं बने ॥१३॥

विवेचन—विभूसाणुवाई: दो अर्थ—(१) विभूषानुपाती-विभूषा यानी शरीर-शोभा रात-दिन हाथ धोकर शोभा विभूषा के पीछे पड़ने वाला।

(२) **इत्थीजणस्स अभिलसणिज्जे : दो अर्थ**—(१) एक अर्थ पहले दिया जा चुका है (२) स्त्रीजन द्वारा अभिषणीय, अर्थात्-कामभोगार्थ वांछा करने योग्य बन जाता है।

दशम ब्रह्मचर्य समाधि-स्थान : पंचेन्द्रिय-विषयसंयम—

मूल—नो सद्द-रूव-रस-गंध-फासाणुवाई हवइ, से निग्गंथे।

तं कहमिति चे ?

आयरियाह-निग्गंथस्स खलु सद्द-रूव-रस गन्ध-फासाणुवाइस्स बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा, समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा।

तम्हा खलु नो निग्गंथे सद्द-रूव-रस-गन्ध-फासाणुवाई हविज्जा।

दसमे बंभचेर-समाहिठाणे हवइ ॥१४॥

छाया—नो शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शानुपाती भवति स निर्ग्रन्थः।

तत्कथमिति चेत् ?

आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शानुपातिनो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वा कांक्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत

भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातंको भवेत् केवलिप्रज्ञप्ताद वा धर्माद् भ्रश्येत् ।

तस्मान् खलु नो शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शानुपाती भवति स निर्ग्रन्थः दशमं ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थानं भवति ॥१४॥

पद्यानुवाद—जो इन्द्रियों के विषय में आसक्त होते हैं नहीं।
निर्ग्रन्थ वह, यह क्यों, पुनः आचार्य बतलाते सही ॥७१॥
जो शब्द, गन्ध, स्पर्श रस और रूप में आसक्त है।
वह ब्रह्मव्रत से दूर हो, बनता विषय का भक्त है ॥७२॥
फिर विवश इन्द्रिय हो रहे, उस ब्रह्मचारी के हृदय।
कांक्षा विसंशय और शंका स्वतः लेती हैं उदय ॥७३॥
अथवा नहीं तो ब्रह्मव्रत का पूर्ण होता नाश है।
यदि बच गया उससे कहीं, तो रोग या उन्माद है ॥७४॥
या दीर्घकालिक रोग वा, आतंक होता है उसे।
वह भ्रष्ट होता है जगत में, केवली के धर्म से ॥७५॥
अतएव इन्द्रिय विवश जग, होवे न भूले संतजन।
निज ब्रह्मचर्य समाधि का, पालें नियम धर ध्यान मन ॥७६॥

अन्वयार्थ—(जो) **सद्द-रूव-रस-गंध-फासाणुवाई**—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में आसक्त (अनुपाती) **नो**—नहीं, **हवइ**—होता है, **से निग्गंथे**—वह निर्ग्रन्थ है।

तं कहमिति चे ?—ऐसा क्यों ? इस प्रकार पूछने पर, **आयरियाह**—आचार्य कहते हैं—**सद्द-रूव-रस-गंध-फासाणुवाइस्स**—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में आसक्त, **निग्गंथस्स बंभयारिस्स**—निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी को, **बंभचेरे**—ब्रह्मचर्य के विषय में, **संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा**—शंका, कांक्षा या विचिकित्सा, **समुप्पज्जिज्जा**—उत्पन्न होती है, **भेयं वा लभेज्जा**—अथवा ब्रह्मचर्य का भंग होता है, **उम्मायं वा पाउणिज्जा**—अथवा उन्माद पैदा हो जाता है, **दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा**—अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक हो जाता है. **केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ वा भंसेज्जा**—या फिर वह केवलिप्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

तम्हा—इसलिए, **निग्गंथे**—निर्ग्रन्थ, **सद्द-रूव-रस-गंध-फासाणुवाई**—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में आसक्त, **नो हविज्जा**—न हो।

(यह) **दसमे**—दसवां, **बंभचेरसमाहिठाणे हवइ**—ब्रह्मचर्य—समाधि—स्थान है ॥१४॥

भावार्थ—जो शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में आसक्त नहीं होता वह निर्ग्रन्थ है।

ऐसा क्यों ? इस प्रकार पूछने पर, आचार्य कहते हैं—जो शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में आसक्त रहता है, उस ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य में शंका, कांक्षा अथवा विचिकित्सा उत्पन्न होती है, अथवा ब्रह्मचर्य का भंग हो जाता है, या फिर उन्माद पैदा होता है; अथवा वह केवलीप्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

अतः निर्ग्रन्थ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में आसक्त न हो।

यह ब्रह्मचर्य-समाधि का दसवाँ स्थान है ॥१४॥

विवेचन—जितेन्द्रिय होना ब्रह्मचर्य की पहली शर्त है, जो शब्दादि पंच विषय कामगुणों का रसिक हैं, नाच-गान या रागवर्धक फिल्म और पिक्चर देखने का प्रेमी है, उसका ब्रह्मचर्य सुरक्षित नहीं रह सकता, इसलिये वीरशासन के साधकों को इस ओर पूरी तत्परता के साथ ध्यान रखना चाहिये। शास्त्रों में कहा है कि "विणीयतण्हो विहरे सीइभूएण अप्पणो" व्रती साधक शब्दादि-कामगुणों की लालसा छोड़कर शीतलीभूत आत्मा से विचरण करे।

प्रथम गुप्ति : विविक्त शय्यासन ब्रह्मचर्य समाधिस्थान (पद्य में)—

मूल—भवंति इत्थ सिलोगा, तंजहा—

जं विवित्तमणाइण्णं रहियं थी-जणेण य।
बंभचेरस्स रक्खट्ठा आलयं तु निसेवए ॥१॥

छाया—भवंत्यत्र श्लोकास्तद्यथा—

यं विविक्तमनाकीर्णं रहितं स्त्रीजनेन च।
ब्रह्मचर्यस्य रक्षार्थं, आलयं तु निषेवयेत् ॥७७॥

पद्या०—जो भवन यहाँ एकान्तशून्य, प्रमदा का जहाँ निवास नहीं।
हैं ब्रह्मचर्य रक्षा हित मुनि, करते उस घर में वास सही ॥१॥

अन्वयार्थ—भवंति इत्थ सिलोगा, तंजहा—इस विषय में कुछ श्लोक हैं, जं—जो आलय—निवास-स्थान, विवित्तं—विविक्त-एकान्त, अणाइण्णं—अनाकीर्ण (एवं) थी जणेण—स्त्रीजन से, रहियं—रहित हो, बंभचेरस्स रक्खट्ठा—ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए (संयमी) उस, आलयं—निवास स्थान का, निसेवए—सेवन करे ॥१॥

भावार्थ—इस विषय में कुछ श्लोक हैं, जैसे कि—जो आलय (मकान) विविक्त एकान्त या दूषित वातावरण से रहित तथा अनाकीर्ण और स्त्रियों से रहित हो, उस स्थान में ब्रह्मचारी साधु निवास करे ॥१॥

विशेषार्थ—अनाकीर्ण और स्त्री जनरहित वृत्तिकार यहाँ एक विशेष अर्थ भी सूचित करते हैं कि रात में तो स्त्रियों का आवागमन न हो, परन्तु दिन में भी व्याख्यान, प्रत्याख्यान, या शास्त्र वाचना आदि योग्य काल के अतिरिक्त वहां साध्वियों या श्राविकाओं का आवागमन न हो। तभी ब्रह्मचर्य की सुरक्षा हो सकती है।

द्वितीय गुप्ति : स्त्री कथा वर्जन—

मूल—मण-पल्हायजणणिं कामराग—विवड्ढणिं।
वंभचेररओ भिक्खू, थी कहं तु विवज्जए ॥२॥

छाया—मनः प्रह्लादजननीं, काम-रागविवर्धनीम्।
ब्रह्मचर्यरतो भिक्षुः, स्त्रीकथां तु विवर्जयेत् ॥२॥

पद्यानुवाद—मन को प्रसन्न करने वाली, जो काम-राग वर्धन वाली।
मुनि ब्रह्मभाव रमने वाला, तज दे नारी विकथा काली ॥७८॥

अन्वयार्थ—**बंभचेररओ भिक्खू**—ब्रह्मचर्य में रत रहने वाला भिक्षु, **मण-पल्हायजणणिं**—मन में आल्हाद पैदा करने वाली (तथा) **काम-राग विवड्ढणिं**—कामराग को बढ़ाने वाली, **थी कहं तु**—स्त्री कथा (स्त्री-सम्बन्धी विकारवर्द्धक कथा) का, **विवज्जए**—त्याग करे ॥२॥

भावार्थ—ब्रह्मचर्य-परायण भिक्षु चित्त में आह्लाद उत्पन्न करने वाली एवं कामराग की उत्तेजक स्त्रियों की विकथा का त्याग करे ॥२॥

तृतीय गुप्ति : स्त्री के साथ एकासन, वार्तालाप एवं अतिसंसर्ग का निषेध—

मूल—समं च संथवं थीहिं, संकहं च अभिक्खणं।
वंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥३॥

छाया—समं च संस्तवं स्त्रीभिः, संकथां चाभीक्ष्णम्।
ब्रह्मचर्यरतो भिक्षुः नित्यशः परिवर्जयेत् ॥३॥

पद्यानवाद—नारी की राग-कथा परिचय, दोनों ही ब्रह्म विघातक हैं।
मुनि नित्य करे इसका वर्जन, जो ब्रह्मचर्य का पालक है ॥७९॥

भावार्थ—ब्रह्मचर्य—परायण साधु स्त्रियों के साथ अति संसर्ग, तथा उनके साथ वार-वार वहुत वातें करना, सदैव वर्जन करे, छोड़े ॥३॥

अन्वयार्थ—**वंभचेररओ भिक्खू**—ब्रह्मचर्य में रत भिक्षु, **थीहिं संथवं**—

स्त्रियों के साथ अतिपरिचय, च—और, अभिक्खणं संकहं—बार-बार वार्तालाप (संभाषण) का, निच्चसो—सदैव, परिवज्जए—परित्याग करे ॥३॥

भावार्थ—ब्रह्मचर्य-परायण साधु स्त्रियों के साथ अतिसंसर्ग, तथा उनके साथ बारबार बहुत बातें करना, सदैव के लिए छोड़े ॥३॥

चतुर्थगुप्ति : अंग-प्रत्यंग-प्रेक्षण निषेध—

मूल—अंग-पच्चंग-संठाणं, चारुल्लविय-पेहियं ।
बंभचेररओथीणं चक्खुगिज्झं विवज्जए ॥४॥

छाया—अंग-प्रत्यंग-संस्थानं, चारुल्लपित-प्रेक्षितम् ।
ब्रह्मचर्य-रतः स्त्रीणां, चक्षुर्ग्राह्यं विवर्जयेत् ॥४॥

पद्या०—आकार अंग प्रत्यंग तथा, वाणी की छटा और चितवन ।
ब्रह्मव्रती नारी जन के, अंगों पर दृष्टि करे वर्जन ॥४॥

अन्वयार्थ—**बंभचेररओ भिक्खू**—ब्रह्मचर्य में रत भिक्षु, **चक्खुगिज्झं**—चक्षु-इन्द्रिय से ग्राह्य, **थीणं**—स्त्रियों के, **अंग-पच्चंग-संठाणं**—अंग, प्रत्यंग, एवं संस्थान **चारुल्लविय-पेहियं**—सुन्दर संभाषण, तथा कटाक्ष को देखने का, **विवज्जए**—त्याग करे ॥४॥

भावार्थ—ब्रह्मचर्य में रत भिक्षु दृष्टि विषय में आए हुए स्त्रियों के अंग, प्रत्यंग, संस्थान (आकार या डीलडौल), बोलने की सुन्दर छटा, तथा कटाक्ष आदि का विवर्जन करे।

विवेचन—अंपग-च्चंगः विशेषार्थ—अंग का अर्थ है—हाथ, पैर, मुख, कान, आँख, मस्तक आदि, और प्रत्यंग का अर्थ है—स्तन, जंघा, नाभि, कांख आदि अवयव।

संठाणः—(१) आकार, (२) डीलडौल आदि की स्थिति।

चक्खुगिज्झं विवज्जए :—ये सब अपनी दृष्टि पथ में आए तो भी अपने चक्षुओं को बलात् वहाँ से हटा ले। उन पर दृष्टि गड़ा कर ताक-ताक कर न देखे।

पंचमगुप्ति : स्त्री के वासनावर्द्धक शब्दादि श्रवण-निषेध—

मूल—कुइयं रुइयं गीयं हसियं थणिय-कंदियं ।
बंभचेररओ थीणं सोयगेज्झं विवज्जए ॥५॥

छाया—कूजितं रुदितं गीतं, हसितं स्तनित—क्रन्दितम् ।
ब्रह्मचर्यरतः स्त्रीणां, श्रोत्रग्राह्यां विवर्जयेत् ॥५॥

पद्या०—नारी के कूजन, हास्य, गीत, रोदन गर्जन और आक्रन्दन।
हैं सुने नहीं इन शब्दों को, जो ब्रह्मचर्य व्रतलीन श्रमण ॥८१॥

अन्वयार्थ—बंभचेररओ—ब्रह्मचर्य में रत साधु, सोमगेज्झं—श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य, थीणं—स्त्रियों के, कूइयं—कूजन, रुइयं—रुदन, गीयं—गीत, हसियं—हास्य, थणियं कंदियं—गर्जन और क्रन्दन, विवज्जए—न सुने ॥५॥

भावार्थ—ब्रह्मचर्य-परायण भिक्षु अपने कानों से ग्रहण करने योग्य हों तो भी स्त्रियों के, कूजन, रुदन, गीत, हास्य, गर्जन की आवाज और क्रन्दन के शब्द सुनने का परित्याग करे ॥५॥

छठी गुप्ति : पूर्वानुभूत भोगों के स्मरण का निषेध—

मूल—हासं किड्डं रइं दप्पं, सहसाऽवत्तासियाणि य।
बंभचेररओ थीणं, नाणुचिंते कयाइ वि ॥६॥

छाया—हास्यं क्रीडां रतिं दर्पं, सहसाऽवत्रासितानि च।
ब्रह्मचर्यरतः स्त्रीणां, नानुचिन्तयेत् कदापि च ॥६॥

पद्यानुवाद—नारी के संग हास्य दर्प, रति-क्रीडा सहसा त्रास सभी।
जो ब्रह्मचर्य में लीन श्रमण, लायें न उन्हें मन ध्यान कभी ॥८२॥

अन्वयार्थ—बंभचेररओ—ब्रह्मचर्य में रत भिक्षु, (दीक्षा से पूर्व जीवन में स्त्रियों के साथ अनुभूत) हासं—हास्य, किड्डं—क्रीडा, रइं—रति, दप्पं—दर्प=अभिमान, य—और, सहसा—आकस्मिक, अवत्तासियाणि—अवत्रासित त्रास का, कयाइ वि—कदापि, नाणुचिंते—अनुचिन्तन=स्मरण न करे ॥६॥

भावार्थ—ब्रह्मचर्य परायण भिक्षु (प्रव्रजित होने से पूर्व-भुक्त) हास्य, क्रीड़ा, रति, अभिमान और सहसा त्रास का कदापि अनुचिन्तन नहीं करे ।६।

विवेचन—दप्पं—स्त्रियों को मनाने या उनके मान-मर्दन से उत्पन्न गर्व। सहसाऽवित्तासियाणि : अकस्मात् भय उत्पन्न करने की बात। पाठान्तर—सहभुत्तासणाणि' भी है उसका अर्थ है—स्त्री के साथ एक आसन पर बैठकर (पूर्वाश्रम में) किया हुआ भोजन भी स्मरण न करे।

सप्तम गुप्ति : विकार-वर्धक आहार-निषेध—

मूल—पणीयं भत्त-पाणं तु, खिप्पं मयविवड्ढणं।
बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥७॥

छाया—प्रणीतं भक्त-पानं तु, क्षिप्रं मद-विवर्धनम्।
ब्रह्मचर्यरतो भिक्षुः, नित्यशः परिवर्जयेत् ॥७॥

पद्यानुवाद—है अतिपौष्टिक जो भक्तपान, भोगेच्छा शीघ्र बढ़ाते हैं।
ब्रह्मभाव में लीन संत तज, नित्य इन्हें सुख पाते हैं ॥८३॥

अन्वयार्थ—**बम्भचेररओ भिक्खू**—ब्रह्मचर्यरत भिक्षु, **खिप्पं मयविवड्ढणं**—शीघ्र ही काम-वासना को बढ़ाने वाले, **पणीयं भत्तपाणं**—प्रणीत भक्त-पान का, **निच्चसो**—सदैव, **परिवज्जए**—त्याग करे ॥

भावार्थ—ब्रह्मचर्य-परायण भिक्षु शीघ्र ही कामवासना को बढ़ाने वाले प्रणीत भक्त-पान का सदैव त्याग करे ॥७॥

आठवीं गुप्ति : मात्रा से अधिक आहार का निषेध—

मूल—धम्मलद्धं मियं काले, जत्तत्थं पणिहाणवं।
नाइमत्तं तु भुंजिज्जा, बंभचेररओ सया ॥८॥

छाया—धर्मलब्धं मितं काले, यात्रार्थं प्रणिधानवान्।
नाऽतिमात्रं तु भुंजीत, ब्रह्मचर्यरतः सदा ॥८॥

पद्यानुवाद—दोषरहित समयानुकूल, यात्रार्थ सदा भिक्षा लेकर।
हो ब्रह्मचर्य संलीन सदा, खाए न कभी सीमा तजकर ॥८४॥

अन्वयार्थ—**बंभचेररओ**—ब्रह्मचर्यरत साधु, **पणिहाणवं**—प्रणिधानवान्=स्थिरचित्त होकर, **जत्तत्थं**—जीवन-यात्रा के लिए, **काले**—उचित समय में, **धम्मलद्धं** धर्ममर्यादानुसार प्राप्त, **मियं**—परिमित, **भुंजिज्जा**—भोजन करे, **नाइमत्तं तु**—किन्तु अतिमात्रा में (मात्रा से अधिक) आहार न करे ॥८॥

भावार्थ—ब्रह्मचर्य-परायण साधु चित्त में स्थिरता रखकर, जीवन-यात्रा के लिए उचित समय में, धर्ममर्यादानुसार प्राप्त परिमित भोजन करे, किन्तु परिमाण से अधिक भोजन नहीं करे ॥८॥

विवेचन—प्रस्तुत गाथा में ब्रह्मचारी के भोजन की विधि बताई है, इसमें पाँच तथ्य प्रस्तुत किये गए हैं, जिनको इस प्रकार विभक्त कर सकते हैं—

(१) **कैसा भोजन ?**—**धम्मलद्धं**—इसका आशय यह है—किसी से जबरन छीनकर, डराकर, ठगकर या अविधिपूर्वक प्राप्त किया हुआ नहीं, किन्तु साधु की भिक्षाचरी की धर्मविधि से प्राप्त एषणीय कल्पनीय भोजन।

(२) कितना भोजन ?—**मियं**—अर्थात्—परिमित अधिक नहीं।

(३) कब भोजन करे ?—**काले**=उचित समय पर।

(४) किसलिए करे ?—**जत्तत्थं**—जीवन-यात्रा या संयम-यात्रा के लिए, स्वाद या शरीरपुष्टि के लिए नहीं।

(५) किस प्रकार करे ?—**पणिहाणवं**—प्रणिधानवान् यानी स्थिर-चित्त शान्तचित्त होकर।

नौवीं गुप्ति : विभूषा-परिवर्जन—

मूल—विभूसं परिवज्जेज्जा, सरीर-परिमंडणं।
बंभचेररओ भिक्खू, सिंगारत्थं न धारए॥९॥

छाया—विभूषां परिवर्जयेत्, शरीर-परिमण्डनम्।
ब्रह्मचर्यरतो भिक्षुः श्रृंगारार्थं न धारयेत् ॥८५॥

पद्यानुवाद—ब्रह्मचर्य व्रत-लीन भिक्षु, शोभा का वर्जन नित्य करे।
अपने शरीर का परिमण्डन, श्रृंगार हेतु ना चित्त धरे ॥८५॥

अन्वयार्थ—**बंभचेररओ भिक्खू**—ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु, **विभूसं**—विभूषाका, **परिवज्जेज्जा**—परित्याग करे, **सिंगारत्थं**—श्रृंगार के लिए, **सरीर-परिमंडणं**—शरीर का मण्डन, **न धारए**—नहीं करे तथा (श्रृंगारार्थ कुछ भी) धारण न करे ॥९॥

भावार्थ—ब्रह्मचर्य—परायण साधु विभूषा का परित्याग करे, वह श्रृंगार के लिए शरीर की साज-सज्जा तथा (श्रृंगारार्थ) कुछ भी धारण न करे ॥९॥

विवेचन—विभूषा, परिमण्डन और श्रृंगार :—विभूषा कहते हैं—वस्त्र, आभूषण आदि से शरीर को सजाना;

मण्डन कहते हैं—नख, केश आदि को संस्कारित करना, नखों पर, होठों पर लाली लगाना, केश संवारना।

श्रृंगार कहते हैं—सारे शरीर को वस्त्र, आभूषण आदि से सजाना केश, मुँह आदि को संस्कारित करना, पाउडर, क्रीम, आदि लगाना। ये सब ब्रह्मचर्य के लिए विघातक हैं।

शब्दादि में आसक्ति का निषेध—: ब्रह्मचर्य गुप्ति का कोट—

मूल—सद्दे रूवे य गन्धे य रसे फासे तहेव य।
पंचविहे कामगुणे निच्चसो परिवज्जए ॥१०॥

छाया—शब्दान् रूपांश्च गन्धांश्च, रसान् स्पर्शांस्तथैव च।
पंचविधान् कामगुणान्, नित्यशः परिवर्जयेत् ॥१०॥

पद्यानुवाद—शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, ये पाँचों काम बढ़ाते हैं।
इन काम-गुणों को तजे नित्य, ये रागवृद्धि करवाते हैं ॥८६॥

अन्वयार्थ—सद्दे—शब्द, रूवे—रूप, य—और, गंधे य—गन्ध, रसे—रस, तहेव य—तथा, फासे—स्पर्श, (इन) पंचविहे कामगुणे—पांच प्रकार के कामगुणों—कामभोगों, निच्चसो—सदा के लिए, परिवज्जए—त्याग करे ॥१०॥

भावार्थ—शब्द, रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श, इन पाँच प्रकार के काम-गुणों का ब्रह्मचारी सदा के लिए परित्याग करे ॥१०॥

ब्रह्मचर्य समाधि-भंग के कारण—

मूल—आलओ थीजणाइण्णो, थीकहा य मणोरमा।
संथवो चेव नारीणं, तासिं इंदियदरिसणं ॥११॥

कुइयं रुइयं गीयं, हसियं भुत्तासियाणि य।
पणीयं भत्तपाणं च, अइमायं पाण-भोयणं ॥१२॥

गत्तभूसणमिट्ठं च, कामभोगा य दुज्जया।
नरस्सऽत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥१३॥

दुज्जए कामभोगे य, निच्चसो परिवज्जए।
संकट्ठाणाणि सव्वाणि, वज्जेज्जा पणिहाणवं ॥१४॥

छाया—आलयः स्त्रीजनाकीर्णः, स्त्रीकथा च मनोरमा।
संस्तवश्चैव नारीणां, तासामिन्द्रियदर्शनम् ॥११॥

कूजितं रुदितं गीतं, हसितं भुक्तासितानि च।
प्रणीतं भक्त-पानं च, अतिमात्रं पान-भोजनम् ॥१२॥

गात्रभूषणमिष्टं च, कामभोगाश्च दुर्जयाः।
नरस्यात्मगवेषिणः विषं तालपुटं यथा ॥१३॥

दुर्जयान् कामभोगांश्च, नित्यशः परिवर्जयेत्।
शंका-स्थानानि सर्वाणि, वर्जयेत् प्रणिधानवान् ॥१४॥

पद्यानुवाद—हो नारीजन से घिरा निलय, और नारी कथा मनोहर हो।
अति परिचय हो नारीजन का, मनहर इन्द्रिय का दर्शन हो ॥८७॥

कूजन रोदन और गीत-हास, परिभुक्त भोग का अनुशीलन।
अतिपुष्ट सरस अशनादिक का, अतिमात्रा में करना भोजन ॥८८॥

गात्र सजाना इष्ट भोग, कामेच्छा वर्जन दुर्जय है।
आत्म-गवेषी जनहित ये, विष तालपुटीवत् क्षयकर है ॥८४॥

दुर्जय काम-भोग का वर्जन, नित्यव्रती को करना है।
आशंका के सभी स्थान, ध्यानी को वर्जन करना है ॥८०॥

अन्वयार्थ—**थीजणाइण्णो**—स्त्रीजन से आकीर्ण, **आलओ**—स्थान, **य**—और, **मणोरमा**—मनोरम, **थी-कहा**—स्त्री-कथा, **चेव**—इसी प्रकार, **नारीणं**—स्त्रियों का, **संथवं**—अतिपरिचय, **तासिं**—उनकी, **इंदियदरिसणं**—इन्द्रियों को देखना ॥११॥

(उनके) **कूइयं**—कूजन, **रुइयं**—रुदन, **गीयं**—गीत, **हसियं**—हास्य, (से युक्त शब्दों का श्रवण), **य**—और **भुत्तासियाणि**—भुक्त भोगों और सहावस्थान को (स्मरण करना), **च**—तथा, **पणीयं भत्तपाणं**—प्रणीत (पौष्टिक सरस) भक्त-पान, (और) **अइमायं**—मात्रा से अधिक, **पाणभोयणं**—भोजन-पान (का सेवन)। ॥१२॥

च—तथा, **गत्तभूसणमिट्ठं**—गात्र=शरीर को विभूषित करने (सजाने) की इच्छा, **य**—और **दुज्जए कामभोगे**—दुर्जय (पंचेन्द्रियविषयक) कामभोग—(ये दस) **अत्तगवेसिस्स**—आत्म-गवेषक (आत्मार्थी), **नरस्स**—मनुष्य के लिए, **जहा तालउडं विसं**—तालपुट विष के समान हैं ॥१३॥

(अतः) **पणिहाणवं**—स्थिरचित्त वाला मुनि, **दुज्जए कामभोगे**—दुर्जय काम-भोगों का, **निच्चसो**—सदैव **परिवज्जए**—त्याग करे, **य**—और, **सव्वाणि संकट्ठाणाणि**—सभी प्रकार के शंका (भय) स्थानों से, **वज्जेज्जा**—दूर रहे ॥१४॥

भावार्थ—(१) स्त्रियों से आकीर्ण स्थान, (२) मनोरम स्त्री-कथा, (३) स्त्रियों का अतिपरिचय, (४) उनकी इन्द्रियों का रागभाव से अवलोकन करना, (५) उनके कूजन, रुदन, गीत, और हास्य के शब्दों का श्रवण, (६) पूर्व भुक्त भोगों और सहावस्थान का स्मरण करना, (७) प्रणीत भोजन-पान, (८) मात्रा से अधिक भोजन-पान, (९) शरीर को विभूषित करने की अभिलाषा, और (१०) दुर्जय कामभोग (शब्दादि विषयों की आसक्ति)—ये दस आत्मगवेषक ब्रह्मचारी के लिए तालपुट विष के समान (त्याज्य) हैं। ॥११-१२-१३॥

अतः स्थिरचित्त वाला मुनि दुर्जय कामभोगों का सदैव परित्याग करे और सब प्रकार के शंका-स्थानों से दूर रहे ॥१४॥

विवेचन—प्रस्तुत तीनों सूत्रों में ब्रह्मचर्य-समाधि के भंग होने के पूर्वोक्त १० कारण बताए हैं। तथा अन्त में, ब्रह्मचर्यसाधक को कठोर

निर्देश दिया गया है कि जिस प्रकार तालपुट विष तालु का स्पर्श होते ही जीवन का नाश कर देता है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्यसमाधिभंग के इन दस कारणों में से किसी भी कारण का ब्रह्मचर्य साधक से स्पर्श होते ही, वह संयमी जीवन (ब्रह्मचर्य-जीवन) का नाश कर देता है। अतः ब्रह्मचारी साधक को इनका तथा दुर्जय कामभोगों का दूर से ही परित्याग कर देना चाहिए। अगली गाथा (१४) में बताया गया है कि ब्रह्मचर्य साधक को सभी प्रकार के शंका-स्थानों का परित्याग करना उचित है।

ब्रह्मचर्य की समाधि-स्थायिता और फलश्रुति—

मूल—धम्मारामे चरे भिक्खू, धिइमं धम्मसारही।
धम्मारामरए दंते, बंभचेर-समाहिए ॥१५॥
देव-दाणव-गंधव्वा, जक्ख-रक्खस-किन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करंति तं ॥१६॥
एस धम्मे धुए निच्चे, सासए जिणदेसिए।
सिज्झा सिज्झति चाणेण, सिज्झिस्सं तितहावरे।१७।

—त्तिबेमि

छाया—धर्मारामे चरेद् भिक्षुः धृतिमान् धर्मसारथिः।
धर्मारामे रतो दान्तः, ब्रह्मचर्य-समाहितः ॥१५॥
देव-दानव-गन्धर्वाः, यक्ष-राक्षस-किन्नराः।
ब्रह्मचारिणं नमस्यंति, दुष्करं यः करोतितम् ॥१६॥
एष धर्मो ध्रुवो नित्यः, शाश्वतो जिनदेशितः।
सिद्धाः सिध्यन्ति चानेन, सेत्स्यन्ति तथाऽपरे ॥१७॥

इति ब्रवीमि

पद्यानुवाद—धर्मबाग में रमण करे मुनि, धर्मसारथी धैर्य धनी।
ब्रह्मसमाहित धर्मारामी, विजितेन्द्रिय, जो धर्म धनी ॥९१॥
देव असुर गन्धर्व यक्ष, राक्षस किन्नर सब नमन करे।
ब्रह्मव्रती साधक जो जग में, दुष्कर व्रत को चित्त धरे ॥९२॥
जिन उपदिष्ट ब्रह्मव्रत शाश्वत, निश्चित और नियत है धर्म।
इससे सिद्ध हुए, होते हैं, होंगे और पकड़ यह मर्म ॥९३॥

अन्वयार्थ—बंभचेर-समाहिए भिक्खू—ब्रह्मचर्य में, सुसमाहित—(समाधिमान) भिक्षु, **धिइमं**—धृतिमान (धैर्यवान्), **धम्मसारही**—धर्मरथ का सारथी, तथा **धम्मा-राम-रए**—धर्मरूपी आराम (उद्यान) में रत, (एवं) **दंते**—दान्त होकर, **धम्मारामे चरे**—धर्म के आराम (बाग) में विचरण करे ॥१५॥

जे—जो, **दुक्करं**—दुष्कर (ब्रह्मचर्य-पालन), **करंति**—करता है, **तं**—उस, **बंभयारिं**—ब्रह्मचारी को, **देव-दाणव-गन्धव्वा**—देव, दानव, गन्धर्व, **जक्ख-रक्खस-किन्नरा**—यक्ष, राक्षस तथा किन्नर—(सभी), **नमंसंति**—नमस्कार करते हैं ॥१६॥

एस धम्मे—यह ब्रह्मचर्य-धर्म, **धुवे**—ध्रुव है, **निच्चे**—नित्य है, **सासए**—शाश्वत है, (और) **जिणदेसिए**—जिनोपदिष्ट है। **च**—और, **अणेणं**—इस धर्म के द्वारा, (अनेक साधक), **सिद्धा**—सिद्ध हुए हैं, **सिज्झंति**—वर्तमान में सिद्ध हो रहे हैं, **तहा**—तथा, **अवरे**—दूसरे अनेक, **सिज्झिस्संति**—भविष्य में सिद्ध होंगे ॥१७॥

त्ति बेमि—ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य में सुसमाहित भिक्षु धृतिमान, धर्मरथ का सारथि, धर्मरूपी आराम में रत एवं दान्त होकर धर्म के आराम में विचरण करे ॥१५॥

जो दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उस ब्रह्मचारी को देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर—सभी नमस्कार करते हैं ॥१६॥

यह ब्रह्मचर्य-धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है, और जिनोपदिष्ट है। इस धर्म के द्वारा अनेक साधक सिद्ध हुए हैं, वर्तमान में सिद्ध हो रहे हैं तथा दूसरे अनेक भविष्य में भी सिद्ध होंगे ॥१७॥

विवेचन—ब्रह्मचर्य में समाहित भिक्षु का कर्तव्य—वह अपने ब्रह्मचर्य में समाधिमान अर्थात्—स्थिरचित्त होने के लिए धैर्य आदि चार गुणों से युक्त होकर धर्मरूपी उद्यान में सदा विचरण करे। आशय यह है कि जैसे दुःख या सुख से संतप्त व्यक्ति के लिए बगीचा (आराम) सुखोत्पादक होता है इसी प्रकार विविध ताप (दुःख से संतप्त) व्यक्ति के लिए बगीचे के समान धर्माराम में विचरण करे, वही सुख शान्तिदायक है।

चार गुणों का विशेषार्थ—यहां धर्माराम में विचरण करने हेतु ब्रह्मचर्यसमाधिमान भिक्षु में चार विशिष्ट गुण होने चाहिए, वे ये हैं—

(१) वह धृतिमान्=धैर्य युक्त हो,

(२) वह धर्मरथ का सारथि हो=स्वयं संचालक हो,

(३) धर्माराम-रत के दो अर्थ—(१) धर्मरूपी आराम में रत, (२) धर्माराम, अर्थात् धर्म में ही निरन्तर रमण करने वाले जो साधु हैं, उनमें रत रहे। अर्थात् साधुओं के संघ में रहै, तथा

(४) जो दान्त हो, अर्थात्—इन्द्रियों तथा कषायों पर विजय पाने वाला हो। ऐसा साधक ही धर्माराम में विचरण करके ब्रह्मचर्य समाधिमान होता है।

ब्रह्मचर्य की परम महिमा—गाथा १६वीं के अनुसार दुष्कर ब्रह्मव्रत पालन करने वाले ब्रह्मचारी को देवादि नमस्कार करते हैं बशर्ते कि वह ब्रह्मचारी स्त्री-पुरुष दुष्कर शीलधर्म का पालन करते हों।

देवादि का विशेषार्थ—देव विमान वासी एवं ज्योतिष्क, दानव—भवनपति देव, गन्धर्व—देवगायक, यक्ष—वृक्षवासी सुर, राक्षस—क्रूरजाति के देव, किन्नर=व्यन्तरजाति के देव आदि।

ब्रह्मचर्य धर्म के विशेषण : विशेषार्थ—(१) ध्रुव—परतीर्थिकों द्वारा भी अनिरुद्ध, अतएव, प्रमाण प्रतिष्ठित (२) नित्य—त्रिकाल में भी अविनश्वर (३) शाश्वत—त्रिकाल फलदायी है।

॥ ब्रह्मचर्य समाधि स्थान सोलहवां अध्ययन समाप्त ॥

पापश्रमणीय : सत्रहवाँ अध्ययन

[अध्ययन सार]

ब्रह्मचर्य का सम्यक् रीति से पालन नहीं करने वाला पापश्रमण होता है। इसलिए इस अध्ययन में पापश्रमण का वर्णन किया गया है। अतः इस अध्ययन का नाम पापश्रमणीय है।

तीव्र त्याग-वैराग्य से सम्यग्दर्शनसहित चारित्र ग्रहण करने के बाद जिस साधु के जीवन में प्रमाद, ज्ञान-दर्शन चारित्र में पुरुषार्थहीनता, शिथिलता, तथा अठारह पापस्थानों में से कतिपय पापस्थानों की आश्रयता, समिति गुप्ति एवं महाव्रत के पालन में कृत्रिमता एवं मायाचारिता आ जाती है, वहाँ उसे पापश्रमणता घेर लेती है, वह बाहर से साधु का वेष धारण करते हुए तथा कुछ क्रियाएँ करते हुए भी चारित्र से खोखला हो जाता है, अपनी विद्वत्ता वक्तृत्वशक्ति एवं तर्कशक्ति के बल से वह कदाचित् क्षणिक वाहवाही एवं प्रसिद्धि पा ले, मंत्र-तंत्र-यंत्रादि के प्रभाव से कदाचित् लोगों को प्रभावित कर दे, किन्तु ज्ञानियों की दृष्टि में वह न इस लोक में आराधक होता है और न ही परलोक में। न ही वह सच्चा सद्गृहस्थ होता है और न ही सच्चा साधु। वह उभयतोभ्रष्ट हो जाता है।

पन्द्रहवें अध्ययन में सद्भिक्षु के लक्षण दिये गए थे, इसलिए इस अध्ययन में उससे ठीक विपरीत पाप-भिक्षु का चित्रण किया गया है। श्रेष्ठ श्रमण बनने के लिए लक्ष्य केवल वेष बदल लेने और कुछ बँधे-बँधाए नियमों का पालन कर लेने मात्र से, या सिर मुड़ा लेने मात्र से पूरा नहीं होता, उसके लिए आवश्यकता है,—अपने चरमलक्ष्य—मोक्ष के प्रति अहर्निश जागरूक, अप्रमत्त और उपयोगयुक्त होकर रत्नत्रय की साधना करने की।

जो सिंहवृत्ति से श्रमणधर्म में दीक्षित होकर सिंहवृत्ति से ही श्रमण धर्म का आचरण करता है, वही भगवान महावीर के शब्दों में श्रेष्ठ श्रमण है, किन्तु इसके विपरीत, जो सिंहवृत्ति से दीक्षा ग्रहण करके, बाद में उसे

बोझरूप समझकर सुखशील और प्रमादी बनकर शृगालवृत्ति से श्रमणत्व का वोझ ढोता हुआ चलता है, वह पापश्रमण है। अर्थात् साधनामय जीवन को तिलांजलि देकर जो यह सोचता है कि मैं गृहत्याग कर अनगार बन गया हूँ। भिक्षाजीवी होने के नाते मेरी अपनी सब आवश्यकताओं की पूर्ति तो समाज से हो ही जाती है, अन्य सभी सुख-सुविधाएँ भी प्राप्त हैं, सुख से जीवन-यात्रा चल रही है। अब साधना के नाम पर तन-मन को व्यर्थ कष्ट में डालने से क्या लाभ ? वह अपने चरमलक्ष्य की ओर प्रगति को अवरुद्ध कर देता है और विवेकभ्रष्ट होकर साधनापथ से भटक जाता है। उसकी दृष्टि आत्मविकास की ओर से हटकर शरीर-पोषण में ही लग जाती है। इसी पापश्रमणवृत्ति का चित्रण प्रस्तुत अध्ययन में किया गया है।

पापश्रमण शास्त्रों के अध्ययन से जी चुराता है। शास्त्रों का अध्ययन करने से कदाचित् उसके विवेक नेत्र खुल जाते और चरमलक्ष्य की ओर गति करने का विचार बनता, परन्तु पापश्रमणता आते ही उसके विवेक नेत्र बन्द हो जाते हैं। किसी के समझाने और सत्पथ पर लाने के लिए कहने पर भी वह समझता नहीं, प्रत्युत समझाने वाले पर रोष करके, उसकी त्रुटियाँ निकालने लगता है।

वह क्रोधी, दम्भी ढीठ, अहंकारी, कृतघ्न, वाचाल, अविनीत, रस-लोलुप, कलहकारी, अजितेन्द्रिय, असंविभागी, तपश्चर्या-विरत, अतिभोजी, गाणंगणिक, बार-बार गुरु बदलने वाला, गृहस्थ के कार्यों में संलग्न निमित्त जीवी, स्वज्ञातिपिण्ड भोजी, पंचकुशीलयुक्त अथवा पंचविधकुशीलों के समान शिथिलाचारी, गुरु या आचार्य का प्रत्यनीक एवं प्रतिकूलभाषी हो जाता है।

अहिंसा महाव्रत को ताक में रखकर वह एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक प्राणियों का उत्पीड़न करता रहता है। अपने उपकरणों का तथा शयनासन आदि का प्रमार्जन-प्रतिलेखन नहीं करता है, करता है तो भी बिना मन से असावधानीपूर्वक करता है, खाने-पीने, भिक्षाचारी करने, बैठने, उठने चलने, फिरने सोने आदि में किसी प्रकार की यतना नहीं रखता। साधु-जीवन की मौलिक-मर्यादाओं का उल्लंघन करता रहता है। अपने उपकरणों को जहाँ-तहाँ फेंक देता है। अंगोपांगों से चंचल एवं विकृत चेष्टाएँ करता रहता है।

आचार्य, उपाध्याय आदि पूज्यों एवं स्थविरों की विनयभक्ति नहीं करता, उनकी सेवा का ध्यान नहीं रखता, उनके प्रति हृदय में कोई प्रीति-भाव नहीं रखता; कदाग्रही और निन्दक बन जाता है। जरा-जरासी बात पर गुरु/आचार्य को छोड़कर दूसरे धर्म-सम्प्रदाय को स्वीकार कर लेता है, थोड़े-थोड़े समय पर गण बदलता रहता है।

इस प्रकार निकृष्ट निन्दनीय जीवन व्यतीत करने वाले को पाप-श्रमण कहा गया है। अर्थात् वह अठारह-पापस्थानों में से किसी न किसी पापस्थानों में लिप्त होता रहता है।

कुल मिलाकर प्रस्तुत अध्ययन में जैनदृष्टि से श्रमण-निर्ग्रन्थ के रूप में प्रव्रजित होने के पश्चात कैसे और किन-किन कारणों से वह पापश्रमण बन जाता है। इसकी झाँकी देकर सभी श्रमण-श्रमणियों को ऐसी पाप-श्रमणता से दूर रहने का निर्देश अन्तिम गाथा में कर दिया है, ताकि साधक समय रहते सावधान होकर आराधक बन सके।

पावसमणिज्जं : सतरसमं अज्झयणं

(पाप-श्रमणीय : सतरहवां अध्ययन)

पाप-श्रमण बनने का सूत्रपात—

मूल—जे केइ उ पव्वइए नियंठे, धम्मं सुणित्ता विणओववन्ने।
सुदुल्लहं लहिउं बोहिलाभं, विहरेज्ज पच्छा य जहासुहं तु ॥१॥

सेज्जा दढा पाउरणं मे अत्थि, उप्पज्जइ भोत्तुं तहेव पाउं।
जाणामि जं वट्टइ, आउसु त्ति, किं नाम काहामि
सुएण भंते ! ॥२॥

छाया—यः कश्चित्तु प्रव्रजितो निर्ग्रन्थः धर्मं श्रुत्वा विनयोपपन्नः।
सुदुर्लभं लब्ध्वा बोधिलाभं, विहरेत् पश्चाच्च यथासुखं तु ॥१॥

शय्या दृढा प्रावरणं मेऽस्ति, उत्पद्यते भोक्तुं तथैव पातुम्।
जानामि यद् वर्तत आयुष्मन् ! इति, किं नाम करिष्यामि श्रुतेन भदन्त ? ॥२॥

पद्या०—जो विनययुक्त सुन धर्म बना, निर्ग्रन्थ बोधि दुर्लभ पाया।
व्रत धारण करके फिर पीछे, स्वच्छन्द-श्रमण मन को भाया ॥१॥

स्थिर मिला उपाश्रय रहने को, मिलता प्रिय भोजन वस्त्र हमें।
मैं जान रहा जो है, भन्ते !, फिर श्रुत से क्या है लाभ हमें ? ॥२॥

अन्वयार्थ—**जे केइ उ**—जो कोई, **धम्मं**—धर्म (श्रुत-चारित्ररूप धर्म) को सुनकर, **सुदुल्लहं**—अत्यन्त दुर्लभ, **बोहिलाभं**—बोधिलाभ को, **लहिउं**—प्राप्त करके **उ**—(पहले) तो, **विणओववन्ने**—विनय सम्पन्न होकर, **नियंठे**—निर्ग्रन्थ रूप में, **पव्वइए**—प्रव्रजित हो जाता है, **तु**—किन्तु, **पच्छा य**—बाद में, **जहासुहं विहरेज्ज**—स्वेच्छापूर्वक सुखशील बनकर विचरण करता है ॥१॥

(स्वच्छन्दविहारी—) **आउसु**—आयुष्मन् !, **सेज्जा**—वसति या धर्मस्थान (उपाश्रय), **दढा**—(सर्दी, गर्मी, वर्षा, धूप आदि की पीड़ा से रक्षा करने वाला) सुदृढ़

(साताकारी मिला है.), **पाउरणं**—तन ढकने को वस्त्र, **मे**—मेरे पास, **अत्थि**—हैं, **तहेव**—तथा, **भोत्तु'-पाउं**—खाने-पीने को भी, **उप्पज्जइ**—मिल जाता है; **जं वट्टइ**—जो हो रहा है, उसे, **जाणामि**—मैं जानता हूँ, **त्ति**—इसलिए, **भंते**—भन्ते! **सुएण**—श्रुतज्ञान=शास्त्रों का अध्ययन करके, **किं नाम काहामि?**—मैं क्या करूँगा? ॥२॥

भावार्थ—जो कोई श्रुत-चारित्ररूप धर्म-श्रवण कर, अत्यन्त दुर्लभ बोधिलाभ को प्राप्त करके पहले तो ज्ञान-दर्शन-चारित्रादिरूप विनययुक्त होकर निर्ग्रन्थ रूप में प्रव्रजित हो जाता है, किन्तु वाद में सुख-स्पृहापूर्वक स्वेच्छाविहारी हो जाता है ॥१॥

(आचार्य या गुरु के द्वारा शास्त्राध्ययन की प्रेरणा करने पर वह कहता है—) आयुष्मन्! रहने के लिए स्थिर उपाश्रय मिला है, तन ढकने को वस्त्र मेरे पास हैं। इसी प्रकार खाने-पीने को भी (अच्छा-अच्छा) मिल जाता है। जो हो रहा है, उसे मैं जानता हूँ। भन्ते! फिर मैं शास्त्रों का अध्ययन करके क्या करूँगा? ॥२॥

विवेचन—वस्तुत: पापश्रमणता का प्रारम्भ तव होता है, जबकि पहले तो वह श्रुतचारित्ररूप धर्म का श्रवण-मनन करके तथा सुदुर्लभ बोधिलाभ प्राप्त करके पंचाचाररूप विनय से सम्पन्न होकर दीक्षित होता है, अर्थात्—वह सिंह की तरह प्रव्रज्या ग्रहण करता है, किन्तु बाद में धीरे-धीरे निद्रा-विकथादि प्रमादपूर्वक सुखस्पृहा करके स्वच्छन्दाचारी वन जाता है। अर्थात् वाद में शृगालवृत्ति से विचरण करने लगता है। जव गुरु या आचार्य उसे उक्त प्रमादी और सुखशील जीवन से विरत होने और शास्त्राध्ययन करने को कहता है तो वह अविनयपूर्वक मुँहफट उत्तर देता है,—मुझे अपनी आवश्यकतानुरूप आहार वस्त्र और निवास-स्थान प्राप्त हैं, और संसार की गतिविधि को मैं जान ही रहा हूँ! फिर मुझे क्या आवश्यकता है शास्त्रा-ध्ययन में श्रम करने की। अत: इस प्रकार जव से उसमें सुखशीलता स्वेच्छा-चारिता और ज्ञानादि में पुरुषार्थहीनता की वृत्ति जागी, तभी से पाप-श्रमणता का प्रारम्भ हो गया।

खा-पी कर सुख से शयनशील : पापश्रमण—

मूल—जे केइ उ पव्वइए, निद्दासीले पगामसो।
भोच्चा पेच्चा सुहं सुवइ, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥३॥

छाया—यः कश्चित् तु प्रव्रजितो, निद्राशीलः प्रकामशः।
भुक्त्वा पीत्वा सुखं स्वपिति, पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥३॥

पद्या०—दीक्षित होकर जो बार-बार, अतिशय निद्रा अपनाता है।
खा-पीकर सुख से सो जाता, वह पाप श्रमण कहलाता है ॥३॥

अन्वयार्थ—**जे केइउ**—जो कोई, **पव्वइए**—प्रव्रजित हो कर, **पगामसो**—अत्यधिक, **निद्दासीले**—निद्राशील (रहता है); **भोच्चा—पेच्चा**—यथेच्छ खा-पीकर, **सुहं सुवइ**—सुख से सो जाता है, (वह) **पावसमणे त्ति वुच्चइ**—'पापश्रमण' कहलाता है ॥३॥

भावार्थ—जो कोई प्रव्रज्या ग्रहण करके अत्यधिक नींद लेता रहता है। यथेच्छ खा-पीकर दिन को भी आराम से सो जाता है, वह पापश्रमण कहलाता है ॥३॥

आचार्यादि का निन्दक : पापश्रमण—

मूल—आयरिय-उवज्झाएहिं, सुयं विणयं च गाहिए।
ते चेव खिसई बाले, पाव-समणि त्ति वुच्चई ॥४॥

छाया—आचार्योपाध्यायैः, श्रुतं विनयं च ग्राहितः।
तांश्चैव खिसति बालः, पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥४॥

पद्या०—उपाध्याय आचार्यदेव, सिखलाया जिनने ज्ञान विनय।
वह पाप श्रमण है बोध विकल, जो इन्हें करे निन्दा अविनय ॥४॥

अन्वयार्थ—**आयरिय-उवज्झाएहिं**—जिन आचार्यों और उपाध्यायों से, **सुयं**—श्रुत (सिद्धान्तज्ञान), **च**—और, **विणयं**—विनय (आचार), **गाहिए**—ग्रहण किया (सीखा) है, **ते चेव**—उन्हीं की, **खिसई**—निन्दा करता है, (वह) **बाले**—बाल-विवेक-विकल, **पावसमणित्ति वुच्चइ**—पापश्रमण कहलाता है ॥४॥

भावार्थ—ज्ञानदाता आचार्य और उपाध्याय आदि उपकारी सन्तों की विनय भक्ति करनी चाहिए, वहाँ जो अविवेकी उनकी निन्दा, अकीर्ति तथा अपमान करता है वह कृतघ्न पाप श्रमण कहलाता है।

आचार्यादि के प्रतिकूल यावत् अहंकारी—

मूल—आयरिय-उवज्झायाणं, सम्मं नो पडितप्पइ।
अप्पडिपूयए थद्धे, पाव समणि त्ति वुच्चई ॥५॥

छाया—आचार्योपाध्यायानां, सम्यग् नो प्रतितप्यते।
अप्रतिपूजकः स्तब्धः, पापश्रमण इत्युच्यते ॥५॥

पद्या०—उपाध्याय-आचार्य देव की, जो सेवा भक्ति नहीं करता।
वह अप्रतिपूजक, पापश्रमण, जो दर्प हृदय धारण करता ॥५॥

अन्वयार्थ—(जो) **आयरिय-उवज्झायाणं**—आचार्य और उपाध्यायों की, **सम्मं**—सम्यक् प्रकार से, **नो पडितप्पइ**—चिन्ता (सार-संभाल) नहीं करता; **अप्पडिपूयए**—वह अप्रतिपूजक (बड़ों का सम्मान न करने वाला), **थद्धे**—अभिमानी (साधु), **पाव-समणित्ति वुच्चइ**—पापश्रमण कहलाता है ॥५॥

भावार्थ—जो आचार्य एवं उपाध्यायों (के सेवादि कार्यों) की सम्यक् प्रकार से चिन्ता नहीं करता, जो बड़ों का सम्मान नहीं करता, और अभिमानी है, वह पापश्रमण कहलाता है।

विवेचन—नो पडितप्पइ—तीन अर्थ—(१) परितृप्त नहीं करता, (२) उनके प्रति प्रीति नहीं रखता, अथवा (३) सेवादि कार्यों की ओर ध्यान नहीं रखता।

अप्पडिपूयए : अप्रतिपूजकः तीन अर्थ—(१) जो अपने उपकारी गुरु आदि के प्रति पूज्यभाव नहीं रखता, (२) अपने प्रति उपकार करने वाले का जो कुछ भी प्रत्युपकार नहीं करता, अथवा (३) जो बड़ों का सम्मान-बहुमान नहीं करता।

थद्धे : स्तब्ध : भावार्थ—अहंकारी साधु, जो मन ही मन स्वयं को श्रेष्ठ महापुरुष समझता है।

प्राणि-उपमर्दक यावत् संयतमानी—

मूल—सम्मद्दमाणे पाणाणि, बीयाणि हरियाणि य।
असंजए संजयमन्नमाणे, पावसमणि त्ति वुच्चई॥६॥

छाया—संमर्दयन् प्राणान्, बीजानि हरितानि च।
असंयतः संयतो मन्यमानः, पाप श्रमण इत्युच्यते ॥६॥

पद्या०—जो बीज हरित लघु जीवों के, प्राणों का मर्दन करता है।
संयमी नाम संयम-विहीन, वह पाप श्रमण कहलाता है ॥६॥

अन्वयार्थ—**पाणाणि**—द्वीन्द्रिय आदि प्राणी, **बीयाणि**—बीज, **य**—और, **हरियाणि**—हरित वनस्पति (हरियाली) का, **सम्मद्दमाणे**—सम्मर्दन करने वाला (तथा), **असंजए**—असंयमी होते हुए भी, (स्वयं को) **संजयमन्नमाणे**—संयमी मानने वाला, **पावसमणेत्ति वुच्चइ**—पापश्रमण कहलाता है।

भावार्थ—जो द्वीन्द्रिय आदि जीवों, बीज और वनस्पति का सम्मर्दन करता है, तथा असंयमी होते हुए भी अपने आपको संयमी मानकर दुगुना अपराध करता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

विवेचन—पाणाणि बीयाणि हरियाणि : विशेषार्थ—द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय जीव **प्राण** कहलाते हैं, चावल, गेहूँ, चना आदि जो उगने योग्य हों, वे **बीज** कहलाते हैं, हरी दूब, हरी घास, फूल, कच्चे फल आदि **हरित** कहलाते हैं।

अप्रमार्जित संस्तारकादि पर सोने-बैठने वाला—

मूल—संथारं फलगं पीढं, निसेज्जं पायकम्बलं।
अप्पमज्जिय आरुहइ, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥७॥

छाया—संस्तारं फलकं पीठं, निषद्यां पाद-कम्बलम्।
अप्रमज्यारोहति, पापश्रमण इत्युच्यते ॥७॥

पद्या०—जो कम्बल चरण पोंछने का, संस्तारक पाट पीठ आसन।
आरोहण करता बिन पूंजे, कहलाता है वह पाप श्रमण ॥७॥

अन्वयार्थ—(जो) **संथारं**—संस्तारक—बिछौना, **फलगं**—फलक-पाट, (पट्टा) **पीढं**—पीठ=आसन, **निसेज्जं**—निषद्या स्वाध्याय-भूमि, **पायकंबलं**—पैर पोंछने का कम्बल का टुकड़ा (पाद पुंछन) का, **अप्पमज्जिय**—प्रमार्जन किये (पूंजे) बिना ही, **आरुहइ**—उन पर बैठता है, **पावसमणि त्ति वुच्चइ**—वह पापश्रमण कहलाता है ॥७॥

भावार्थ—जो संस्तारक (बिछौने), पाट, चौकी आदि, स्वाध्याय-भूमि एवं पादपुंछन का प्रमार्जन किये बिना ही उन पर बैठता है, वह पापश्रमण कहलाता है। क्योंकि बिना पूंजे बैठने से जीव रक्षा की उपेक्षा दिखती है।

विवेचन—प्रमार्जन न करने वाला पापश्रमण क्यों ?—साधु के पास प्रमार्जन के लिए रजोहरण रहता है, वह इसलिए कि प्रमार्जन किये बिना कहीं भी बैठने-उठने-सोने आदि से किसी भी जीव की विराधना होने की आशंका रहती है। अतः जो रजोहरण से प्रमार्जन किये बिना ही अयतना पूर्वक पाट, पीठ आदि पर बैठ जाता है, वह जीव हिंसा के पाप का भागी बनता है, इसलिए उसे पापश्रमण कहा गया है। (बृहद्वृत्ति पत्र ४३४)

अत्यधिक द्रुतगामी, प्रमादी यावत् क्रोधी—

मूल—दवदवस्स चरई, पमत्ते य अभिक्खणं।
उल्लंघणे य चण्डे य, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥८॥

छाया—द्रवं द्रवं चरति, प्रमत्तश्चाभीक्ष्णम् ।
उल्लंघने च चण्डश्च, पापश्रमण इत्युच्यते ॥८॥

पद्या०—करके प्रमाद जो वार-वार, दव-दवकर भू पर चलता है ।
पर-प्राणी लांघ चले, क्रोधी, वह पापश्रमण कहलाता है ॥८॥

अन्वयार्थ—(जो) दवदवस्स—पैरों से दव-दव आवाज करता हुआ (जल्दी-जल्दी), चरई—चलता है। य—तथा, अभिक्खणं—वार-वार, पमत्ते—प्रमाद करता हुआ, उल्लंघणे य—(जो साधु धर्म की मौलिक मर्यादाओं का) उल्लंघन करता है, चंडे य—और जो क्रोधी (चण्ड) है, पावसमणि त्ति वुच्चई—वह पापश्रमण कहलाता है ॥८॥

भावार्थ—जो जल्दी-जल्दी चलता है, जो वार-वार प्रमादाचरण करता है, जो साधु-मर्यादाओं का उल्लंघन करता है, और अतिक्रोधी है, वह पापश्रमण कहलाता है ।

विवेचन—चार दुर्गुणों से पापश्रमण—प्रस्तुत गाथा में पापश्रमण के चार दुर्गुण वताए हैं—

(१) शीघ्रातिशीघ्र चलने वाला,
(२) वार-वार प्रमाद करने वाला,
(३) मर्यादाओं का उल्लंघन करने वाला; और,
(४) प्रचण्ड क्रोधी,

पहले दुर्गुण से ईर्यासमिति की, दूसरे से सभी समितियों की, तीसरे से प्रायः सभी समिति की, और चौथे से भाषासमिति आदि का भंग होता है, इसलिए पापश्रमण कहलाता है ।

प्रतिलेखन, प्रमत्त, अनायुक्त एवं गुरुजन-अपमानकर्ता—

मूल—पडिलेहेइ पमत्ते अवउज्झइ पायकम्वलं ।
पडिलेहणा-अणाउत्ते, पावसमणि त्ति वुच्चइ ॥९॥
पडिलेहेइ पमत्ते, से किंचि हु निसामिया ।
गुरुं-परिभावए निच्चं, पावसमणि त्ति वुच्चइ ॥१०॥

छाया—प्रतिलेखयति प्रमत्तः, अपोज्झति पादकम्वलम् ।
प्रतिलेखनाऽनायुक्तः, पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥९॥
प्रतिलेखयति प्रमत्तः, स किञ्चित् खलु निशम्य ।
गुरु-परिभावको नित्यं पापश्रमण इत्युच्यते ॥१०॥

पद्यानु०—प्रतिलेखन करे प्रमाद-युक्त, पदकम्बल रखता जहाँ-तहाँ।
बिना ध्यान प्रतिलेखन करता, पापश्रमण वह कहा यहाँ ॥९॥
कुछ भी सुनकर जो शिथिलमना, करता प्रमाद से प्रतिलेखन।
अपमान करे नित गुरुजन का, कहलाता है वह पापश्रमण ॥१०॥

अन्वयार्थ—**पमत्ते**—प्रमत्त—असावधान हो कर, **पडिलेहेइ**—प्रतिलेखन करता है, (जो) **पायकंबलं**—पादकम्बल अथवा पात्र और कम्बल को, **अवउज्झइ**—जहाँ-तहाँ डाल देता है, (जो) **पडिलेहण अणाउत्ते**—प्रतिलेखन में अनायुक्त—उपयोगरहित रहता है, (वह) **पावसमणि त्ति वुच्चइ**—पापश्रमण कहलाता है ॥९॥

किंचि हु निसामिया—(इधर-उधर की) कुछ बातों को सुनता हुआ, **से पमत्ते**—जो प्रमत्त होकर, **पडिलेहेइ**—प्रतिलेखन करता है, (और) **निच्चं**—सदा, **गुरु परिभावए**—गुरुजनों का अपमान करता है, (वह) **पावसमणि त्ति वुच्चइ**—पापश्रमण कहलाता है ॥१०॥

भावार्थ—जो असावधान हो कर प्रतिलेखन करता है, पात्र और कम्बल को जहाँ-तहाँ फैंक देता है, तथा प्रतिलेखन में भी असावधान रहता है, वह पापश्रमण कहलाता है ॥९॥

संयम भाव में प्रयत्नशील रहने की अपेक्षा जो प्रमत्त और उपेक्षाशील रहता और कहने पर गुरुजनों का तिरस्कार करता है। वह पापश्रमण कहलाता है। ॥१०॥

अतिमायी यावत् प्रीतिहीन—

मूल—बहुमाई पमुहरे, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
असंविभागी अचियत्ते, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥११॥

छाया—बहुमायी प्रमुखरः, स्तब्धो लुब्धोऽनिग्रहः।
असंविभागी अप्रीतिकरः, पापश्रमण इत्युच्यते ॥११॥

पद्या०—मायावी वाचाल स्तब्ध, लोभी निग्रह की वृत्ति नहीं।
जो असंविभागी प्रीतिहीन, है पापश्रमण, वह दमी नहीं ॥११॥

अन्वयार्थ—(जो) **बहुमाई**—अत्यन्त मायायुक्त, **पमुहरे**—अतिमुखर—वाचाल है, **थद्धे**—स्तब्ध=ढीठ है, **लुद्धे**—लुब्ध है, **अणिग्गहे**—इन्द्रियों और मन पर उचित नियंत्रण नहीं रखता, **असंविभागी**—प्राप्त वस्तुओं का संविभाग नहीं करता, **अचियत्ते**—जिसे गुरु आदि के प्रति प्रीति नहीं है, (वह) **पावसमणित्ति वुच्चइ**—पापश्रमण कहलाता है ॥११॥

भावार्थ—जो बहुत कपटी है, वाचाल है, ढीठ और लोभी है, जो इन्द्रियों और मन का निग्रह नहीं करता, प्राप्त वस्तुओं का परस्पर संविभाग नहीं करता तथा जिसे गुरु आदि के प्रति प्रीति नहीं है, वह पापश्रमण कहलाता है।

विवेचन—अच्छे साधु के लिये आवश्यक है कि वह (१) सरल, (२) मितभाषी, (३) नम्र, (४) संतोषी, (५) जितेन्द्रिय, और (६) प्राप्त वस्तु का स्वधर्मियों में संविभाग करने वाला एवं (७) गुरुभक्त हो। इसके विपरीत जो, (१) कपटी, (२) वाचाल, (३) ढीठ, (४) लोभी, (५) अजितेन्द्रिय, (६) बिना विभाग किये एकाकी खानेवाला और (७) गुरुजनों का तिरस्कार करने वाला होता है, वह पापश्रमण कहलाता है। टीकाकार का कथन है—**"आत्मपोषकत्वेनैव सोऽसंविभागी"**—जो सिर्फ अपने पोषण का ही ध्यान रखता है, वह असंविभागी है। (बृहद्वृत्ति पत्र ४३४)

शान्त विवाद को पुनः उत्पन्न करने वाला यावत् कलहप्रिय—

मूल—विवादं च उदीरेइ, अहम्मे अत्तपन्नहा।
वुग्गहे कलहे रत्ते, पावसमणित्ति वुच्चई ॥१२॥

छाया—विवादं चोदीरयति, अधर्मे आत्म-प्रज्ञाहा।
व्युद्ग्रहे कलहे रक्तः, पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥१२॥

पद्या०—जो पाप कर्म में बुद्धि गंवा, उपशान्त कलह भड़काता है।
जो लीन कलह में आग्रहयुत, वह पाप-श्रमण कहलाता है ॥१२॥

अन्वयार्थ—(जो उपशान्त हुए) **विवादं**—विवाद को, **उदीरेइ**—पुनः भड़काता है, **अहम्मे**—अधर्मी (धर्माचरणरहित) है, **य**—और, **अत्तपन्नहा**—आप्त=हितकारी प्रज्ञा का हनन करने वाला है, **वुग्गहे**—विग्रह-कदाग्रह (तथा) **कलहे**—कलह में, **रत्ते**—रचापचा रहता है, (वह) **पावसमणि त्ति वुच्चइ**—पापश्रमण कहलाता है ॥१२॥

भावार्थ—जो शान्त हुए विवाद को फिर से भड़काता है, जो सदाचार से रहित (अधर्मी) है, और आप्त (हितकारी) प्रज्ञा का हनन करने वाला है, जो कदाग्रह और कलह में रत रहता है, वह पापश्रमण कहलाता है ॥१२॥

विवेचन—श्रमण कषायों को उपशान्त रखता है। कदाचित् प्रबल मोहोदय से कभी किसी के साथ वाक् कलह या लड़ाई-विग्रह हो जाय तो तत्काल उसका उपशम करता है। शास्त्र की आज्ञा है कि साधु कषाय

का उपशमन किये बिना अन्न जल भी नहीं लेता है। इसके विपरीत जो उपशान्त रहकर भी फिर से कषाय की उदीरणा करता और कलह तथा विग्रह में रचापचा रहता है वह पापश्रमण कहलाता है।

अस्थिर आसन वाला यावत् आसन में असावधान—

मूल—अथिरासणे कुक्कुइए, जत्थ - तत्थ निसीयई।
आसणम्मि अणाउत्ते, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥१३॥

छाया—अस्थिरासनः कौकुचिकः, यत्र - तत्र निषीदति।
आसनेऽनायुक्तः, पापश्रमण इत्युच्यते ॥१३॥

पद्या०—अस्थिर आसन चेष्टा वाला, जो जहाँ-तहाँ बैठक करता।
रहता आसन में अनवधान, मुनि पापश्रमण वह कहलाता ॥१३॥

अन्वयार्थ—**अथिरासणे**—जिसका आसन स्थिर नहीं होता, **कुक्कुइए**—भाँडों-विदूषकों की-सी चेष्टा (कौकुच्य) करता है, (जो) **जत्थ-तत्थ**—जहाँ-तहाँ, **निसीयई**—बैठ जाता है, **आसणम्मि अणाउत्ते**—आसन (बैठने) में अनायुक्त-विवेक रहित है, (वह) **पावसमणि त्ति वुच्चइ**—पापश्रमण कहलाता है ॥१३॥

भावार्थ—जो आसन पर स्थिरता से नहीं बैठता, अपने अंगों से भांडों की-सी चेष्टाएँ करता है, जो जहाँ-तहाँ सचित्त स्थान पर भी बैठ जाता है तथा आसन पर बैठने में भी जो असावधान है, वह पापश्रमण कहलाता है।

पैरों का प्रमार्जन किये बिना सोने वाला यावत् संस्तारक में असावधान—

मूल—ससरक्खपाए सुवई, सेज्जं न पडिलेहइ।
संथारए अणाउत्ते, पाप-समणि त्ति वुच्चई ॥१४॥

छाया—स सरजस्कपादः स्वपिति, शय्यां न प्रतिलेखयति।
संस्तारकेऽनायुक्तः, पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥१४॥

पद्या०—जो धूल लगे पद सो जाता, शय्या-प्रतिलेखन भी ना करता।
उपयोग-शून्य रहे विस्तर पर, है पापश्रमण वह कहलाता ॥१४॥

अन्वयार्थ—(जो) **ससरक्खपाए**—रज (धूल) से भरे पैरों से, **सुवई**—सो जाता है, **सेज्जं**—शय्या का, **न पडिलेहइ**—प्रतिलेखन नहीं करता, **संथारए**—(और) संस्तारक—बिछौने पर, **अणाउत्ते**—असावधान होता है, (वह) **पावसमणित्ति**—पापश्रमण कहलाता है ॥१४॥

भावार्थ—जो साधक धूल (सचित्त रज) से भरे हुए पैरों से सो जाता है, शय्या का प्रतिलेखन नहीं करता, और संस्तारक (बिछौने) के विषय में असावधान होता है, वह पापश्रमण कहलाता है ॥१४॥

विवेचन—प्रमादी: अनेक पापों से लिप्त—जो प्रत्येक क्रिया में अयतनाशील होता है, किसी भी क्रिया में उपयोग (सावधानी) नहीं रखता, प्रमार्जन-प्रतिलेखन नहीं करता, वह प्रमादयुक्त है, वह प्रमत्त साधक अनेक पापों से लिप्त हो जाने से पापश्रमण बन जाता है।

दुग्धादि विकृतियों का बार-बार सेवनकर्ता एवं तपस्या से विरत—

मूल—दुद्ध-दही-विगईओ, आहारेइ अभिक्खणं ।
अरए य तवोकम्मे, पाव-समणि त्ति वुच्चई ॥१५॥

छाया—दुग्ध - दधि - विकृती:, आहारयत्यभीक्षणम् ।
अरतश्च तपः कर्मणि, पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥१५॥

पद्या०—जो दूध-दही विकृति-भोजन, करता है बारम्बार यहाँ ।
रहता है तप से दूर सदा, वह पापश्रमण प्रख्यात यहाँ ॥१५॥

अन्वयार्थ—(जो) **दुद्ध-दही-विगईओ**—दूध, दही आदि विकृति—जनक पदार्थों (विगइयों) का, **अभिक्खणं**—बार-बार, **आहारेइ**—आहार करता है, **य**—और, **तवोकम्मे**—तपश्चरण में, **अरए**—अरुचि रखता है, (वह) **पाव-समणि त्ति वुच्चइ**—पापश्रमण कहलाता है ॥१५॥

भावार्थ—जो दूध, दही आदि विकृतिकारक भोज्यपदार्थों का बार-बार आहार करता है और तपश्चर्या में अरुचि रखता है, वह पापश्रमण कहलाता है ॥१५॥

विवेचन—विगइओ: विशेषार्थ—'विग्गइ'='विकृति' जैन पारिभाषिक शब्द है। जिस पदार्थ का आहार करने से शरीर में मद, काम आदि विकार उत्पन्न होते हैं, उसे विकृति—'विग्गइ' कहा गया है। विकृति और रस दोनों समानार्थक है। यहाँ इन्हें 'विगइ' कहा है। उत्तराध्ययन ३०/२६ में इन्हें 'रस रस कहा है।

विकृति के नौ प्रकार हैं—(१) दूध, (२) दही, (३) घी, (४) नवनीत, (५) तेल और (६) मीठा (अर्थात् चीनी, खांड, गुड़ आदि या इनसे बने

मिष्टान्न), (७) मधु, (८) मद्य और (९) मांस।[1] इनमें से मद्य और मांस तो सदैव त्याज्य हैं। नवनीत और मधु का गाढ़ रोगादि कारणवश उपयोग किया जाता है। यहाँ इन विकृतियों का क्वचित् कदाचित् सेवन निषिद्ध नहीं बताया है, किन्तु बार-बार सेवन करने से विकार पैदा होता है, फिर उस व्यक्ति का मन तपस्या से हट जाता है। अतः बार-बार सेवन का निषेध किया गया है।

सूर्यास्त तक आहार करने वाला यावत् प्रतिकूल-भाषी—

मूल—अत्थन्तम्मि य सूरम्मि, आहारेइ अभिक्खणं।
चोइओ पडिचोएइ, पाव-समणि त्ति वुच्चई ॥१६॥

छाया—अस्तान्ते च सूर्ये, आहारयत्यभीक्ष्णम्।
चोदितः प्रतिचोदयति, पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥१६॥

पद्या०—सूर्य अस्त तक जो भिक्षुक, मनमानें भोजन खाता है।
प्रेरित हो प्रति उपदेश करे, वह पापश्रमण कहलाता है ॥१६॥

अन्वयार्थ—(जो) **अत्थंतम्मि य सूरम्मि**—(सूर्योदय से लेकर) सूर्यास्त तक, **अभिक्खणं**—बार-बार, **आहारेइ**—आहार करता है, (तथा) **चोइओ**—प्रेरणा देने पर, **पडिचोएइ**—उलटा (गुरु को) उपदेश झाड़ने लगता है, (वह) **पाव-समणि त्ति वुच्चइ**—पापश्रमण कहलाता है ॥१६॥

भावार्थ—जो सूर्य उदय से अस्त होने तक वार-बार आहार करता है, गुरु के द्वारा समझाने पर उलटा उन्हीं को उपदेश देने लगता है। वह पापश्रमण कहलाता है।

आचार्य—परित्यागी, परपाषण्ड सेवी एवं गाणंगणिक—

मूल—आयरिय-परिच्चाई, पर-पासण्ड-सेवए।
गाणंगणिए दुब्भूए, पाव-समणि त्ति वुच्चई ॥१७॥

छाया—आचार्य - परित्यागी, पर - पाषण्ड - सेवकः।
गाणङ्गणिको दुर्भूतः, पापश्रमण इत्युच्यते ॥१७॥

पद्या०—गुरु चरणों की सेवा तज, पाषंड - धर्मसेवन करता।
गण-वदलू दुश्शील भिक्षु को, पापश्रमण श्रुत बतलाता ॥१७॥

---

१ स्थानांग सूत्र ९

अन्वयार्थ—(जो) **आयरिय-परिच्चाई**—आचार्य का परित्याग कर, **पर-पासंड-सेवए**—दूसरे पाषण्ड-मतपरम्परा का आश्रय लेता है, (जो) **गाणंगणिए**—गाणंगणिक अर्थात्—बार-बार गण बदलने वाला होता है, (और) **दुब्भूए**—दुराचारी होने से निन्दनीय होता है, (वह) **पावसमणि त्ति वुच्चइ**—पापश्रमण कहलाता है ॥१७॥

भावार्थ—जो अपने आचार्य (कलह करके या दोष लगाकर) को छोड़कर दूसरे धर्म-सम्प्रदायों, परम्पराओं को स्वीकार कर लेता है; जो गाणंगणिक (अर्थात्—छह महीने में ही एक गण से दूसरे गण में संक्रमण करने वाला) होता है; वह निन्दनीय आचार वाला भिक्षु पापश्रमण कहलाता है ॥१७॥

विवेचन—गाणंगणिक—स्थानांग सूत्र (७) से परिज्ञात होता है कि भगवान महावीर के गण में इस प्रकार की व्यवस्था थी कि जो निर्ग्रन्थ श्रमण जिस गण में दीक्षित होता, वह आजीवन उसी गण में रहता। यदि अध्ययन आदि विशेष प्रयोजनवश अन्य साधर्मिक गणों में जाना हो तो अपने आचार्य की आज्ञा लेकर जा सकता था। किंतु दूसरे गण में जाने के पश्चात् छह मास तक वह पुनः गण-परिवर्तन नहीं कर सकता था (दशाश्रुत स्कंध २) जो श्रमण विशेष कारण के बिना अपनी इच्छा से ही छह मास के भीतर एक गण से दूसरे गण में संक्रमण करता है उसे 'गाणंगणिक' कहा जाता है।[1]—गणाद् गणं षण्मासाभ्यन्तरं संक्रामतीति गाणंगणिक' इत्यागमिकी परिभाषा—**शान्त्याचार्य बृहद्वृत्ति पत्र ४३५।**

स्वगृहत्यागी परगृहानुरागी, निमित्तजीवी : पापश्रमण—

मूल—सयं गेहं परिचज्ज, परगेहंसि वावडे।
निमित्तेण य ववहरई, पाव समणि त्ति वुच्चई ॥१८॥

छाया—स्वकं गेहं परित्यज्य, पर गेहे व्याप्रियते (व्यापृतः)।
निमित्तेन च व्यवहरति, पापश्रमण इत्युच्यते ॥१८॥

पद्या०—जो अपने घर को छोड़ साधु, पर घर में व्यापृत होता है।
करता निमित्त बल का प्रयोग, वह पापश्रमण कहलाता है ॥१८॥

---

१ आज के लोकतांत्रिक वातावरण में दल-बदलू प्रवृत्ति तथा दल-बदल विरोधी कानून से इसकी तुलना की जा सकती है।

अन्वयार्थ—(जो) **सयंगेहं**—अपना एक घर, **परिचज्ज**—छोड़कर (अर्थात्—गृहत्याग करके प्रव्रजित होकर) **परगेहंसि**—अन्य गृहस्थ के घर में, **वावडे**—व्याप्त होता है (अर्थात्—आहारादि के लिए उसका कार्य करता है) **य**—तथा (जो) **निमित्तेण**—निमित्त (शुभाशुभ) बतलाकर **ववहरइ**—व्यवहार (व्यापार) करता है, (वह) **पावसमणित्ति वुच्चई**—पापश्रमण कहलाता है ॥१८॥

भावार्थ—जो अपना एक घर छोड़कर (प्रव्रजित होकर) अन्य गृहस्थी के घर के धन्धों में लग जाता है, जो शुभाशुभ (निमित्त) बताकर धनोपार्जन (व्यवहार) करता है, वह पापश्रमण कहलाता है ॥१८॥

स्वज्ञातिपिण्डभोजी: गृहस्थ शय्या परिभोगी—

मूल—सन्नाइ-पिण्डं जेमेइ, नेच्छई सामुदाणियं ।
गिहि-निसेज्जं च वाहेइ, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥१९॥

छाया—स्वज्ञातिपिण्डं जेमति, नेच्छति सामुदानिकम् ।
गृहि-निषद्यां च वाहयति, पापश्रमण इत्युच्यते ॥१९॥

पद्यानुवाद—सामूहिक भिक्षा त्याग यहाँ,
निज जाति पिण्ड को खाता है ।
बैठे गृहस्थ के आसन पर,
वह पाप-श्रमण कहलाता है ॥१९॥

अन्वयार्थ—(जो) **सन्नाइपिंडं**—अपने ज्ञातिजनों (पूर्व-परिचित स्वजनों) से प्राप्त पिण्ड अर्थात् आहार ही, **जेमेइ**—ग्रहण करता है, **सामुदाणियं**—(सभी घरों से) सामुदायिक भिक्षा ग्रहण करना, **नेच्छई**—नहीं चाहता, **च**—और, **गिहिनिसेज्जं**—गृहस्थ की शय्या (निषद्या) पर, **वाहेइ**—बैठता है, (वह) **पावसमणि त्ति वुच्चई**—पापश्रमण कहलाता है ॥१९॥

भावार्थ—जो अपने ज्ञातिजनों द्वारा प्राप्त पिण्ड (भिक्षान्न) का ही आहार करता है, किन्तु सभी घरों से सामुदायिक भिक्षा ग्रहण करना नहीं चाहता, तथा गृहस्थ की निषद्या—(पलंग, सोफा आदि) पर बैठ जाता है, वह पापश्रमण कहलाता है ॥१९॥

विवेचन—स्वज्ञातिपिण्डभोजी पापश्रमण क्यों ?—अपने ज्ञातिजनों से लाया हुआ आहार ही करने वाला साधु चाहे प्रतिदिन एक ही घर से आहार न लेता हो, किन्तु ज्ञातिबन्धु, स्वजन आदि परिचित होने से उनके द्वारा साधु के निमित्त सरस स्वादिष्ट आहार तैयार करना सम्भव है, उससे

औद्देशिक दोष तो है ही, छह काया के आरम्भ का दोष भी लगता है, दूसरे सरस स्वादिष्ट आहार लगातार कई दिनों तक करने से अनेक विकार व उदर व्याधियाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं। अतः स्वज्ञातिपिण्डभोजी को पापश्रमण कहा गया है।

सामुदाणियं—बृहद् वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किये हैं—(१) अनेक घरों से गृहीत भिक्षा, अथवा (२) अज्ञात—अपरिचित घरों से थोड़ी-थोड़ी लाई हुई भिक्षा।

पंचकुशीलरत मुनिवेषी: विषवत् गर्हित—

मूल—एयारिसे पंचकुसीलऽसंवुडे, रूवंधरे मुणिपवराण हेट्ठिमे।
अयंसि लोए विसमेव गरहिए, न से इहं नेव परत्थलोए॥२०॥

छाया—एतादृशः पंच-कुशीलाऽसंवृतः, रूपंधरो मुनिप्रवराणामधस्तनः।
अस्मिल्लोके विषमिव गर्हितः, न स इह नैव परत्र लोके॥२०॥

पद्यानुवाद—ऐसे पांच कुशील असंवृत, मुनि-स्वरूप धर पथ न चले।
इस जग में विषवत् वह गर्हित, उभय-लोक अपकार करे॥२०॥

अन्वयार्थ—**एयारिसे**—इस प्रकार (जो पापश्रमणत्व का आचरण करता है, वह), **पंचकुसीलऽसंवुडे**—पार्श्वस्थादि पाँच कुशील साधुओं के समान असंवृत हैं, **रूवंधरे**—वह केवल मुनिवेष का ही धारक है, (वह) **मुणिपवराणहेट्ठिमे**—श्रेष्ठ मुनिवरों में सबसे निम्नतम—निकृष्टतम है, (वह) **एयंसि लोए**—इस लोक में, **विसमेव**—विष की तरह, **गरहिए**—गर्हित=निन्दनीय होता है, (अतः) **से**—वह **न इहं**—न तो इस लोक का रहता है, (और) **नेव परंमिलोए**—न ही परलोक का।

भावार्थ—इस प्रकार का (पापश्रमणत्व का आचरण करने वाला वह साधु) पार्श्वस्थादि पंचकुशील साधुओं के समान असंवृत है। वह केवल मुनिवेश का ही धारक है। श्रेष्ठ मुनियों में वह सबसे निकृष्ट है। वह इस लोक में विषवत् निन्दनीय होता है। अतः वह न तो इस लोक का रहता है और न ही परलोक का।

विवेचन—**न इहं, नेव परंमि लोए : तात्पर्य**—ऐसा वेषधारी मुनि उभयतो भ्रष्ट हो जाता है। न तो वह गृहस्थ रहता है, और न साधु ही। अथवा उसके दोनों लोक बिगड़ जाते हैं। वह न तो इस लोक को सुधार पाता है और न ही परलोक को।

पंचकुसीलसंवुडे—दो व्याख्या : (१) पंचकुशील-असंवृत=जैन आचार में जो पाँच कुशील साधु बताये हैं, उनमें कहा भी है—

ओसन्नो पासत्थो, होइ कुसीलो तहेव संसत्तो।
अहछंदो वि य एए, अवंदणिज्जा जिणमयंमि ॥

अर्थात्—'अवसन्न, पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त और यथाच्छन्द ये पाँच कुशील साधु जैनमत में अवन्दनीय हैं। पापश्रमण भी इन कुशीलों के समान अवन्दनीय और असंवृत=अजितेन्द्रिय होता है।

(२) **पंचकुशील-संवृत**— हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह इन पाँच कुशीलों से संवृत=सहित।

पूर्वोक्त दोषत्यागी मुनि ही अमृतसम पूजित—

मूल—जे वज्जए एए सया उ दोसे
से सुव्वए होइ मुणीणमज्झे।
अयंसि लोए अमयं व पूइए,
आराहए लोगमिणं तहा परं ॥२१॥
त्ति बेमि—

छाया—यो वर्जयत्येतान् सदा तु दोषान्,
ससुव्रतोभवति मुनीनांमध्ये।
अस्मिंल्लोकेऽमृतमिव पूजितः,
आराधयति लोकमिमं तथा परम् ॥२१॥
इति ब्रवीमि—

पद्या०—वर्जन करता इन दोषों को, वह सुव्रत मुनियों में होता।
अमृत-सम पूजित इस जग में, इह-परभव-आराधक बनता ॥२१॥

अन्वयार्थ—**जेउ**—जो, **एए दोसे**—इन दोषों का, **सया**—सदा, **वज्जए**—त्याग करता है, **से**—वह, **मुणीण मज्झे**—मुनियों के मध्य में, **सुव्वए**—सुव्रत, **होई**—होता है। (वह) **अयंसि लोए**—इस लोक में; **अमयं व**—अमृत की तरह, **पूइए**—पूजित होता है, (और वह) **लोगमिणं**—इस लोक, **तहा**—तथा, **परं**—परलोक (दोनों) की, **आराहए**—आराधना कर लेता है ॥२१॥

त्तिबेमि—ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—जो श्रमण इन (पूर्वोक्त) दोषों का सदा त्याग कर निर्दोष-चर्या करता है, वह मुनियों में सुव्रत—निर्मल शुद्धव्रतधारी होता है। इस लोक में वह अमृत की तरह पूजा जाता है। और वह इस लोक तथा पर-लोक—उभयलोक का आराधक होता है ॥२१॥

ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ पापश्रमणीय : सत्रहवाँ अध्ययन समाप्त ॥

संजयीय : अठारहवाँ अध्ययन

[अध्ययन—सार]

सत्रहवें अध्ययन में संयम में प्रमाद करने वाले और गुरुजनों की आज्ञा के अनुकूल नहीं चलने वाले तथा अशातना करने वाले को पाप श्रमण बतलाया, उससे विपरीत सुश्रमण कैसे होते हैं, यह प्रस्तुत अध्ययन में बताया गया है।

इस अध्ययन का नाम 'संजयीय' है प्राकृत के '**संजइज्जं**' रूप के अनुसार संस्कृत में इसके दो रूप बनते हैं—(१) संजयीय और (२) संयतीय इस दृष्टि से कई व्याख्याकारों ने हिंदी में संयतीय रूपान्तर किया है। राजा का नाम भी 'संजय' अथवा 'संयति' दोनों ही मिलते हैं।

इस अध्ययन में 'संजय' राजा के शिकारी जीवन की तथा तत्पश्चात् उसके संयमी जीवन की झांकी दी गई है। संजय-राजर्षि की यह कथा एक ध्यानयोगी तपोधनी गर्दभालि मुनि के निमित्त से जीवन के आमूलचूल परिवर्तन की कथा है। यह एक शिकारी के हृदय-परिवर्तन की कहानी है।

हजारों प्रवक्ता और लाखों पद प्राणिवध तत्पर शिकारी के पाषाण हृदय को बदलने में प्रायः समर्थ नहीं होते, जबकि ध्यानयोगी तपोधनी चारित्रात्मा का मौन उसके कठोरतम हृदय को आमूलचूल परिवर्तन कर देता है, चारित्रात्मा की एक ही वाचारूप चिनगारी वर्षों के संचित कठोर कर्मों को जलाकर भस्म कर सकती है, चारित्रात्मा का एक ही वचन निर्झर करोड़ों वर्षों के पापों को शीघ्र ही पश्चात्ताप के जल से धोकर पापात्मा को निर्मल बना सकता है। इस अध्ययन में शिकारी संजय राजा की हृदय-परिवर्तन की बोलती कहानी अंकित है। संक्षेप में घटनाक्रम इस प्रकार है—

कथासार—काम्पिल्यनगर का संजय राजा एक बार शिकार खेलने के लिए नगर के बाहर केसर नामक उद्यान की ओर निकल पड़ा। साथ में चतुरंगिणी सेना भी थी, अन्य वाहन एवं साधन भी थे। सेना ने निर्दोष वन्य मृगों को केसर-उद्यान की ओर खदेड़ना शुरू किया। राजा एक-एक करके भयभीत हिरणों को बाणों से बींधने लगा। घायल होकर हिरण

इधर-उधर भाग दौड़ करते-करते थक कर जमीन पर बैठ जाते तब राजा उन्हें मार गिराता। घोड़े पर चढ़ा हुआ राजा मरते हुए हिरणों को देखकर हर्षित हो रहा था। वहीं कुछ दूर एक लतामण्डप था, जहाँ कुछ मरे हुए हिरणों के पास ही राजा ने ध्यानस्थ तेजस्वी तपस्वी एक मुनि को देखा। मुनि के पास ही एक मृग मूर्च्छित-सा पड़ा था। राजा यह देखकर एकदम चौंका और मन ही मन यह सोच कर अत्यन्त भयभीत हुआ कि हो न हो, ये मृग मुनि के ही हैं। मैंने मुनि के मृगों को मार डाला! हाय! घोर अनर्थ हो गया मुझसे! बस, इसी पश्चात्ताप की भावना के साथ वह घोड़े से एकदम नीचे उतरा और मुनि के पास जाकर अत्यन्त नम्रतापूर्वक अपने अपराध के लिए क्षमा माँगने लगा।

किन्तु मुनि ध्यानस्थ थे, वे सभी प्राणियों के प्रति आत्मौपम्य भावना से ओतप्रोत हो रहे थे, उनकी तन्मयता, मौन तथा तप की तेजस्विता देख कर राजा भयभीत होकर अपना नाम लेकर गिड़गिड़ाता हुआ उच्च स्वर से क्षमादान की प्रार्थना करने लगा, क्योंकि राजा ने सोचा—मुनि क्रुद्ध हो गए हैं, और इसी तरह क्रुद्ध रहे तो ये एक क्षण में लाखों-करोड़ों व्यक्तियों को भस्म कर सकते हैं।"

मुनि ने अपना ध्यान सहजभाव से खोला, और राजा को अत्यधिक भयभीत हुआ देखकर बोले—'राजन्! मैं अपनी ओर से तुम्हें अभयदान देता हूँ, परन्तु जिस प्रकार तुम अपने प्राणों के विनाश होने के डर से भयभीत हो रहे हो, इसी प्रकार ये मूक प्राणी भी तो भयभीत हो रहे हैं, अतः जिस प्रकार मैंने तुम्हें अभयदान दिया है, उसी प्रकार तुम भी इन्हें अभयदान दो इस थोड़ी-सी जिन्दगी के लिए, थोड़े-से भोगों के लिए क्यों प्राणिवध को महापाप कर रहे हो? यह धन, स्वजन, परिजन या कामभोग आदि कोई भी काल से तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकते, न ही ये तुम्हें सुख दे सकते हैं। एक मात्र अहिंसादि धर्म ही तुम्हारी रक्षा कर सकता है, तुम्हें इहलोक व परलोक में सुख दे सकता है। इन क्रूरकर्मों का कटु फल तुम्हें स्वयं ही भोगना पड़ेगा।

संजयराजा पर गर्दभालिमुनि के मौन और तत्पश्चात् उनके युक्ति-संगत करुणामय प्रवचन का अचूक प्रभाव पड़ा, मुनि की प्रत्येक बात उसके गले उतर गई। क्रमशः वह सर्वस्व त्याग कर मुनि बन कर, रत्नत्रय की साधना और तपश्चरण में लीन हो गया। संजयराजा को दिया गया उपदेश

इतना प्रेरक है कि वह आज भी शाश्वत सत्य है और मानव की वंद आंखों को खोलने वाला है।

संजयराजा का हृदय-परिवर्तन, जीवन-परिवर्तन और वेष-परिवर्तन तो हो गया, परन्तु कहीं यह आवेश में आकर किया गया परिवर्तन तो नहीं है, थोड़े-से समय के मुनि-सम्पर्क तथा मुनि के वचन-संस्पर्श-सत्संग से शिकारी जीवन से सहसा वदला हुआ यह त्यागी तपस्वी निर्ग्रन्थ-जीवन कहीं भावनात्मक उफान तो नहीं है ? कहीं यह मसानिया वैराग्य अथवा दुःख-भय-गर्भित वैराग्य तो नहीं है ? इसकी जाँच पड़ताल करने और संजय-राजर्षि के जीवन को टटोल कर त्याग, तप, संयम और ज्ञान में परिपक्व और स्थायी वनाने हेतु एक क्षत्रियमुनि का संयोग आ मिला। अतः इस अध्ययन के उत्तरार्द्ध में क्षत्रियमुनि द्वारा संजयराजर्षि के शास्त्रज्ञान, ध्यान, दृष्टि, त्याग, तप, संयम और भावना को परिपक्व, यथार्थ और स्थायी वनाने का निरूपण अंकित है।

सर्वप्रथम क्षत्रियमुनि ने संजयराजर्षि से उनका परिचय, उनके गुरु का नाम, तथा गुरु की परिचर्या एवं विनय की पद्धति के विषय में पूछा, जिसका संजयराजर्षि ने युक्तियुक्त उत्तर दिया।

तत्पश्चात् क्षत्रियमुनि ने क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद, इन चारों को एकान्त और असत्य वताकर भ० महावीर जैसे तत्ववेत्ता ने जो कुछ अनेकान्तदृष्टि से कहा, उसका निरूपण तथा अपना स्वानुभव वताते हुए आगे वे अपने पूर्व भव का वृत्तान्त तथा अन्य अशुद्ध एवं असत्य दृष्टि वाले मतों की जानकारी प्रकट करते हैं। अन्त में, साधु को संयम-निष्ठ वने रहने के लिए वताया कि किन-किन वादों, मंत्रों, निमित्त-शास्त्रों आदि से वचना चाहिए। इसके लिए उन्होंने कहा—मैं भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित जिनशासन को सर्वोपरि एवं श्रेष्ठ समझता हूँ। इसमें सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का सम्यक् वर्णन है, इसलिए अन्य धर्म-सम्प्रदायों के आडम्वर, प्रदर्शन, भाषण एवं प्रलोभन में न आकर जैन शास्त्र में ही सुदृढ़ रहना चाहिए, जिनोपदिष्ट सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप का ही निष्ठापूर्वक आचरण करना चाहिए।

संजयराजर्षि को जिन शासन में सुदृढ़ और स्थिर करने हेतु क्षत्रिय मुनि भरत, सगर, मघवा, सनत् कुमार, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, महापद्म, हरिषेण, जय, आदि चक्रवर्ती तथा दशार्णभद्र, नमिराज, करकण्डु आदि चार प्रत्येकवुद्ध, उदायण, विजय काशीराज महावल, आदि वीस

महान् व्यक्ति जो कि एक दिन भोग व वैभव के उच्चशिखर पर थे, त्याग के उच्चशिखर पर कैसे पहुँच गए ? इसकी संक्षिप्त झांकी कराई गई है। इन सब चक्रवर्तियों और राजाओं ने जिन शासन की विशेषताओं को जान देखकर उसी में प्रव्रजित हुए और स्व-पर कल्याण किया। बीस महापुरुषों के दृष्टान्त जैन इतिहास की पुरातन गाथाओं पर भी व्यापक प्रकाश डालते हैं।

कुल मिला कर संजय राजर्षि के गृहस्थाश्रम के भोगी जीवन और प्रव्रजित होने के पश्चात् त्यागी जीवन की समानता भरत आदि चक्रवितयों के पूर्वाश्रम के अतिभोगी जीवन और प्रव्रज्यानन्तर बदले हुए त्यागी जीवन के साथ ध्वनित करते हुए अध्ययन का उत्तरार्द्ध प्रव्रजित जीवन को अधिकाधिक परिपुष्ट तथा तेजस्वी बनाने की प्रतीति करा देता है।

संजइज्जं : अट्ठारसमं अज्झयणं

(संजयीय : अठारहवाँ अध्ययन)

संजयराजा का मृगयार्थ प्रस्थान—

मूल—कंपिल्ले नयरे राया, उदिण्ण-बल-वाहणे।
नामेणं संजए नाम, मिगव्वं उवणिग्गए ॥१॥
हयाणीए गयाणीए, रहाणीए तहेव य।
पायत्ताणीए महया, सव्वओ परिवारिए ॥२॥
मिए छुभित्ता हयगओ, कंपिल्लुज्जाण-केसरे।
भीए संते मिए तत्थ, वहेइ रस-मुच्छिए ॥३॥

छाया—काम्पिल्ये नगरे राजा, उदीर्ण-बल-वाहनः।
नाम्ना संजयो नाम, मृगव्यामुपनिर्गतः ॥१॥
हयानीकेन गजानीकेन, रथानीकेन तथैव च।
पादातयनीकेन महता, सर्वतः परिवारितः ॥२॥
मृगान् क्षिप्त्वा हयगतः, काम्पिल्योद्यान-केसरे।
भीतान् श्रान्तान् मृगान् तत्र, व्यथते (वध्यति) रसमूर्च्छितः ॥३॥

पद्या०—काम्पिल्यनगर का भूपति था, सेना-वाहन-धन-जन वाला।
संजय नामा, वह पुर बाहर, मृगया-हित निकला मतवाला ॥१॥
घोड़े हाथी और रथारूढ़, पैदल कितने चलने वाले।
थे बड़े-बड़े सैनिक नृप के, चहुँ ओर घिरे प्रभुता वाले ॥२॥
मृग-गण को सैनिक हांक रहे, काम्पिल्यनगर-केसर वन में।
उन डरे श्रान्त जीवों को नृप, रसलोलुप मार रहा क्षण में ॥३॥

अन्वयार्थ—कंपिल्ले नयरे—काम्पिल्य नगर में, उदिण्ण-बल-वाहणे—बल—चतुरंगिणी सेना (और) वाहन—(रथादि) से उन्नत होकर, नामेणं संजए नाम—नाम से संजय नामक राजा, (एकदिन), मिगव्वं—मृगव्या अर्थात् मृगया (शिकार) के लिए, उवणिग्गए—(नगर के बाहर) निकला ॥१॥

(वह राजा) सव्वओ—सब ओर से, महया—विशाल, हयाणीए—अश्व-सेना

से, **गयाणीए**—गज सेना से, **रहाणीए**—रथ सेना से, **तहेव य**—तथा, **पायत्ताणीए**—पदाति (पैदल) सेना से, **परिवारिए**—परिवृत=घिरा हुआ था ॥२॥

हयगओ—अश्व पर आरूढ़ (वह राजा), **रस-मुच्छिए**—जीवों के रस-मूर्च्छित होकर, (सैनिकों द्वारा प्रथम तो) **तत्थ कंपिल्लुज्जाण केसरे**—उस काम्पिल्य नगर के केसर नामक उद्यान की ओर, **मिए**—मृगों को **छुभित्ता**—ढकेल (हांके) कर (तत्पश्चात्) **भीए**—भयभीत, (और) **संते**—श्रान्त (थके हुए) **मिए**—उन हिरणों को **वहेइ**—व्यथित कर रहा था,=मार रहा था ॥३॥

भावार्थ—काम्पिल्य-नगर में चतुरंगिणी सेना और हाथी, घोड़े, रथ आदि वाहनों से उद्यत (सुसज्जित) हो कर, संजय नामक राजा मृगया (शिकार) के लिए निकला ॥१॥

वह राजा विशाल अश्वसेना, गज-सेना, रथ-सेना और पदाति-सेना से घिरा हुआ था ॥२॥

घोड़े पर सवार वह राजा सैनिकों द्वारा काम्पिल्यपुर के केसर नामक उद्यान की ओर हांके गए, तथा भयभीत एवं श्रान्त उन हिरणों को रसलोलुप (मांस-लोभी) होकर मार रहा था ॥३॥

ध्यानस्थ गर्दभालि अनगार के निकटवर्ती मृग का हनन—

मूल—अह केसरम्मि उज्जाणे अणगारे तवोधणे ।
सज्झायज्झाणसंजुत्ते, धम्मज्झाणं झियायई ॥४॥
अप्फोवमंडवम्मि, झायई झवियासवे ।
तस्सागए मिए पासं, वहेई से नराहिवे ॥५॥

छाया—अथ केसर उद्याने, अनगारस्तपोधनः ।
स्वाध्याय-ध्यान-संयुक्तः, धर्मध्यानं ध्यायति ॥४॥
अप्फोवमण्डपे, ध्यायति क्षपितास्रवः ।
तस्यागतान् मृगान् पार्श्वे विध्यति स नराधिपः ॥५॥

पद्या०—फिर केसर नामक उपवन में, अनगार तपस्वी ज्ञानधनी ।
स्वाध्याय-ध्यान-संयुक्त मुनीश्वर, धर्मध्यान में लीन गुणी ॥४॥
थे कर्म-हेतु के उच्छेदक, मुनि लताकुंज में ध्यान-निरत ।
उनके शरणागत मृग-गण को, राजा ने किया बाण-आहत ॥५॥

---

१ पाठान्तर—खवियासवे ।

अन्वयार्थ—अह—तभी, केसरम्मि उज्जाणे—उस केसर नामक उद्यान में, (एक), तवोवणे—तपोधन (एवं) सज्झाय-ज्झाण-संजुत्ते—स्वाध्याय और ध्यान में संलग्न, अणगारे—अनगार, धम्मज्झाणं—धर्म ध्यान का, झियायई—एकाग्रता पूर्वक चिन्तन कर रहे थे ॥४॥

झवियासवे—आश्रवों (कर्मबन्ध के मिथ्यात्वादि कारणों) का क्षय करने वाले, (अनगार) अप्फोवमंडवम्मि—एक लतामण्डप (अप्फोव-मण्डप) में, झायई—ध्यान कर रहे थे। तस्स—उनके, पासं—पास में, आगए—आये हुए, मिए—मृगों को, से नराहिवे—उस संजय नृप ने, वहेइ—बाणों से बींध डाला (या मार डाला) ॥५॥

भावार्थ—उस समय केसर नामक उद्यान में स्थित एक तपोधन, अनगार स्वाध्याय और ध्यान में लीन हुए धर्मध्यान का एकाग्रतापूर्वक चिन्तन कर रहे थे ॥४॥

आश्रवों का क्षय करने वाले वे अनगार एक लतामण्डप में ध्यान में तल्लीन थे। उनके पास में आए हुए हिरणों का उस (संजय) राजा ने वध कर दिया ॥५॥

कठिन शब्दार्थ—अप्फोवमंडवम्मि : विशेषार्थ—वृक्षादि से घिरा हुआ मण्डप, अथवा—नागरवेल, द्राक्षा आदि लताओं से वेष्टित मण्डप।

झवियासवे : दो अर्थ—(१) आस्रवों—कर्मबन्ध के मिथ्यात्वादि आगमन हेतुओं का क्षय करने वाले, अथवा (२) आश्रवों—पापागमन द्वारों को निरुद्ध करने वाले।

मृत मृग को देख कर संजय नृप का पश्चात्ताप—

मूल—अह आसगओ राया खिप्पमागम्म सो तहिं।
हए मिए उ पासित्ता, अणगारं तत्थ पासई ॥६॥

अह राया तत्थ संभंतो, अणगारो मणाऽऽहओ।
मए उ मंदपुण्णेणं, रस-गिद्धेण घन्तुणा ॥७॥

छाया—अथाऽश्वगतो राजा, क्षिप्रमागम्य स तस्मिन्।
हतान् मृगान् तु दृष्ट्वा, अनगारं तत्र पश्यति ॥६॥
अथ राजा तत्र सम्भ्रान्तः, अनगारो मनागाहतः।
मया तु मन्दपुण्येन, रसगृद्धेन घातुकेन ॥७॥

पद्या०—वह अश्वारोही भूप शीघ्र, आकर हत मृग-तट ठहर गया।
मृत मृगों को देख वहाँ, फिर, ध्यानस्थ मुनि पर ध्यान गया ॥६॥

मुनि देख वहाँ नृप भीत हुआ, सोचा—मैं कितना भाग्यहीन ?
रसलोलुप-घातकतावश हो, मुनि को पीड़ा दी मतिविहीन ॥७॥

अन्वयार्थ—**अह**—इसके पश्चात्, **आसगओ सो राया**—अश्वारूढ़ वह राजा **तहिं**—(जहाँ मुनि ध्यानस्थ थे), वहाँ, **खिप्पं**—शीघ्र, **आगम्म**—आया (और पहले) **हए मिए उ**—मरे हुए हिरणों को, **पासित्ता**—देखकर, **तत्थ**—वहीं (एक ओर) **अणगारं**—(ध्यानस्थ) अनगार को भी, **पासई**—देखा ॥६॥

अह—अब, **तत्थ**—वहाँ (मुनि को देखकर सहसा) **राया**—राजा, **संभंतो**—भयभीत हो गया। (सोचा—) **मए उ**—मुझ, **मंदपुण्णे**—मन्दपुण्य (भाग्यहीन), **रसगिद्धेण**—रसलोलुप, (एवं) **घंतुणा**—जीवघातक ने मृग की हत्या कर, **मणा**—व्यर्थ ही, **अणगारो**—अनगार को, **आहओ**—आहत—(पीड़ित) किया है ॥७॥

भावार्थ—तदनन्तर अश्वारूढ राजा शीघ्र ही, (जहाँ मुनि ध्यानस्थ थे), वहाँ आया, और (पहले) मरे हुए हिरणों को देखा, फिर वहीं (एक ओर) अनगार को ध्यानस्थ भी देखा ॥६॥

वहाँ (मुनि को देखकर राजा) सहसा भयभीत हो उठा। फिर उसने सोचा—मैं कैसा भाग्यहीन रसलोलुप एवं हिंसकवृत्ति का हूँ कि मैंने व्यर्थ ही मुनि को पीड़ा पहुँचाई है ॥७॥

मुनि से वन्दन पूर्वक क्षमा याचना—

मूल—आसं विसज्जइत्ताणं, अणगारस्स सो निवो।
विणएण वंदए पाए, भगवं ! एत्थ मे खमे ॥८॥

छाया—अश्वं विसृज्य, अनगारस्य स नृपः।
विनयेन वन्दते पादौ, भगवन् ! अत्र मे क्षमस्व ॥८॥

पद्या०—तुरग छोड़कर शीघ्र भूप, मुनिचरण लगा करने वन्दन।
विनय सहित बोला मुनि से, अपराध क्षमा कर दो भगवन् ॥८॥

अन्वयार्थ—**आसं**—घोड़े को, **विसज्जइत्ताणं**—(वहां) छोड़कर **सो निवो**—उस राजा ने, **विणएण**—विनयपूर्वक, **अणगारस्स**—अनगार के, **पाए**—चरणों में, **वंदए**—वन्दन किया, (और कहा-) **भगवं**—भगवन् ! **एत्थ**—इस अपराध के विषय में, **मे खमे**—मुझे क्षमा करें ॥८॥

भावार्थ—राजा ने घोड़े को वहीं छोड़ कर विनयपूर्वक मुनि के चरणों में वन्दन किया और बोला—भगवन् ! इस अपराध के लिए मुझे क्षमा कर दें ॥८॥

मौनस्थ मुनि से भयाक्रान्त राजा की अभय प्रार्थना—

मूल—अह मोणेणं सो भगवं, अणगारे झाणमस्सिए ।
रायाणं न पडिमंतेइ, तओ राया भयद्दुओ ॥९॥
संजओ अहमस्सीति, भगवं ! वाहराहि मे ।
कुद्धे तेएण अणगारे, डहेज्ज नर-कोडिओ ॥१०॥

छाया—अथ मौनेन स भगवान्, अनगारो ध्यानमाश्रितः ।
राजानं न प्रतिमंत्रयते, ततो राजा भयद्रुतः ॥९॥
संजयो अहमस्मीति, भगवन् ! व्याहर माम् ।
क्रुद्धस्तेजसाऽनगारः, दहेत् नर-कोटीः ॥१०॥

पद्या०—थे ध्यानलीन वे परमतपी, अनगार मौनव्रत के धारी ।
राजा को उत्तर दिया नहीं, भयविकल हुआ राजा भारी ॥९॥
मैं हूँ संजय, मुनि ! मौन त्याग, मुझसे कुछ भी तो कथन करें ।
कुपित हों, मुनि स्वकीय तेज से, कोटि-कोटि नर दहन करें ॥१०॥

अन्वयार्थ—अह—किन्तु उस समय, सो अणगारे भगवं—वे अनगार भगवान, मोणेणं—मौन के साथ, झाणमस्सिए—ध्यान में लीन थे (अतएव) रायाणं—राजा को, न पडिमंतेइ—(कुछ भी) प्रत्युत्तर नहीं दिया, राया—राजा तओ भयद्दुओ—इससे और अधिक भयद्रुत=भयाक्रान्त हुआ ॥९॥

(राजा ने कहा) भगवं—भगवन् ! अहं—मैं, संजओ—संजय, अस्सीति—हूँ, इसलिए, (आप) मे—मुझसे, वाहराहि—(कुछ) बोलें । (क्योंकि मैं जानता हूँ) कुद्धे अणगारे—क्रुद्ध अनगार, तेएण—अपने तेज (तेजोलेश्या) से, नरकोडिओ—करोड़ों मनुष्यों को, डहेज्ज—जला सकते हैं ॥१०॥

भावार्थ—किन्तु वे अनगार भगवान् मौनसहित ध्यान में मग्न थे, इसलिए उन्होंने राजा को कोई उत्तर नहीं दिया । इससे राजा और अधिक भयाक्रान्त हो गया ॥९॥

(भयभीत राजा बोला) भगवन् ! मैं संजय राजा हूँ । इसलिए आप मुझसे कुछ तो बात करें ! (मैंने सुना है कि) क्रुद्ध हुए अनगार अपने तपस्तेज से करोड़ों मनुष्यों को जला सकते हैं ॥१०॥

विवेचन—निष्कर्ष—राजा के द्वारा मुनि से अपने अपराध के लिए क्षमा याचना किये जाने पर मुनि ध्यान में लीन होने के कारण जब नहीं

बोले, तो राजा और अधिक भयभीत हो गया, क्योंकि उसने अनुमान लगाया कि मुनि मुझसे कुछ भी नहीं बोल रहे हैं, इसलिए मुझे नीच-पापी जानकर झटपट कुपित होकर कोई शाप न दे बैठें। इसलिए राजा ने कहा—भगवन् ! मैं संजय राजा हूँ। आप मेरे साथ कुछ भी बात तो करिए, क्योंकि मैंने सुना है कि आप जैसे तपस्वी साधु क्रुद्ध हों तो अपने तेज—तेजोलेश्या से करोड़ों मनुष्यों को भस्म कर सकते हैं। अतः कहीं मुझ पर आप क्रोध करके शाप न देवे।

मुनि द्वारा राजा को अभयदानः अनित्यता—अशरणतादि का उपदेश—

मूल—अभओ पत्थिवा ! तुज्झं, अभयदाया भवाहि य।
अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि ? ॥११॥

जया सव्वं परिच्चज्ज, गंतव्वमवसस्स ते।
अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं रज्जम्मि पसज्जसि ? ॥१२॥

जीवियं चेव रूवं च, विज्जुसंपाय-चंचलं।
जत्थ तं मुज्झसी रायं !; पेच्चत्थं नावबुज्झसे ॥१३॥

दाराणि य सुया चेव, मित्ता य तह बांधवा।
जीवंतमणुजीवंति, मयं नाणुव्वयंति य ॥१४॥

नीहरंति मयं पुत्ता, पियरं परमदुक्खिया।
पियरो त्ति तहा पुत्ते, बंधू रायं ! तवं चरे ॥१५॥

तओ तेणऽज्जिए दव्वे, दारे य परिरक्खिए।
कीलंतऽन्ने नरा रायं ! हट्ठ-तुट्ठमलंकिया ॥१६॥

तेणावि जं कयं कम्मं, सुहं वा जइ वा दुहं।
कम्मुणा तेण संजुत्तो, गच्छई उ परं भवं ॥१७॥

छाया—अभयं पार्थिव ! तुभ्यं, अभयदाता भव च।
अनित्ये जीवलोके, किं हिंसायां प्रसजसि ? ॥११॥

यदा सर्वं परित्यज्य, गन्तव्यमवशस्य ते।
अनित्ये जीवलोके, किं राज्ये प्रसजसि ? ॥१२॥

सव्वं परिच्चज्ज—सब कुछ छोड़कर, **जया**—जब, **ते**—तुझे (यहाँ से) **अवसं**—लाचार (विवश) होकर परलोक में, **गंतव्वं**—चले जाना है, (फिर) **किं**—क्यों, (इस) **अणिच्चे**—अनित्य, **जीवलोगम्मि**—जीवलोक में, **रज्जम्मि**—राज्य में, **पसज्जसि**—आसक्त हो रहे हो ॥१२॥

रायं—हे राजन् ! **जत्थ**—जिनमें, **तं**—तू, **मुज्झसी**—मोहमुग्ध है, (वह) **जीवियं चेव**—जीवन और, **रूवं च**—रूप (सौन्दर्य) **विज्जु-संपाय-चंचलं**—बिजली की चमक के समान चंचल है। **पेच्चत्थं**—(तू अपने) परलोक के हित को, **नावबुज्झसे**—नहीं समझ रहा है ॥१३॥

दाराणि य सुया चेव—स्त्रियाँ और पुत्र, **मित्ता य तह बंधवा**—मित्र तथा बन्धुजन, **जीवंतं**—जीवित व्यक्ति के साथ ही, **अणुजीवंति**—जीते हैं। **मयं**—मृत व्यक्ति के साथ, **नाणुव्वयंति**—कोई नहीं जाता ॥१४॥

परमदुक्खिया पुत्ता—अत्यन्त दुःखित होकर पुत्र, **मयं पियरं**—अपने मृत पिता को, **नीहरंति**—घर से बाहर (श्मशान में) निकाल देते हैं। **तहा**—उसी प्रकार, **पियरो वि**—पिता भी, **पुत्ते**—अपने पुत्रों को (तथा), **बन्धू**—बन्धु भी, अपने बन्धु को, (बाहर निकाल देते हैं, अत) **रायं**—हे राजन् ! **तवं चरे**—तू तपश्चरण कर ॥१५॥

रायं—हे राजन् ! **तओ**—मरने के बाद, **तेणऽज्जिए दव्वे**—उस मृत व्यक्ति के द्वारा अर्जित धन का, **य**—और **परिरक्खिए दारे**—सुरक्षित स्त्रियों का, **अन्ने नरा**—अन्य लोग, **हट्ठतुट्ठमलंकिया**—हृष्ट, तुष्ट और अलंकृत होकर, **कीलंत**—उपभोग करते हैं, ॥१६॥

तेणावि—उस (मृत) व्यक्ति ने भी, **जं**—जो कुछ **सुहं वा जइ वा दुहं**—सुख कारक या दुःखकारक, **कम्मं**—कर्म, **कयं**—किया है, (वह) **तेण कम्मुणा**—अपने उन कर्मों के, **संजुत्तो**—साथ, **परं भवं उ**—परभव में, **गच्छइ** जाता है ॥१७॥

भावार्थ—हे राजन् ! मेरे द्वारा तुझे अभय है, किन्तु तू भी अभय-दाता बन। इस अनित्य जीवलोक में तू हिंसा में क्यों लगा हुआ है ? ॥११॥

जब तुझे एकदिन सब कुछ छोड़ कर लाचार होकर अवश्यमेव चले जाना है, तब इस अनित्य जीवलोक में तू राज्य में क्यों आसक्त हो रहा है ? ॥१२॥

राजन् ! जिस पर तू मुग्ध हो रहा है, वह जीवन और रूप तो विद्युत की चमक की तरह चंचल है। तुम अपने परलोक के हित को नहीं समझ रहे हो ॥१३॥

स्त्रियाँ और पुत्र, मित्र और बान्धव, सभी जीतेजी के साथी हैं, मरने

राज्य का परित्याग कर संजय राजा विशिष्टज्ञानी (भगवान्) गर्दभालि अनगार के पास जिन-शासन में प्रव्रजित हो गया ॥१६॥

विवेचन—संवेग और निर्वेद : परिभाषा—संवेग का अर्थ—मोक्षाभिलाषा और निर्वेद का अर्थ—संसार में उद्विग्नता है।

निक्खंतो जिणसासणे : दो अर्थ—(१) जिनशासन अर्थात् वीतराग धर्म के पथ पर बढ़ा, निष्क्रान्त—संसार से, गृह से निकला, (२) जैनी भागवती दीक्षा ग्रहण की।

क्षत्रिय मुनि द्वारा संजय राजर्षि से परिचय की जिज्ञासा—

मूल—चिच्चा रट्ठं पव्वइए, खत्तिए परिभासइ।
जहा ते दीसई रूवं, पसन्नं ते तहा मणो ॥२०॥
किंनामे ? किंगोत्ते ?, कस्सट्ठाए व माहणे ?
कहं पडियरसी बुद्धे ?, कहं विणीएत्ति वुच्चसि ? ॥२१॥

छाया—त्यक्त्वा राष्ट्रं प्रव्रजितः, क्षत्रियः परिभाषते।
यथा ते दृश्यते रूपं, प्रसन्नं ते तथा मनः ॥२०॥
किंनामा ? किंगोत्रः ?, कस्मै अर्थाय वा माहनः ?
कथं प्रतिचरसि बुद्धान् ? कथं विनीत इत्युच्यते ? ॥२१॥

पद्या०—राष्ट्र छोड़ दीक्षित क्षत्रिय, मुनि संजय से यों बात करे।
जैसा है सुघड़ रूप तेरा, वैसा प्रसन्न मन दीप्त रहे ॥२०॥
क्या नाम और क्या गोत्र ?, कहो, किसलिए बने हो श्रमणव्रती ?
कैसे करते गुरु की सेवा ?, कैसे विनीत कहती जगती ? ॥२१॥

अन्वयार्थ—**रट्ठं**—राष्ट्र को, **चिच्चा**—छोड़कर, **पव्वइए**—प्रव्रजित हुए, **खत्तिए**—क्षत्रिय मुनि ने, (एकदिन संजय राजर्षि से) **परिभासइ**—कहा, **ते रूवं**—तुम्हारा (यह) रूप (बाह्य आकार) **जहा**—जैसा, **पसन्नं**—प्रसन्न, **दीसई**—दिखाई देता है, **ते**—तुम्हारा, **मणो**—मन भी, **तहा**—वैसा ही प्रसन्न (निर्विकार) है ॥२०॥

किंनामे—तुम्हारा नाम क्या है ?, **किंगोत्ते**—तुम्हारा गोत्र क्या है ?, **कस्सट्ठाए**—किसलिए, **व माहणे**—तुम महान् मुनि (बने हो ?), **कहं**—किस प्रकार **बुद्धे**—आचार्यों की, **पडियरसि**—परिचर्या (सेवा) करते हो ?, **कहं**—किस प्रकार, **विणीएत्ति**—विनीत, **वुच्चसि**—कहलाते हो ? ॥२१॥

भावार्थ—राज्य का परित्याग कर प्रव्रजित हुए क्षत्रियमुनि ने (एक दिन) (संजय राजर्षिसे) पूछा—तुम्हारी आकृति जैसी प्रसन्न दिखाई देती

है, वैसा तुम्हारा मन भी प्रसन्न (निर्विकार या स्वच्छ) दिखाई दे रहा है ॥२०॥

तुम्हारा नाम क्या है ?, गोत्र क्या है ? किस प्रयोजन से तुम माहन-मुनि बने हो ? किस प्रकार आचार्यों की परिचर्या करते हो और किस प्रकार विनीत कहलाते हो ? ॥२१॥

विवेचन—क्षत्रियराजर्षि की वृद्ध परम्परागत कथा—गर्दभालि आचार्य के शिष्य होने के कुछ वर्षों के पश्चात् संजय राजर्षि गीतार्थ हुए और समग्र साध्वाचार-संहिता में पारंगत होकर गुरु के आदेश से अकेले विहार करते हुए किसी समय एक गाँव में पधारे। उस गाँव में उन्हें एक क्षत्रिय राजर्षि मिले। वह क्षत्रियराजर्षि पूर्वजन्म में वैमानिक देव थे। वहाँ से आयुष्यपूर्ण होने पर च्यव कर मनुष्य लोक में एक क्षत्रियकुल में उत्पन्न हुए। वहां किसी निमित्त को देखने से उन्हें जातिस्मरण ज्ञान हुआ। इस कारण उन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ। वे अपने राज्यादि का परित्याग करके प्रव्रजित हुए। शास्त्रकार ने इनके नाम का निर्देश नहीं किया है केवल क्षत्रियकुल में जन्म होने के कारण इन्हें क्षत्रियमुनि कहा गया है।[1]

क्षत्रियमुनि ने संजयराजर्षि को देखकर उनके ज्ञान की परीक्षा करने हेतु निम्न पाँच परिचयात्मक प्रश्न पूछे—मुने ! जिस प्रकार का तुम्हारा यह बाह्य आकार सौम्य प्रसन्न दिखाई देता है, उसी प्रकार का तुम्हारा मन भी प्रसन्न—विकाररहित लगता है; क्योंकि अन्तर्मन में, कलुषता हो तो बाह्य आकृति पर ऐसी प्रसन्नता संभव नहीं है। मैं तुमसे पूछना चाहता हूँ कि तुम्हारा नाम, गोत्र क्या है ? किस प्रयोजन से तुम प्रव्रजित हुए हो ? आचार्यों (प्रबुद्ध गुरुओं) की परिचर्या (सेवा) कैसे करते हो ? और कैसे तुम विनीत कहलाते हो ?

संजय राजर्षि द्वारा अपना परिचयात्मक उत्तर—

मूल—संजओ नाम नामेणं, तहा गोत्तेण गोयमो।
गद्दभाली ममायरिया, विज्जाचरण-पारगा ॥२२॥

छाया—संजयो नाम नाम्ना, तथा गोत्रेण गौतमः।
गर्दभालयो ममाचार्याः, विद्याचरण-पारगाः ॥२२॥

पद्या०—संजय प्रसिद्ध है नाम तथा, गौतम विख्यात गोत्र मेरा।
विद्या-चरण-प्रवीण धर्म गुरु, गर्दभालिका मैं चेला (रा) ॥२२॥

---

१ बृहद्वृत्ति पत्र ४४२

अन्वयार्थ—**नामेण**—नाम से (मेरा) नाम, **संजओ**—संजय है, **तहा**—तथा, **गोत्तेण**—गोत्र से (मैं) **गोयमो**—गौतम हूँ। **मम**—मेरे, **आयरिया**—धर्माचार्य (धर्म-गुरु), **गद्दभाली**—गर्दभालि हैं, (जो कि) **विज्जाचरण-पारगा**—विद्या (ज्ञान) और चरण (चारित्र) में पारंगत हैं ॥२२॥

भावार्थ—मेरा नाम संजय है तथा मेरा गोत्र गौतम है। विद्या और चरण अर्थात्—ज्ञान और चारित्र के पारगामी गर्दभालि मेरे आचार्य हैं ॥२२॥

विवेचन—**पाँचों प्रश्नों के उत्तर**—प्रस्तुत गाथा में दो प्रश्नों का उत्तर तो स्पष्टतः अभिव्यक्त किया गया है, किन्तु अन्तिम तीन प्रश्नों का उत्तर गाथा के उत्तरार्द्ध से ध्वनित किया गया है।

जैसे कि तीसरा प्रश्न था—तुम किस प्रयोजन से दीक्षित हुए?

इसका उत्तर—गर्दभालि नामक मेरे धर्माचार्य नें मुझे जीव-घात से निवृत्त (विरत) किया था, जीवघात की निवृत्ति से ही मुक्तिफल कहा था। अतः मैं मुक्ति के लिए ही माहन=मुनि बना हूँ।

चौथा प्रश्न था—आचार्यों की सेवा कैसे करते हो?, इसका उत्तर—मेरे आचार्य गर्दभालि हैं, उनके आदेशानुसार मैं गुरुओं की सेवा करता हूँ।

पाँचवाँ प्रश्न था—तुम 'विनीत' कैसे कहलाते हो?

इसका उत्तर—विद्या-चरण पारगामी गुरुओं का विनय तथा विद्या और चारित्र की विनयाचारपूर्वक ग्रहण-आसेवन शिक्षा लेने से, तथा आचार्यों के आदेश का पालन करने से मैं विनीत कहलाता हूँ।

विद्या और चरण—ये दोनों क्रमशः श्रुतज्ञान और चारित्र के पर्याय-वाची हैं।

क्षत्रिय राजर्षि द्वारा सत्यासत्य प्ररूपणा का निर्देश—

मूल—किरियं अकिरियं विणयं अन्नाणं च महामुणी।
एएहिं चउहिं ठाणेहिं, मेयन्ने किंपभासई? ॥२३॥

इइ पाउकरे बुद्धे, नायए परिनिव्वुडे।
विज्जाचरण-संपन्ने, सच्चे सच्च-परक्कमे ॥२४॥

पडंति नरए घोरे, जे नरा पावकारिणो।
दिव्वं च गइं गच्छंति, चरित्ता धम्ममारियं ॥२५॥

छाया—क्रियाऽक्रियां विनयः अज्ञानं च महामुने !
एतैश्चतुर्भिः स्थानैः, मेयज्ञाः किं प्रभाषन्ते ? ॥२३॥
इति प्रादुरकरोद् बुद्धः, ज्ञातकः परिनिर्वृतः ।
विद्या-चरण-सम्पन्नः, सत्यः सत्य-पराक्रमः ॥२४॥
पतन्ति नरके घोरे, ये नराः पापकारिणः ।
दिव्यां च गतिं गच्छन्ति, चरित्वा धर्ममार्यम् ॥२५॥

पद्यानुवाद—

हैं धर्मक्षेत्र के चार वेद, अक्रिया, विनय, अज्ञान, क्रिया ।
है क्रियावाद इन चारों में, ज्ञानी ने किसको मान्य किया ? ॥२३॥
इन वादों का कथन किया, तत्वज्ञ ज्ञात-सुत निर्वृत ने ।
ज्ञान-चरण-सम्पन्न सत्यवर, सत्य-पराक्रम वाले ने ॥२४॥
जो पापकर्म करने वाले, वे घोर नरक में जाते हैं ।
निर्दोष धर्म-पथ पर चल कर, कई दिव्य धाम को पाते हैं ॥२५॥

अन्वयार्थ—महामुणी—हे महामुने !, किरियं—क्रिया, अकिरियं—अक्रिया, विणयं—विनय, य—और, अन्नाणं—अज्ञान, एएहिं चउहिं-ठाणेहिं—इन चार स्थानों (वादों) के द्वारा, मेयन्ने—कुछ एकान्तवादी तत्वज्ञ (मेयज्ञ), किंपभासई—कुत्सित (असत्य) तत्व की प्ररूपणा करते हैं ॥२३॥

(इन वादों को) बुद्धे—तत्ववेत्ता, परिनिव्वुडे—परिनिर्वृत—सब प्रकार से परिशान्त, विज्जा-चरण-संपन्ने—विद्या और चरण से सम्पन्न, सच्चे—सत्यवादी, सच्चपरक्कमे—सत्य-पराक्रमी, नायए—ज्ञातवंशीय भगवान् महावीर ने, इइ—इस प्रकार (सम्यक् रूप से), पाउकरे—प्रकट किया है ॥२४॥

जे नरा—जो मनुष्य, पावकारिणो—पाप करते हैं, (वे), घोरे नरए—घोर नरक में, पडंति—गिरते (जाते) हैं। च—और, (जो) आरियं धम्मं—आर्य (श्रेष्ठ) धर्म का, चरित्ता—आचरण करते हैं, (वे) दिव्वं गइं—दिव्य (देव) गति को, गच्छन्ति—प्राप्त करते हैं ॥२५॥

भावार्थ—हे महामुने ! क्रिया, अक्रिया, विनय, और अज्ञान, इन चार स्थानों के माध्यम से कुछ एकान्तवादी तत्वज्ञ असत्यतत्व की प्ररूपणा करते हैं ॥२३॥

तत्ववेत्ता, एवं सब प्रकार से परिशान्त, विद्या-चरण-सम्पन्न तथा सत्यवादी एवं सत्य पराक्रमी ज्ञातवंशीय भगवान् महावीर ने (इन वादों को) इस प्रकार प्रकट किया है ॥२४॥

जो मनुष्य पाप करने वाले हैं, वे घोर नरक में जाते हैं, किन्तु जो आर्य-धर्म का आचरण करते हैं, वे दिव्यगति को प्राप्त करते हैं ॥२५॥

विवेचन—मेयन्ने : व्याख्या—मेयज्ञ का यहाँ अभिप्राय है—जीवादि पदार्थों को जानने वाले वे एकान्तवादी पदार्थज्ञ, अर्थात्—कुतीर्थ्य किंपभासई दो अर्थ हैं—(१) किं=कुत्सित, पभासई—भाषण करते हैं, अर्थात्—वे एकान्तवादी होने से असत्य (कुत्सित) प्ररूपणा करते हैं। अथवा वे एकान्तवादी पदार्थज्ञ किं अर्थात्—क्या, पभासई—कहते हैं या प्ररूपणा करते हैं?

एकान्तवादियों को कुत्सित-भाषी क्यों कहा गया?—(१) क्रियावाद—जीवादिसत्तारूप, (२) अक्रियावाद—जीवादि पदार्थों की नास्तित्वरूप अक्रिया, (३) विनयवाद—सभी को नमस्कार करना और (४) अज्ञानवाद—सभी पदार्थों का अज्ञान (न जानना) ही श्रेष्ठ है। ये चारों वाद एकान्त होने के कारण मिथ्यात्वयुक्त हैं, ये दूसरों के विचारों को एकान्त असत्य कहते हैं दूसरी अपेक्षाओं को ठुकरा देना ही इनका कुत्सित भाषण है।

एकान्त क्रियावाद में सर्वत्र सर्वथा सत्ता मानने के कारण सर्वत्र जीव का अस्तित्व होगा, फिर तो अजीव में भी जीवबुद्धि हो जाएगी।

एकान्त अक्रियावाद में सर्वत्र जीवादि पदार्थों का नास्तित्व मान लेने से आत्मा का भी नास्तित्व हो जाएगा, जो कि असम्भव है, तथा प्रमाणों से भी बाधित है। अन्य था, इससे जीव और अजीव दोनों में समान रूप से नास्तित्व हो जाएगा।

एकान्त विनयवाद में—सर्वत्र (अविचार-पूर्वक) विनय करने से, निर्गुण के प्रति विनय अशुभफलदायी होगा।

विनय भी योग्य स्थान में किया हुआ फलदायी होता है। अतः एकान्त विनय भी श्रेष्ठ नहीं है।

एकान्त अज्ञानवाद में—अज्ञान मुक्ति की साधना में कारण नहीं है, ज्ञान ही मुक्तिक कारण है। हेय—उपादेय पदार्थों का यथायोग्य क्रियान्वयन ज्ञान से ही हो सकता है। ज्ञान के बिना हिताहित को भी नहीं जाना जा सकता। इसलिए अज्ञानवाद भी अच्छा नहीं है।

इसलिए क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादी, ये सब एकान्तवादी होने से, यथावस्थित रूप से तत्वार्थ के अनभिज्ञ होने के कारण जैसे-तैसे (अंटसंट) प्ररूपणा करते हैं, इसलिए—मिथ्यात्वी कुतीर्थियों को कुत्सितभाषी जानना चाहिए। इनका अपने अभिप्राय से

कुत्सित भाषण नहीं है, किन्तु भगवान् के अनेकान्तवादी सापेक्ष वचनों से इनका कथन कुत्सितभाषण है। इन पाषण्डियों के चारों एकान्तवादों के कुल मिला कर ३६३ भेद होते हैं। क्रियावाद के १८०, अक्रियावाद के ८४, विनय-वाद के ३२, और अज्ञानवाद के ६७, यों चारों वादों के ३६३ भेद हुए।'[1]

दोनों गाथा का फलितार्थ—क्षत्रिय मुनि संजयराजर्षि से कहते हैं, इन एकान्तवादी असत्यप्ररूपकों के एकान्तवादरूप असत्यप्ररूपण को तुम्हें ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से छोड़ देना चाहिए। अगली गाथा में यह बताया गया है कि ये क्रियावादी आदि एकान्त (असत्य) प्ररूपणा करते हैं, ऐसा ज्ञातपुत्र, तत्ववेत्ता, सर्वतः परिशान्त सत्यवादी, सत्याचरण-पराक्रमी भ० महावीर ने कहा है।

पडंति नरए—गाथा की पूर्वगाथाओं के साथ संगति—पुनः क्षत्रिय मुनि कहते हैं—जो मनुष्य पापकर्ता हैं—असत्यप्ररूपण रूप पाप करते हैं, वे भीषण नरक में जाते हैं, किन्तु जो सत्यप्ररूपणा रूप आर्य—वीतरागोक्त धर्म का आचरण—आराधन करते हैं, वे दिव्य=उत्तम गति को प्राप्त करते हैं। यहाँ असत्य वचन को पाप और सत्यवचन को धर्म समझना चाहिए। फलितार्थ यह है कि—'हे संजय! इस प्रकार सत्यासत्य जानकर तुम्हें सत्य प्ररूपणापरायण होना चाहिए।

क्षत्रिय मुनि द्वारा आत्म-परिचय—

मूल—मायावुइयमेयं तु, मुसा भासा निरत्थिया।
संजममाणो वि अहं, वसामि इरियामि य ॥२६॥
सव्वे ते विइया मज्झं, मिच्छादिट्ठी अणारिया।
विज्जमाणे परे लोए, सम्मं जाणामि अप्पगं ॥२७॥
अहमासी महापाणे, जुइमं वरिस-सओवमे।
जा सा पाली महापाली दिव्वा वरिस-सओवमा ॥२८॥
से चुए बंभलोगाओ, माणुसं भवमागए।
अप्पणो य परेसिं च, आउं जाणे जहा तहा ॥२९॥

छाया—मायोक्तमेतत्तु, मृषा भाषा निरर्थिका।
संयच्छन्नप्यहं वसामि ईर्यायां च ॥२६॥

---

१ विस्तार के लिए देखें सूत्रकृतांग सूत्र टीका १।१२।१

भावार्थ—एकान्तवादियों का यह कथन माया से युक्त है, अतएव वह मिथ्यावचन है और निरर्थक (सत्य अर्थ से रहित) है। मैं इन (असत्प्ररूपणाओं) से वचकर रहता हूँ और (वचकर) चलता हूँ ॥२६॥

मैंने उन सबको जान लिया है, जो मिथ्यादृष्टि तथा अनार्य हैं। परलोक का अस्तित्व होने से मैं आत्मा को भलीभाँति जानता हूँ ॥२७॥

मैं पहले महाप्राण नामक विमान में वर्षशतोपम आयु वाला द्युतिमान् देव था। यहाँ पल्योपम और सागरोपम (दिव्य) (देवों की) आयु होती है—वही मेरी थी ॥२८॥

फिर ब्रह्मलोक नामक देवलोक से च्यव कर मैं मनुष्यजन्म में आया हूँ। मैं जैसे अपनी आयु को जानता हूँ, वैसे ही मैं दूसरों की आयु को भी जानता हूँ ॥२९॥

विवेचन—फलितार्थ—पूर्वोक्त चारों प्रकार के सम्यग् मार्ग-विलोपक मिथ्यादृष्टि अनार्यों को मैं भलीभाँति जान चुका हूँ, कि उनका यह कथन कपटपूर्ण, मिथ्या एवं निरर्थक है। अतः मैं उनसे वचकर रहता हूँ। मैं पूर्वजन्म में ब्रह्मलोक में महाद्युतिमान् तेजस्वी और सागरोपमस्थिति वाला देव था, तथा पूर्वजन्म का ज्ञान प्राप्त होने से मैं यह सब जानता हूँ।

निष्कर्ष—जिस प्रकार मैं असत्प्ररूपणा से वचकर चलता हूँ, वैसे ही हे संजय मुने ! तुम भी असत्प्ररूपणा से हर प्रकार से बचो, क्योंकि साधु स्वयं सन्मार्ग में स्थित हो कर ही दूसरों को सन्मार्ग में स्थिर कर सकता है।

परेलोए सम्मं जाणामि अप्पयं—(१) परलोक से मैं आया हूँ, इसलिए परलोक को और आत्मा को सम्यक् प्रकार से जानता हूँ। अथवा (२) परलोक का अस्तित्व होने से मैं अपनी और दूसरों की आत्मा को भलीभाँति जानता हूँ।

पाली महापाली : तात्पर्य—पालि का अर्थ है—पाल, जिस प्रकार पाल (तटवन्ध) जल को धारण करके रखती है, वैसे ही देवलोक की पल्योपम-प्रमाण वाली भवस्थिति भी जीवन रूपी जल (आयुष्य) को धारण करके रखती है। देवलोक में वैमानिक देवों की स्थिति पल्योपम (पालि) और सागरोपम (महापालि) होती है। परन्तु महाप्राण विमान में, पंचम ब्रह्मलोक नामक देवलोक में मेरी (क्षत्रिय मुनि की) महापालि दिव्य स्थिति (दस सागरोपम की आयु) थी।

आउं जाणे जहा तहा : तात्पर्य—अपना और दूसरों का जैसा और जितना आयुष्य है, वह मैं यथातथ्य रूप से जानता हूँ। अर्थात्—मेरा, तथा

अन्य मानव का, जिस प्रकार से आयुष्क है, उस प्रकार से मैं सव सत्य सत्य जानता हूँ। विपरीत नहीं।

वरिस सओवमो : आशय—इस लोक में जैसे सौ वर्ष जीने वाला परिपूर्ण आयु वाला कहलाता है, वैसे मैं भी विमान में (देवभव में) परिपूर्ण आयुवाला था। इसी को यहाँ 'वर्षशतोपम' कहा गया है। (बृहद् वृत्ति पत्र ४४५)

नानारुचि एवं छन्द आदि से निवृत्त होकर शुद्ध ज्ञान-क्रिया में प्रवृत्त हो—

मूल—नाणा रुइं च छंदं च, परिवज्जेज्ज संजए।
अणट्ठा जे य सव्वत्था, इइ विज्जामणुसंचरे ॥३०॥

पडिक्कमामि पसिणाणं, परमंतेहिं वा पुणो।
अहो उट्ठिए अहोरायं, इइ विज्जा तवं चरे ॥३१॥

जं च मे पुच्छसी काले, सम्मं सुद्धेण चेयसा।
ताइं पाउकरे बुद्धे, तं नाणं जिण-सासणे ॥३२॥

किरियं च रोयए धीरे, अकिरियं परिवज्जए।
दिट्ठीए दिट्ठि-संपन्ने, धम्मं चर सुदुच्चरं ॥३३॥

छाया—नाना रुचिं च छन्दश्च, परिवर्जयेत् संयतः।
अनर्था ये च सर्वत्र, इति विद्यामनुसंचरेः ॥३०॥

प्रतिक्रमामि प्रश्नेभ्यः परमंत्रेभ्यो वा पुनः।
अहो! उत्थितोऽहोरात्रं, इति विद्वान् तपश्चरेत् ॥३१॥

यच्च मां पृच्छसि काले, सम्यक् शुद्धेन चेतसा।
तत् प्रादुरकरोत् बुद्धः तज्ज्ञानं जिन-शासने ॥३२॥

क्रियां च रोचयेद् धीरः अक्रियां परिवर्जयेत्।
दृष्ट्या दृष्टिसम्पन्नः, धर्मं चर सुदुश्चरम् ॥३३॥

पद्या०—

नाना मत के भाव और रुचि को मुनि! वर्जन करना है।
हिंसादि अनर्थक जान दोष, सद्ज्ञान मार्ग पर चलना है ॥३०॥

हो दूर प्रश्न और गृहकार्यों से, दिन-रात सत्य का ध्यान करे।
आश्चर्यजनक तत्परता है, यह समझ ज्ञान; तप में विचरे ॥३१॥

जो मुझे पूछते अवसर पर, सम्यक् निर्मल मन से बुधजन।
वह प्रकट किया है ज्ञानी ने, है ज्ञान वीर-जिन के शासन ॥३२॥

धीर क्रिया पर रुचि रक्खे, अक्रियावाद को दूर करे।
सम्यग्दर्शन से दृष्टि-शुद्धि कर, दुष्कर धर्माचरण करे ॥३३॥

अन्वयार्थ—(क्षत्रिय राजर्षि—संजयमुने !), **संजए**—संयतात्मा मुनि, **नाणा रुइं च**—नाना प्रकार की रुचि और, **छंदं च**—मनःकल्पित अभिप्रायों का, **य**—एवं, **जे**—जो, **सव्वत्था अणट्ठा**—सर्वथा अनर्थक (प्रयोजन शून्य) व्यापार हैं, उनका, **परिवज्जेज्ज**—परित्याग करे। (तथा), **इइ विज्जा**—इस तत्व-ज्ञानरूप विद्या का अनुलक्ष्य करके, **अणुसंचरे**—संयमपथ पर संचरण करे ॥३०॥

(हे मुने !) (मैं) **पसिणाणं**—शुभाशुभसूचक प्रश्नों से, **वा**—अथवा **पुणो**—**परमंतेहिं**—परमंत्रों—गृहस्थों (के कार्यों की) मंत्रणाओं से, **पडिक्कमामि**—दूर (निवृत्त) रहता हूँ। **अहो**—अहो ! **अहोरायं**—दिन-रात, **उट्ठिए**—(धर्माचरण के लिए) उद्यत, (कोई विरला ही महात्मा होता है।) **इइ विज्जा**—इस प्रकार जानकर, **तवं चरे**—(तुम) तपश्चरण करो ॥३१॥

च—और, **जं**—जो, (तुम) **मे**—मुझे, **सम्मं**—**सुद्धेण चेयसा**—सम्यक् शुद्ध चित्त से, **काले**—काल के विषय में, **पुच्छसी**—पूछ रहो हो, **ताइं**—उन्हें, **बुद्धे**—सर्वज्ञ (भ० महावीर अथवा ज्ञानी पुरुष) ने, **पाउकरे**—प्रकट किया है; **तं नाणं**—वह ज्ञान, **जिणसासणे**—जिन शासन में है ॥३२॥

धीरे—धीर पुरुष, **किरियं**—क्रिया में, **रोयए**—रुचि करता है **च**—और, **अकिरियं**—अक्रिया का, **परिवज्जए**—परित्याग करता है, **दिट्ठीए**—सम्यग्दृष्टि (सद्दर्शन) से, **दिट्ठीसंपन्ने**—दृष्टि-सम्पन्न होकर, (तुम) **सुदुच्चरं**—अतिदुश्चर, **धम्मं**—श्रुत-चारित्र धर्म का, **चर**—आचरण करो ॥३३॥

भावार्थ—(क्षत्रियराजर्षि ने कहा—हे संजय मुने !) संयतात्मा मुनि को नाना प्रकार की रुचियों का, विविध मनःकल्पित अभिप्रायों का तथा (हिंसा आदि) सर्वथा अनर्थक व्यापारों का परित्याग करना चाहिए। इस तत्त्वज्ञान रूप विद्या को लक्ष्य करके संयम पथ पर संचरण करे ॥३०॥

मैं शुभाशुभसूचक प्रश्नों से और गृहस्थ की मंत्रणाओं से दूर रहता हूँ। अहो ! अहर्निश धर्माचरण के लिए उद्यत (कोई विरला ही महात्मा होता है,) इस प्रकार जानकर (हे मुने !) तुम तपश्चरण करो ॥३१॥

तुमने मुझसे जो सम्यक् शुद्ध चित्त से आयु (काल) (सम्बन्धी ज्ञान)

के विषय में पूछा, वह ज्ञान सर्वज्ञ (बुद्ध) ने प्रकट किया है। वह ज्ञान जिन शासन में है; (दूसरे किसी दर्शन में नहीं है) ॥३२॥

धीर पुरुष क्रिया में रुचि रखे, और अक्रिया का त्याग करे। अतः सम्यग्दर्शन से दृष्टिसम्पन्न होकर तुम सुदुश्चर धर्म का आचरण करो ॥३३॥

विवेचन—क्षत्रिय मुनि का संजयराजर्षि को सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र तप में स्थिर रहने का उपदेश—प्रस्तुत चार सूत्रों (३०.से ३४ गा. तक) में क्षत्रिय राजर्षि ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तथा तप से भ्रष्ट एवं विरत करने वाले मतों अभिप्रायों, रुचियों, निमित्त प्रश्नों के ज्ञान तथा गृहस्थ कार्यों की मंत्रणाओं से, हिंसादि पापजनक विविध प्रवृत्तियों, तथा अज्ञान एवं मिथ्यात्व की पोपक क्रियाओं या अक्रियाओं से दूर रहने और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र एवं सम्यक् तप, जो मोक्षमार्ग रूप धर्म है, उसी से सम्पन्न होकर उसी में दृढ़तापूर्वक स्थिर रहो। यही निष्कर्ष है।

सम्यग्दर्शन में बाधक—नाना रुचियाँ अर्थात्-क्रियावादी आदि नाना एकान्त मत विषयक अभिलाषाओं तथा अनेकविध छन्द—अर्थात् स्वमति-कल्पित मिथ्यात्व युक्त अभिप्रायों को देख कर उनकी चकाचौंध से प्रभावित न हो, उनसे दूर रहे। क्योंकि ये सम्यग्दर्शन में वाधक हैं।

सम्यग्ज्ञान में बाधक—शुभाशुभ सूचक निमित्त ज्ञान भी अध्यात्म ज्ञान की दृष्टि से निरर्थक है, तथा गृहस्थों के कार्यों में मंत्रणा करना—उन्हें अपने भूतपूर्व अनुभव के आधार पर परामर्श देना तथा हिंसादि अनर्थ कारक प्रवृत्तियों का ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान में वाधक है। आयु आदि का काल ज्ञान जो निमित्त शास्त्र आदि से सम्वन्धित है, वह अपूर्ण है, पूर्ण सत्य नहीं है, जवकि जिनशासन में रत्नत्रय की साधना से प्राप्त अवधिज्ञानादि सत्य है।

सम्यक् चारित्र एवं तप में बाधक—जो क्रियाएँ अज्ञान एवं मिथ्यात्व से प्रेरित हैं, तथा सम्यक्चारित्र से उपरत एवं भ्रष्ट करने वाली अक्रियाएँ हैं, वे भी सम्यक्चारित्र की कोटि में नहीं हैं। तथा जो तप, अज्ञान एवं मिथ्यात्व से प्रेरित, व्यर्थ कष्ट हैं, वे भी सम्यक् तप नहीं हैं। अतः मोक्ष-मार्ग में बाधक क्रियाओं—अक्रियाओं तथा तपस्याओं से दूर रहो, और मोक्षमार्ग के साधनभूत सम्यक् अनुष्ठानरूप (प्रतिक्रमण-प्रतिलेखनादितप) ज्ञान सहित—सत्क्रियाओं को अपनाओ।

फलितार्थ—जिनशासन में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र तथा सम्यक् तप सभी का स्पष्टतर विधान है, इसी कारण मैं (क्षत्रियमुनि) सम्यग्दर्शनादि में स्थिर हूँ, तुम (संजयमुनि) भी इसी तरह अहर्निश सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित सम्यक् चारित्र एवं सम्यक् तप का आचरण करो।

यह धर्ममार्ग अनेक महापुरुषों से सेवित है, सुदृढीकरणोपदेश—

(१) भरतचक्रवर्ती प्रव्रजित हुए

मूल—एयं पुण्णपयं सोच्चा, अत्थ-धम्मोवसोहियं।
भरहो वि भारहं वासं, चिच्चा कामाइं पव्वए ॥३४॥

छाया—एतत् पुण्यपदं श्रुत्वा, अर्थ-धर्मोपशोभितम्।
भरतोऽपि भारतं वर्षं, त्यक्त्वा कामान् प्राव्रजत् ॥३४॥

पद्या०—सुन अर्थ धर्म से उपशोभित, उपदेश पुण्यप्रद मुनिवर का।
भारत तज भोग भरतनृप ने, पथ पकड़ा ऋषभ जिनेश्वर का।३४॥

अन्वयार्थ—**अत्थ-धम्मोवसोहियं**—अर्थ और धर्म से उपशोभित, **एयं**—इस (पूर्वोक्त), **पुण्णपयं**—पुण्यपद (पवित्र उपदेशवचन) को, **सोच्चा**—सुनकर, **भरहो वि**—भरतचक्रवर्ती भी, **भारहं वासं**—भारतवर्ष (के राज्य) को (तथा) **कामाइं**—काम-भोगों को, **चिच्चा**—परित्याग कर, **पव्वए**—प्रव्रजित हुए थे ॥३४॥

भावार्थ—अर्थ और धर्म से उपशोभित इस पूर्वोक्त पुण्य-पद को सुन कर भरतचक्रवर्ती अपने भारतवर्ष के राज्य को तथा काम-भोगों को छोड़कर प्रव्रजित हुए थे।

विवेचन—अत्थ-धम्मोवसोहियं : व्याख्या—अर्थ का अभिप्राय है—लक्ष्यभूत पदार्थ, जिसको प्राप्त करने के लिए संयमाचरण किया जाता है, वह मोक्ष रूप पदार्थ। और धर्म है, उस मोक्ष रूप अर्थ को प्राप्त करने का उपाय अर्थात्-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप रूप मोक्ष-मार्ग। अर्थ और धर्म से उपशोभित अर्थात् युक्त, जिनोक्त सिद्धान्त।

पुण्णपयं : तीन रूप : तीन अर्थ (१) पुण्य-पद—पुण्य अर्थात्-पवित्र, निष्कलंक, निर्दोष (राग द्वेषादिरहित) पद अर्थात्-ज्ञानप्राप्ति या अर्थ बोध का साधन (जिनोक्त आगम)। अर्थात्-क्रियावादी आदि नानाविध एकान्त रुचि, मत आदि दोषयुक्त ज्ञान से रहित निर्दोष (पवित्र) पद—शब्द।

(२) **पुण्यप्रद**—पुण्य प्रदान करने वाला—पुण्य का हेतुभूत पद।

(३) **पूर्णपद**—सम्पूर्ण पद यानी ज्ञान युक्त।

भारत वर्ष के प्रथम सम्राट महाराज भरत भी राज्य की ऋद्धि को

छोड़कर मुनिधर्म में दीक्षित हो गये। भरत का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

मानव समाज की प्रथम व्यवस्था करने वाले श्री आदिनाथ के सौ पुत्रों में आप ज्येष्ठ पुत्र थे। आदिनाथ के दीक्षित हो जाने पर भरत ने राज्य व्यवस्था संभाली और ६० हजार वर्ष में षट्खण्ड का साधन कर चक्रवर्ती-सार्वभौम सम्राट बने। चक्रवर्ती होने पर वे चौदह रत्न, नौ निधान ३२ हजार नरेश, ७२ हजार श्रेष्ठ नगर, ९६ करोड़ ग्राम, ८४ लाख अश्व, गज और रथ इत्यादि चक्रवर्ती सम्पदा से युक्त षट् खण्ड सहित भारत वर्ष के विशाल साम्राज्य का उपभोग करते रहे। भगवान आदिनाथ को केवल-ज्ञान प्रगट होने पर भरत भी जिनधर्म की सेवा करने लगे। अपनी सम्पत्ति के अनुसार वे साधर्मियों को अशनादि देकर सम्मानित करते। भरत महाराज द्वारा सम्मानित श्रावक ही माहण अर्थात् ब्राह्मण कहलाने लगे।

एक बार भरत चक्रवर्ती महान वैभव से तथा समस्त आभूषणों से शरीर को विभूषित करके अपने शीशमहल में पहुँचे। वहाँ वे चारों ओर लगे हुए बड़े-बड़े शीशों में अपने शरीर का अवलोकन करने लगे। सहसा उनके हाथ की एक अंगुलि से अंगूठी गिर पड़ी। उसे दर्पण में देखा तो वह अंगुलि शोभा रहित दिखाई दी। उन्होंने दूसरी अंगुलि में से भी अंगूठी निकाल दी तो वह भी अशोभनीय लगने लगी। यों क्रमशः शरीर के सभी आभूषण उतार दिये। अब तो शरीर बिलकुल प्रभाहीन एवं अशोभनीय दिखायी देने लगा। यह देखकर भरतचक्री को विरक्ति हो गई। वे चिन्तन करने लगे—अहो ! यह शरीर स्वाभाविक सुन्दर नहीं है, किन्तु ऐसे आगन्तुक द्रव्यों से ही सुशोभित होता है। शरीर के संग से सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ भी विनष्ट हो जाती हैं। कहा भी है—

> **मणुन्नं असणं-पाणं, विविहं खाइम-साइमं।**
> **सरीरसंगमावन्नं सव्वं पि असुइं भवे ॥१॥**
> **वरं वत्थं वरं पुप्फं, वरं गंध-विलेवणं।**
> **विणस्सए सरीरेण, वरं सयणमासणं ॥२॥**
> **निहाणं सव्वरोगाणं, कयग्घमथिरं इमं।**
> **पंचासुहभूअमयं, अथक्क-पडिकम्मणं ॥३॥**

अर्थात्—मनोज्ञ अशन-पान-खादिम-स्वादिम आदि सभी पदार्थ शरीर का संग पाकर अशुचि-अपवित्र हो जाते हैं। सुन्दर वस्त्र, पुष्प, गन्ध अनुलेप, तथा श्रेष्ठ शयन एवं आसन भी शरीर के कारण नष्ट हो जाते हैं। समस्त रोगों का निधान (खजाना), कृतघ्न, अस्थिर यह अशुभ पंचभूतमय शरीर है। अतः इसका प्रतिकर्म करना निरर्थक है।

इस शरीर के लिए अनेक पापकर्म करके मनुष्य जन्म को हार जाना कथमपि उचित नहीं है। केवल इन्द्रिय विषय-भोगों के लिए मनुष्य जन्म को नष्ट कर डालना राख पाने के लिए उत्तम चंदन को जलाना है। यों विचार करते-करते भरत चक्रवर्ती को भावचारित्र की प्राप्ति हुई। उन्होंने शुभ अध्यवसायों से क्रमशः क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर केवलज्ञान प्राप्त किया शासनदेव ने उन्हें संयम के उपकरण दिये, भरत केवली दस हजार राजाओं के साथ प्रव्रजित हुए। एक लाख पूर्व तक केवलि पर्याय का पालन कर भरत केवली सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

(२) सगरचक्रवर्ती ने संयम-साधना से मुक्ति प्राप्त की—

मूल—सगरो वि सागरन्तं, भारहवासं नराहिवो।
इस्सरियं केवलं हिच्चा, दयाए परिनिव्वुडे ॥३५॥

छाया—सगरोऽपि सागरान्तं, भारतवर्षं नराधिपः।
ऐश्वर्यं केवलं हित्वा, दयया परिनिर्वृतः ॥३५॥

पद्या०—सगर भूप ने सागरान्त, भारत का वैभव छोड़ दिया।
ऐश्वर्य त्याग संयम लेकर, निज कर्म काट भव पार लिया ॥३५॥

अन्वयार्थ—**नराहिवो सगरो वि**—नराधिप सगर चक्रवर्ती ने भी, **सागरन्तं भारहवासं**—समुद्रपर्यन्त भारतवर्ष को, (तथा) **केवलं इस्सरियं**—सम्पूर्ण ऐश्वर्य को, **हिच्चा**—छोड़कर, **दयाए**—दया अर्थात्—संयम की साधना से, **परिनिव्वुडे**—परि-निर्वाण-मोक्ष प्राप्त किया ॥३५॥

भावार्थ—सगर चक्रवर्ती ने सागर-पर्यन्त भारतवर्ष और पूर्ण ऐश्वर्य को छोड़ा और संयम की साधना कर मुक्ति प्राप्त की ॥३५॥

विवेचन—सगर चक्रवर्ती की कथा—अध्योध्या नगरी के ईक्ष्वाकु कुलोत्पन्न जितशत्रु राजा की महारानी विजया ने रात्रि में एक बार तीर्थ-करागमन सूचक १४ शुभ स्वप्न देखे। उसके फलस्वरूप महान पुण्यशाली पुत्र को जन्म दिया। यह अजितनाथ नामक द्वितीय तीर्थंकर हुए।

इसी जितशत्रु राजा के छोटे भाई सुमित्र नामक युवराज की पत्नी यशोमती से सगर नामक द्वितीय चक्रवर्ती का जन्म हुआ। जितशत्रु राजा ने अपना राज्य अजित कुमार को सौंपा और सगर को युवराज पद दिया। जितशत्रु ने अपने भाई सुमित्र सहित दीक्षा ग्रहण की। अजित कुमार ने भी तीर्थ-प्रवर्त्तन के समय अपना राज्य सगर को सौंप कर स्वयं ने दीक्षा ग्रहण कर ली। सगर चक्रवर्ती बना। उसके साठ हजार पुत्र हुए। उनमें से

सबसे बड़ा जन्हुकुमार था। एक बार जन्हुकुमार के कार्य से सन्तुष्ट होकर सगर ने उससे अभीष्ट वस्तु मांगने को कहा। जन्हुकुमार ने कहा—पिता जी ! मेरी इच्छा है कि मैं आपकी आज्ञा से चौदहरत्नों सहित अपने भाइयों के साथ समस्त भूमण्डल में विचरण करूँ। सगर ने प्रसन्नतापूर्वक उसे अनुमति दे दी। घूमते-घामते जन्हुकुमार अपने भाइयों सहित अष्टापद पर्वत पर पहुँचा। वहाँ जिन चैत्यों का दर्शन कर अत्यन्त प्रभावित हुआ। सभी भाई अष्टापद की रक्षा के लिए दण्डरत्न की सहायता से उसके चारों ओर खाई खोदने लगे। दण्डरत्न ने जब एक हजार योजन गहरी जमीन खोद डाली तो वहाँ के नागकुमार देव अपने भवनों को छिन्न-भिन्न देखकर नागराज ज्वलनप्रभ के पास पहुँचे। उसने अवधिज्ञान से अपने भवनों को नष्ट करने वाले सगरपुत्रों को देखा। क्रुद्ध होकर सगरपुत्रों को उपालम्भ दिया। फलतः सगरपुत्रों ने अपने अपराध के लिए क्षमा मांगी, भविष्य में ऐसा न करने का वचन दिया। इससे ज्वलनप्रभ देव का क्रोध शान्त हो गया। वह अपने स्थान पर चला गया।

किन्तु जन्हुकुमार को फिर दुर्बुद्धि सूझी, उसने दण्डरत्न से गंगा का भेदन करके उसके जल से अष्टापद की खाइयां भर दी। किन्तु जल-प्रवाह फिर नागकुमार भवनों तक पहुँच गया। संत्रस्त नागकुमारों को देख नागराज ज्वलनप्रभ ने अपने अवधिज्ञान में यह उपद्रव उन्हीं सगरपुत्रों को देखा, और उनको भस्म करने के लिए ज्वलनप्रभ नागराज ने दृष्टिविष महाविषधर भेजे। उन्होंने सभी सगरपुत्रों को जला कर भस्म कर दिया।[1]

शोकमग्न मंत्री सगरचक्रवर्ती के पास आया। मंत्री ने एक चतुर ब्राह्मण को तैयार करके उसके माध्यम से उसके ६० हजार पुत्रों की मृत्यु का वृत्तान्त सगरचक्री को सुनाया। सगरचक्रवर्ती मूर्च्छित एवं शोकमग्न हो गया। फिर पुत्रों की मृत्यु की घटना सुनकर चिन्तन मग्न हुआ। सगरचक्री ने संसार से विरक्त होकर अपने पौत्र भागीरथि को अपना राज्य सौंपा और स्वयं ने भगवान् अजितनाथ के पास दीक्षा ग्रहण की। संयम की उत्कृष्ट साधना के फलस्वरूप 'सगर' मुनि कर्मक्षय करके सिद्ध-बुद्ध मुक्त हुए।

मघवा चक्रवर्ती भी प्रव्रजित हुए—

मूल—चइत्ता भारहंवासं, चक्कवट्टी महिड्ढिओ।
पव्वज्जमब्भुवगओ, मघवं नाम महाजसो ॥३६॥

---

१. इस कथानक में वैदिक परम्परा का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यह कथा मूल आगम में नहीं, टीका में है, अतः यहाँ टीकाकार के अनुसार कथा दी है।

छाया—त्यक्त्वाभारतंवर्षं, चक्रवर्ती महर्द्धिकः ।
प्रव्रज्यामभ्युपगतः, मघवा नाम महायशाः ॥३६॥

पद्या०—महा-ऋद्धिशाली चक्री, था मघवा महाकीर्तिधारी ।
तज राज्य विभव इस भारत का, हो गया स्वतः दीक्षाधारी ॥३६॥

अन्वयार्थ—महिड्ढिओ—महान् ऋद्धि सम्पन्न, महाजसो—महान् यशस्वी, मघवं नाम चक्कवट्टी—मघवा नामक चक्रवर्ती ने भी, भारहंवासं चइत्ता—भारतवर्ष के राज्य को छोड़कर, पव्वज्जं—प्रव्रज्या, अब्भुवगओ—अंगीकार की ॥३६॥

भावार्थ—महर्द्धिक और महायशस्वी मघवा चक्रवर्ती ने भारतवर्ष के राज्य का त्याग करके प्रव्रज्या ग्रहण कर ली ॥३६॥

विवेचन—मघवा चक्रवर्ती की कथा—इसी भरतक्षेत्र में श्रावस्ती नगरी में समुद्रविजय राजा की रानी भद्रादेवी ने एकदा रात्रि में चौदह महास्वप्न देखे, फलतः उसकी कुक्षि से मघवा नामक चक्रवर्ती का जन्म हुआ। यौवन में पदार्पण करते ही पिता ने उसे राज्य सौंपा, क्रमशः षट्खण्ड साध कर वह चक्रवर्ती बना। चिरकाल तक राज्य सुखानुभव करते हुए एक दिन मघवा चक्रवर्ती को संसार से विरक्ति हो गई। मन में चिन्तन की धारा फूट निकली—मनोवांछित रमणियाँ विनयी पुत्र, मनोज्ञ कामभोग, प्रचुर लक्ष्मी, निरामय शरीर, और दीर्घ जीवन, ये सब संसारप्रतिबन्ध हेतुभूत जितने भी रमणीय पदार्थ हैं, वे सब अस्थिर हैं, स्वप्नवत् अदृश्य हो जाने वाले हैं, क्षण-भंगुर हैं, निकृष्ट हैं, धर्म ही एकमात्र श्रेष्ठ, पवित्र और स्थायी है, वही भवान्तर में साथ आने वाला है। अतः मुझे धर्म कार्यों में ही उद्यम करना चाहिए।" यों विचार करके अपने पुत्र को राज्य सौंप कर तृतीय चक्रवर्ती मघवा प्रव्रजित हुए। तपश्चरण करके वे यहाँ से आयुष्य-पूर्ण करके सनत्कुमार देवलोक में वैमानिक देवरूप में उत्पन्न हुए।

सनत्कुमार चक्रवर्ती ने भी रूपमद छोड़कर स्वकल्याण किया—

मूल—सणंकुमारो मणुस्सिन्दो, चक्कवट्टी महिड्ढिओ ।
पुत्तं रज्जे ठवित्ताणं, सो वि राया तवं चरे ॥३७॥

छाया—सनत्कुमारो मनुष्येन्द्रः चक्रवर्ती महर्द्धिकः ।
पुत्रं राज्ये स्थापयित्वा, सोऽपि राजा तपोऽचरत् ॥३७॥

पद्या०—सनत्कुमार नरपति चक्री, जो रूप सम्पदा का धारी ।
सुत को दे करके राज्यभार, उसने तप धारा हितकारी ॥३७॥

अन्वयार्थ—महिड्ढिओ—महर्द्धिक, (एवं) मणुस्सिदो—मनुष्येन्द्र, चक्कवट्टी सणंकुमारो—चक्रवर्ती सनत्कुमार ने, पुत्तं—अपने पुत्र को, रज्जे ठवित्ताणं—राज्य (राजगद्दी) पर स्थापित करके, सो वि राया—वह चक्रवर्ती राजा भी, तवं चरे—तपश्चरण करने लगा ॥३७॥

भावार्थ—महान् ऋद्धिसम्पन्न नरेन्द्र चक्रवर्ती सनत्कुमार ने अपने पुत्र को राजगद्दी पर विठाकर स्वयं ने तपश्चरण किया।

विवेचन—सनत्कुमार चक्रवर्ती की संक्षिप्त कथा—हस्तिनापुर के अश्वसेन राजा की पत्नी सहदेवी ने एक वार १४ महास्वप्न देखे। फलस्वरूप सनत्कुमार नामक चतुर्थ चक्रवर्ती को उसने जन्म दिया। सनत्कुमार एक दिन अपने हमज़ोली मित्रों के साथ अश्वक्रीड़ा करने के लिए निकला। सनत्कुमार का घोड़ा उलटी रास का था, वह उसे पवन वेग से दूर-सुदूर ले गया। सभी साथी पीछे रह गये। चिन्तित होकर वे लौटे। सनत्कुमार के परममित्र महेन्द्रसिंह को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते एक वर्ष वाद एक विशाल अटवी में मिला। अनेक स्त्रियों के साथ पाणिग्रहण करके सनत्कुमार अपने मित्र महेन्द्रसिंह के साथ वहुत वर्षों के वाद हस्तिनापुर लौटा। माता-पिता सनत्कुमार को देख अत्यन्त हर्षित हुए। धूमधाम से उसका राज्याभिषेक किया, महेन्द्रसिंह को सेनापति वनाया। माता-पिता ने स्थविरों से प्रव्रज्या ग्रहण की। सनत्कुमार अपने राज्य का परिपालन करता हुआ कालक्रम से चक्रवर्ती वना।

पूर्वभव में सनत्कुमार इन्द्र पद पर अधिष्ठित था, यह जानकर शक्रेन्द्र ने कुवेर देव को धूमधाम से सनत्कुमार का चक्रवर्ती पद का राज्याभिषेक करने हेतु अनेक नजरानों के साथ भेजा। पदमहोत्सव करके वैश्रमणादि देव देवलोक में चले गए। सनत्कुमार का रूप लावण्य देख सव आश्चर्य चकित थे।

एक वार सौधर्म सभा में सौधर्मेन्द्र देवी देवों सहित सिंहासन पर वैठा था। तभी एक ईशानकल्प का देव आया। उसके देह के प्रभाव से वहाँ सभा में स्थित सभी देवों की देहकान्ति एकदम फीकी पड़ गयी। यह देख देवों ने सौधर्मेन्द्र से पूछा—"स्वामिन् ! इस देव की ऐसी देहप्रभा होने का क्या कारण है ? सौधर्मेन्द्र ने कहा—इसने पूर्वभव में वर्द्धमान आचाम्ल तप किया था, इस कारण इसको देह की प्रभा ऐसी प्राप्त हुई है।"

देवों ने फिर पूछा—इसके सरीखा दीप्तिमान् कोई और भी है या नहीं ? तव इन्द्र ने कहा—"हस्तिनापुर में कुरुवंशी सनत्कुमार चक्रवर्ती है,

का रूप सभी देवों से बढ़कर है।" इन्द्र के वचनों पर अश्रद्धा करके य और वैजयन्त नामक दो देव ब्राह्मण का रूप बनाकर हस्तिनापुर ये। राजभवन में प्रविष्ट होकर सनत्कुमार चक्री के पास पहुँचे। वर्ती उस समय शरीर पर तेल मालिश करा रहा था, उसे देख देव स्मित होकर परस्पर बोले—वास्तव में इन्द्र ने कहा था, उससे भी बढ़कर का रूप है। राजा ने उनके आगमन का कारण पूछा तो उन्होंने कहा— म आपके अतिशय रूप लावण्य को देखने हेतु आए हैं।"

चक्रवर्ती मन में रूपगर्वित होकर बोला—अभी तो आपने मेरा क्या देखा है, मैं जब वस्त्राभूषण से सुसज्जित होकर अपनी आस्थानसभा बैठूं तब देखना।"

दोनों देव वहाँ से चले गये। चक्रवर्ती वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर हासन पर बैठे। दोनों ब्राह्मण रूपधारी देव सनत्कुमार चक्री का रूप कर अतिखिन्न होकर बोले—'ओह! मनुष्यों के रूप, लावण्य और यौवन भर में नष्ट हो जाते हैं।"

ब्राह्मणरूपधारी देवों के मुख से ये निराशा भरे उद्गार सुनकर क्रवर्ती बोले—"खेद खिन्न होकर मेरे शरीर की निन्दा क्यों कर रहे हो?"

देव बोले—"नरेश! देवों के रूप, यौवन, तेज आदि प्रथम वय से कर छह मास आयुष्य शेष रहता है वहाँ तक ज्यों के त्यों रहते हैं, लेकिन म्हारे शरीर का रूप, लावण्य तो देखते ही देखते क्षणभर में बिगड़ गया।" राजा ने उनके आने का कारण पूछा तो देवों ने इन्द्र द्वारा की हुई प्रशंसा आदि सारा वृत्तान्त कह सुनाया।

चक्रवर्ती ने भी आभूषणों से विभूषित भुजाएँ तथा वक्षःस्थल बिलकुल निस्तेज जानकर विचार किया—"अहो! संसार की कितनी अनित्यता है। शरीर की भी कैसी असारता है? थोड़ी-सी देर में मेरे शरीर के रूप, यौवन और तेज नष्ट हो गए! अतः मनुष्यशरीर पर आसक्त होना अयुक्त है, अज्ञानता है! रूप, यौवन आदि का अभिमान मूर्खता है, भोगों का सेवन करना भी उन्माद है, परिग्रह रखना भूतग्रस्त होने के समान है। अतः यही श्रेयस्कर है कि इन सबको छोड़कर संयम ग्रहण करूँ, जिससे स्व-पर-हित साध सकूं।" यों विचारकर अपने पुत्र को राज्य सौंपकर समस्त परिग्रह का त्याग करके विरत आचार्य के पास जाकर दीक्षा ग्रहण की। परीक्षक देवों ने भी उनके द्वारा गृहीत मार्ग की प्रशंसा की।

कहते हैं—स्त्रीरत्न आदि सभी प्रमुख रत्न, रमणियाँ, सभी नरेश, सैन्यगण, नौ निधियाँ आदि छह मास तक उनके पीछे लगी रहीं, किन्तु उन्होंने परित्यक्त वस्तुओं को पीछे मुड़कर भी नहीं देखा। भिक्षाचर्या में उन्हें जैसा—वैसा रूखा-सूखा, अन्त-प्रान्त, तुच्छ नीरस आहार मिलता, वे समभाव से सेवन करते। तपस्या एवं नीरस आहार-सेवन से उनके शरीर में खाज-खुजली, खांसी, दमा, स्वर भंग, अक्षि- पीड़ा, उदरव्यथा आदि सात व्याधियाँ उत्पन्न हो गईं। उनका कुछ भी उपचार किये विना सनत्कुमार मुनि सात सौ वर्ष तक समभावपूर्वक सहन करते रहे। यद्यपि उग्रतप करते हुए उन्हें आमर्षोधि, खेल्लौषधि, विप्रडौषधि, सर्वोषधि आदि लब्धियाँ प्राप्त हो गई थीं, तथापि वे अपने शरीर की स्वस्थता एवं निरोगिता के लिए इनका प्रयोग नहीं करते थे।

इन्द्र ने एक बार पुनः अपनी सभा में सनत्कुमार मुनि की प्रशंसा की—"देवो ! देखो ! सनत्कुमार मुनि की धीरता को, इतनी व्याधियों से पीड़ित होते हुए भी वे इसकी स्वस्थता के लिए कोई रोग प्रतीकार या उपचार नहीं करते।" इन्द्र के वचनों पर अश्रद्धालु होकर दो देव वैद्य के रूप में सनत्कुमार मुनि के पास आए और कहने लगे—भगवन् ! आपके शरीर में अनेक रोग हैं, हम उनकी चिकित्सा करके प्रतीकार करेंगे, आप हमें इसके लिए स्वीकृति दें।" इस पर मुनि मौन रहे। पुनः दूसरी बार जब उन दोनों देवों ने मुनि से कहा तब भी वे चुप रहे। तीसरी बार फिर उन्होंने आग्रहभरी प्रार्थना की तो मुनि ने कहा—"आप शरीर की व्याधि मिटाते हैं या कर्मों की व्याधि ?

देवों ने कहा—हम शरीर की व्याधि मिटाने वाले हैं।" इस पर सनत्कुमार मुनि ने अपनी अंगुली पर अपने मुख का थूक घिसा, जिससे वह स्वर्णवर्णी हो गई। फिर कहा—"यदि मुझमें सहन करने की शक्ति न होती तो मैं शरीर की व्याधि को तो स्वयमेव मिटा सकता हूँ, अगर आप कर्मजनित व्याधि को मिटाने में समर्थ हों तो बताइए ?"

दोनों देव विस्मित होकर अपने असली रूप में प्रकट हुए और कहने लगे—भगवन् ! हम संसारव्याधि को मिटाने में असमर्थ हैं। हमने तो शक्रेन्द्र के वचनों के प्रति अश्रद्धा करके यहाँ आकर आपकी परीक्षा की है, शक्रेन्द्र ने जैसी आपकी धीरता की प्रशंसा की थी, वैसे ही आप हैं। यह कहकर दोनों देव प्रणाम करके चले गये।

भगवान् सनत्कुमार मुनि एकलक्ष वर्ष तक श्रमणधर्म का पालन करके सम्मेतगिरिशिखर पर गये। वहाँ एक शिलातल पर आलोचना

यश्चित्त आदि से आत्मशुद्धि करके मासिक भक्त प्रत्याख्यान (संल्लेखना-।र) किया और आयुष्य पूर्णकर परम पद मोक्ष के अधिकारी हुए।

टीका ग्रन्थों में इनके लिये तीसरे कल्प में उत्पन्न होना बताया है। विचारणीय प्रतीत होता है।

१९. शान्तिनाथ भगवान अनुत्तरगति को प्राप्त—

मूल—चइत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी महिड्ढिओ।
सन्ती सन्तिकरे लोए, पत्तोगइमणुत्तरं ॥३८॥

छाया—त्यक्त्वा भारतंवर्षं, चक्रवर्ती महर्द्धिकः।
शान्तिः शान्तिकरो लोके, प्राप्तोगतिमनुत्तराम् ॥३८॥

पद्या०—भारत का राज्य त्याग चक्री, वे शान्तिनाथ साताकारी।
महाऋद्धि तज ले संयम, हो गए सिद्धि-पद-अधिकारी ॥३८॥

अन्वयार्थ—महिड्ढिओ—महान् ऋद्धिसम्पन्न, (और) **लोए संतिकरे**—लोक में शान्ति करने वाले, **संती चक्कवट्टी**—शान्तिनाथ चक्रवर्ती ने, **भारहं वासं**—भारतवर्ष के राज्य को, **चइत्ता**—छोड़कर, **अणुत्तरं गइं**—अनुत्तरगति, **पत्तो**—प्राप्त की ॥३८॥

भावार्थ—महान् ऋद्धिसम्पन्न और लोक में शान्तिकर्ता शान्तिनाथ चक्रवर्ती ने भारतवर्ष के राज्य का त्याग करके अनुत्तर (मोक्ष) गति प्राप्त की।

विवेचन—शान्तिनाथ चक्रवर्ती कैसे शान्तिदाता एवं मुक्त हुए ?—शान्तिनाथ चक्रवर्ती का जीव अपने पूर्व जीवन में इसी जम्बूद्वीप में सीता महानदी के दक्षिणतट पर मंगलावती विजय में रत्नसंचयापुरी में क्षेमंकरा राजा की रानी रत्नमाला की कुक्षि से वज्रायुध नामक पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ था। वज्रायुध धर्म में अत्यन्त निष्ठावान् और अविचल था।

एक बार वज्रायुध पौषधशाला में धर्मक्रिया कर रहा था, तभी देवेन्द्र ने उसकी प्रशंसा की कि—भरत क्षेत्र में वज्रायुध धर्म पर इतना दृढ़ है कि उसे धर्म से कोई भी विचलित नहीं कर सकता। एक देवता ने देवेन्द्र के वचन पर श्रद्धा न की। उसने इसकी परीक्षा के लिए एक कबूतर तथा एक शिकारी का रूप बनाया। भयभ्रान्त कबूतर वज्रायुध की शरण में पहुँच गया, तब पीछे-पीछे शिकारी के वेष में देव वज्रायुध के पास पहुँचा और बोला—"आपके पास मेरा एक कबूतर आया है, आप उसे मुझे सौंप दें। मुझे बहुत भूख लगी है, मैं इसे खाकर अपनी भूख मिटाऊँगा। वज्रायुध ने उसकी बात सुनकर कहा, किसी प्राणी को मारकर उसका मांस खाना घोर पाप से लिप्त

हस्तिनापुर नगर के विश्वसेन राजा की अचिरारानी की कुक्षि से पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ। जब ये गर्भ में थे, तब सभी प्रदेशों में महामारी फैली हुई थी, माता जी द्वारा शान्त दृष्टि से देखने पर वह शान्त हो गई। इसलिए इनका नाम शान्तिनाथ रखा। क्रमशः समस्त कलाओं में कुशल हुए। यौवनवय में श्रेष्ठ राज कन्याओं के साथ विवाह किया। शान्तिनाथ को राज्य सौंपकर इनके पिता प्रव्रजित हुए। शान्तिनाथ ने चक्रवर्ती पदवी पाई। छह खण्ड राज्य का परिपालन करने लगे। यथासमय लोकान्तिक देवों के द्वारा प्रतिबोध की प्रार्थना पाई, अतः वर्षीदान देकर समग्र राज्य और भोगों को छोड़कर दीक्षा ली। तीर्थ स्थापना की। कई जीवों को प्रतिबोध दिया। केवलज्ञान पाया और २५ हजार वर्ष तक मुनि धर्म का पालन करके अन्त में समस्त कर्मों का क्षय करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गये।

(६) **कुन्थुनाथ चक्रवर्ती मुक्त हुए—**

मूल—इक्खागराय-वसभो, कुन्थू नाम नराहिवो।
विक्खायकित्ती भयवं, पत्तो गइमणुत्तरं ॥३९॥

छाया—इक्ष्वाकुराजवृषभः, कुन्थुर्नाम नराधिपः।
विख्यात-कीर्तिर्भगवान्, प्राप्तोगतिमनुत्तराम् ॥३९॥

पद्या०—इक्ष्वाकु वंश का श्रेष्ठ नृपति, था कुन्थू विशद कीर्तिवाला।
उस धैर्यशील ने तप कठोर, कर मोक्ष हस्तगत कर डाला ॥३९॥

अन्वयार्थ—**इक्खागरायवसभो**—इक्ष्वाकुकुल के राजाओं में श्रेष्ठ, **विक्खाय-कित्ती**—विख्यात-कीर्ति, **घिइमं**—धृतिमान्, **भयवं**—भगवान, **कुन्थूनामनराहिवो**—कुन्थु नाम के नरेश्वर (चक्रवर्ती) ने, **अणुत्तरं गइं**—अनुत्तरगति, **पत्तो**—प्राप्त की ॥३९॥

भावार्थ—इक्ष्वाकुकुल के राजाओं में श्रेष्ठ विख्यातकीर्ति धृतिमान् (या भगवान) कुन्थुनाथ नरेश्वर (चक्रवर्ती) ने (संयम पालन कर) सर्वश्रेष्ठ मोक्षगति प्राप्त की।

विवेचन—**कुन्थुनाथ चक्रवर्ती की कथा**—हस्तिनापुर के सूरराजा की रानी श्रीदेवी की कुक्षि से कुन्थुनाथ भगवान् पुत्ररूप में उत्पन्न हुए। माता ने स्वप्न में रत्न-स्तूप को कुस्थ=पृथ्वी पर स्थित देखा, तथा गर्भावस्था में भगवान् के पिता ने शत्रुओं को कुन्थु के समान देखा, इसलिए जन्ममहोत्सव के समय इनका नाम कुन्थुनाथ रखा गया। यौवनवय में राजकन्याओं के

साथ विवाह किया। कुन्थुनाथ को राज्य सौंपकर इनके पिता ने दीक्षा ग्रहण की। कालान्तर में कुन्थुनाथ भगवान चक्रवर्ती हुए। लोकान्तिक देवों द्वारा प्रतिबोधित करने पर भगवान् ने दीक्षा लेकर तीर्थ-स्थापना की। केवलज्ञान हुआ। अनेक लोगों को प्रव्रजित किया। दीर्घकाल तक संयम पालनकर अन्त में मोक्ष गति प्राप्त की।

(७) अरनाथ चक्रवर्ती की मुक्ति—

मूल—सागरन्तं जहित्ताणं, भरहंवासं नरीसरो।
अरो य अरयं पत्तो, पत्तो गइमणुत्तरं ॥४०॥

छाया—सागरान्तं हित्वा, भारतं वर्षं नरेश्वरः।
अरश्चारजः प्राप्तः, प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ॥४०॥

पद्या०—सागर पर्यन्त वर्ष भारत, अरनाथ नरेश्वर ने छोड़ा।
कर कर्म धूलि को दूर पूर्ण, निर्वाणधाम में मन जोड़ा ॥४०॥

अन्वयार्थ—**सागरंतं भरहं वासं**—सागरपर्यन्त भारतवर्ष को, **जहित्ताणं**—छोड़कर, **अरयं पत्तो**—(कर्मरज को दूर करके) अरजस्कता प्राप्त करके, **य**—और, **नरवरीसरो**—नरेश्वरों में श्रेष्ठ, **अरो**—अरनाथ ने, **अणुत्तरं गइं पत्तो**—अनुत्तरगति प्राप्त की ॥४०॥

भावार्थ—सागर पर्यन्त भारतवर्ष को छोड़कर, कर्मरज से मुक्त होकर, अरनाथ नरेश्वर ने अनुत्तरगति प्राप्त की ॥४०॥

विवेचन—अरनाथ चक्रवर्ती की कथा—पूर्वविदेह के अन्तर्गत मंगलावती विजय में, रत्नसंचयापुरी के विशाल राज्य का अधिपति महीपाल नामक राजा हुआ। एकबार गुरुदेव के मुख से धर्मोपदेश सुनकर वैराग्य जगा, प्राप्त राज्य का तिनके की तरह त्याग कर दिया। गुरु से ११ अंगों का अध्ययन करके गीतार्थ हुए। बहुत वर्षों तक विशुद्ध संयम पालन करके तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया। वहाँ से समाधिमरण पूर्वक काल धर्म पाकर सर्वार्थसिद्ध विमान में देव हुए। वहाँ से च्यव कर भरत क्षेत्र में हस्तिनापुर में सुदर्शन नामक राजा हुआ। उसकी रानी श्रीदेवी की कुक्षि से पुत्ररूप में अरनाथ का जन्म हुआ। उस समय रेवती नक्षत्र था। माता ने चौदह स्वप्न देखे थे। अतः चक्रवर्ती बनने के शुभ संकेत प्राप्त हुए थे। ६४ देवेन्द्रों तथा ५६ दिक्कुमारिकाओं ने मिलकर भगवान का जन्ममहोत्सव किया। पिताने यौवन वय में योग्य समझ कर राज्य सौंपा, कालान्तर में अरनाथ चक्रवर्ती हुए, संसार से विरक्त होकर दीक्षा ली। एवं तीर्थंकर पद प्राप्त किया और अन्त में कर्म क्षयकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए।

सुखद शुभ समाचार को सुनकर राजराजेश्वर पद्मोत्तर अपने राज परिवार, परिजनों, पौरजनों एवं प्रधानामात्य आदि के साथ आचार्य श्री के दर्शन-वन्दन-प्रवचन श्रवण की उत्कट अभिलाषा अन्तर्मन में संजोये उद्यान में मुनि मण्डल के समक्ष उपस्थित हुआ। दर्शन वन्दन आदि के अनन्तर पद्मोत्तर ने आचार्यश्री के अमृतोपम उपदेश को सुना। उपदेशामृत के पान से उसका अन्तर्मन आप्यायित हो उठा। अनिर्वचनीय आनन्द की अद्भुत् अनुभूति से पद्मोत्तर पुलकित हो विरक्ति के कभी न उतरने वाले प्रगाढ़ रंग में रंग गया। उसने अपने भाल पर अंजलि किये आचार्य श्री से निवेदन किया—"भगवन ! मैं सदा के लिये आपके चरण-सरोजों की शरण ग्रहण कर श्रमणधर्म में प्रव्रजित होना चाहता हूँ। राज्य की व्यवस्था कर मैं शीघ्र ही आपकी शरण में आ रहा हूँ। कृपासिन्धो ! कृपाकर इस शरणागत को शरण में लेने की स्वीकृति प्रदान कीजिये।" आचार्य श्री नागसूरि ने कहा—"जहा सुहं देवाणुप्पिया !"

आचार्य श्री के मुखारविन्द से सुधोपम सुखद स्वीकृति सूचक शब्द सुनकर महाराजा पद्मोत्तर ने अपने आपको कृत कृत्य समझा। राज प्रासाद में आकर राजाधिराज पद्मोत्तर ने राज्य परिवार, प्रमुख पौरजनों, प्रधानामात्यादि मन्त्रिगण एवं परिजन आदि के समक्ष अपनी आन्तरिक इच्छा अभिव्यक्त करते हुए कहा—"मैं अपने सर्वगुण सम्पन्न ज्येष्ठ पुत्र विष्णुकुमार को अपना सम्पूर्ण राज्य और छोटे राजकुमार महापद्म को युवराज पद प्रदान कर श्रमणधर्म के आजीवन सकल सावद्यनिवृत्ति स्वरूप संयमधर्म की दीक्षा ग्रहण करना चाहता हूँ।"

यह सुनकर बड़े राजकुमार विष्णुकुमार ने तत्काल साञ्जलि भाव झुकाते हुए वैराग्य रंग रंजित विनम्र शब्दों में अपने पिता के समक्ष आत्म-निवेदन किया—"पूज्य पितृदेव ! मैंने आपके साथ ही श्रमणधर्म में दीक्षित हो स्व पर-कल्याण का दृढ़ संकल्प कर किया है। मैं राज्य श्री का नहीं, अक्षय अव्याबाध-अनन्त शिव श्री का अभिलाषुक हूँ। अतः मेरे प्राणाधिक प्रिय लघु बन्धु महापद्म का राज्याभिषेक कर अपने साथ मुझे भी दीक्षित होने की आज्ञा प्रदान कीजिये।"

पिता और भ्राता के वियोग के भय से दुखित महापद्म ने पुनः पुनः विष्णुकुमार को राजसिंहासन पर आसीन होने की प्रार्थना की किन्तु उसे समझा बुझाकर शुभ मुहूर्त में उसका राज्याभिषेक कर महाराज पद्मोत्तर और राजकुमार विष्णुकुमार दोनों पिता-पुत्र ने आचार्यश्री नागसूरि

के पास श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् पिता पुत्र ने गुरुचरणों में शास्त्राध्ययन के साथ घोर तपश्चरण प्रारम्भ किया।

उत्कट अध्यात्मसाधना में निरत मुनि पद्मोत्तर ने चार घातिकर्मों को नष्ट कर निखिल, लोकालोक साक्षात्कारी केवलज्ञान-केवलदर्शन की उपलब्धि की और अन्ततोगत्वा शेष चार अघाति कर्मों को मूलत: नष्ट कर वे शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हो शाश्वत शिवसुख के स्वामी वने। मुनि विष्णुकुमार भी दुष्कर घोर तपश्चरण से आत्मा को भावित करने लगे। तपश्चरण के प्रभाव से अनेक दिव्य लब्धियाँ अनायास ही उनकी चरण-चेरियाँ वन गयीं और अपने पिता महामुनि पद्मोत्तर के निर्वाण के पश्चात् वे नगाधिराज सुमेरु पर्वत के शिखर पर अनेक प्रकार के उत्कृष्ट तप करते हुए सच्चिदानन्द स्वरूप की प्राप्ति के लिए अहर्निश प्रयत्न करते रहे।

जिस समय युवराज महापद्म हस्तिनापुर राज्य के युवराज पद पर अधिष्ठित हो अपने राज्य की वागडोर सम्हाले हुए थे, उन्हीं दिनों एक वार मुनि सुव्रतस्वामी के सुव्रताचार्य नामक एक शिष्य का उज्जयिनी नगरी के एक उद्यान में पदार्पण हुआ। उनके दर्शन-वन्दन के लिए उज्जयिनी के आवालवृद्ध नर-नारियों के समूह उस उद्यान की ओर उमड़ पड़े। रंग विरंगी स्वच्छ-सुन्दर वेष-भूषा से सुसज्जित जन-समूहों को नगर के विभिन्न भागों से एक ही दिशा की ओर सहर्ष उमड़ते देख तत्कालीन उज्जयिनी पति महाराजा श्री धर्म ने अपने प्रधानामात्य नमुचि से पूछा—"आज कोई पर्व दिवस तो नहीं है। तदुपरान्त भी नगर के सभी भागों से इतनी वड़ी संख्या में नागरिकों के समूह एक ही दिशा की ओर किस कारण उद्वेलित सागर की भांति उमड़े चले जा रहे हैं ?"

नमुचि ने राजा के प्रश्न के उत्तर में कहा—"राजन् ! नगर के वाहरस्थित उद्यान में श्रमण आये हैं अत: उनके दर्शन-वन्दन हेतु उस उद्यान की ओर जा रहे हैं।"

महाराजा श्री धर्म ने मुनि आगमन का सुसम्वाद सुनकर कहा— यदि ऐसी वात है तो मुनिदर्शन के लिए हम भी अवश्यमेव जायेंगे। राजा ने आदेश दिया कि तत्काल अश्व रथादि सुसज्जित किये जायँ। इस पर मन्त्री नमुचि ने राजा से कहा—"महाराज ! आप वहाँ तटस्थ की भाँति देखते रहें, मैं उन श्रमणों को शास्त्रार्थ में सहज ही परास्त कर निरुत्तर कर दूंगा।"

राजा श्री धर्म अपने मन्त्रिगण, परिजन, राजन्य वर्ग एवं प्रमुख पौरजनों के साथ उद्यान में पहुँचा और दर्शन-वन्दनादि के पश्चात् सुव्रताचार्य के समक्ष बैठ गया। नमुचि ने बैठते ही तत्काल आचार्यश्री की ओर अभिमुख हो अविनय एवं उद्दण्डतापूर्ण स्वर में प्रश्न किया—"श्रमणो ! यदि तुम धर्म के सम्बन्ध में थोड़ा बहुत भी जानते हो तो हमें बताओ। उस समय श्रोताओं को ऐसा प्रतीत हुआ मानों साक्षात शैतान धर्मराज के समक्ष धर्म की व्याख्या पूछने की धृष्टता कर रहा हो।

श्री सुव्रताचार्य ने नमुचि के हाव-भाव, इंगिताकार और उसकी सम्भाषण शैली से तत्काल भाँप लिया कि प्रश्नकतर्त्ता वस्तुतः तुच्छ स्वभाव का क्षुद्र व्यक्ति है, अतः वे मौन रहे। इससे नमुचि के क्रोध का पारावार न रहा और आचार्यश्री की ओर इंगित कर राजा से बोला—"महाराज ! यह बैल क्या जाने कि धर्म क्या है।

अपने आराध्य आचार्य देव के प्रति नमुचि द्वारा प्रयुक्त किये गये अनादरपूर्ण अशिष्ट वचन सुनकर एक नवयुवक साधु सहसा बोला—"यदि तेरी जिह्वा और मुख-कोटर में खुजली ही चल रही है तो उसे तो मुझे मिटाना ही होगा।

नमुचि ने वितण्डावाद का आश्रय ले उन युवा वय के मुनि के साथ शास्त्रार्थ प्रारम्भ किया किन्तु मुनिश्री के प्रकाण्ड पाण्डित्य एवं अजस्र प्रवाहिनी वाग्गंगा के प्रबल प्रवाह के समक्ष किंकर्तव्यविमूढ़ हो अपना म्लान मुख झुकाये मूक-बधिर-विक्षिप्त बन चुपचाप धरती की ओर ताकता ही रह गया। हजारों कण्ठस्वरों ने आचार्य श्री के जयघोषों से गगनमण्डल को गुंजरित करते हुए प्रकट किया कि यह पण्डितमन्य अकिंचन नमुचि आचार्य श्री के कनिष्ठतम शिष्य से वाद में पराजित हो गया है। नमुचि ने अनुभव किया कि वह नागरिकों की दृष्टि में गिर गया है। इससे वह बड़ा लज्जित हुआ और उसके मन में साधुओं के प्रति तीव्र द्वेषभाव उत्पन्न हो गया। अपने आपको अपमानित समझता हुआ वह नीची गर्दन किये चुपचाप अपने घर चला गया। बिना कुछ खाये पिये वह अपने पर्यंक पर लेट गया किन्तु अपने अन्तर्मन में धुकधुकाती विद्वेषाग्नि की प्रचण्ड ज्वालाओं से उसका तन-मन-मस्तिष्क एवं रोम-रोम दहक उठा। उसके सन्तप्त मस्तिष्क में प्रतिशोध की भावना प्रबल वेग से जागृत हुई और वह अर्द्धरात्रि के पश्चात् हाथ में तलवार लिये अपने घर से निकल कर उद्यान की ओर अग्रसर हुआ। चोर की भांति अपने आपको प्रहरियों की दृष्टि

सम्पर्क साध महाराज महापद्म का मन्त्री बन गया। एक बार दुर्गम पर्वतीय प्रदेश के कोट्टाधिपति सिंह बल नामक अधीनस्थ राजा ने हस्तिनापुर राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। विद्रोह को कुचलने के लिये महाराज पद्म ने अपने सेनापति को सिंह बल पर आक्रमण करने की आज्ञा दी किन्तु सिंह बल के सुदृढ़ दुर्भेद्य किले (गढ़) के कारण सेनापति को अपने कार्य में सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। अन्ततोगत्वा नमुचि ने महाराज महापद्म के समक्ष सिंह बल को जीवितावस्था में बन्दी बना उपस्थित करने का बीड़ा उठाया। भेद नीति और छल-छद्म में निष्णात नमुचि विद्रोही को जीवित पकड़ने और विद्रोह को शान्त करने में सफल हुआ। जब उसने सिंह बल को बन्दी बना अपने स्वामी महापद्म के सम्मुख उपस्थित किया तो नमुचि के इस कार्य से पूर्णतः प्रसन्न हो महाराज महापद्म ने उसे यथेप्सित वरदान माँगने को कहा। इस पर नमुचि ने कहा—"महाराज! मेरा यह वर आपके पास धरोहर में रखिये। इसे मैं उपयुक्त अवसर पर माँगूगा।"

नमुचि की अभ्यर्थनानुसार महाराज महापद्म ने उसको दिये गये वरदान को अपने पास धरोहर के रूप में रखा और वह निष्कण्टक राज्य की परिपालना करने लगा। इस प्रकार न्याय-नीतिपूर्वक राज्य करते हुए महाराजा महापद्म की आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ और उसने चक्ररत्न, सेनापति रत्न, अश्वरत्न आदि चक्रवर्ती के १४ रत्नों की सहायता से शुभ मुहूर्त में भरत क्षेत्र के छः खण्डों पर दिग्विजय की अभिलाषा किये अपनी विशाल चतुरंगिणी सेना के साथ हस्तिनापुर से प्रस्थान किया। अनेक वर्षों तक दिग्विजय अभियान द्वारा क्रमशः भरत क्षेत्र के षट्खण्डों की साधना कर वह चक्रवर्ती के १४ रत्नों सहित सम्पूर्ण भरत क्षेत्र का एक छत्र सम्राट बना और हस्तिनापुर लौटकर महा-महोत्सव के साथ चक्रवर्ती पद पर अभिषिक्त हुआ।

जिस समय चक्रवर्ती महापद्म सम्पूर्ण भरत क्षेत्र के एकछत्र साम्राज्य का परिपालन कर रहे थे उसी समय कालान्तर में सुव्रताचार्य अप्रतिहत विहार क्रम से अपने शिष्य समूह के साथ हस्तिनापुर पधारे और धर्मनिष्ठ नागरिकों की प्रार्थना पर वर्षावास हेतु वहीं विराजित हुए। सुव्रताचार्य के आगमन का समाचार सुनते ही नमुचि के अन्तर्मन में उनके प्रति पूर्व वैर प्रचण्ड वेग से जागृत हुआ। उसने सुव्रताचार्य और उनके सम्पूर्ण शिष्य समूह का संहार करने का मन ही मन निश्चय किया। किस उपाय से एक साथ इन सब साधुओं को मौत के घाट उतारा जाय इस पर अहर्निश विचार करते

करते वह एक निश्चय पर पहुँचा और उसने चक्रवर्ती महापद्म से उनके पास धरोहर के रूप में रखा वरदान माँगा। वर प्रदान के लिये समुद्यत महापद्म से नमुचि ने निवेदन किया—"सत्यसन्ध स्वामिन्। आपके कृपा प्रसाद से मैंने सभी प्रकार के सांसारिक श्रेष्ठ सुखों का उपभोग कर लिया है। अब मेरी एक मात्र यही अभिलाषा है कि मुझे मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग की प्राप्ति हो। एतदर्थ मैं शास्त्रोक्त विधि से सुनिश्चित रूपेण स्वर्ग प्रदायी महान् यज्ञ करना चाहता हूँ। अतः आपसे यही वरदान चाहता हूँ कि आज से लेकर यज्ञ की पूर्णाहुति होने तक एक मास के लिये आप मुझे अपना सम्पूर्ण राज्य प्रदान कर दीजिए, जिससे कि मैं महायज्ञ का अनुष्ठान कर सुनिश्चित रूप से स्वर्ग का अधिकारी बन सकूं।"

वचनबद्ध चक्रवर्ती महापद्म ने तत्काल अपना सुविशाल सम्पूर्ण राज्य एक मास के लिये नमुचि को विधिपूर्वक प्रदान कर दिया और उक्त अवधि तक के लिये अपने अन्तःपुर के प्रासाद में तटस्थ भाव से रहने के लिये चला गया।

एक मास की अवधि के लिये राज्याभिषिक्त नमुचि को वर्द्धापन (बधाई) देने के लिए प्रमुख प्रजाजन और विभिन्न दर्शनों के धर्माचार्य नमुचि की सेवा में उपस्थित हुए किन्तु सांसारिक प्रपंचों से पूर्णतः तटस्थ जैनाचार्य श्री सुव्रताचार्य श्रमण वर्ग के लिये वर्जनीय बधाई प्रदान हेतु नमुचि के पास नहीं गये। इससे नमुचि बड़ा क्रुद्ध हुआ। उसने प्रपञ्च कर आचार्य श्री को बुलवाया और क्रोधपूर्ण कर्कश स्वर में उनसे पूछा कि सभी धर्माचार्यों की भाँति वे भी उसे बधाई देने किस कारण उसके समक्ष उपस्थित नहीं हुए ? सुव्रताचार्य ने शान्त एवं गम्भीर स्वर में नमुचि के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—"राज्याभिषिक्त ब्रह्मन् ! हमारे श्रमणाचार में सांसारिक उपलब्धियों के अवसर पर वर्द्धापन करना—बधाई देना वर्जित है। श्रमणाचार के विधान के अनुसार न तो हम किसी की निन्दा ही करते हैं और न किसी गृहस्थ की स्तुति ही।"

सुव्रताचार्य का उत्तर सुनकर नमुचि का प्रकोप सहसा प्रकोप की पराकाष्ठा को भी पार कर गया और उसने कड़ककर कहा—"तुम सब पाखण्डी, निन्दक और राजद्रोही हो। सात दिन की अवधि के अन्दर-अन्दर मेरे साम्राज्य की सीमा से बाहर चले जाओ अन्यथा तुम्हारे शिष्यों के साथ तुम्हें घानी में पिलवा दूंगा। यह मेरा अटल एवं अन्तिम आदेश है। अपनी इस आज्ञा के विरुद्ध मैं तुम्हारी कोई बात नहीं सुनना चाहता।" यह कह

कर कोपातिरेक से कांपता हुआ नमुचि आचार्य श्री से विमुख मुद्रा में बैठ गया।

आचार्य श्री ने उद्यान में लौटकर अपने सभी साधुओं से परामर्श किया। इस घोर संकट से संघ का उद्धार करने में केवल विष्णुकुमार मुनि ही समर्थ हैं जो सुमेरु के शिखर पर तपश्चरण में लीन हैं, मुनि मण्डल के इस निष्कर्ष पर पहुँचने के अनन्तर एक लब्धिसम्पन्न मुनि ने उन्हें सुमेरु पर्वत से हस्तिनापुर लाने का कार्य भार शिरोधार्य किया। वह लब्धिसम्पन्न साधु अपने विद्यावल से तत्काल मुनि विष्णुकुमार की सेवा में सुमेरु के शिखर पर पहुँचा और उसने नमुचि के संघ-विरोधी समग्र प्रपञ्च का आद्योपान्त विवरण संक्षेप में उन्हें सुनाया। श्रमण संघ का मारणान्तिक घोर संकट से उद्धार करने हेतु मुनि विष्णुकुमार उस साधु के साथ आकाश मार्ग से हस्तिनापुर आये। उन्होंने नमुचि की सभा में जाकर उससे कहा—"ब्रह्मन् ! मेरे लघु सहोदर ने एक निश्चित अवधि के लिये तुम्हें षट् खण्ड का विशाल साम्राज्य प्रदान किया है। अपने अभीष्ट यज्ञ के अनुष्ठान के लिये तुम चक्रवर्ती साम्राज्य के स्वामी बने हो न कि घोर अधर्मपूर्ण अन्याय करने के लिए। वर्षावास के समय श्रमणों के लिये एक ही स्थान पर रहने का धर्मशास्त्रों में विधान है, वे अन्यत्र नहीं जा सकते। यदि जाना चाहें भी तो कहाँ जावें ? इस समय भरत क्षेत्र के सम्पूर्ण ६ खण्डों पर तुम्हारा शासन है। अतः अधर्म का मार्ग छोड़ो और मुनि मण्डल को यहीं रहने दो।"

मुनि विष्णुकुमार को नमन करना तो दूर, राज्य के मद में मदान्ध बना नमुचि उनके समक्ष खड़ा तक नहीं हुआ। उसने मुनि विष्णुकुमार की उपेक्षा करते हुए कहा—"मेरी आज्ञा अटल है। नमुचि केवल आज्ञा देना ही जानता है, उसे वापिस लेना नहीं। सम्भव असम्भव आदि के सम्बन्ध में मैं एक शब्द भी नहीं सुनना चाहता। ये लोग सात दिन के अन्दर-अन्दर मेरे राज्य की सीमा के बाहर चले जायं अन्यथा इन्हें मृत्युदण्ड दिया जायगा। बस यही मेरा अन्तिम आदेश है।"

नमुचि के इस प्रकार के असंगत कथन और उद्दण्ड व्यवहार से मुनि विष्णुकुमार को विश्वास हो गया कि वह वस्तुतः मुनि मण्डल के संहार के लिये कृत-संकल्प है। इस प्रकार की स्थिति में मुनि संघ के प्राणों की रक्षा का अन्य कोई उपाय न देख उन्होंने संघहित में "शठे शाठ्यं समाचरेत्" की लौकिक नीति का अवलम्बन लेना अपरिहार्यरूपेण आवश्यक समझा।

शान्त एवं सुधोपम सुमधुर स्वर में वे बोले—"सम्प्रति सकल भरताधिराज ! भरत क्षेत्र के छहों खण्डो में इस समय तुम्हारी आज्ञा अनुल्लंघनीया है, अतः इस सम्बन्ध में तो मैं अब तुम्हें कुछ भी नहीं कहूँगा, किन्तु विशाल मुनि मण्डल के प्राणों की रक्षा के साथ साथ तुम्हारी आज्ञा को अक्षुण्ण अपरिवर्तनीय रखने का एक उपाय मेरे मस्तिष्क में आया है। तुम तीन पद (डग) परिमित भूमि इन साधुओं के रहने के किये मुझे दे दो। उस तीन पद भूमि से बाहर जिन-जिन साधुओं को देखो, उन्हें तुम यथेप्सित दण्ड देने में समर्थ हो सकोगे।"

"तीन पग परिमित भूमि में मास भर तक अनशन करके भी खड़े रहना चाहें तो तीन साधुओं से अधिक खड़े नहीं रह सकेंगे और उस दशा में मैं श्रमण समूह का संहार कर सकूंगा"—यह विचार कर नमुचि ने कहा—"हाँ ! तीन पद भूमि मैं तुम्हें दे सकता हूँ। उससे बाहर यदि किसी ने पैर भी रखा तो उसे प्राण दण्ड देने का मुझे अधिकार होगा। यह बात (शर्त) तुम्हें स्वीकार हो तो यथेप्सित स्थान पर तीन पद परिमिता पृथ्वी ग्रहण कर लो।"

"तुम्हारा 'पण' मुझे स्वीकार है, यह कहते हुए विष्णुकुमार मुनि ने वैक्रियलब्धि से अपने शरीर को गगन चुम्बी विराट रूप में बढ़ाना प्रारम्भ किया। दो पग—पद अथवा डगों में ही उन्होंने इतने विशाल भूभाग को नाप लिया जिसमें भरत क्षेत्र के छहों खण्ड केवल खेतों के समान समा गये। पृथ्वी प्रकम्पित हो उठी। घनघटा की गड़गड़ तुल्य गम्भीर स्वर में विराट स्वरूपधारी मुनि विष्णुकुमार ने धर्मसंघ-द्रोही नमुचि से प्रश्न किया-बोल नमुचे ! अब मैं अपना तीसरा पैर कहां रखूं ? तेरे करुणाविहीन क्रूर वक्षस्थल पर ? बोल शीघ्र बता।"

भय-विभ्रान्त नमुचि की जिव्हा बाहर निकल आई, आंखें भय मिश्रित आश्चर्य से फटी की फटी ही रह गई। झंझावात से प्रकम्पित पीपल के पत्ते की भांति बना हुआ वह मुनि विष्णुकुमार के समक्ष भूलुण्ठित हो पुनः पुनः—"त्राहि मां, त्राहि मां, त्राहि मां हे मुनीश !" पुकारता हुआ करुण क्रन्दन करने लगा।"

पृथ्वी के प्रकम्प के साथ प्रासादों को डग-मग डोलते देख चक्रवर्ती महापद्म दौड़कर आये और विराट रूपधारी अपने पिता तुल्य ज्येष्ठ सहोदर मुनि विष्णुकुमार के चरणों पर अपना भाल रख कर उनसे पुनः पुनः क्षमा मांगने लगे।

(मुनिवृन्द, चक्रवर्ती महापद्म, सकल संघ और) भयाक्रान्त प्रजाजनों ने विविध प्रार्थनाओं से मुनिवर विष्णुकुमार को शान्त किया। कोप के शान्त होने पर मुनिश्री ने वैक्रिय शक्ति का संवरण किया और आलोचना प्रतिक्रमण पूर्वक दोषशुद्धि हेतु प्रायश्चित्त ग्रहण कर आत्म-शुद्धि की।

प्रजाजनों की सहस्रों आंखे नमुचि को वहाँ खोजने लगीं किन्तु किसी को वह कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुआ। महापद्म के चरों ने अपने स्वामी को सूचित किया कि नमुचि अपना कृष्ण मुख छुपाये निर्जन पर्वतीय वन प्रदेशों की ओर पलायन कर गया है।

विष्णुकुमार मुनि ने तपश्चरण से केवल ज्ञान की उपलब्धि की और आयु के अन्त में शेष कर्म समूह को मूलतः नष्ट कर वे शुद्ध-बुद्ध मुक्त हुए।

सुदीर्घकाल तक चक्रवर्ती महापद्म ने न्याय-नीतिपूर्वक प्रजा का पालन करने के अनन्तर निर्ग्रन्थ श्रमण दीक्षा अंगीकार की और तपश्चरण पूर्वक उन्होंने मुक्ति प्राप्त की।

हरिषेण चक्री ने त्याग से अनुत्तर गति प्राप्त की—

मूल—एगच्छत्तं पसाहित्ता, महिं माण—निसूरणो।
हरिसेणो मणुस्सिन्दो, पत्तोगइमणुत्तरं ॥४२॥

छाया—एक-च्छत्रां प्रसाध्य, महीं मान-निषूदनः।
हरिषेणो मनुष्येन्द्रः, प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ॥४२॥

पद्या०—अरि-मान दमन करने वाले, हरिषेण नृपति वर कभी यहाँ।
वसुधा का एक छत्र शासन, तज गए सुपद निर्वाण जहाँ ॥४२॥

अन्वयार्थ—**माण-निसूरणो**—शत्रुओं का मानमर्दन करने वाले, **मणुस्सिंदो हरिसेणो**—मनुष्येन्द्र हरिषेण चक्रवर्ती ने, **महिं**—पृथ्वी का; **एगच्छत्तं**—एक छत्र, **पसाहित्ता**—शासन करके (फिर), **अणुत्तरं गइं**—अनुत्तर गति, **पत्तो**—प्राप्त की ॥४२॥

भावार्थ—शत्रुनृपों का मान-मर्दन करने वाले हरिषेण चक्रवर्ती ने पृथ्वी का एकच्छत्र शासन करके, (फिर सर्वस्व त्याग कर) अनुत्तर (मोक्ष) गति प्राप्त की।

विवेचन—हरिषेण चक्रवर्ती की कथा—काम्पिल्य नगर में महाहरि राजा की मेरो देवी रानी की कुक्षि से हरिषेण चक्रवर्ती का जन्म हुआ। क्रमशः यौवन वय प्राप्त होने पर पिता ने राज्य सौंपा। कालान्तर में चौदह

रत्न उत्पन्न हुए फिर षट्खण्ड साध कर उन्होंने चक्रवर्ती पद पाया। चक्रवर्ती के सुख भोगों का उपभोग करने लगा। लघु कर्मी होने से संसार से विरक्ति हो गई। उसके मन में चिन्तन जागृत हुआ—मैंने पूर्वकृत पुण्यवश ऐसी ऋद्धि प्राप्त की है। अतः भविष्य के लिए मुझे परलोक का हित सम्पादन कर लेना चाहिए। ऐसा सोचकर अपने पुत्र को राज्य भार सौंपा और स्वयं ने दीक्षा ले ली। क्रमशः केवल ज्ञान प्राप्त कर वे सिद्ध बुद्ध-मुक्त हुए।

जय चक्रवर्ती ने संयमाचरण द्वारा मोक्ष प्राप्त किया—

मूल—अन्निओ रायसहस्सेहिं, सुपरिच्चाई दमं चरे।
जयनामो जिणक्खायं, पत्तोगइमणुत्तरं ॥४३॥

छाया—अन्वितो राजसहस्रैः, सुपरित्यागी दममचरत्।
जयनामा जिनाख्यातं, प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ॥४३॥

पद्या०—नृप सहस्र के संग राज्य, "जय' चक्री ने जब छोड़ दिया।
जिन भाषित दम का सेवन कर, निर्वाण धाम को प्राप्त किया ॥४३॥

अन्वयार्थ—**रायसहस्सेहिं**—हजारों राजाओं से, **अन्निओ**—युक्त हो कर, **सुपरिच्चाई**—श्रेष्ठ त्यागी, **जयनामो**—जय नामक चक्रवर्ती ने, **जिणक्खायं**—जिन-भाषित, **दमं**—दम (संयम) का, **चरे**—आचरण किया, (और) **अणुत्तरं गइं**—अनुत्तर (मोक्ष) गति, **पत्तो**—प्राप्त की ॥४३॥

भावार्थ—हजारों राजाओं के संग श्रेष्ठ त्यागी जय नामक चक्रवर्ती ने (राज्य का परित्याग कर), जिनोक्त संयम का आचरण करके सर्वोत्तम गति सिद्ध गति प्राप्त की।

विवेचन—जय चक्रवर्ती की कथा—राजगृह नगर में समुद्रविजय राजा की वप्रा नाम की रानी की कुक्षि से जय नामक चक्रवर्ती उत्पन्न हुआ। क्रमशः भरत क्षेत्र को साध कर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। राज्य लक्ष्मी का सुखोपभोग करते हुए एक बार जयचक्रवर्ती को भोगों से विरक्ति हो गई। विचार किया कि—चिरकाल तक जीएँ तो भी अन्त में एक दिन तो अपने प्रियजनों से वियोग अवश्य होगा, चिरकाल तक भोग भोगने पर भी कभी तृप्ति होने वाली नहीं है। इस शरीर को चाहे जितना पुष्ट करें, एक दिन तो यह नष्ट होगा ही, दीर्घकाल पर्यन्त पालन किया गया धर्म ही अन्त में मनुष्य का सहायक होता है। यों चिन्तन करते हुए विरक्त होकर जय चक्रवर्ती ने दीक्षा ग्रहण की और रत्नत्रय की उत्कट साधना एवं आराधना से क्रमशः सिद्धि प्राप्त की।

(११) दशार्णभद्र नृप द्वारा राज्य त्याग कर मुनि धर्माचरण—

मूल—दसण्णरज्जं मुइयं, चइत्ताणं मुणी चरे।
दसण्णभद्दो निक्खन्तो, सक्खं सक्केण चोइओ ॥४४॥

छाया—दशार्णराज्यं मुदितं, त्यक्त्वा मुनिरचरत्।
दशार्णभद्रो निष्क्रान्तः, साक्षाच्छक्रेण चोदितः ॥४४॥

पद्या०—सुरपति से प्रेरित नृप दशार्ण ने, मुदित राज्य वैभव छोड़ा।
कर ग्रहण प्रव्रज्या मुनिव्रत में, दृढ़ साहस से मन को जोड़ा ॥४४॥

अन्वयार्थ—**सक्खं**—साक्षात्, **सक्केण**—शक्रेन्द्र द्वारा, **चोइओ**—प्रेरित होकर, **दसण्णभद्दो**—दशार्णभद्र राजा ने, **मुइयं**—प्रमुदित, **दसण्णरज्जं**—दशार्ण देश का राज्य, **चइत्ताणं**—छोड़कर, **निक्खंतो**—प्रव्रज्या ग्रहण की, (और) **मुणीचरे**—मुनि धर्म का आचरण किया ॥४४॥

भावार्थ—साक्षात् देवेन्द्र से प्रेरित हो दशार्णभद्र नरेश ने पूर्णतः समृद्ध एवं सुख सम्पन्न दशार्णराज्य का परित्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण की और मुनि बनकर विचरण किया ॥४४॥

विवेचन—दशार्णभद्रराजा की कथा—दशार्णदेश के राजा दशार्णभद्र को ऐसा विचार हुआ कि मैं भगवान महावीर का भक्त हूँ। मैं भगवान को वन्दना करने के लिए इस प्रकार की अद्भुत ऋद्धि एवं वैभव के साथ जाऊँ कि आज तक किसी ने उस प्रकार के ठाट के साथ वन्दना-भक्ति न की हो। अतः दशार्णभद्र राजा बहुमूल्य श्रेष्ठ वस्त्राभूषणों से पूर्णतया अलंकृत होकर एक सुसज्जित हाथी पर बैठा। उसके पीछे चतुरंगिनी सेना, मंत्री, सामन्त आदि राज परिवार तथा नगर के श्रेष्ठी एवं व्यापारी आदि चल रहे थे। उसके आगे-आगे गन्धर्व-गान कर रहे थे, विलासिनियाँ नृत्य कर रही थीं। अपना यह सब ठाट देखकर दशार्णभद्र राजा अहंकार भरे हर्ष से आनन्दित हो रहा था।

दशार्णभद्र राजा की सवारी ज्यों ही भगवान के समवसरण के निकट पहुँची, त्यों ही इन्द्र ने अवधिज्ञान से देखकर सोचा—दशार्णभद्र राजा को अहंकार आ गया है। इसे यह नहीं पता है कि देव मनुष्यों की अपेक्षा भौतिक ऋद्धि और वैभव में बढ़े-चढ़े हैं। इसका वैभवमद उतारना चाहिए, जिससे यह प्रतिबुद्ध हो सके। यह सोचकर इन्द्र वैक्रियशक्ति से अपने ऐरावण हाथी पर बैठकर देवों, देवांगनाओं, नृत्य-गीत-वाद्यों के साथ कई गुना अधिक वैभव के साथ भगवान के समीप आकर प्रदक्षिणा पूर्वक

वन्दना करने लगा। इन्द्र का अपार वैभव देखकर दशार्णभद्र का गर्व चूर-चूर हो गया। उसने सोचा—"भौतिक वैभव में मैं इन्द्र से बहुत पीछे हूँ। इन्द्र ने पूर्व भव में शुद्ध धर्म का आराधन किया है, उसी के फलस्वरूप इसे ऐसी महान अलौकिक ऋद्धि प्राप्त हुई है। मैं भी यदि साधु बनकर उत्कृष्ट धर्माचरण करूँ तो आध्यात्मिक वैभव में इन्द्र मेरी बराबरी नहीं कर सकेगा। ऐसा करने पर ही मेरी विजय हो सकेगी।"

इस प्रकार संवेगभावना से प्रतिबुद्ध हो राजा दशार्णभद्र ने भगवान महावीर से प्रार्थना की—'भगवन्'! मैं इस भव-भ्रमण से घबरा गया हूँ। अतः मुझे आप प्रव्रज्या प्रदान करके अनुगृहीत करें।" भगवान् ने राजा दशार्णभद्र को दीक्षा दी। देवराज शक्र ने मुनि दशार्णभद्र को वन्दन करते हुए कहा—आप श्रमणत्व स्वीकार करके विजयी बने हैं। धन्य हैं आप कि आपने ऐसी भौतिक समृद्धि का त्याग किया है। पहले आपने अभिमान ग्रस्त होकर द्रव्यवन्दन किया था, अब प्रव्रज्या ग्रहण करके आपने वस्तुतः प्रभु का भाववन्दन किया है। अतः आप महान् है। अब मैं आपकी चरणरेणु की भी तुलना नहीं कर सकता।" इस प्रकार दशार्णभद्रमुनि की प्रशंसा कर इन्द्र अपने स्थान को लौट गया।

शक्रेन्द्र-प्रेरित नमिराज विदेह राज्य का त्याग कर श्रमणधर्म में प्रव्रजित—

मूल—नमी नमेइ अप्पाणं, सक्खं सक्केण चाइओ।
चइऊण गेहं वइदेही, सामण्णे पज्जुवट्ठिओ ॥[1]

छाया—नमिर्नामयति आत्मानं, साक्षाच्छक्रेण चोदितः।
त्यक्त्वा गेहं वैदेही, श्रामण्ये पर्युपस्थितः॥

पद्या०—नमि ने साक्षात् आत्मा को नमा लिया, व्रत में सुरपति से बल पाया।
तज राज भवन को वैदेही, शुभ श्रमण भाव मन स्थिर लाया॥

अन्वयार्थ—सक्खं—साक्षात्, सक्केण—शक्रेन्द्र द्वारा, चोइओ—प्रेरित होने पर भी, वइदेही—विदेह के राजा नमी—नमिराज ने, गेहं चइऊण—राजभवन छोड़ कर, अप्पाणं—आत्मा को, नमेइ—संयम में झुका लिया, (और) (स्वयं को) सामण्णे—श्रमण धर्म में, पज्जुवट्ठिओ—भलीभाँति स्थिर किया॥

भावार्थ—विदेह के राजा नमिराज ने शक्रेन्द्र द्वारा (ब्राह्मण धर्म की) प्रेरणा किये जाने पर भी अपना राज भवन छोड़कर स्वयं को अत्यन्त विनम्र (कषायरहित) बनाया और श्रमण धर्म में वे समग्र भाव से स्थिर हो गये।

---

१. अगली गाथा में 'नमीराया विदेहेसु' पाठ होने से नमिराज विषयक यह गाथा प्रक्षिप्त मालूम होती है, परन्तु अधिकांश प्रतियों में यह ४५वीं गाथा के रूप में अंकित है। सं०

विवेचन—नमिराज का वृत्तान्त उत्तराध्ययन सूत्र के पूर्ववर्णित नमि प्रव्रज्या' नामक नौवें अध्ययन में विस्तार पूर्वक दिया है। यहां प्रसंगानुसार संक्षिप्त कथा-सार दिया जाता है।

मिथिला के राजा नमि एक बार दाहज्वर से ग्रस्त हो गए। कई प्रकार के उपचार किये गए, पर कोई लाभ न हुआ। छः मास तक वे इसकी घोर वेदना से पीड़ित रहे। एक वैद्य ने उनके शरीर पर चन्दन का लेप करने का परामर्श दिया। रानियाँ स्वयं चन्दन घिसने लगीं। चन्दन घिसते समय रानियों के हाथों में पहने हुए कंकणों के परस्पर टकराने से शोर होने लगा, दाहज्वर की पीड़ा से व्याकुल राजा को कंकणों की यह आवाज असह्य हो उठी। फलतः रानियों ने सौभाग्यसूचक एक-एक कंकण अपने हाथों में रखकर शेष सब कंकण उतार दिये। अब आवाज बन्द हो गयी।

राजा ने मन्त्री से पूछा—'कंकणों की आवाज नहीं हो रही है, क्या चन्दन घिसना बन्द कर दिया ?'

मन्त्री ने कहा—"स्वामिन् ! कंकणों के घर्षण की आवाज आपको अप्रिय लग रही थी। इसलिए सभी रानियों ने अपने हाथ में एक-एक कंकण रखकर शेष सभी उतार दिये। एक कंकण से घर्षण नहीं होता और घर्षण के विना आवाज कैसे होती ?"

राजा के लिए यह घटना, घटना न रही एक प्रेरणा बन गई। राजा का चिन्तन बदल गया। वह प्रबुद्ध होकर इस घटना पर अनुप्रेक्षण करने लगा—जहां अनेक हैं, वहाँ संघर्ष है, द्वन्द्व है, दुःख और पीड़ा है, जहाँ एक है, वहाँ संघर्ष, द्वन्द्व, दुःख और अशान्ति नहीं। वहाँ पूर्ण सुख शान्ति है। जहाँ शरीर और शरीर से सम्बन्धित इन्द्रियाँ, मन, और इससे आगे धन, साधन, स्वजन, महल, राज्य, प्रजाजन आदि की भीड़ है, वहाँ संघर्ष, द्वन्द्व, दुःख, और अशान्ति का होना स्वाभाविक है। जहाँ केवल एक आत्मा—आत्मभाव हो, शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव पदार्थों के प्रति आसक्ति या लगाव से रहित एकमात्र शुद्ध—निष्कलंक आत्मा हो, वहाँ दुःख द्वन्द्व, या अशान्ति नहीं। यही एकान्त और अक्षय शाश्वत सुख का राजमार्ग है। अतः मुझे इन सबके मोह-ममत्व मूलक सम्बन्ध (संग) का त्याग करके निर्ग्रन्थ मुनि हो जाना चाहिए। यही मेरे दाहज्वर की शान्ति के लिए रामबाण औषध होगा। राजा का विरक्तिभाव बढ़ा, और उसने प्रव्रजित होने का दृढ़ संकल्प किया।

इस प्रकार का संकल्प करके राजा शान्तचित्त से सो गया। चित्त की आन्तरिक प्रसन्नता से राजा को गाढ निद्रा आई और उसी कार्तिक पूर्णिमा

की रात को उसके पुण्य प्रभाव से छः मास का दाहज्वर शान्त हो गया। प्रातःकाल होते ही नमिराज ने अपने समस्त राज परिवार को एकत्रित करके अपने संकल्प की घोषणा की, सबके समक्ष अपने पुत्र को राजगद्दी पर बिठाया और स्वयं सब कुछ त्यागकर, प्रव्रज्या ग्रहण करके प्रत्येकबुद्ध होकर नगरी से बाहर चले गये।

नमिराज को अकस्मात् राज्य त्यागकर प्रव्रजित हुए जानकर देवराज इन्द्र ब्राह्मण के वेष में उनके त्याग-वैराग्य की परीक्षा करने के लिए उनके पास आया और उसने क्षात्र (राज) धर्म से सम्बन्धित १० प्रश्न नमि राजर्षि के समक्ष प्रस्तुत किये, जिनका उन्होंने श्रमणधर्म के अनुरूप यथोचित समाधान किया।

करकण्डू आदि चार प्रत्येकबुद्ध भी इसी मार्ग से मुक्त हुए—

मूल—करकंडू कलिंगेसु, पंचालेसु य दुम्मुहो।
नमी राया विदेहेसु, गंधारेसु य नग्गई ॥४५॥
एए नरिंदवसभा निक्खंता जिणसासणे।
पुत्ते रज्जे ठवेऊण, सामण्णे पज्जुवट्ठिया ॥४६॥

छाया—करकण्डुः कलिंगेषु, पाञ्चालेषु च द्विमुखः।
नमी राजा विदेहेषु, गान्धारेषु च नग्गतिः ॥४५॥
एते नरेन्द्रवृषभाः, निष्क्रान्ता जिनशासने।
पुत्रान् राज्ये स्थापयित्वा, श्रामण्ये पर्युपस्थिताः ॥४६॥

पद्या०—था करकण्डु कलिंग भूप, पांचालदेश में द्विमुख कड़ा।
गान्धारदेश का नृप नगति, नमि था विदेह का भूप बड़ा ॥४५॥
भूपों में ये श्रेष्ठ भूप, जिनशासन में निष्क्रान्त हुए।
पुत्रों को देकर राज्य-भार, श्रामण्यभाव स्थिरचित्त हुए ॥४६॥

अन्वयार्थ—**कलिंगेसु**—कलिंग (वर्तमान उड़ीसा) में, **करकंडू**—करकण्डु राजा, **य**—तथा, **पंचालेसु**—पांचाल (वर्तमान पंजाब) में, **दुम्मुहो**—द्विमुखराय, **विदेहेसु**—विदेह देश (वर्तमान मिथिला) में, **नमी राया**—नमिराज, **च**—और, **गंधारेसु**—गान्धार देश (वर्तमान में अफगानिस्तान आदि) में **नग्गई**—नग्गति राजा ॥४५॥

नरिंदवसभा—राजाओं में वृषभ के समान श्रेष्ठ, **एए**—ये नरेन्द्र, **पुत्ते**—अपने-अपने पुत्र को **रज्जे**—राज्य में, **ठवित्ताणं**—स्थापित करके, **जिणसासणे**—

जिन शासन में, **निक्खंता**—प्रव्रजित हुए (और) **सामण्णे**—श्रमणधर्म में, **पज्जुवट्ठिया**—सम्यक् प्रकार से स्थिर हो गये ॥४६॥

भावार्थ—कलिंगदेश में करकण्डु राजा, तथा पांचालदेश में द्विमुखराय, विदेह में नमिराज और गान्धार देश में नगतिराजा, राजाओं में वृषभ के सम्मान धुरन्धर इन नरेन्द्रों ने अपने-अपने पुत्र को राज्यभार सौंपकर जिनशासन में प्रव्रज्या ग्रहण की और श्रमणधर्म में भलीभांति लीन हुए ॥४५-४६॥

विवेचन—चारों प्रत्येकबुद्ध एक ही समय में सिद्ध हुए—राजाओं में प्रमुख करकण्डू, द्विमुख, नमि और नग्गति, ये चारों नरेश अपने-अपने राज्य का भार अपने-अपने पुत्र को सौंपकर श्रमण धर्म में निष्ठावान हुए। अर्थात् चारित्रयोग्य क्रियानुष्ठान में तत्पर हुए तथा संसार से पृथक होकर संसार परिभ्रमण से विरत हुए। सिद्धि प्राप्त की। इन चारों की विस्तृत कथा नमिप्रव्रज्या अध्ययन की बृहद् वृत्ति में दी गई है। नमिराज की कथा दी जा चुकी है। अब क्रमशः अन्य तीन प्रत्येक बुद्धों की कथा इस प्रकार है—

(१) **करकण्डू**—कलिंगदेश का राजा दधिवाहन और रानी पद्मावती थी। एक बार रानी को गर्भ प्रभाव से इस प्रकार का दोहद उत्पन्न हुआ कि—'मैं विविध वस्त्राभूषणों से विभूषित हो पट्टहस्ती पर आसीन होकर छत्र धारण कराती हुई राजोद्यान में घूमूँ।' राजा ने जब यह जाना तो पद्मावती रानी के साथ स्वयं 'जयकुंजर' हाथी पर बैठ कर राजोद्यान में पहुँचे। उद्यान में पहुँचते ही वहाँ की विचित्र सुगन्ध के कारण हाथी उन्मत्त होकर भागा। राजा ने रानी को सूचित किया कि "वटवृक्ष आते ही उसकी शाखा पकड़ लेना, जिससे हम सुरक्षित हो जाएँगे।' वटवृक्ष आते ही राजा ने तो शाखा पकड़ ली, परन्तु रानी न पकड़ सकी। हाथी पवनवेग से एक महारण्य में स्थित सरोवर में पानी पीने को रुका, त्यों ही रानी नीचे उतर गई। अकेली रानी व्याघ्र, सिंह आदि जन्तुओं से भरे अरण्य में भयाकुल और चिन्तित हो उठी। वहीं उसने सागारी अनशन किया और अनिश्चित दिशा में चल पड़ी।

रास्ते में एक तापस मिला। उसने रानी की करुणगाथा सुन कर धैर्य बंधाया, पक्के फल दिये, फिर उसे भद्रपुर तक पहुँचाया। आगे दन्तपुर का रास्ता बता दिया, जिससे आसानी से वह चम्पापुरी पहुँच सके। पद्मावती भद्रपुर होकर दन्तपुर पहुँच गयी। वहाँ उसने सुगुप्तव्रता साध्वी जी के दर्शन किये। प्रवर्तिनी साध्वी जी ने पद्मावती की दुःखगाथा सुन कर उसे

धीरज बंधाया, संसार की वस्तुस्थिति समझाई। उपदेश सुनकर पद्मावती को संसार से विरक्ति हो गई। गर्भवती होने की बात उसने छिपाई, शेष बातें कह दीं। साध्वी जी ने उसे दीक्षा दे दी। किन्तु धीरे-धीरे जब गर्भिणी होने की बात साध्वियों को मालूम हुई तो पद्मावती साध्वी ने विनयपूर्वक सब बात कह दी। शय्यातर बाई को प्रवर्तिनी ने यह बात बताई। उसने विवेकपूर्वक पद्मावती के प्रसव का प्रबन्ध कर दिया। एक सुन्दर बालक को उसने जन्म दिया और नवजात शिशु को श्मशान में एक सुरक्षित स्थान पर छोड़ दिया। कुछ देर तक वह वहीं एक ओर गुप्त रूप से खड़ी देखती रही। एक निःसन्तान चाण्डाल आया, उसने उस शिशु को ले जाकर अपनी पत्नी को सौंप दिया। बालक के शरीर में जन्म से ही सूखी खाज (रूक्ष कण्डूया) थी, इसलिए उसका नाम 'करकण्डू' पड़ गया।

युवावस्था में करकण्डू को अपने पालक पिता का श्मशान की रखवाली का परम्परागत काम मिल गया। एक बार श्मशानभूमि में गुरु-शिष्य मुनि ध्यान करने आये। गुरु ने वहाँ जमीन में गड़े हुए बास को देख कर शिष्य से कहा—'जो इस बांस के डंडे को ग्रहण करेगा, वह राजा बनेगा।'

निकटवर्ती स्थान में बैठे हुए करकण्डू ने तथा एक अन्य ब्राह्मण ने मुनि के वचन सुन लिये। सुनते ही वह ब्राह्मण उस बांस को उखाड़ कर लेकर चलने लगा। करकण्डू ने देखा तो क्रुद्ध होकर ब्राह्मण के हाथ से वह बांस का दण्ड छीन लिया। उसने न्यायालय में करकण्डू के विरुद्ध अभियोग किया। परन्तु उस अभियोग में करकण्डू की जीत हुई। फैसला सुनाते समय राजा ने करकण्डू से कहा—'अगर तुम इस बाँस के प्रभाव से राजा बनो तो एक गाँव इस ब्राह्मण को भी दे देना।' करकण्डू ने स्वीकार किया। किन्तु ब्राह्मण ने अपने जाति भाईयों से कह कर करकण्डू को मार कर उस बांस को ले लेने का निश्चय किया। करकण्डू की पालक माता को मालूम पड़ा तो पति-पत्नी दोनों करकण्डू को लेकर उसी समय दूसरे गांव को चल पड़े। वे सब काँचनपुर पहुँचे। रात्रि का समय होने से ये ग्राम के बाहर ही सो गए थे। संयोगवश उस ग्राम का राजा निःसंतान ही मर गया था। इसलिए मन्त्रियों ने तत्काल राज्य के पट्टहस्ती की सूंड में माला देकर नये राजा की खोज के लिए छोड़ दिया। वह हाथी घूमते-घूमते उसी स्थान पर पहुँचा, जहाँ करकण्डू सो रहा था। हाथी ने माला करकण्डू के गले में डाल दी। करकण्डू को राजा बना दिया गया। राजा करकण्डू के आदेश से वाटधानक निवासी समस्त मातंगों (चंडालों) को शुद्ध कर ब्राह्मण बना दिया गया।

बांस के दण्ड के विषय में जिस ब्राह्मण से झगड़ा हुआ था, वह

ब्राह्मण एक दिन राजा करकण्डू से एक ग्राम की याचना करने लगा। करकण्डू राजा ने चम्पापुरी के दधिवाहन राजा पर पत्र लिखा कि उक्त ब्राह्मण को एक ग्राम दे दिया जाए। परन्तु दधिवाहन राजा वह पत्र देखते ही क्रोध से भड़क उठा और अपमानपूर्वक ब्राह्मण को निकाल दिया। करकण्डू राजा ने जब यह सुना तो वह भी रोष से भड़क उठा और उसने युद्ध की तैयारी करने का आदेश दिया। दोनों ओर के सैनिक चम्पापुरी के युद्धक्षेत्र में आ डटे। घमासान युद्ध होने वाला था। तभी साध्वी पद्मावती ने राजा करकण्डू और राजा दधिवाहन दोनों को समझाया। दोनों के पुत्र-पिता होने का रहस्योद्घाटन कर दिया। इससे दोनों में युद्ध के बदले परस्पर प्रेम का वातावरण स्थापित हो गया। राजा दधिवाहन ने हर्षित होकर अपने औरस पुत्र राजा करकण्डू को चम्पापुरी का राज्य सौंप दिया। स्वयं ने मुनि दीक्षा ग्रहण की।

करकण्डू राजा ने भी अपनी राजधानी चम्पा को ही बनाया और उक्त ब्राह्मण को उसी राज्य में एक ग्राम दिया। करकण्डू राजा को स्वभाव से गोवंश प्रिय था इसलिए उसने उत्तम गायें मंगवा कर अपनी गोशाला में रखीं। एक दिन राजा ने अपनी गोशाला में एक श्वेत और तेजस्वी बछड़े को देखा। राजा को वह बहुत ही सुहावना लगा। उसने आदेश दिया कि 'इस बछड़े को इसकी माता (गाय) का पूरा का पूरा दूध पिलाया जाए।' वैसा ही किया गया। इस तरह बढ़ते-बढ़ते वह बछड़ा पूरा जवान, बलिष्ठ और पुष्ट सांड हो गया।

बहुत वर्षों के बाद एक दिन राजा ने गोशाला का निरीक्षण किया तो उसी (बैल) सांड को एकदम कृश और अस्थिपंजरमात्र तथा दयनीय दशा में देख कर राजा को विचार हुआ कि 'वय, रूप, बल, वैभव और प्रभुत्व आदि सब नश्वर हैं। अतः इन पर मोह करना वृथा है। इसलिए मुझे इन सबसे मोह हटा कर नरजन्म को सफल करना चाहिए।' विरक्त राजा ने राज्य को तृण के समान त्याग दिया और स्वयं जिनशासन में प्रव्रजित हुए। दीक्षा के बाद करकण्डू राजर्षि अप्रतिबद्धविहारी बन कर तपश्चर्या की आराधना करते हुए अन्त में समाधिमरणपूर्वक देह-त्याग कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए। वे प्रत्येकबुद्ध सिद्ध हुए।

(२) **प्रत्येकबुद्ध : द्विमुख**—पांचालदेश में काम्पिल्यपुर में जयवर्मा राजा था। उसकी रानी गुणमाला थी। एक दिन आस्थानमण्डप में बैठे हुए राजा ने एक विदेशी दूत से पूछा—'हमारे राज्य में कौन-सी विशिष्टता नहीं है, जो दूसरे राज्य में है ?'

दूत ने कहा—'आपके राज्य में चित्रशाला नहीं है।'

राजा ने चित्रशिल्पियों को बुला कर चित्रशाला-निर्माण का आदेश दिया। जब चित्रशाला की नींव खोदी जा रही थीं, तब उसमें से एक अत्यन्त चमकता हुआ रत्नमय मुकुट मिला, राजा ने उसे पहन लिया। चित्रशाला का निर्माण पूर्ण होने पर राजा जब राजसिंहासन पर बैठते थे तब उस मुकुट के प्रभाव से दर्शकों को दो मुख वाले दिखाई देते थे। इसलिए लोगों में राजा 'द्विमुखराय' के नाम से प्रसिद्ध हो गए।

राजा के सात पुत्र और एक पुत्री थी। पुत्री का नाम मदनमंजरी था। जो उज्जयिनीनरेश चण्डप्रद्योतन को दी गई थी।

एक बार इन्द्रमहोत्सव के अवसर पर राजा ने नागरिकों को इन्द्रध्वज स्थापित करने का आदेश दिया। वैसा ही किया गया। पुष्पमालाओं, मणि, माणिक्य आदि रत्नों एवं रंगबिरंगे वस्त्रों से उसे अत्यन्त सुसज्जित किया गया। उस सुसज्जित इन्द्रध्वज के नीचे नृत्य, वाद्य, गीत होने लगे। सुगन्धित जल एवं चूर्ण उस पर डाला जाने लगा।

इस प्रकार विविध कार्यक्रमों से उत्सव की शोभा में वृद्धि देख राजा को अपार हर्ष हुआ। आठवें दिन उत्सव की समाप्ति होते ही समस्त नागरिक अपने वस्त्र, रत्न, आभूषण आदि को ले लेकर अपने घर आ गये। अब वहां सिर्फ एक सूखा ठूंठ बच गया था, जिसे नागरिकों ने वहीं डाल दिया था। उसी दिन राजा किसी कार्यवश उधर से गुजरा तो इन्द्रध्वज को धूल में सना, भूमि पर पड़ा हुआ तथा बालकों द्वारा घसीटा जाता हुआ देखा। इन्द्रध्वज की ऐसी दुर्दशा देख राजा के मन में विचार आया—'अहो! कल जो सारी जनता के आनन्द का कारण बना हुआ था, आज वही विडम्बना का कारण बना हुआ है। संसार के सभी पदार्थों—धन, जन, मकान, महल, राज्य आदि की यही दशा होती है। अतः इन पर आसक्ति रखना कथमपि उचित नहीं है। क्यों न मैं अब दुर्दशा की कारणभूत इस राज्यसम्पदा पर आसक्ति का परित्याग करके एकान्त श्रेयस्कारिणी मोक्ष-राज्यलक्ष्मी का वरण करूं?' राजा ने इस विचार को कार्यान्वित करने हेतु राज्यादि सर्वस्व त्याग स्वयं मुनिदीक्षा ग्रहण की। तत्पश्चात् प्रत्येकबुद्ध द्विमुख राज ने वीतरागधर्म का प्रचार करके अन्त में सिद्धगति प्राप्त की।

(३) **प्रत्येकबुद्ध नग्गतिराजा**—भरतक्षेत्र में क्षितिप्रतिष्ठित नगर के राजा जितशत्रु ने चित्रकार चित्रांगद की कन्या कनकमंजरी की वाक्चातुरी से प्रभावित हो कर उससे विवाह किया और उसे अपनी पटरानी बना

दिया। राजा और रानी ने विमलचन्द्राचार्य से श्रावकव्रत ग्रहण किये। चिरकाल तक श्रावक धर्म का पालन करके वे दोनों देवलोक में देव हुए। वहाँ से च्यव कर कनकमंजरी का जीव वैताढ्यतोरणपुर मे दृढ़शक्ति राजा की गुणमाला रानी से पुत्री रूप में उत्पन्न हुआ। नाम रखा गया कनकमाला। वासक नामक विद्याधर उसका अपहरण करके वैताढ्यपर्वत पर ले आया। कनकमाला के बड़े भाई कनकतेज को पता लगा तो वह वहाँ जा पहुँचा। वासव के साथ उसका युद्ध हुआ। उसमें दोनों ही मारे गए। इसी समय एक व्यन्तर देव आया, उसने भाई के शोक से ग्रस्त कनकमाला को आश्वासन देते हुए कहा कि 'तुम मेरी पुत्री हो।' इतने में कनकमाला का पिता दृढ़शक्ति भी वहाँ आ गया। व्यन्तर देव ने कनकमाला को मृततुल्य दिखाया, जिससे उसे संसार से विरक्ति हो गई। दृढशक्ति ने स्वयं मुनिदीक्षा ग्रहण कर ली। कनकमाला तथा उस देव ने उन्हें वन्दना की। अपना वृत्तान्त सुनाया। मुनिराज से व्यन्तरदेव ने क्षमायाचना की। जातिस्मरण ज्ञान से कनकमाला ने व्यन्तरदेव को अपना पूर्वजन्म का पिता जान कर उसने अपने भावी पति के विषय में पूछा तो उसने कहा—तुम्हारा पूर्वभव का पति जितशत्रु, देवलोक से च्यव कर दृढ़सिंह राजा के यहाँ सिंहरथ नामक पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ है। वही तुम्हारा इस जन्म में भी पति होगा। तदनुसार कनकमाला का विवाह सिंहरथ के साथ सम्पन्न हुआ। सिंहरथ को बार-बार अपने नगर जाना और वापस इस पर्वत पर आना होता था, इस कारण वह 'नग्गति' नाम से प्रसिद्ध हो गया।

उक्त व्यन्तरदेव (कनकमाला का पिता) विदा लेकर उक्त पर्वत से चला गया, तब सिंहरथ राजा ने कनकमाला को अपने पिता के वियोग का दुःखानुभव न हो, इस विचार से वहीं एक नया नगर बसाया। एक बार राजा कार्तिकी पूर्णिमा के दिन नगर से बाहर चतुर्विध सैन्यसहित गए। वहीं वन में एक स्थान पर पड़ाव डाला। राजा ने वहाँ एक आम्रवृक्ष देखा जो नये पत्तों और मंजरियों से सुशोभित एवं गोलाकार प्रतीत हो रहा था। राजा ने मंगलार्थ उस वृक्ष की एक मंजरी तोड़ ली। इसे देख कर पीछे-पीछे चलते समस्त सैनिकों ने उस वृक्ष की मंजरी व पत्ते आदि तोड़ कर उसे ठूंठ-सा बना दिया। राजा जब वन में घूम कर वापस लौटा तो वहाँ हराभरा आम्रवृक्ष न देख कर पूछा—'मंत्रिप्रवर! यहाँ जो आम का वृक्ष था, वह कहाँ गया?'

मंत्री ने कहा—'महाराज! इस समय यहाँ जो ठूंठ के रूप में मौजूद है, यही वह आम्रवृक्ष है।'

सारा वृत्तान्त सुन कर पहले के श्रीसम्पन्न आम्रवृक्ष को अब श्रीरहित देख कर संसार की प्रत्येक श्रीसम्पन्न वस्तु के क्षण-विनाशी स्वभाव पर विचार करते-करते नग्गति राजा को संसार से विरक्ति हो गई। उन्होंने प्रत्येकबुद्ध रूप में दीक्षा ग्रहण की। मुनि बन कर तप-संयम का पालन करते हुए समाधिमरणपूर्वक शरीरत्याग करके अन्त में सिद्धगति पाई।

इस प्रकार ये चारों ही प्रत्येकबुद्ध महाशुक्र नामक ७ वें देवलोक में १७ सागर की उत्कृष्ट स्थिति वाले देव हुए। वहाँ से च्यव कर एक समय में ही मुनिदीक्षा ली और एक ही साथ मोक्ष में गए।[1]

सौवीरराज उद्रायण ने प्रव्रजित होकर मुक्ति प्राप्त की

मूल—सोवीररायवसभो, चेच्चा रज्जं मुणीचरे।
उद्दायणो पव्वइओ, पत्तोगइमणुत्तरं ॥४७॥

छाया—सौवीर राजवृषभः, त्यक्त्वा राज्यं मुनिरचरत्।
उद्रायणः प्रव्रजितः, प्राप्तोगतिमनुत्तराम् ॥४७॥

पद्या०—सौवीरराज राजाओं में, था वृषभतुल्य नृप उद्रायण ॥
तज राज्य, प्रव्रज्या ले मुनि बन, कर लिया प्राप्त निर्वाण सदन ॥४७॥

अन्वयार्थ—**सोवीररायवसभो**—सौवीर राजाओं में वृषभ के समान महान्, **उद्दायणो**—उद्रायण राजा ने, **रज्जं चेच्चा**—राज्य का त्याग कर, **पव्वइओ**—प्रव्रज्या ग्रहण की, **मुणीचरे**—मुनिधर्म का आचरण किया, (और) **अणुत्तरं गइं**—अनुत्तर (श्रेष्ठ) गति को, **पत्तो**—प्राप्त किया ॥४७॥

भावार्थ—सौवीर राजाओं में वृषभ के समान महान् उद्रायण राजा ने राज्य का त्यागकर दीक्षा ली, मुनिधर्म का आचरण किया, और अनुत्तर गति प्राप्त की ॥४७॥

विवेचन—उद्रायण राजा की कथा—उद्रायण या उदायन भरत के अन्तर्गत सौवीरदेश का प्रमुख राजा था। वीतभय नगर उसके राज्य की राजधानी थी। वह सिन्धु-सौवीर आदि १६ जनपदों का तथा वीतभय आदि ३६३ नगरों का अधिपति और दस मुकुटबद्ध राजाओं का अधीश्वर था। उद्रायण की रानी प्रभावती का निधन भक्त प्रत्याख्यान करके समाधि-मरणपूर्वक हुआ था। वह मरकर देवलोक में देव हो गई। प्रभावती के जीव

देवरूप में आकर राजा उद्रायन को प्रतिबोध दिया, जिससे राजा ने जिन धर्म और श्रावकव्रत अंगीकार किये।

उद्रायण राजा के यहाँ एक कुब्जा दासी रहती थी। एकबार गान्धार देशवासी सत्यनामक एक श्रावक वीतभय नगर आया। वह राजा के यहाँ ठहरा। उसके पास एक देवी द्वारा दी हुई कामगुटिकाएँ थी। दैवयोग से उस श्रावक को प्रवल अतिसार रोग हो गया। कुब्जा दासी ने उसकी सेवा की, अतः जब वह स्वस्थ हुआ तो कुब्जा पर बड़ा प्रसन्न हुआ। कुब्जा दासी को वे कामगुटिकाएँ देकर गान्धार की ओर चला गया। उस सत्य नामक श्रावक ने कुब्जा को काम गुटिकाएँ प्रदान करते समय उनके गुण भी बता दिये थे कि इन गुटिकाओं के खाने से मनोवांछित कार्य की सिद्धि होती है। कुब्जा दासी एक गुटिका के खाने से अपने मनोरथ के अनुसार स्वर्णवर्णी बन गई। तब से उसका नाम 'सुवर्ण गुलिका' हो गया। एक दिन उसने मन में सोचा कि 'मैं विविध भोगसुखों का अनुभव करूं। उद्रायण राजा तो मेरे पिता तुल्य हैं, चण्डप्रद्योत राजा ही मेरे लिए योग्य हैं। 'ऐसा विचार करके चण्डप्रद्योत राजा को पाने का मन में ध्यान करके उसने दूसरी गुटिका खाई। गुटिका के प्रभाव से देवता ने चण्डप्रद्योत राजा को स्वप्न में उद्रायण राजा की स्वर्णगुलिका दासी और उसके मनोरथ का परिचय दिया। अतः स्वप्न के अनुसार चण्डप्रद्योत राजा अपने शीघ्रगामी अनिलगिरि हाथी पर चढ़कर दूसरे ही दिन रात्रि को आया और स्वर्णगुलिका दासी को अपने साथ लेकर उज्जयिनी लौट गया।

दूसरे दिन उद्रायण राजा को सूचना मिली कि स्वर्णगुलिकादासी कहीं दृष्टिगोचर नहीं हो रही है। राजा ने चारों ओर पता लगाने के लिए सेवक दौड़ाए। खोज करते समय अनिलगिरी हाथी के पैरों के चिह्न देखकर अनुमान लगाया गया कि चण्डप्रद्योत राजा दासी को रातोरात भगाकर उज्जयिनी ले गया है। उद्रायण राजा ने अपने दूत के साथ दासी को वापिस लौटाने का सन्देश चण्डप्रद्योत को भेजा। परन्तु चण्डप्रद्योत ने दासी को सौंपना स्वीकार नहीं किया। फलतः उद्रायण राजा अपनी सेना सहित इस अनीति पूर्ण अन्याय के प्रतीकार के लिए उज्जयिनी पहुँचे। दोनों राजाओं में यह शर्त हुई कि दोनों राजाओं में परस्पर द्वन्द्व युद्ध होकर फैसला कर लिया जाए, सेना को बीच में न लाया जाए। युद्ध में उद्रायण राजा ने चण्डप्रद्योत को जीवित पकड़ कर बांध लिया। उसके मस्तक पर **'मम दासी पति'** ये अक्षर अंकित करवा दिये। उज्जयिनी में अपने अधिकारियों को राज्य व्यवस्था के लिए नियुक्त करके राजा उद्रायन ने एक

काठ के पिंजरे में चण्डप्रद्योत को बंद कर अपने साथ लेकर सौवीर देश की ओर प्रस्थान किया।

मार्ग में पर्युषणपर्व होने से राजा ने सेनापति को १० दिन के लिए पड़ाव डालने का आदेश दिया। साथ में जो दस राजा थे वे धूल का कोट बनाकर ठहरे। उद्रायण राजा स्वयं जो भोजन करता था, वही चण्ड-प्रद्योत को खिलाता था। संवत्सरी के दिन राजा ने पौषधोपवास किया। रसोइये को उन्होंने चण्डप्रद्योत की इच्छानुसार भोजन बनाकर खिलाने का निर्देश दिया। परन्तु विष की आशंका से चण्डप्रद्योत ने भी भोजन ग्रहण नहीं किया। वह भी पौषध करने को तत्पर हुआ। सन्ध्या समय प्रतिक्रमण के पश्चात राजा उद्रायण ने चण्डप्रद्योत से क्षमायाचना की। परन्तु उसने बन्धनमुक्त न करने तक क्षमापना स्वीकार न की। फलतः धर्मनिष्ठ उद्रायण राजा ने असीम उदारता प्रकट करते हुए अवन्तिपति चण्ड प्रद्योत को बन्धनमुक्त किया। उसके मस्तक पर स्वर्णपट्ट बंधवा कर जीता हुआ उज्जयिनी का राज्य उसे पुनः लौटा दिया। इस प्रकार उद्रायण राजा ने क्षमापना का उच्च आदर्श संसार के समक्ष उपस्थित किया। तदनन्तर उद्रायण सेना सहित अपनी सेना के साथ अपने पट्टनगर वीतभय में लौट लाया और वहाँ न्यायनीति पूर्वक अपनी प्रजा का पालन करने लगा।

एक दिन उद्रायन राजा पौषधशाला में पौषधव्रत में थे, पिछली रात्रि में उनके मन में एक शुभ अध्यवसाय उत्पन्न हुआ कि वे ग्राम, नगर आदि धन्य हैं, जहाँ श्रमण भगवान् महावीर का पदार्पण होता हैं, जो लोग उनके धर्मोपदेश सुनते हैं और सुनकर अणुव्रत या महाव्रत ग्रहण करते हैं। भगवान वहां पधारें तो मैं भी उनके पास दीक्षा ग्रहण करूं। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान से उद्रायण का शुभ अध्यवसाय छिपा न रहा। वे कौशाम्बी से विहार करके वीतभय नगर के मृगवन उद्यान में पधारे। उनका दर्शन-वन्दन धर्म-श्रवण करने के लिए उद्रायण राजा भी पहुँचा। धर्मोपदेश सुनकर राजा संसार से विरक्त होगया। भगवान् से उन्होंने कहा—मैं अपना राज्य किसी को सौंपकर आपश्री के पास प्रव्रजित होना चाहता हूँ। प्रभु के श्रीमुख से "जहा सुहं देवाणुप्पिया !" सुनकर उद्रायण अपने राजप्रासाद आया। राज्य किसको सौंपू ? इस प्रश्न पर उसे एक विचार सूझा कि यदि मैं अपने पुत्र अभीचिकुमार को राज्य सौंपूंगा तो वह मनुष्य सम्बन्धी कामभोगों तथा राज्य में अत्यन्त आसक्त होकर अनन्त संसाराटवी में परिभ्रमण करेगा। अतः अच्छा तो यह होगा कि मैं अपने भगिनीपुत्र

केशीकुमार को राज्य सौंपूं। फलतः शुभमुहूर्त में केशिकुमार का राज्याभिषेक सम्पन्नकर उद्रायण ने भगवान् महावीर के समीप दीक्षा ग्रहण की।

दीक्षित होने के पश्चात् छट्ठ, अट्ठम, दशम, द्वादश, अर्धमासिक आदि अनेक तप करने से तथा पारणों में प्रायः अन्त-प्रान्त एवं नीरस आहार करने से उद्रायण मुनि के शरीर में बड़ी भीषण व्याधि उत्पन्न हो गई उद्रायण राजर्षि उन दिनों भगवदाज्ञा से अकेले विचरते थे। विचरण करते हुए वे वीतभय नगर पहुँचे। इस पर स्वार्थी मंत्रियों ने केशीकुमार से कहा—"मुनि उद्रायण परीषहादि से घबराकर साधुत्व छोड़कर आपका राज्य लेने आरहे हैं।" केशिकुमार ने पहले तो सरलभाव से कहा—राज मांगेंगे तो दे दूँगा।' परन्तु मंत्रियों ने उसे कूटनीतिक राजधर्म समझाया। अतः केशिकुमार ने मंत्रियों को अधिकार दे दिया कि वे अपनी इच्छानुसार व्यवस्था करे। मुनि उद्रायण को उन दिनों व्याधि के कारण दही सेवन करना पड़ता था। मंत्रियों ने उन्हें विषमिश्रित दही देने का षड्यन्त्र किया। कई बार देव के द्वारा सावधान किये जाने के उपरान्त भी अन्ततोगत्वा एक दिन देव के असावधान रहने पर उद्रायण राजर्षि ने भिक्षा में प्राप्त विषमिश्रित दही का सेवन कर लिया। उससे उनकी मरणासन्न स्थिति हो गई। अतः उन्होंने मासिक संल्लेखना संथारा किया और वे समभाव एवं समाधिपूर्वक आत्म-चिन्तन में लीन हो गये। शुक्ल ध्यान के परिणामस्वरूप उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। उद्रायण राजर्षि जन्म, जरा-मरण, आदि से मुक्त हो अन्त में निर्वाण को प्राप्त हुए।

उनके पुत्र अभीचिकुमार के मन में पिता के प्रति असन्तोष का एक शल्य था कि उन्होंने उसे राज्य न सौंपकर अपने भानजे केशीकुमार को राज्य क्यों सौंपा? इस मानसिक दुःख से ग्रस्त होकर वह राजगृह छोड़कर चम्पानगरी में कोणिक राजा के पास रहने लगा। यद्यपि अभीचिकुमार जीवाजीवादि तत्वज्ञ श्रमणोपासक था परन्तु उद्रायणराजर्षि के प्रति मन में वैरभाव हो गया था। उस शल्य की आलोचना किए बिना ही अर्धमासिक संल्लेखनापूर्वक वह काल धर्म पाकर असुरकुमार देव बना। भविष्य में वे महाविदेह क्षेत्र में सिद्ध-बुद्ध मुक्त होंगे।

सत्यपराक्रमी काशीराज कर्ममुक्त हुए—

मूल—तहेव कासीराया, सेओ-सच्च-परक्कमो।
कामभोगे परिच्चज्ज, पहणे कम्म-महावणं ॥४८॥

छाया—तथैव काशीराजः, श्रेयः-सत्य-पराक्रमः ।
काम-भोगान् परित्यज्य, प्राहन् कर्म-महावनम् ॥४८॥

पद्या०=वैसे ही काशी के राजा, कल्याण सत्यहित वलवाले ।
परित्याग विपयभोगों का कर, उच्छेद कर्मवन कर डाले ॥४८॥

अन्वयार्थ—तहेव—इसी प्रकार, सेओ-सच्च-परक्कमो—श्रेय और सत्य में पराक्रमी, कासीराया—काशीराज ने, काम-भोगे—काम-भोगों का, परिच्चज्ज—परित्याग कर, कम्म-महावणे—कर्मरूपी महावन को, पहणे—नष्ट कर डाला ॥४८॥

भावार्थ—इसी प्रकार श्रेय और सत्य के लिए पराक्रमी वनकर काशीराज ने कामभोगों का परित्याग करके कर्मरूपी महावन को उच्छेद कर दिया ॥४८॥

विवेचन—काशीराज की कथा—वाराणसी में अग्निशिख राजा की जयन्ती नाम की पटरानी की कुक्षि से नन्दन नामक सप्तम वलदेव उत्पन्न हुआ। उसका छोटा भाई शेपवती रानी का पुत्र दत्त नाम का वासुदेव था। पिता ने दत्त को अपना राज्य सौंपा। उसने अपने भाई नन्दन के सहयोग से भरत क्षेत्र के तीन खण्ड साधकर राज्यलक्ष्मी का उपभोग किया। छप्पन हजार वर्प का आयुष्य पूर्ण करके दत्त राजा मरकर पंचम नरक में गया। काशीपति नन्दन राजा ने सर्वस्व त्यागकर श्रमणदीक्षा अंगीकार की और रत्नत्रय की साधना के फलस्वरूप केवल ज्ञान प्राप्त कर ६५ हजार वर्प का आयुष्य भोगकर मोक्ष पधारे।

सेओ-सच्चपरक्कमो : दो अर्थ—(१) श्रेय और सत्य में पराक्रमी=पुरुपार्थी। (२) श्रेय अर्थात्—कल्याणकारक, सत्य अर्थात्—संयम, अतः कल्याणकारक सत्य के विपय में पराक्रमी अर्थात्—मोक्षदायक चारित्रधर्म में दृढ़वीर्यवान्—प्रवल पुरुपार्थी।

महायशस्वी विजयराजा गुणसमृद्ध राज्य त्यागकर प्रव्रजित—

मूल—तहेव विजओ राया, अणट्ठा-कित्ति पव्वए ।
रज्जं तु गुणसमिद्धं, पयहित्तु महाजसो ॥४९॥

छाया—तथैव विजयो राजा, अनप्ट-कीर्तिः-प्राव्रजत् ।
राज्यं तु गुणसमृद्धं, प्रहाय महायशाः ॥४९॥

पद्या०—ऐसे ही निर्मल कीर्तिमान्, नृप विजय महायश के धारी ।
गुण से समृद्ध भू राज्य छोड़, जिन-दीक्षा मन से स्वीकारी ॥४९॥

अन्वयार्थ—**तहेव**—इसी प्रकार, **अणट्ठाकित्ति**—अविनाशी (अमर) कीर्ति वाला, **महाजसो**—महायशस्वी, **विजओ राया**—विजय राजा, **गुणसमिद्धं**—गुण समृद्ध, **रज्जं तु**—राज्य को, **पयाहित्तु**—छोड़कर, **पव्वए**—प्रव्रजित हुआ ॥४९॥

भावार्थ—इसीप्रकार अमरकीर्ति के धनी महान् यशस्वी विजय राजा ने गुणों से समृद्ध अपने राज्य का परित्याग करके प्रव्रज्या ग्रहण की ॥४९॥

विवेचन—**विजय राजा की कथा**—द्वारावती में ब्रह्मराज का पुत्र एवं सुभद्रा रानी का अंगज विजय नामक दूसरा बलदेव हुआ। उसने अपने छोटे भाई द्विपृष्ठ वासुदेव की (७२ हजार वर्ष का आयुष्य भोगकर) मृत्यु होने पर श्रमणदीक्षा अंगीकार की। क्रमशः केवलज्ञान प्राप्त कर ७५ लाख वर्ष का आयुष्य पूर्ण करके मुक्ति प्राप्त की।

गुण-समिद्ध : दो अर्थ—गुण अर्थात्—राज्य के सात अंग—(१) स्वामी, (२) अमात्य, (३) सुहृद, (४) कोश, (५) राष्ट्र (६) दुर्ग, और (७) बल=सैन्य, इन सातों अंगों (गुणों) से समृद्ध=परिपूर्ण, अथवा (२) गुणों अर्थात्—इन्द्रियों के काम्यविषयों से समृद्ध—परिपूर्ण।

उग्रतपस्वी महाबल राजर्षि ने सिद्धरूप शीर्षस्थान प्राप्त किया—

मूल—**तहेवुग्गं तवं किच्चा, अव्वक्खित्तेण चेयसा।**
महाबलो रायरिसी, अद्दाय[1] सिरसा सिरं ॥५०॥

छाया—तथैवोग्रं तपःकृत्वा, अव्याक्षिप्तेन चेतसा।
महाबलो राजर्षिः, अवदाय शिरसा शिरः ॥५०॥

पद्या०—वैसे राजर्षि महाबल ने, आकुलताहीन हृदय होकर।
कर उग्र तपस्या शिर देकर, पा लिया मोक्ष साधक बनकर ॥५०॥

अन्वयार्थ—**तहेव**—इसी प्रकार, **अव्वक्खित्तेण चेयसा**—अव्याक्षिप्त-अव्यग्र चित्त से, **उग्गं तवं**—उग्र तप, **किच्चा**—करके, **महाबलो रायरिसी**—महाबल राजर्षि ने, **सिरसा**—सिर देकर उससे, **सिरं**—सिर=शीर्षस्थानीय मोक्ष पद, **अद्दाय**—ग्रहण (प्राप्त) किया ॥५०॥

भावार्थ—इसी प्रकार अव्याकुल चित्त से उग्र तपश्चर्या करके राजर्षि

---

१ पाठान्तर : आदाय सिरसा सिरिं, अर्था-मस्तक से श्री=चारित्रलक्ष्मी को ग्रहण करके।

तक हम जीवित हैं, तब तक तू घर में रह। हमारे मरने के पश्चात् तू कुल-सन्तान की वृद्धि करके दीक्षा ले लेना।"

तब कुमार महाबल ने कहा—माताजी! आपका कथन मोह से पूर्ण है। मोहवश ही आप ऐसा कह रही हैं। परन्तु मनुष्यभव जन्म, जरा, मृत्यु, शोक इत्यादि से अभिभूत एवं सन्ध्याकालीन बादल की तरह क्षणिक है, इस नाशवान मनुष्य तन से मुझे लेशमात्र भी प्रीति नहीं है। माताजी! किसे ज्ञात है कि कौन पहले जाएगा, कौन पीछे? अतः मैं तो यथाशीघ्र प्रव्रज्या ग्रहण करूँगा।"

माँ ने कहा—अभी तो तू यौवन के सिंहद्वार पर आया है, तेरे इस रूपवान् शुभलक्षण सम्पन्न, रोगरहित और सुखभोग के योग्य शरीर तथा यौवन के गुणों का अनुभव कर, तदनन्तर दीक्षा ले लेना। अभी तो तू मनोऽनुकूल, पूर्ण अनुरक्त, क्षमा विनय आदि गुणों से युक्त विशुद्धकुल-शील वाली इन आठ नवोढा पत्नियों के साथ काम-भोगके सुखों का अनुभव कर, वृद्धावस्था में दीक्षा लेना।'

इसके उत्तर में महाबल ने कहा—माताजी! यह शरीर क्षण-क्षण परिवर्तनशील, नाशवान् विविध घोर दुःखों का घर, अनेक व्याधियों से ग्रस्त, हड्डी-मांस का पुतला है, इस पर मोह करने से कोई लाभ नहीं, फिर जितने भी मनुष्य-सम्बन्धी कामभोग हैं, वे सब उच्चार, प्रस्रवण, श्लेष्म, वातपित्तादि के आश्रयभूत शुक्र-शोणित से उद्भूत हैं, उनमें क्रीड़ा सुख तो स्वल्प और उपद्रव अत्यधिक है। परिणाम में वे घोरातिघोर दुःखदायक एवं सिद्धि विघातक हैं। अतः मैं तो शीघ्र ही दीक्षा ग्रहण करूँगा।"

इस प्रकार माता-पिता ने संयम, तप, परीषह श्रमण जीवन आदि के बहुत-से कष्टों का भय दिखाया, किन्तु राजकुमार महाबल प्रव्रज्या लेने के अपने अटल निश्चय पर निश्चल रहा। अन्त में माता-पिता की अनुमति पाकर उसने धर्मघोष अनगार से भागवती दीक्षा अंगीकार करली। लोगों ने उसे धन्यवाद दिया। दीक्षा लेकर महाबलमुनि ने गुरु के सान्निध्य में रहकर ग्रहण-शिक्षा और आसेवना-शिक्षा ली। पाँच महाव्रतों का विशुद्ध रूप से पालन करने लगे। क्रमशः चतुर्दश पूर्वधारी बने। विविध प्रकार के उत्कृष्ट तप, संयम से आत्मा को भावित करने लगे। मासिक संलेखनापूर्वक आलोचना प्रतिक्रमण करके समाधिमरण प्राप्त किया। ब्रह्मलोक में देव हुए। वहाँ से च्यवकर वाणिज्यग्राम में श्रेष्ठिपुत्र सुदर्शन हुए। भगवान महावीर के चरणों में प्रव्रजित होकर मुक्ति प्राप्त की।

धीरे—धीर साधक, **अहेऊहिं**—एकान्तवादी अहेतुवाद में, **अत्ताणं**—अपने आपको, **कहं**—कैसे ? **परियावसे**—लगाए ? (जो) **सव्व-संग-विनिम्मुक्के**—सभी संगों से विनिर्मुक्त हो, (वही) **नीरए**—नीरज—कर्मरज से रहित होकर, **सिद्धे**—सिद्ध (मुक्त). **हवइ**—होता है ।

त्तिबेमि—ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाव-विवेचन—उपदेश का सार और फलश्रुति–क्षत्रिय राजर्षि द्वारा संजय राजर्षि को पूर्वोक्त गाथाओं में जो उपदेश दिया गया था उसका निष्कर्ष एवं उसकी फलश्रुति इन तीन गाथा संख्या ५१, ५२ और ५३ द्वारा प्रतिपादित की गई है ।

इनका फलितार्थ यह है, कि क्षत्रिय राजर्षि कहते हैं—हे संजय मुने ! भरत चक्रवर्ती आदि पूर्वोक्त जितने भी शूरवीर एवं संयम में स्थिर पुरुषार्थी राजा हुए हैं, उन्होंने अन्य मिथ्यादर्शनी धर्मशासनों की अपेक्षा जिनशासन की विशेषता देखकर ही जिनशासन में प्रव्रज्या ली थी । तुम यह नहीं समझना कि भूपालों में तुम्हीं प्रथम दीक्षित हुए हो । तुम्हारे पहले कई षट्खंडाधिपती सम्राटों ने भी जिनशासन की दीक्षा ग्रहण की है । ऐसा समझकर एकान्त क्रिया-अक्रिया—विनय—अज्ञानरूप अहेतुवादों से प्रेरित होकर अथवा उनके सुहेतुरहित विपरीत भाषणों के चक्कर में पड़कर कौन धीर वीर मद्यपायी की भाँति उन्मत्त-सा होकर जन्म-जरा-मृत्यु के घोर दुःखों से ओत-प्रोत इस भूमण्डल में भटकता रहेगा ? मैं (क्षत्रिय मुनि) फिर कहता हूँ कि धीर साधक एकान्तदृष्टिमय अहेतुवादों में अपने आपको क्यों लगाएगा ? अपनी आत्मा को ऐसे कुत्सित हेतुओं का आवास (अड्डा) क्यों बनाएगा ?

मैंने पूर्वज महापुरुषों द्वारा विशेषरूप से अपनाए हुए जिनोक्त मोक्ष-मार्ग का जो उपदेश तुम्हें दिया है वह (अक्षरशः) शतप्रतिशत सत्य हैं, साथ ही वह युक्ति, सूक्ति और अनुभूति की कसौटी पर कसा हुआ है, अथवा वह—अतीव युक्तियुक्त है ।

भूतकाल में इसी मार्ग पर चलकर अनेकों साधक संसारसमुद्र से पार हुए हैं, वर्तमान में पार हो रहे हैं और भविष्य में पार होंगे । अतः जो द्रव्य-भावरूप सभी संगों-संयोगों से पूर्णतः निर्मुक्त होता है, वही धीर साधक सर्वकर्मों से रहित होकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है । संजय मुने ! तुम्हें भी इन एकान्त अहेतुवादों के कुचक्र में न फँसकर धीर बनकर विशिष्ट

जिनोपदिष्ट मार्ग पर पूर्वज महापुरुषों की तरह चलना चाहिए उसी मार्ग में अपना चित्त स्थिर करना चाहिए।

उपाय—इसके तीन प्रमुख उपाय हैं—

(१) एकान्त अहेतुवादों से दूर रहो।
(२) समस्त द्रव्य-भावसंग—परित्याग करो, और
(३) कर्मों से मुक्त होने का प्रयत्न करो।

फल—इस मार्ग को अपनाने का फल है—सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होना।

अच्चंत नियाण-खमा : दो अर्थ—(१) निदान=युक्तियों को सहने में अत्यन्त क्षम=समर्थ, अथवा (२) अत्यन्तनिदान अर्थात्—कर्मफलशोधन में, क्षम=समर्थ या सावधान। निदान शब्द यहाँ 'दैप् शोधने' इस धातु से **'दीयते शोध्यते-पवित्रीक्रियतेऽनयेति निदानम्'**—इस अर्थ में बना है।

□□

मृगापुत्रीय : उन्नीसवाँ अध्ययन

[अध्ययन–सार]

प्रस्तुत अध्ययन का नाम है—मृगापुत्रीय ! मृगापुत्र का जीवन-वृत्तान्त उल्लिखित होने से इस अध्ययन का नाम 'मृगापुत्रीय' पड़ा है। इस अध्ययन में मुख्य प्रतिपाद्य दो सत्य हैं, जिनसे मृगापुत्र ने उन लोगों की शंकाओं का सदा-सदा के लिए समाधान कर दिया है, जो यह कहते हैं कि संयम-पालन में या मुनिधर्म के आचरण में वहुत कष्ट है, पद-पद पर दुःख है, चिकित्सादि सेवा न ले सकने के कारण वहुत पराधीनता व विवशता है।

मृगापुत्र ने प्रथम शंका का समाधान अपने पूर्वजन्मों की स्मृति के आधार पर वहुत ही विशद रूप से कर दिया है कि नरकादि दुर्गतियों में तो संयम के इन कष्टों एवं दुःखों से अनन्तगुने अधिक कष्ट एवं दुःख हैं, जिन्हें सुनकर ही मनुष्य रोमांचित एवं भयभीत हो उठता है।

दूसरी शंका का समाधान—वन में स्वतंत्र एवं एकाकी विचरणशील मृग की चर्या पर से दिया है कि वन में रुग्ण हो जाने पर कौन उसकी परिचर्या करता है ? कौन उसे औषध लाकर देता है ? कौन उसे आहार या पानी देता है ? वह प्रकृति पर निर्भर रहता है। रुग्ण होने पर स्वयं खाना-पीना बंद कर देता है, स्वस्थ हो जाने पर वह स्वयं चलकर चारागाह और जलाशय की ओर जाता है, वहाँ यथेच्छ आहार-पानी सेवन करके आनन्द से अपना जीवन-यापन करता है। यही मृगचर्या मुनि के लिये उपादेय है। मृगचर्या का आचरण करने से मुनि को भी परवशता एवं असहायता का अनुभव नहीं होता, वल्कि उपवास आदि तपश्चरण के द्वारा वह अपने अशुभकर्मों की निर्जरा भी कर लेता है।

मृगापुत्र के द्वारा स्वानुभूत इन सत्यों के पीछे घटना इस प्रकार है—

सुग्रीवनगर के राजा वलभद्र और रानी मृगावती का आत्मज राजकुमार 'वलश्री' था। माता के नाम पर 'वलश्री' का 'मृगापुत्र' नाम ही अधिक प्रचलित हो गया था।

एक बार राजकुमार मृगापुत्र अपने महल के झरोखे में बैठे-बैठे नगर के तिराहे, चौराहे और चौक में होने वाले दृश्यों एवं घटनाओं को देख रहा था। राज-मार्गों पर लोगों की अच्छी-खासी भीड़ थी। लोगों का आवागमन जारी था। तभी मृगापुत्र की दृष्टि एक तेजस्वी; प्रशान्त एवं संयमनिष्ठ साधु पर पड़ी। साधु को वह मंत्रमुग्ध सा एकटक देखने लगा। देखते-देखते ही मृगापुत्र के अन्तर में चिन्तन चलने लगा कि मैंने इन्हें पहले भी कई बार देखा है। इस जन्म की कोई घटना याद नहीं आ रही थी। चिन्तन की गहराई में उतरने पर उसकी सुप्तस्मृति जागृत हो गई। पूर्व-जन्म की स्मृति होते ही उसे चलचित्र की तरह स्पष्ट दिखाई देने लगा कि मैं पूर्वजन्म में ऐसा ही साधु था। मैं सांसारिक भोगों को निःसार समझ कर इसी प्रकार का निर्ग्रन्थ साधु बना था। बस, इस पर से मृगापुत्र को पूर्वसंस्कारवश सांसारिक भोग एवं परिजन बन्धनरूप प्रतीत होने लगे। उसने गृह त्यागकर मुनि बन जाने का मन ही मन निश्चय कर लिया। वह माता-पिता के पास पहुँचा और कहने लगा—"मेरा मन अब इस गृहवास में, भोगों में और सांसारिक राग-रंग में बिलकुल नहीं लग रहा है। मैं निर्ग्रन्थ साधु बनूँगा, आप मुझे श्रमण धर्म में दीक्षा लेने की अनुमति दीजिए।"

माता-पिता ने मृगापुत्र को विविध प्रकार से, विविध युक्तियों और उपमाओं से समझाया कि "श्रमणचर्या अत्यन्त कष्टों से भरी है, क्षुधा-तृषा आदि से लेकर अदर्शन तक बाईस परीषहों का पद-पद पर सामना करना पड़ता है, पाँच महाव्रतों तथा रात्रिभोजनत्याग का पालन करना भी अतीव दुष्कर है। मधुकरवृत्ति या कापोतीवृत्ति, केशलोच, पाद-विहार एवं भिक्षावृत्ति अत्यन्त कष्टकर है। तुम जैसे सुकुमार एवं सुख में पले हुए व्यक्ति के लिए श्रमणत्व सुकर नहीं है। फिर संयम नीरस है, रेत के कौर की तरह निःस्वाद है, लोहे के जौ चबाने के समान, अग्निज्वाला का पान करने के समान, मेरु को तराजू से तोलने के समान अथवा भुजाओं से समुद्र को तैरने के समान अतीव दुष्कर है। अतः अभी संयम लेने का विचार छोड़ो। भुक्तभोगी बनकर दीक्षा ग्रहण करना।"

इस पर मृगापुत्र ने उन्हें अपने पूर्वजन्मों की स्मृतियों के आधार पर नरक के भयंकर से भयंकर दारुण दुःखों को भोगने की आपबीती कह सुनाई, तिर्यंचगति और मनुष्यगति के दुःखों का भी अनुभव सुनाया। वर्णन काफी रोमांचक एवं प्रेरणादायक है।

नरकों के दुःखों का रोमांचक वर्णन सुनकर माता-पिता का हृदय पसीज उठा। वे दीक्षा के लिए सहमत हो गये। फिर भी पुत्र के प्रति ममत्व के कारण उन्होंने कहा—"पुत्र! साधुजीवन परिवार और समाज से अलग-अलग और असहाय—असंग होता है, उसमें रोग, संकट आदि का कोई कष्ट आ पड़ने पर कौन चिकित्सा एवं सेवा-शुश्रूषा करेगा?"

मृगापुत्र ने वन में रहने और स्वतंत्र विचरण करने वाले मृगों की चर्या का दृष्टान्त देते हुए कहा—"वन में उस रुग्ण मृग की कौन सेवा करता है? कौन उसे आहार-पानी, दवा आदि लाकर देता है? वह कैसे एकाकी और अपने आप में मस्त रहता है? जब वह स्वस्थ हो जाता है, तब स्वयं ही आहार-पानी की खोज में जाता है, यथेच्छ आहार-पानी लेकर आनन्द से जीवन-यापन करता है। मैं भी मृगचर्यावत् अपनी जीवनयात्रा स्वतंत्रता पूर्वक चलाऊंगा।"

मृगापुत्र के दृढ़ संकल्प और तीव्र वैराग्य को देख माता-पिता उसे गृहवास में रोक न सके। उन्होंने दीक्षा की अनुमति दे दी।

मृगापुत्र समस्त सांसारिक विषयों तथा परिजनों के ममत्व बन्धनों को तोड़कर संयमयात्रा के लिए निकल पड़ा।

वह साधु जीवन के महाव्रतादि २७ गुणों एवं क्षमादि दस धर्मों से युक्त हो गया। लाभालाभ, सुख-दुःख, मानापमान, निन्दा-प्रशंसा आदि द्वन्द्वों में समभावी, अनासक्त और अप्रतिबद्ध होकर रत्नत्रय की उत्कृष्ट साधना के पश्चात् मृगापुत्र ने सिद्धि प्राप्त की।

□□

माता-पिता को, **दइए**—दयित=प्रिय था। (तथा वह) **जुवराया**—युवराज था, (और) **दमीसरे**—दमीश्वर (शत्रुओं को दमन करने वालों का अधिपति) था ॥२॥

सो उ—वह, **निच्चं**—सदा, **मुइयमाणसो**—प्रसन्नचित्त होकर, **नंदणे पासाए**—नन्दन प्रासाद (आनन्ददायक राजमहल) में, **दोगुन्दगो देवो चेव**—दोगुन्दग देव की तरह, **इत्थिहिं सह**—स्त्रियों के साथ, **कीलए**—क्रीड़ा करता था ॥३॥

भावार्थ—कानन और उद्यानों से सुशोभित 'सुग्रीव' नामक सुरम्य नगर में 'बलभद्र' राजा था। 'मृगा', उसकी अग्रमहिषी-पटरानी थी ॥१॥

उनके 'बलश्री' नामक पुत्र था, जो 'मृगापुत्र' नाम से प्रसिद्ध था। वह माता-पिता का प्रिय था, वह युवराज था और दमीश्वर था ॥२॥

वह नन्दन (आनन्दप्रद) राजमहल में सदैव प्रसन्नचित्त से दोगुन्दक देव की तरह रमणियों के साथ क्रीड़ा करता था ॥३॥

विवेचन : काणणुज्जाण-सोहिए—**कानन** अर्थात् आम्र आदि बड़े-बड़े वृक्षों वाला वन, **उद्यान** का अर्थ है—विविध पुष्पवृक्षों (फूल वाले पौधों) और लताओं वाला बाग, अथवा क्रीड़ायोग्य वन।[1] काननों और उद्यानों से सुशोभित।

मियापुत्ते त्ति विस्सुए—मृगा महारानी (माता) का पुत्र होने से लोग उसे मृगापुत्र कहते थे। इसी नाम से वह प्रसिद्ध हो गया था। मृगापुत्र का मूल नाम तो 'बलश्री' था। प्राचीन युग में बहुविवाह-प्रथा होने के कारण पुत्रों के नाम, पहचानने की दृष्टि से, माता के नाम पर प्रचलित हो जाते थे। जैसे कि पृथा का पुत्र पार्थ, कुन्ती का पुत्र कौन्तेय आदि।

जुवराया : दो अर्थ—(१) युवराज=युवा राजा, राजा का भावी उत्तराधिकारी, (२) युवराज का दूसरा अर्थ है—कुमार पदधारी। अर्थात् पिता के जीवित रहते राज्य-योग्य ज्येष्ठ कुमार को युवराज कहा जाता था।

दमीसरे : तात्पर्य—दमीश्वर का शब्दशः अर्थ होता है—इन्द्रियों और मन का दमन—उपशमन करने वाले दमियों—साधुओं का ईश्वर अर्थात् प्रमुख या अधिपति; किन्तु अभी तो मृगापुत्र कुमारावस्था में था, दीक्षित नहीं हुआ था, और प्रव्रजित होने से पहले ही यहाँ शास्त्रकार ने उसके लिए दमीश्वर विशेषण लगाया है, वह भावी में भूत का उपचार

---

१ सुखबोधा, पत्र २६०

करके कहा गया है। अथवा यहाँ द्रव्यनिक्षेप समझना चाहिए। जैसे भविष्य में जिन होने वाले 'द्रव्यजिन' को 'जिन' कहा जाता है।

नंदणे पासाए—नन्दनप्रासाद का विशेषार्थ है—ऐसा राजमहल जो वास्तुशास्त्र में कथित विशिष्ट लक्षणों से युक्त हो।

दोगुन्दक देव : दो मान्यताएँ—त्रायस्त्रिंश जाति के देवों को दोगुन्दक देव कहते हैं। इसके विषय में दो मान्यताएँ हैं—

(१) शान्त्याचार्य के अनुसार—नित्य भोगपरायण, तथा

(२) लक्ष्मीवल्लभगणी के अनुसार—इन्द्र के पूज्य-स्थानीय देव।

मृगापुत्र को मुनिदर्शन से जातिस्मरणज्ञान—

मूल—**मणिरयणकुट्टिम-तले, पासायालोयणट्ठिओ।**
आलोएइ नगरस्स, चउक्क-तिय-चच्चरे ॥४॥

अह तत्थ अइच्छंतं,[1] पासई समण-संजयं।
तव-नियम-संजमधरं, सीलड्ढं गुण-आगरं ॥५॥

तं देहई[2] मियापुत्ते, दिट्ठीए अणिमिसाए उ।
कहिं मन्नेरिसं रूवं, दिट्ठपुव्वं मए पुरा ॥६॥

साहुस्स दरिसणे तस्स, अज्झवसाणम्मि सोहणे।
मोहं गयस्स संतस्स, जाईसरणं समुप्पन्नं ॥७॥

देवलोग-चुओ संतो, माणुसं भवमागओ।
सन्निनाणे समुप्पण्णे, जाइं सरइ पुराणयं ।卐॥[3]

छाया—मणिरत्न-कुट्टिम-तले, प्रासादालोकन-स्थितः।
आलोकयति नगरस्य, चतुष्क-त्रिक-चत्वराणि ॥४॥

अथ तत्राऽतिगच्छन्तं, पश्यति श्रमण-संयतम्।
तपो-नियम-संयमधरं शीलाढ्यं गुणाकरम् ॥५॥

तं पश्यति मृगापुत्रः, दृष्ट्याऽनिमेषया तु।
कुत्र मन्ये ईदृशं रूपं, दृष्टपूर्वं मया पुरा ॥६॥

साधोर्दर्शने तस्य, अध्यवसाने शोभने।
मोहं गतस्य सतः, जातिस्मरणं समुत्पन्नम् ॥७॥

पाठान्तर—१. तत्राऽतिक्रामन्तं (छाया) २. पेहइ (आ. वृ.)

३. 卐 यह गाथा प्रक्षिप्त मालूम होती है।'—संपादक

देवलोकाच्च्युतः सन् मानुषं भवमागतः ।
संज्ञिज्ञाने समुत्पन्ने, जातिं स्मरति पौराणिकीम् ।।卐।।

पद्या०—मणि-रत्न-जटित आंगन वाले, उस रम्य सौध वातायन में ।
बैठा, पुर के चौराहों त्रिक, चत्वर को देख रहा धुन में ।।४।।

तप, नियम और संयमधारी, भरपूर शील-गुण का आकर ।
देखा, उसने पथ पर जाते, अतिक्षमाशील संयत मुनिवर ।।५।।

एकदृष्टि से देख साधु को, मृगापुत्र मन ध्यान दिया ।
देखा ऐसा रूप कहीं, चिन्तन से पर्दा दूर किया ।।६।।

उसको संयति के दर्शन से, शुभभाव चित्त में उदय हुए ।
हो मोहभाव की मूर्च्छा में, अंक पूर्वजन्म के उदय हुए ।।७।।

देवलोक से च्युत होकर, इस मानुषभव में वह आया ।
समनस्क ज्ञान के होने पर, प्राचीन जन्म की स्मृति पाया ।।卐।।

अन्वयार्थ—(एक दिन मृगापुत्र) **मणि-रयण-कुट्टिमतले**—मणि और रत्नों से जटित कुट्टिमतल—फर्श वाले, **पासायालोयणट्ठिओ**—प्रासाद के आलोकन (गवाक्ष) में बैठा-बैठा, **नगरस्स**—नगर के, **चउक्क-तिय-चच्चरे**—चौराहों, तिराहों और चौहट्टों को, **आलोएइ**—देख रहा था ।।४।।

अह—इसके पश्चात् (मृगापुत्र ने), **तत्थ**—वहाँ (राजपथ) पर, **अइच्छंतं**—जाते हुए, **तव-नियम-संजमधरं**—तप, नियम और संयम के धारक, **सीलड्ढं**—शील से समृद्ध (तथा), **गुण-आगरं**—गुणों के आकर (खान), (एक) **समण-संजयं**—संयमी श्रमण को, **पासई**—देखा ।।५।।

(मृगापुत्र) **तं**—उस (मुनि) को, **अणिमिसाए उ दिट्ठीए**—अनिमिप (अपलक) दृष्टि से, **देहई**—देखता है, (और सोचता है—) '**मन्ने**—मैं मानता हूं कि, **एरिसं रूवं**—ऐसा रूप, **मए**—मैंने, **पुरा दिट्ठपुव्वं**—इसके पूर्व (भी कहीं) देखा है ।' ।।६।।

साधुस्स—साधु के, **दरिसणे**—दर्शन से, **तस्स**—उस मृगापुत्र के, **अज्झवसाणम्मि सोहणे**—अध्यवसायों (भावों) के शुद्ध हो जाने पर, (पूर्वोक्त ऊहापोहरूप) **मोहं गयस्स संतस्स**—मोह को प्राप्त (मूर्च्छित) हुए (मृगापुत्र को) **जाइसरणं**—जातिस्मरण ज्ञान, **समुप्पन्नं**—समुत्पन्न हुआ ।।७।।

सन्निनाणे समुप्पण्णे—संज्ञि (समनस्क) ज्ञान उत्पन्न होने पर, (वह) **पुराणयं जाइं**—पूर्वजन्म (पूर्वभव की जाति) को, **सरइ**—स्मरण करता है कि—

(मैं) **देवलोगा**—देवलोक से, **चुओ संतो**—च्युत होकर, **माणुस्सं भवं**—मनुष्यभव में, **आगओ**—आया हूं ।।卐।।

भावार्थ—एक दिन मृगापुत्र अपने राजमहल के मणि और रत्न जटित फर्श वाले झरोखे में बैठा हुआ नगर के चौराहों, तिराहों और चौहट्टों को देख रहा था ।।४।।

तभी उसने वहाँ से राजपथ पर जाते हुए, तप, नियम और संयम के धारक, शीलसम्पन्न, गुणों की खान, एक संयमी श्रमण को देखा ।।५।।

मृगापुत्र ने उस मुनि को अपलक दृष्टि से देखा और मन ही मन सोचने लगा कि—'मुझे स्मरण है—ऐसा रूप मैंने इसके पूर्व भी कहीं देखा है । ।।६।।

[मुनि के दर्शन से मृगापुत्र के अध्यवसाय शुद्ध हुए,] तब ऊहापोह करते हुए मूर्च्छा-मोहको प्राप्त हुआ और उसे जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हो गया ।।७।।

संज्ञि-ज्ञान के उत्पन्न होने पर वह पूर्वजन्म का स्मरण करता है कि 'मैं देवलोक से च्युत हो (आयुष्य पूर्ण) कर मनुष्यभव में आया हूँ' ।।卐।।

विवेचन—नयरस्स चउक्क आलोएइ : भावार्थ—मृगापुत्र नगर के चौक, तिराहे और चौहट्टों पर हो रहे कौतूहलों को देख रहा था ।

श्रमण के विशेषणों की व्याख्या—पंचम गाथा में श्रमण के पांच विशेषण दिये गए हैं, उनकी व्याख्या क्रमशः इस प्रकार है—(१) **तव-नियम सँजमधरं**—तप का अर्थ है वाह्य और आभ्यन्तर भेद से वारह प्रकार के तप, नियम का अर्थ है—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से अभिग्रह ग्रहण करना, तथा १७ प्रकार का संयम, यों तप, नियम और संयम के धारक, (२) **सीलड्ढं**—अठारह हजार शीलांगों—ब्रह्मचर्य के भेदों—से आढ्य—पूर्ण । (३) **गुण-आगरं**—गुणों—ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप गुणों-के आकर-खान के समान । (४) **समणसंजयं**—शाक्यादि मत के भी श्रमण होते हैं, इसलिए वैसे श्रमण से पृथक्ता—विशेपता वताने के लिए यहाँ संजयं पद दिया है । अर्थात्—संयत श्रमण । संयत के दो अर्थ होते हैं—सम्यक् प्रकार से जीवों की यतना करने वाला अथवा वीतरागदेव के मार्गानुसारी श्रमण । (५) **तत्थ अइच्छंतं**-वहाँ से जाते हुए ।

छठी गाथा का फलितार्थ—मुनि को टकटकी लगाकर एक दृष्टि से देखने पर (मृगापुत्र) मन में हर्षित होकर सोचने लगा—इन्हें कहीं मैंने पहले भी देखा है । अर्थात्—मुनि को पूर्वपरिचित मानने लगा ।

जाति-स्मरण किस निमित्त व क्रम से, कब, कैसे और किस प्रकार का हुआ—सातवीं गाथा के अनुसार, मृगापुत्र को सर्वप्रथम साधु के दर्शन हुए। साधु को एकटक देखने से मन के परिणाम (क्षयोपशमभाव) सम्यक् —विशुद्ध हुए, फिर मूर्च्छा उत्पन्न हुई अर्थात्—गहरे चिन्तन के फलस्वरूप उसे मूर्च्छा आ गई (मोह प्राप्त हुआ), और उसी मूर्च्छा में उसे पूर्वजन्म का स्मरण हो आया।

अगली प्रक्षिप्त गाथा में बताया गया है कि संज्ञिज्ञान अर्थात्-गर्भज समनस्कपंचेन्द्रिय का ज्ञान होने पर मृगापुत्र को अपने पूर्वजन्म का इस प्रकार का स्मरण हो गया कि "मैं देवलोक से च्यव कर मनुष्यभव में आया हूँ।"

जातिस्मरण होने के पश्चात्—

मूल—**जाई-सरणे समुप्पन्ने, मियापुत्ते महिड्ढिए।**
सरई पोराणियं जाइं, सामण्णं च पुराकयं ॥८॥

छाया—जाति-स्मरणे समुत्पन्ने, मृगापुत्रो महर्द्धिकः।
स्मरति पौराणिकीं, जातिं, श्रामण्यं च पुराकृतम् ॥८॥

पद्या०—जातिस्मरण ज्ञान पाकर, अत्यन्त समृद्ध मृगा-सुत को।
हो गया पुरातन भव अवगम, आचरण किया जो मुनिव्रत को ॥८॥

अन्वयार्थ—**जाई-सरणे**—जातिस्मरण, **समुप्पन्ने**—उत्पन्न होने पर, **महिड्ढिए मियापुत्ते**—महर्द्धिक मृगा-पुत्र, **पोराणियं जाइं**—अपने पुराने (पूर्व) जन्म, **च**—और, **पुराकयं सामण्णं**—पूर्वाचरित श्रामण्य को, **सरई**—स्मरण करता है ॥८॥

भावार्थ—जातिस्मरण उत्पन्न होने के बाद महान् राज्यऋद्धि वाला मृगापुत्र अपनी पूर्वजाति और पूर्वभव में पालन किये हुए चारित्र (श्रमणधर्म) का स्मरण करने लगा ॥८॥

विवेचन—प्रस्तुत गाथा में अगली गाथाओं के सन्दर्भ से मृगापुत्र को जातिस्मरणज्ञान के प्रकाश में क्या-क्या स्मरण हुआ, इसका दो वाक्यों में संक्षिप्त विवरण दिया गया है—

(१) नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति में हुए अनुभवों का स्मरण,

(२) मनुष्यभव में पालन किये हुए चारित्र का स्मरण।

विरक्त मृगापुत्र द्वारा माता-पिता से संयमग्रहण की अनुमति-याचना—

मूल—विसएहि अरज्जंतो, रज्जंतो संजमम्मि य ।
अम्मापियरं उवागम्म, इमं वयणमब्बवी ॥९॥

सुयाणि मे पंच-महव्वयाणि,
नरएसु दुक्खं च तिरिक्खजोणिसु ।
निव्विण्णकामो मि महण्णवाओ,
अणुजाणह पव्वइस्सामि अम्मो ! ॥१०॥

अम्मताय ! मए भोगा, भुत्ता विसफलोवमा ।
पच्छा कडुए-विवागा, अणुबंध-दुहावहा ॥११॥

इमं सरीरं अणिच्चं, असुइं असुइ-संभवं ।
असासयावासमिणं, दुक्ख-केसाणभायणं ॥१२॥

असासए सरीरम्मि, रइं नोवलभामहं ।
पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेण-बुब्बुय-सन्निभे ॥१३॥

माणुसत्ते असारम्मि, वाही-रोगाण आलए ।
जरा-मरण-घत्थम्मि, खणं पि न रमामहं ॥१४॥

जम्मं दुक्खं, जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति जंतवो ॥१५॥

खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च, पुत्त-दारं च बंधवा ।
चइत्ताणं इमं देहं गंतव्वमवसस्स मे ॥१६॥

जहा किंपाकफलाणं, परिणामो न सुन्दरो ।
एवं भुत्ताण भोगाणं, परिणामो न सुन्दरो ॥१७॥

अद्धाणं जो महंतं तु, अपाहेओ पवज्जइ ।
गच्छंतो सो दुही होइ, छुहा-तण्हाहि पीडिओ ॥१८॥

एवं धम्मं अकाऊणं, जो गच्छइ परं भवं ।
गच्छंतो सो दुही होइ, वाही-रोगेहि पीडिओ ॥१९॥

अद्धाणं जो महंतं तु, सपाहेओ पवज्जइ ।
गच्छंतो सो सुही होइ, छुहा-तण्हा-विवज्जिओ ॥२०॥

एवं धम्मंपि काऊणं, जो गच्छइ परं भवं ।
गच्छंतो सो सुही होइ, अप्पकम्मे अवेयणे ॥२१॥

जहा गेहे पलित्तम्मि, तस्स गेहस्स जो पहू ।
सारभंडाणि नीणेइ, असारं अवउज्झइ ॥२२॥

एवं लोए पलित्तम्मि, जराए मरणेण य।
अप्पाणं तारइस्सामि, तुब्भेहिं अणुमन्निओ ॥२३॥

छाया—विषयेष्वरज्यन्, रज्यन् संयमे च।
अम्बापितरावुपागम्य, इदं वचनमब्रवीत् ॥९॥

श्रुतानि मया पंच-महाव्रतानि,
नरकेषु दुःखं च तिर्यंग्योनिषु।
निर्विण्णकामोऽस्मि महार्णवात्,
अनुजानीत प्रव्रजिष्यामि अम्ब ! ॥१०॥

अम्ब तात ! मया भोगाः, भुक्ता विषफलोपमाः।
पश्चात् कटुक-विपाकाः, अनुबन्ध-दुःखावहाः ॥११॥

इदं शरीरमनित्यं अशुच्यशुचि-सम्भवम्।
अशाश्वतावासमिदं, दुखक्लेशानां भाजनम् ॥१२॥

अशाश्वते शरीरे, रतिं नोपलभेऽहम्।
पश्चात् पुरा वा त्यक्तव्ये, फेन-बुद्बुद्-सन्निभे ॥१३॥

मानुषत्वे असारे, व्याधि-रोगाणामालये।
जरा-मरण-ग्रस्ते, क्षणमपि न रमेऽहम् ॥१४॥

जन्म दुःखं, जरा दुःखं, रोगाश्च मरणानि च।
अहो दुःखं खलु संसारः, यत्र क्लिश्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

क्षेत्रं वास्तु हिरण्यं च, पुत्रदारांश्च बान्धवान्।
त्यक्त्वेमं देहं, गन्तव्यमवशस्य मे ॥१६॥

यथा किम्पाक-फलानां, परिणामो न सुन्दरः।
एवं भुक्तानां भोगानां, परिणामो न सुन्दरः ॥१७॥

अध्वानं यो महान्तं तु, अपाथेयः प्रव्रजति।
गच्छन् स दुःखी भवति, क्षुधा-तृषाभिः पीड़ितः ॥१८॥

एवं धर्ममकृत्वा, यो गच्छति परं भवम्।
गच्छन् स दुःखी भवति, व्याधि-रोगैःपीड़ितः ॥१९॥

अध्वानं यो महान्तं तु, सपाथेयः प्रव्रजति।
गच्छन् स सुखी भवति, क्षुधा-तृष्णाविवर्जितः ॥२०॥

एवं धर्ममपि कृत्वा, यो गच्छति परं भवम्।
गच्छन् स सुखी भवति, अल्पकर्माऽवेदनः ॥२१॥

यथा गेहे प्रदीप्ते, तस्य गेहस्य यः प्रभुः।
सार-भाण्डानि नयति(गमयति)असारमपोज्झति ॥२२॥

एवं लोके प्रदीप्ते, जरया मरणेन च।
आत्मानं तारयिष्यामि, युष्माभिरनुमतः ॥२३॥

पद्या०—हो गया विमुख वह भोगों से, संयम में मन अनुरक्त रहा।
आ करके जननी-जनक पास, उसने यों अपना भाव कहा ॥९॥

हमने सुने हैं, पंच-महाव्रत, नरक और तिर्यञ्च के दुःख।
मात! अनुज्ञा दें दीक्षा की, भवदुःख से मैं हुआ विमुख ॥१०॥

अम्ब तात! मैंने भोगे, विषफल-सम मीठे भोगों को।
परिणामकटुक अतिदुःखदायी, आकर्षक लगते लोगों को ॥११॥

यह अस्थि-चर्ममय तन नश्वर, मलयुक्त अशुचि से पिण्ड बना।
अस्थिर आवास समझ इसको, यह दुःख-क्लेश से पूर्ण सना ॥१२॥

इस अनित्य तन में मैंने, रतिभाव नहीं उपलब्ध किया।
पहले या पीछे त्याग-योग्य, जल-बुद्बुद्-सम अस्तित्व लिया ॥१३॥

मानुष जीवन है सारहीन, जो व्याधि और रोगों का घर।
जरा-मरण से ग्रस्त विश्व में, रमण करूं मैं ना क्षणभर ॥१४॥

है जन्म दुःख और जरा दुःख, और व्याधि-मरण के दुःख भारी।
पाते हैं प्राणी जहाँ कष्ट, संसार अहो! अतिभयकारी ॥१५॥

भूमि गेह सोना नारी, बान्धव सुत एवं सुन्दर तन।
तज परवश मुझको जाना है, रुकना है यहाँ नहीं पल क्षण ॥१६॥

जैसे है किम्पाकफलों का, सुन्दर परिणाम नहीं होता।
वैसे इन भोगे भोगों का, हितकर परिणाम नहीं होता ॥१७॥

जो लम्बे मग पर प्रस्थित हो, कुछ सम्बल साथ नहीं लेता।
हो भूख-प्यास से पीड़ित वह, पथ चलते अति चिन्तित होता ॥१८॥

यों धर्म किये बिन जो प्राणी, जग से परभव को जाता है।
हो व्याधि-रोग से वह पीड़ित, पथ चलते पीड़ा पाता है ॥१९॥

जो लम्बे पथ पर प्रस्थित हो, कुछ सम्बल पथ में ले जाता।
हो भूख-प्यास से वर्जित वह, चलते पथ में अति सुख पाता ॥२०॥

ऐसे ही धर्माराधन कर, जो जग से परभव जाता है।
वह रहित वेदना से लघुकर्मो, चलते पथ वह सुख पाता है ॥२१॥

जैसे आग लगे घर में, जो उस घर का स्वामी होता।
घर में ही छोड़ असार वस्तु, है सार वस्तु बाहर लेता ॥२२॥
जरा-मरण की प्रबल आग से जलता ऐसे है जग सारा।
अपने को पार लगाऊंगा, आदेश आपका पा प्यारा ॥२३॥

अन्वयार्थ—**विसएहिं अरज्जंतो**—विषयों से विरक्त, **य**—और, **संजमम्मि रज्जंतो**—संयम में अनुरक्त हुए (मृगापुत्र ने), **अम्मापियरं उवागम्म**—माता-पिता के पास आकर, **इमं वयणं**—इस प्रकार का वचन, **अब्बवी**—कहा ॥९॥

मे—मैंने, **पंच-महव्वयाणि**—पंचमहाव्रतों को (पूर्वजन्म में), **सुयाणि**—सुना है, **नरएसु**—नरकों में, **च**—और, **तिरिक्खजोणिसु**—तिर्यञ्च योनियों में होने वाले, **दुक्खं**—दुःख भी (भोगे हैं।) (अतः) **महण्णवाओ**—(संसाररूप) महासागर से, **निव्विण्णकामो मि**—मैं कामविरक्त (विषयाभिलापा-विरक्त) हो गया हूं। **पव्वइ-स्सामि**—मैं (अब) प्रव्रज्या ग्रहण करूँगा। **अम्मो**—माताजी !, **अणुजाणह**—मुझे अनुमति दीजिए ॥१०॥

अम्मताय !—हे माता-पिता ! **मए**—मैं, **भोगा**—भोगों को, **भुत्ता**—भोग चुका हूँ। (जो) **विसफलोवमा**—विषफल के समान हैं, **पच्छा**—बाद में, **कडुय-विवागा**—कटु-विपाक वाले, (और) **अणुबंध-दुहावहा**—निरन्तर दुःख देने वाले हैं ॥११॥

इमं सरीरं—यह शरीर, **अणिच्चं**—अनित्य है, **असुइं**—अपवित्र है, **असुइ-संभवं**—अशुचि-मल-मूत्रादि का उत्पत्ति-स्थान है, **असासयावासं**—इसमें (जीव का) निवास अशाश्वत—अनियत है, (तथा) **इणं**—यह, **दुक्ख-केसाणं**—दुःखों और क्लेशों का, **भायणं**—भाजन है ॥१२॥

पुरा—पहले, **व पच्छा**—अथवा बाद में, **चइयव्वे**—(कभी न कभी) छोड़ना ही है, **फेण-बुब्बुय-संन्निभे**—(पानी के) फेन के बुलबुले के समान, **असासए**—अशाश्वत—अनित्य है। (अतः) **सरीरम्मि**—इस शरीर में, **रइं**—मैं आनन्द, **नोवलभामहं**—नहीं पा रहा हूं ॥१३॥

वाही-रोगाण—व्याधि और रोगों के, **आलए**—घर (तथा) **जरा-मरण-घत्थम्मि**—जरा और मरण से ग्रस्त, **असारम्मि माणुसत्ते**—इस असार मनुष्य-शरीर में, (अब) **खणं पि**—एक क्षणमात्र भी, **न रमामहं**—मैं सुख नहीं पा रहा हूं ॥१४॥

जम्मं दुक्खं—जन्म दुःख है, **जरा दुक्खं**—जरा दुःख है, **रोगा य**—रोग दुःख है, **य**—और, **मरणाणि**—मरण दुःख हैं, **अहो !**—आश्चर्य है, **संसारो**—यह संसार ही, **दुक्खो**—दुःखरूप है, **जत्थ**—जहाँ, **जंतवो**—जीव, **कीसंति**—क्लेश पाते हैं ॥१५॥

खेत्तं—खेत या खुला क्षेत्र (जमीन), **वत्थुं**—वस्तु-घर, **हिरण्णं**—हिरण्य-सोना, **पुत्त-दारं च**—पुत्र और स्त्री, **च**—तथा, **बंधवा**—बन्धुजन (और), **इमं देहं**—इस शरीर को, **चइत्ताणं**—छोड़कर (एक दिन) **अवसस्स मे**—विवश होकर मुझे, **गंतव्वं**—अवश्य चले जाना है ॥१६॥

जहा—जिस प्रकार, **किंपाकफलाणं**—विषरूप किम्पाकफलों का, **परिणामो**—अन्तिम परिणाम, **न सुन्दरो**—सुन्दर नहीं होता, **एवं**—उसी प्रकार, **भुत्ताण भोगाणं**—भोगे हुए भोगों का, **परिणामो**—परिणाम, (भी) **न सुन्दरो**—सुन्दर नहीं होता ॥१७॥

जो—जो व्यक्ति, **अपाहेओ**—पाथेय (पथ का सम्बल) लिए बिना ही, **महंतं अद्धाणं**—लम्बे (महान) मार्ग पर, **पवज्जइ**—चल देता है, **सो**—वह, **गच्छंतो**—चलते हुए, **छुआ-तण्हाए**—भूख और प्यास से, **पीडिओ**—पीड़ित होकर, **दुही होई**—दुःखी होता है ॥१८॥

एवं—इसी प्रकार, **जो**—जो व्यक्ति, **धम्मं अकाऊणं**—धर्म किये बिना, **परं भवं**—पर भव में, **गच्छइ**—जाता है, **सो**—वह, **गच्छंतो**—जाता हुआ, **वाही-रोगेहिं**—व्याधि और रोगों से, **पीडिओ**—पीड़ित होकर, **दुही होइ**—दुःखी होता है ॥१९॥

जो—जो व्यक्ति, **सपाहेओ**—पाथेय साथ में लेकर, **महंतं तु अद्धाणं**—लम्बे मार्ग पर, **पवज्जइ**—चलता है, **सो**—वह, **छुहा-तण्हा-विवज्जिओ**—भूख और प्यास की पीड़ा से रहित होकर, **सुही होइ**—सुखी होता है ॥२०॥

एवं—इसी प्रकार, **जो**—जो व्यक्ति, **धम्मंपि काऊणं**—धर्म करके, **परं भवं**—पर भव में, **गच्छइ**—जाता है, **सो**—वह, **अप्पकम्मे**—अल्पकर्मा, **अवेयणे**—और वेदना से रहित होकर, **गच्छंतो**—जाता हुआ, **सुही होइ**—सुखी होता है ॥२१॥

जहा—जिस प्रकार, **गेहे**—घर, **पलित्तम्मि**—प्रज्वलित होने (आग लगने) पर, **तस्स गेहस्स**—उस घर का, **जो**—जो, **पहू**—स्वामी (होता है, वह), **सारभंडाणि**—मूल्यवान सार वस्तुओं को, **नीणेइ**—बाहर निकाल लेता है, (और) **असारं**—(मूल्यहीन) असार–तुच्छ वस्तुओं को, **अवउज्झइ**—छोड़ देता है ॥२२॥

एवं—इसी प्रकार, **जराए**—वृद्धावस्था, **य**—और, **मरणेण**—मृत्यु से, **पलित्तम्मि**—जलते हुए, **लोए**—इस लोक में से, **तुब्भे हिं अणुमन्निओ**—आपकी अनुमति पाकर, **अत्ताणं**—(सारभूत) अपनी आत्मा को, **तारइस्सामि**—पार करूंगा बाहर निकालूंगा ॥२३॥

भावार्थ—विषयों से विरक्त और संयम (चारित्र) में अनुरक्त बने हुए मृगापुत्र ने माता-पिता के समीप आकर इस प्रकार से कहा—॥९॥

(हे माता-पिता !) मैंने (पूर्वजन्म में) पंच-महाव्रत सुने हैं तथा नरकों और तिर्यञ्चों में होने वाले दुःख भी भोगे हैं। अतः मैं संसाररूप महासागर से (तथा) काम से विरक्त हो गया हूँ। मैं अब दीक्षा ग्रहण करूँगा। माताजी ! मुझे अनुज्ञा दीजिए ॥१०॥

हे माता-पिता ! मैं भोगों को भोग चुका हूँ। वे विषफल के समान अन्त में कटु-विपाक वाले और निरन्तर दुःख उत्पन्न करने वाले हैं ॥११॥

यह शरीर अनित्य है, अपवित्र है, अशुचिपदार्थों से उत्पन्न है, और अशुचि से भरा है। इसमें जीव का निवास अशाश्वत है, तथा यह दुःखों और क्लेशों का भाजन है ॥१२॥

पहले अथवा पीछे, कभी न कभी इस शरीर को अवश्य ही छोड़ना है, क्योंकि यह पानी के बुलबुले के समान अनित्य है। अतः इस शरीर में आनन्द नहीं पा रहा हूँ ॥१३॥

व्याधि और रोगों के घर तथा जरा और मृत्यु से ग्रस्त इस असार मनुष्यशरीर में अब मैं एक क्षण भर भी सुख नही पा रहा हूँ ॥१४॥

जन्म दुःखरूप है, जरा भी दुःखरूप है, रोग और मरण भी दुःख रूप हैं। अहो ! यह संसार ही दुःखमय है, जहाँ जीव क्लेश पाते हैं ॥१५॥

खेत, मकान, सोना, पुत्र, पत्नी, तथा बन्धुजन और इस शरीर को छोड़कर (एक दिन) विवश होकर मुझे अवश्य ही चले जाना है ॥१६॥

जिस प्रकार किम्पाकफलों के उपभोग का अन्तिम परिणाम सुन्दर नहीं होता, उसी प्रकार भोगे हुए भोगों का परिणाम भी सुन्दर नही होता ॥१७॥

जो व्यक्ति पाथेय लिये विना ही लम्बे मार्ग पर चल देता है, वह जाता हुआ मार्ग में भूख और प्यास से पीड़ित होकर दुःखी होता है ॥१८॥

इसी प्रकार जो व्यक्ति धर्म किये विना ही परभव में चला जाता है, वह जाता हुआ व्याधि और रोगों से पीड़ित होकर दुःखी होता है ॥१९॥

किन्तु जो व्यक्ति पाथेय साथ में लेकर लम्बे पथ पर प्रयाण करता है, वह भूख-प्यास की पीड़ा से रहित होकर सुखी होता है ॥२०॥

इसी प्रकार जो व्यक्ति धर्माचरण करके परभव में जाता है, वह अल्पकर्मा और वेदना से रहित होकर जाता हुआ सुखी होता है ॥२१॥

जिस प्रकार घर में आग लगने पर उस घर का स्वामी सारभूत वस्तुओं को बाहर निकाल लेता है और निःसार वस्तुओं को वहीं छोड़ देता है ॥२२॥

इसी प्रकार जरा और मृत्यु से जलते हुए इस लोक में से, आपकी अनुमति प्राप्त करके, मैं सारभूत अपनी आत्मा को (इससे) बाहर निकालूंगा ॥२३॥

विवेचन-पूर्वजन्मों की स्मृति के अनुभव के कारण विरक्ति और अनुमति-याचना—मृगापुत्र को जब से जातिस्मरण ज्ञान हुआ, से तब उसके समक्ष चलचित्र की तरह पूर्वजन्मों के चित्र प्रत्यक्षवत् हो गए और उसी के कारण उसे सांसारिक विषयाभिलाषा से तथा अनित्य, अशरण, अपवित्र एवं अपवित्र पदार्थों से निर्मित, जन्म-जरा-मृत्यु-व्याधि आदि नाना दुःखों और संक्लेशों के घर इस शरीर से तथा किम्पाकफल के समान कामभोगों से विरक्ति हो गई। उसका कहना है कि धर्मरूपी पाथेय लिये बिना ही परलोकगमन करने वाले जीव को वहाँ नाना दुःखों का सामना करना पड़ता है, जबकि धर्मरूपी पाथेय लेकर परभवगमन करने वाला व्यक्ति लघुकर्मी तथा वेदनारहित होकर परलोक में सुखी होता है।

संसार जन्म-जरा-मृत्यु आदि से जल रहा है, मुझे गृहस्वामी की तरह सारभूत आत्मा को इस संसार की लाय से बाहर निकालना है। यह कार्य प्रव्रजित होने पर ही हो सकता है और प्रव्रज्या आप दोनों की अनुमति प्राप्त होने पर ही हो सकती है। अतः आप दोनों प्रसन्न होकर इन सब वस्तुस्थितियों और मेरी मनःस्थिति को समझ कर शीघ्र ही मुझे प्रव्रज्या ग्रहण करने की अनुमति दीजिए।

दुक्खकेसाण भायणं : विशेषार्थ—(१) जन्म, जरा, मृत्यु आदि दुःखों तथा धन-हानि, स्वजन-वियोग आदि क्लेशों का भाजन-स्थान या पात्र है। अथवा (२) दुःखों के हेतुभूत क्लेश-रोगादि उनका भाजन–पात्र है।

पच्छापुरा व चइयव्वे : तात्पर्य—पश्चात् अर्थात्–भोगों के भोग लेने पर यानी वृद्धावस्था में भुक्तभोगी बन जाने पर तथा पुरा अर्थात् भोग भोगने से पूर्व अर्थात्–भोग भोगे ही न हों, ऐसी बाल्यावस्था में।

व्याधि और रोग में अन्तर—कोढ, शूल आदि दुःसाध्य बीमारियों को व्याधि कहते हैं, और रोग कहते है—वात, पित्त और कफ से होने वाले ज्वर आदि को।

जत्थ कीसंति जंतुणो : फलितार्थ—जहाँ अर्थात्—भवभ्रमण में, जीव क्लेश पाते हैं—पीड़ित होते हैं। अथवा आश्चर्य है कि जिस संसार में जीव क्लेश पाते हैं, उस संसार में दुःख कहाँ हैं ? ऐसा वे कहते हैं।

अप्पकम्मे अवेयणे : फलितार्थ—धर्माराधक पुरुष यहाँ और वहाँ सुखी होता है। सुखी इसलिये होता है कि धर्माचरण के कारण उसके अशुभकर्म बहुत ही अल्प होते हैं, और पापकर्म अल्प होने से, असातावेदनीय अत्यल्प होने से वह सुखी होता है। इसलिए कहा है—अल्पकर्मा तथा अवेदन होकर।

माता-पिता द्वारा संयमी जीवन की दुष्करताओं का प्रतिपादन—

मूल—तं बिंतऽम्मापियरो सामण्णं पुत्त ! दुच्चरं।
गुणाणं तु सहस्साइं, धारेयव्वाइं भिक्खूणो ॥२४॥
समया सव्वभूएसु, सत्तु-मित्तेसु वा जगे।
पाणाइवाय-विरई, जावज्जीवाए दुक्करा ॥२५॥
निच्चकालऽप्पमत्तेणं, मुसावाय-विवज्जणं।
भासियव्वं हियं सच्चं, निच्चाउत्तेण दुक्करं ॥२६॥
दंतसोहणमाइस्स, अदत्तस्स, विवज्जणं।
अणवज्जेसणिज्जस्स, गेण्हणा अवि दुक्करं ॥२७॥
विरई अबंभचेरस्स, कामभोग-रसन्नुणा।
उग्गं महव्वयं बंभं, धारेयव्वं सुदुक्करं ॥२८॥
धण-धन्न-पेस-वग्गेसु, परिग्गह-विवज्जणं।
सव्वारंभ-परिच्चाओ, निम्ममत्तं सुदुक्करं ॥२९॥
चउव्विहे वि आहारे, राई-भोयण-वज्जणा।
सन्निही संचओ चेव, वज्जेयव्वो सुदुक्करो ॥३०॥

छाया—तं ब्रूतोऽम्बापितरौ, श्रामण्यं पुत्र ! दुश्चरम्।
गुणानां तु सहस्राणि, धारयितव्यानि भिक्षोः ॥२४॥
समता सर्वभूतेषु, शत्रुमित्रेषु वा जगति।
प्राणातिपात-विरतिः, यावज्जीवं दुष्करा ॥२५॥
नित्यकालाऽप्रमत्तेन, मृषावाद-विवर्जनम्।
भाषितव्यं हितं सत्यं नित्याऽऽयुक्तेन दुष्करम् ॥२६॥

दन्तशोधनादेः, अदत्तस्य विवर्जनम् ।
अनवद्यैपणीयस्स, ग्रहणमपि दुष्करम् ॥२७॥
विरतिरब्रह्मचर्यस्य, कामभोग-रसज्ञेन ।
उग्रं महाव्रतं ब्रह्म, धारयितव्यं सुदुष्करम् ॥२८॥
धन-धान्य-प्रेष्यवर्गेषु, परिग्रह-विवर्जनम् ।
सर्वारम्भ-परित्यागः, निर्ममत्वं सुदुष्करम् ॥२९॥
चतुर्विधेऽप्याहारे, रात्रि-भोजन-वर्जना ।
सन्निधि-संचयश्चैव, वर्जितव्यः सुदुष्करः ॥३०॥

पद्या०—मात-पिता बोले उसको, प्रिय तनय ! श्रमणपद है दुश्चर ।
गुण हजार भिक्षु को धारण, करने होते हैं दुष्कर ॥२४॥
शत्रु-मित्र सब जीवों में, जगती पर समताभाव रहे ।
आजीवन का व्रत दुष्कर है, हिंसा से उपरत बना रहे ॥२५॥
अप्रमत्त रह सदा काल, मिथ्या-भाषण-वर्जन करना ।
बड़ा कठिन है, सावधान मन, हित प्रिय सत्य सतत कहना ॥२६॥
बिना दिये दतौन आदि का ग्रहण व्रती को ना करना ।
दिया हुआ भी एषणीय निर्दोष वस्तु दुष्कर गहना ॥२७॥
कामभोग-के रस ज्ञाता को, है कुशील का त्याग कठिन ।
उग्र महाव्रत ब्रह्मचर्य को धारण करना है महाकठिन ॥२८॥
धन-धान्य तथा सेवक-जन में ममता का परिवर्जन करना ।
बड़ा कठिन आरम्भ-परिग्रह की मन से ममता हरना ॥२९॥
आहार चतुर्विध रजनी में, भोजन का वर्जन है करना ।
सन्निधि और संचय का वर्जन, है कठिन मुनिव्रत का धरना ॥३०॥

अन्वयार्थ—**अम्मा-पियरो**—माता-पिता ने, **तं**—उससे (मृगापुत्र से) **वित**—कहा, **पुत्त**;—पुत्र !, **सामण्णं**—श्रमणधर्म का पालन, **दुच्चरं**—बहुत दुष्कर है । **भिक्खूणो**—भिक्षु को, **गुणाणं तु सहस्साइं**—हजारों गुण. **धारेयव्वाइं**—धारण करने पड़ते हैं ॥२४॥

जगे—संसार के, **सत्तु-मित्तेसु वा**—शत्रु हो या मित्र **सव्वभूएसु**—सभी जीवों पर, **समया**—समभाव रखना, (तथा) **जावज्जीवाए**—आजीवन, **पाणाइवाय-विरई**—प्राणातिपात (हिंसा) से विरत होना, **दुक्करा**—दुष्कर है ॥२५॥

निच्चकालऽप्पमत्तेण—सदैव अप्रमत्त रह कर, **मुसावाय-विवज्जणं**—मृषावाद (असत्य) का विवर्जन (त्याग) करना (तथा) **निच्चाउत्तेण**—सतत उपयोग के

साय, **हियं सच्चं**—हितकर सत्य, **भासियव्वं**—बोलना, **दुक्करं**—अत्यन्त कठिन (दुष्कर) है ॥२६॥

अदत्तस्स—विना दिये हुए, **दंतसोहणमाइस्स**—दन्तशोधन (दतौन) आदि के ग्रहण का, **विवज्जणं**—त्याग करना, और दी जाने वाली वस्तु भी, **अणवज्जेसणिज्जस्स गेण्हणा**—अनवद्य (निर्दोष) और एषणीय का ही, ग्रहण करना, **अवि**—भी **दुक्करं**—दुष्कर (अति कठिन) है ॥२७॥

कामभोग-रसन्नुणा—काम-भोगों के रस (स्वाद) के ज्ञाता के लिए, **अबंभचेरस्स**—अब्रह्मचर्य से विरति करना (तथा) **उग्गं बंभं महव्वयं**—उग्र ब्रह्मचर्य-महाव्रत को, **धारेयव्वं**—धारण (पालन) करना, **सुदुक्करं**—अत्यन्त दुष्कर है ॥२८॥

धण-धन्न-पेस-वग्गेसु—धन, धान्य एवं प्रेष्य (सेवक) वर्ग के प्रति, **परिग्गह-विवज्जणं**—ममतारूप परिग्रह का त्याग करना, (तथा) **सव्वारंभ-परिच्चाओ**—समस्त आरम्भों का परित्याग एवं **निम्ममत्तं**—ममतारहित होना, **सुदुक्करं**—अतीव दुष्कर है ॥२९॥

चउव्विहे वि आहारे—चारों प्रकार के आहार का, **राई-भोयण-वज्जणा**—रात्रि में भोजन का त्याग करना, **सन्निहीसंचओ चेव**—सन्निधि और संचय का, **वज्जेयव्वो**—वर्जन करना, **सुदुक्करं**—अत्यन्त कठिन है ॥३०॥

भावार्थ—माता-पिता ने मृगापुत्र से कहा—'पुत्र ! साधुता का पालन बहुत ही कठिन है। भिक्षु को हजारों गुण धारण करने पड़ते हैं ॥२४॥

संसार में शत्रु एवं मित्र, सभी जीवों पर समभाव रखना और जीवनभर हिंसा से विरत रहना अत्यन्त कठिन कार्य है ॥२५॥

सदैव पूर्ण सावधान रहकर असत्य का त्याग करना, तथा नित्य उपयोगपूर्वक हितकर और सत्य बोलना अत्यन्त दुष्कर है ॥२६॥

विना दिये दतौन-आदि भी न लेना, और दी जाने वाली वस्तु भी ऐसी लेना, जो निर्दोष और एषणीय हो, ऐसी चर्या से चलना भी अति-दुष्कर है ॥२७॥

काम-भोग के रसज्ञ (लोलुप व्यक्ति के लिए ब्रह्मचर्य से विरत होना और (यावज्जीव) ब्रह्मचर्य-महाव्रत का धारण करना अत्यन्त कठिन है ॥२८॥

धन, धान्य और भृत्य (सेवक) वर्ग के संग्रह और मूर्च्छाभाव का वर्जन करना, तथा सर्वारम्भ-परित्यागी होकर ममत्वरहित होना अतीव दुष्कर है ॥२९॥

चारों प्रकार के (अशन-पान-खाद्य और स्वाद्य) के आहार का रात्रि में त्याग करना तथा सन्निधि और संचय का वर्जन करना बहुत ही कठिन है ॥३०॥

विवेचन—पंचमहाव्रत एवं रात्रिभोजन विरमणव्रत के सन्दर्भ में श्रमणधर्म-पालन अत्यन्त दुष्कर—प्रस्तुत सात सूत्रों में माता-पिता द्वारा अहिंसा,सत्य आदि पांच महाव्रतों का निषेधात्मक तथा विधेयात्मक दोनों प्रकार से पालन दुष्कर बताया गया है। साथ ही २४वीं गाथा में यह भी बताया है कि साधु को मूलगुण-उत्तरगुणों का अथवा क्षमा आदि श्रमणधर्म के हजारों गुणों को धारण करना होता है, जो कि अत्यन्त कठिन है।

परिग्गह-विवज्जणं : विशेषार्थ—धन, धान्य एवं प्रेष्यवर्ग आदि बाह्य-परिग्रह तथा मिथ्यात्व आदि आभ्यन्तर परिग्रह का विवर्जन अर्थात्-मोहबुद्धि का विशेषरूप से त्याग।

सन्निधि और संचय में अन्तर—सन्निधि का अर्थ है—घी, तेल आदि वस्तुएँ उचित काल का अतिक्रमण करके रखना और संचय का अर्थ है—संग्रह करना।

निष्कर्ष—सतत अप्रमत्त और उपयोग-युक्त होकर पांच महाव्रतों तथा रात्रि-भोजन विरमणव्रत का निषेधात्मक एवं विधेयात्मक दोनों प्रकार से जीवन-पर्यन्त पालन करना—अर्थात् श्रमणधर्म का आचरण अत्यन्त दुष्कर है।

माता-पिता द्वारा परीषहविजय की कठिनाइयों का वर्णन—

मूल—छुहा तण्हा य सीउण्हं, दंस-मसग-वेयणा।
अक्कोसा दुक्खसेज्जा य, तण-फासा जल्लमेव य ॥३१॥

तालणा तज्जणा चेव, वह-बंध-परीसहा।
दुक्खं भिक्खायरिया, जायणा य अलाभया ॥३२॥

कावोया जा इमा वित्ती, केसलोओ य दारुणो।
दुक्खं बंभवयं घोरं धारेउं अ महप्पणो ॥३३॥

सुहोइओ तुमं पुत्ता! सुकुमालो सुमज्जिओ।
न हु सी पभू तुमं पुत्ता! सामण्णमणुपालिउं ॥३४॥

छाया—क्षुधा तृषा च शीतोष्णं, दंश-मशक-वेदना।
आक्रोशा दुःखशय्या च, तृणस्पर्शा जल्लमेव च ॥३१॥

ताड़ना तर्जना चैव, वध-बन्धौ परीषहौ ।
दुःखं भिक्षाचर्या, याचना चाऽलाभता ॥३२॥
कापोतीया इयं वृत्तिः, केशलोचश्च दारुणः ।
दुःखं ब्रह्मव्रतं घोरं, धारयितुं च महात्मनः ॥३३॥
सुखोचितस्त्वं पुत्र ! सुकुमारः सुमार्जितः ।
न खल्वसि प्रभुस्त्वं, पुत्र ! श्रामण्यमनुपालयितुम् ॥३४॥

पद्या०—भूख प्यास सर्दी गर्मी, और दंश-मशक का कष्ट-सहन ।
दुःखशय्या और आक्रोश-वचन, तृणस्पर्श कठिन मल-
धारण तन ॥३१॥

ताड़न तर्जन या वध-बन्धन, हैं विविध परीषह मुनिमग में ।
याचना अलाभ का कष्ट छुपा, सहना होता भिक्षा-जग में ॥३२॥
है कपोत-सी वृत्ति और, दारुण दुःखद शिरोलुंचन ।
है ब्रह्मचर्य सद्-आत्मा का, धारण करते विरले सज्जन ॥३३॥
हे पुत्र ! योग्य सुखों के तुम हो, सुकुमार सुमार्जित बचपन से ।
निश्चय समर्थ तुम नहीं पुत्र ! मुनिपद-पालन करने जैसे ॥३४॥

अन्वयार्थ—छुहा—भूख, तण्हा—प्यास, य—और, सी-उण्हं—सर्दी (शीत), गर्मी(उष्ण), (तथा) **दंस-मसग-वेयणा**—डांस और मच्छरों का कष्ट, **अक्कोसा**—आक्रोशवचन, य—एवं, **दुक्ख-सेज्जा**—दुःख (कष्टप्रद) शय्या (निवासस्थान), **तणफासा**—तृण-स्पर्श, य—तथा, **जल्लमेव**—मैल धारण (जल्ल) ॥३०॥

तालणा—ताड़ना, **तज्जणा**—तर्जना, चेव **वह-बंध-परीसहा**—और वध, तथा बन्धन, परीषह, **भिक्खायरिया**—भिक्षाचर्या, **जायणा**—याचना, य—और, **अलाभया**—अलाभ (इन परीषहों को सहन करना) **दुक्खं**—अत्यन्त कष्टकर (दुष्कर) है ॥३१॥

जा इमा कावोया वित्ती—जो यह, कापोतीवृत्ति (कबूतर के समान दोषों से सशंक एवं सतर्क रहने की वृत्ति), य—तथा, **दारुणो केसलोओ**—दारुण केशलोच, य—और (यह) **घोरं**—घोर, **बंभवयं**—ब्रह्मचर्यव्रत, **धारेउं**—धारण करना, **महप्पणो**—महान् आत्माओं के लिए पालनीय, सामान्यजन को, **दुक्खं**—दुष्कर है ॥३३॥

पुत्ता !—हे पुत्र !, **तुमं**—तुम, **सुहोइओ**—सुखोचित-सुख भोगने के योग्य हो, **सुकुमालो**—सुकुमार हो, **सुमज्जिओ**—सुमज्जित-स्वच्छ रहते आये हो, (अतः) **पुत्ता**—हे पुत्र ! **तुमं**—तुम, **सामण्णं**—श्रमणत्व का, **अणुपालिउं**—पालन करने में,

पभू—समर्थ, न हु सो—नहीं हो ॥३४॥

भावार्थ—क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंश-मशक वेदना, आक्रोश, दुःखप्रद शय्या (उपाश्रय), तृणस्पर्श और जल्ल (मल) का कष्ट, ताड़ना, तर्जना, वध, बन्धन, भिक्षाचर्या, याचना और अलाभ, आदि इन परीषहों को सहन करना अत्यन्त दुःखप्रद है ॥३१-३२॥

(साधु जीवन में) जो यह कापोतीवृत्ति है, दारुण केशलोच है तथा घोर ब्रह्मचर्यव्रत का धारण करना है, वह महान् आत्माओं के लिए भी दुष्कर है ॥३३॥

पुत्र! तू अभी सुखभोग करने योग्य, सुकुमार है, तथा सुमज्जित (साफ-सुथरा रहने का आदि) है, (श्रमणजीवन में इन तीनों का त्याग करना पड़ता है), अतः पुत्र! अभी तू श्रमणधर्म का पालन करने में समर्थ नहीं है ॥३४॥

विवेचन—परीषहसहन तथा कापोतीवृत्ति आदि का कष्ट-सहन—प्रस्तुत तीन गाथाओं में साधु धर्म में कष्टसहिष्णुता की वृत्ति का उल्लेख करके मृगापुत्र को उसके लिए असमर्थ बताकर अभी प्रतीक्षा करने की बात ध्वनित कर दी है।

कापोतीवृत्ति : (स्वरूप)—कपोत (कबूतर) पक्षी अपना आहार ग्रहण करते समय शंकित—सावधान रहता है, तथा चुगा दाना खा लेने के बाद अपने पास संचित नहीं रखता। सिर्फ पेट भरने जितनी ही प्रवृत्ति करता है, वैसे ही साधु भी भिक्षाग्रहण करने—एषणा में कोई किसी प्रकार का दोष न लग जाए, इसी शंका सावधानी से आहार ग्रहण में प्रवृत्त होता है। साधु भी उदर को पोषण देने जितना ही लेता है, आहार करने के पश्चात् कुछ भी संचित नहीं करता। यही कापोतीवृत्ति है, जो कष्टकारी है।

अमहप्पणा : दो रूप : दो अर्थ—(१) च महात्मा—महात्माओं द्वारा भी (पालन दुष्कर है)। (२) अमहात्मना—अल्पसत्व वाले साधारण आत्मा के द्वारा (पालन दुष्कर है।)

विविध उपमाओं से संयम-पालन की दुष्करता का निरूपण—

मूल—जावज्जीवामविस्सामो, गुणाणं तु महाभरो।
गुरुओ लोहभारव्व, जो पुत्ता होइ दुव्वहो ॥३५॥

आगासे गंग-सोउव्व, पडिसोउव्व दुत्तरो।
बाहाहिं सागरो चेव, तरियव्वो गुणोदही ॥३६॥

वालुया-कवले चेव, निरस्साए उ संजमे।
असिधारा-गमणं चेव, दुक्करं चरिउं तवो ॥३७॥

अहीवेगंतदिट्ठीए, चरित्ते पुत्त ! दुच्चरे।
जवा लोहमया चेव, चावेयव्वा सुदुक्करं ॥३८॥

जहा अग्गिसिहा दित्ता, पाउं होइ सुदुक्करं।
तह दुक्करं करेउं जे, तारुण्णे समणत्तणं ॥३९॥

जहा दुक्खं भरेउं जे, होई वायस्स कोत्थलो।
तहा दुक्खं करेउं जे, कीवेण समणत्तणं ॥४०॥

जहा तुलाए तोलेउं, दुक्करं मंदरो गिरी।
तहा निहुयं नीसंकं, दुक्करं समणत्तणं ॥४१॥

जहा भुयाहिं तरिउं, दुक्करं रयणायरो।
तहा अणुवसंतेणं दुक्करं दमसागरो ॥४२॥

भुंज माणुस्सए भोए, पंचलक्खणए तुमं।
भुत्तभोगी तओ जाया, पच्छा धम्मं चरिस्ससि ॥४३॥

छाया—यावज्जीवमविश्रामः, गुणानां तु महाभरः।
गुरुको लोहभार इव, यः पुत्र ! भवति दुर्वहः ॥३५॥

आकाशे गंगा-स्रोत इव, प्रतिस्रोत इव दुस्तरः।
बाहुभ्यां सागरश्चैव, तरितव्यो गुणोदधिः ॥३६॥

वालुका-कवलश्चैव, निरस्वादस्तु संयमः।
असिधारा-गमनं चैव, दुष्करं चरितुं तपः ॥३७॥

अहिरिवैकान्तदृष्ट्या, चारित्रं पुत्र ! दुश्चरम्।
यवा लोहमयाश्चैव, चर्वयितव्याः सुदुष्करम् ॥३८॥

यथाऽग्निशिखा दीप्ता, पातुं भवति सुदुष्करम्।
तथा दुष्करं कर्त्तुं यत्, तारुण्ये श्रमणत्वम् ॥३९॥

यथा दुःखं भर्त्तुं यो, भवति वायोः कोत्थलः।
तथा दुष्करं कर्त्तुं यत्, क्लीवेन श्रमणत्वम् ॥४०॥

यथा तुलया तोलयितुं, दुष्करो मन्दरोगिरिः।
तथा निभृतं निश्शंकं, दुष्करं श्रमणत्वम् ॥४१॥

यथा भुजाभ्यां तरितुं, दुष्करं रत्नाकरः।
तथाऽनुपशान्तेन दुष्करो दमसागरः ॥४२॥

भुङ्क्ष्व मानुष्यकान् भोगान् पंचलक्षणकान् त्वम् ।
भुक्तभोगी ततो जात ! पश्चाद् धर्मं चरिष्यसि ॥४३॥

पद्या० — है संयम-गुण का भार महा, विश्राम नहीं है आजीवन ।
यह लोहभार-सम गुरुतर है, जिसका ढोना है महाकठिन ॥३५॥
नभ-गंगा के स्रोत-तुल्य, प्रतिस्रोत-गमन जैसे दुस्तर ।
भुजयुग से सागर तिरने सम, है पार गुणोदधि का दुस्तर ॥३६॥
संयम है रेत-कवल जैसे, निःस्वाद और रसहीन कहा ।
असि की धारा पर चलने सम, तप-साधन करना कठिन महा ॥३७॥
एकाग्रदृष्टि से सर्पतुल्य, मुनिव्रत का पालन महाकठिन ।
लोहे के यव-चर्वण जैसा, चारित्र पालना बहुत कठिन ॥३८॥
जैसे जलती अग्निशिखा को, पीना होता अतिदुष्कर है ।
यौवन में श्रमणधर्म-पालन, उससे भी बढ़कर दुश्चर है ॥३९॥
जैसे कपड़े के थैले को अनिल-पूर्ण करना दुष्कर ।
वैसे ही सत्वरहित जन से, मुनिव्रत का पालन है दुस्तर ॥४०॥
जैसे मन्दर गिरिवर को, तोलना तुला पर अतिदुष्कर ।
वैसे निश्चल निर्भय मन से, मुनिव्रत-पालन है अतिदुस्तर ॥४१॥
जैसे युगल भुजाओं से, सागर का पार महादुष्कर ।
उपशम-विहीन नर को वैसे, दमसिन्धु पार करना दुस्तर ॥४२॥
शब्दादि पंचविध भोगों को, तुम भोग मनुज-भव सफल करो ।
हे पुत्र ! भुक्त-भोगी होकर, फिर श्रमणधर्म-आचरण करो ॥४३॥

अन्वयार्थ—**पुत्त**—हे पुत्र ! **गुणाणं**—गुणों का, **महाभरो तु**—महाभार तो, **लोहभारव्व**—लोहे के भार के समान, **गुरुओ**—गुरुतर है, **जो**—जिसे, **जावज्जीवं**—जीवन-पर्यन्त, **अविस्सामो**—बिना विश्राम लिए, **दुव्वहो**—वहन करना (उठाना) अतिकठिन है ॥३५॥

आगसे—आकाश में, **गंगसोउव्व**—गंगा के स्रोत (तथा) **पडिसोउव्व**—प्रतिस्रोत जैसे, **दुत्तरो**—दुस्तर है, **चेव**—और इसी प्रकार जैसे, **बाहाहिं**—दोनों भुजाओं से, **सागरो**—समुद्र को तैरना दुष्कर है, (वैसे ही), **गुणोदहो**—गुणों के सागर; संयम को पार करना दुष्कर है ॥३६॥

वालुआ कवले चेव—बालू के कवल (कौर) की तरह, **संजमे**—संयम, **निरस्साए**—निःस्वाद है, **चेव**—तथा, **तवोचरिउं**—तप का आचरण **उ**—तो, **असिधारागमणं**—तलवार की धार पर चलने जैसा, **दुक्करं**—दुष्कर है ॥३७॥

पुत्त—हे पुत्र !, **अहीवेगंतदिट्ठीए**—सांप की तरह एकान्त (एकाग्र) दृष्टि से, **चरित्ते**—चारित्र धर्म में, **दुच्चरे**—चलना दुष्कर है। **चेव**—जैसे, **लोहमया**—लोहे के, **जवा**—यव (जौ), **चावेयव्वा**—चबाना, **सुदुक्करं**—अतिदुष्कर है, (वैसे ही चारित्र का पालन दुष्कर है।) ॥३८॥

जहा—जैसे, **दित्ता**—प्रज्वलित, **अग्गिसिहा**—अग्निशिखा को, **पाउं**—पीना, **सुदुक्करं**—अत्यन्त दुष्कर, **होइ**—होता है, **तह**—वैसे ही, **जे**—जो, **तारुण्णे**—युवावस्था में, **समणत्तणं**—श्रमणधर्म का पालन, **करेउं**—करता है, (वह) **दुक्करं**—दुष्कर है ॥३९॥

जहा—जैसे, **जे कोत्थलं**—वस्त्र का जो कोत्थल=थैला, **होइ**—होता है, (उसे) **वायस्स**—हवा से, **भरेउं**—भरना, **दुक्खं**—कठिन होता है, **तहा**—वैसे ही, **कीवेणं**—कायर के द्वारा, **जे**—जो, **समणत्तणं**—श्रमणधर्म का पालन, **करेउं**—करना (है, वह) **दुक्खं**—कठिन होता है ॥४०॥

जहा—जैसे, **मंदरोगिरी**—मेरुपर्वत को, **तुलाए**—तराजू से, **तोलेउं**—तोलना, **दुक्करं**—दुष्कर है, **तहा**—वैसे ही, **निहुयं**—निश्चल (और) **नीसंकं**—निःशंक होकर **समणत्तणं**—श्रमणधर्म का पालन करना भी, **दुक्करं**—दुष्कर है ॥४१॥

जहा—जैसे, **रयणायरो**—रत्नाकर=समुद्र को, **भुयाहिं**—भुजाओं से, **तरिउं**—तैरना, **दुक्करं**—दुष्कर है, **तहा**—वैसे ही, **अणुवसंतेणं**—अनुपशान्त व्यक्ति के द्वारा, **दमसागरो**—संयम (दम) के सागर को (पार करना), **दुक्करं**—दुष्कर है ॥४२॥

(अतः) **जाया**—हे पुत्र !, **तुमं**—तुम (पहले) **पंचलक्खणए**—शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शरूप पांच लक्षण (प्रकार) वाले, **माणुस्सए भोगे**—मनुष्य सम्बन्धी कामभोगों का, **भुंज**—उपभोग करो। **तओ पच्छा**—उसके बाद, **भुत्तभोगी**—भुक्त भोगी होकर, **धम्मं चरिस्ससि**—श्रमण धर्म का आचरण करना ॥४३॥

भावार्थ—हे पुत्र ! गुणों का महाभार तो लोहे के भार के समान गुरुतर—(अत्यन्त बोझिल) है, जिसे जीवनभर कहीं विश्राम लिये बिना ढोना तो अत्यन्त कठिन है ॥३५॥

जिस प्रकार आकाशगंगा का स्रोत तथा प्रतिस्रोत (जलधारा का विपरीत दिशा में बहने वाला प्रवाह) दुस्तर है तथा जिस प्रकार भुजाओं से समुद्र को तैरना दुष्कर है, वैसे ही गुणों के समुद्र को तैरना भी दुष्कर है। ॥३६॥

वालू के कौर की तरह संयम निःस्वाद (स्वादरहित) है और तपश्चरण तो तलवार की धार पर चलने जैसा अतिदुष्कर है ॥३७॥

पुत्र ! सर्प की तरह एकाग्र (स्थिर) दृष्टि से, चारित्रधर्म का पालन करना वैसे ही दुष्कर है, जैसे लोहे के जौ चवाने दुष्कर हैं ॥३८॥

जैसे प्रज्वलित अग्निशिखा (आग की लपट) को पीना दुष्कर होता है, वैसे ही तरुण-अवस्था में श्रमणधर्म का पालन करना भी दुष्कर है ॥३९॥

जैसे वस्त्र के थैले को हवा से भरना अतिकठिन होता है, वैसे ही कायर के द्वारा श्रमणधर्म का पालन करना कठिन होता है ॥४०॥

जैसे सुमेरु-पर्वत को तराजू से तोलना दुष्कर है, वैसे ही शान्त (निश्छल) और निःशंक होकर श्रमणधर्म का पालन करना भी दुष्कर है ॥४१॥

जैसे भुजाओं से समुद्र को पार करना दुष्कर है, वैसे ही अनुपशान्त व्यक्ति के लिए संयमरूपी समुद्र को पार करना भी दुष्कर होता है ॥४२॥

अतः हे पुत्र ! (हमारी राय यह है कि) तुम (पहले) शब्दादि पांच प्रकार के काम-भोगों का उपभोग करो, उसके बाद भुक्तभोगी होकर श्रमण-धर्म का आचरण करो ॥४३॥

विवेचन—संयमपालन की दुष्करता : बारह उपमाओं से—प्रस्तुत आठ गाथाओं (गाथा ३५ से ४२ तक) में संयम-पालन की दुष्करता निम्नोक्त उपमाओं से प्रतिपादित की गई है—

१. लोहे का भार उठाने के समान।
२. आकाशगंगा के स्रोत को तैरने के समान।
३. प्रवाह के विपरीत दिशा में तैरने के समान।
४. बालू के कौर के समान निःस्वाद।
५. खड्ग की धार पर चलने के समान।
६. भुजाओं से समुद्र को पार करने के समान।
७. सर्प की तरह एकाग्रदृष्टि से चलने के समान।
८. लोहे के जौ चवाने के समान।
९, प्रज्वलित अग्निज्वाला को पीने के समान।
१०. वस्त्र के थैले को हवा से भरने के समान।
११. मेरुपर्वत को तराजू से तौलने के समान।

१२. भुजाओं से समुद्र को तैरने के समान—
अनुपशान्त के लिए संयम पालना दुष्कर है ।

फलितार्थ—४३वीं गाथा में फलितार्थ दिया गया है कि पुत्र ! संयम की दुष्करताओं को देखते हुए अभी तुम गृहस्थाश्रम में रहो, भुक्तभोगी बन कर बाद में संयमग्रहण करना ।

मृगापुत्र द्वारा नरकादि गतियों में भयंकरतम दुःखानुभव का चित्रण—

मूल—सो बितऽम्मापियरो, एवमेयं जहाफुडं ।
इह लोए निप्पिवासस्स, नत्थि किंचि वि दुक्करं ॥४४॥

सारीर-माणसा चेव वेयणाओ अणंतसो ।
मए सोढाओ भीमाओ, असइं दुक्ख-भयाणि य ॥४५॥

जरा-मरण-कंतारे, चाउरंते भयागरे ।
मए सोढाणि भीमाणि, जम्माणि मरणाणि य ॥४६॥

जहा इहं अगणी उण्हो, एत्तोऽणंतगुणे तहिं ।
नरएसु वेयणा उण्हा, अस्साया वेइया मए ॥४७॥

जहा इमं इहं सीयं, एत्तोऽणंतगुणे तहिं ।
नरएसु वेयणा सीया, अस्साया वेइया मए ॥४८॥

कंदंतो कंदुकुम्भीसु, उड्ढपाओ अहोसिरो ।
हुयासणे जलंतंमि, पक्कपुव्वो अणंतसो ॥४९॥

महादवग्गि-संकासे, मरुम्मि वइरवालुए ।
कलंबवालुयाए य, दड्ढपुव्वो अणंतसो ॥५०॥

रसंतो कंदुकुम्भीसु, उड्ढं बद्धो अबंधवो ।
करवत्त-करकयाईहिं, छिन्नपुव्वो अणंतसो ॥५१॥

अइतिक्खकंटगाइण्णे तुंगे सिंबलि-पायवे ।
खेवियं पासबद्धेणं, कड्ढोकड्ढाहिं दुक्करं ॥५२॥

महाजंतेसु उच्छू वा, आरसंतो सुभेरवं ।
पीलिओ मि सकम्मेहिं, पावकम्मो अणंतसो ॥५३॥

कूवंतो कोल-सुणएहिं, सामेहिं सबलेहिं य ।
पाडिओ फालिओ छिन्नो, विप्फुरंतो अणेगसो ॥५४॥

असीहिं अयसि-वण्णाहिं, भल्लीहिं पट्टिसेहि य ।
छिन्नो भिन्नो विभिन्नो य, ओइण्णो पावकम्मुणा ॥५५॥

अवसो लोहरहे जुत्तो, जलंते समिलाजुए।
चोइओ तोत्तजुत्तेहिं, रोज्झो वा जह पाडिओ ॥५६॥

हुयासणे जलंतम्मि, चियासु महिसो विव।
दड्ढो पक्को य अवसो, पावकम्मेहि पाविओ ॥५७॥

बला संडास-तुण्डेहिं, लोहतुण्डेहि पक्खिहिं।
विलुत्तो विलवंतोऽहं, ढंकगिद्धेहिऽणंतसो ॥५८॥

तण्हा-किलंतो धावंतो, पत्तो वेयरणिं नदिं।
जलं पाहिं त्ति चिंतंतो, खुरधाराहिं विवाइओ ॥५९॥

उण्हाभितत्तो संपत्तो, असिपत्तं महावणं।
असिपत्तेहिं पडंतेहिं, छिन्नपुव्वो अणेगसो ॥६०॥

मुग्गरेहिं मुसंढीहिं, सूलेहिं मुसलेहि य।
गयासं भग्गगत्तेहिं, पत्तं दुक्खं अणंतसो ॥६१॥

खुरेहिं तिक्खधारेहिं, छुरियाहिं कप्पणीहि य।
कप्पिओ फालिओ छिन्नो, उक्कित्तो य अणेगसो ॥६२॥

पासेहिं कूडजालेहिं, मिओ वा अवसो अहं।
वाहिओ बद्ध-रुद्धो अ, बहुसो चेव विवाइओ ॥६३॥

गलेहिं मगरजालेहिं, मच्छो वा अवसो अहं।
उल्लिओ फालिओ गहिओ, मारिओ य अणंतसो ॥६४॥

वीदंसएहि जालेहिं, लेप्पाहिं सउणो विव।
गहिओ लग्गो बद्धो य, मारिओ य अणंतसो ॥६५॥

कुहाड-फरसुमाईहिं, वड्ढईहिं दुमो विव।
कुट्टिओ फालिओ छिन्नो, तच्छिओ य अणंतसो ॥६६॥

चवेड-मुट्ठिमाईहिं, कुमारेहिं, अयं पिव।
ताडिओ कुट्टिओ भिन्नो, चुण्णिओ य अणंतसो ॥६७॥

तत्ताइं तंबलोहाइं, तउयाइं सीसयाणि य।
पाइओ कलकलंताइं, आरसंतो सुभेरवं ॥६८॥

तुहं पियाइं मंसाइं, खंडाइं सोल्लगाणि य।
खाविओ मि समंसाइं, अग्गिवण्णाइं णेगसो ॥६९॥

तुहं पिया सुरा सीहू, मेरओ य महूणि य।
पाइओ मि जलंतीओ, वसाओ रुहिराणि य ॥७०॥

निच्चं भीएण तत्थेणं दुहिएण वहिएण य।
परमा दुहसंबद्धा, वेयणा वेइया मए ॥७१॥

तिव्व-चंड-प्पगाढाओ, घोराओ अइदुस्सहा।
महब्भयाओ भीमाओ, नरएसु वेइया मए ॥७२॥

जारिसा माणुसे लोए, ताया! दीसंति वेयणा।
एत्तो अणंत-गुणिया, नरएसु दुक्ख-वेयणा ॥७३॥

सव्वभवेसु अस्साया, वेयणा वेइया मए।
निमेसंतरमित्तं पि, जं साया नत्थि वेयणा ॥७४॥

छाया—स ब्रूतेऽम्बापितरौ, एवमेतद् यथा-स्फुटम्।
इहलोके निष्पिपासस्य, नास्ति किञ्चिदपि दुष्करम् ॥४४॥

शारीर-मानस्यश्चैव, वेदनास्तु अनन्तशः।
मया सोढा भीमाः, असकृद् दुःख-भयानि च ॥४५॥

जरा-मरण-कान्तारे, चातुरन्ते भयाकरे।
मया सोढानि, भीमानि जन्मानि मरणानि च ॥४६॥

यथेहाग्निरुष्णः, इतोऽनन्तगुणस्तत्र।
नरकेषु वेदना उष्णा, असाता वेदिता मया ॥४७॥

यथेदमिह शीतं, इतोऽनन्तगुणं तत्र।
नरकेषु वेदना शीता, असाता वेदिता मया ॥४८॥

क्रन्दन् कन्दु-कुम्भीषु, ऊर्ध्वपादोऽधःशिराः।
हुताशने ज्वलति, पक्वपूर्वोऽनन्तशः ॥४९॥

महादवाग्नि-संकाशे, मरौ वज्र-वालुकायाम्।
कदम्ब-वालुकायां च, दग्धपूर्वोऽनन्तशः ॥५०॥

रसन् कन्दुकुम्भीषु, ऊर्ध्वं बद्धोऽबान्धवः।
करपत्र-क्रकचैः, छिन्न-पूर्वोऽनन्तशः ॥५१॥

अतितीक्ष्ण-कण्टकाकीर्णे, तुंगे शिम्बलि-पादपे।
क्षेपितं पाशबद्धेन, कर्षापकर्षैर्दुष्करम् ॥५२॥

महायन्त्रेष्विक्षुरिव, आरसन् सुभैरवम्।
पीडितोऽस्मि स्वकर्मभिः, पापकर्माऽनन्तशः ॥५३॥

कूजन् कोल-शुनकैः, श्यामैः शबलैश्च।
पाटितः स्फाटितश्छिन्नः, विस्फुरन्ननेकशः ॥५४॥

असिभिरतसी-वर्णाभिः, भल्लीभिः पट्टिशैश्च ।
छिन्नो भिन्नो विभिन्नश्च, अवतीर्णः पापकर्मणा ॥५५॥

अवशो लोहरथे युक्तः, ज्वलति समिलायुते ।
नोदितस्तोत्रयोक्त्रैः, 'रोज्झो' (गवयो) वा यथा पातितः ॥५६॥

हुताशने ज्वलति, चितासु महिष इव ।
दग्धःपक्वश्चावशः पापकर्मभिः प्रावृतः ॥५७॥

वलात् सन्दंश-तुण्डैः, लोहतुण्डैः पक्षिभिः ।
विलुप्तो विलपन्नहं, ढंक-गृध्रै रनन्तशः ॥५८॥

तृष्णा-क्लान्तो धावन्, प्राप्तो वैतरणीं नदीम् ।
जलं पास्यामीति चिन्तयन्, क्षुरधाराभिर्व्यापादितः ॥५९॥

उष्णाभितप्तः सम्प्राप्तः, असिपत्रं महावनम् ।
असिपत्रैः पतद्भिः, छिन्नपूर्वोऽनेकशः ॥६०॥

मुद्गरैर्मुसुण्ढीभिः, शूलैर्मूशलैश्च ।
गताशं भग्नगात्रैः प्राप्तं दुःखमनन्तशः ॥६१॥

क्षुरैस्तीक्ष्णधारैः, क्षुरिकाभिः कल्पनीभिश्च ।
कल्पितः पाटितश्छिन्नः, उत्कृत्तश्चानेकशः ॥६२॥

पाशैः कूटजालैः, मृग इवावशोऽहम् ।
वाहितो वद्धरुद्धोवा, वहुशश्चैव विपादितः ॥६३॥

गलैर्मकरजालैः, मत्स्य इवावशोऽहम् ।
उल्लिखितः पाटितो गृहीतः मारितश्चानन्तशः ॥६४॥

विदंशकैर्जालैः, लेपैः शकुन इव ।
गृहीतो लग्नो वद्धश्च, मारितश्चानन्तशः ॥६५॥

कुठार-परश्वादिभिः, वार्धिकैर्द्रुम इव ।
कुट्टितः पाटितश्छिन्नः, तक्षितश्चानन्तशः ॥६६॥

चपेटा-मुष्ट्यादिभिः, कुमारैरय इव ।
ताडितः कुट्टितो भिन्नः चूर्णितश्चानन्तशः ॥६७॥

तप्तानि ताम्र-लोहानि, त्रपुकानि सीसकानि च ।
पायितः कल-कलायमानानि, आरसन् सुभैरवम् ॥६८॥

तव प्रियाणि मांसानि, खण्डानि शूल्यकानि च ।
खादितोऽस्मि स्वमांसानि, अग्निवर्णान्यनेकशः ॥६९॥

तव प्रिया सुरासीधुः, मेरकश्च मधूनि च।
पायितोऽस्मि ज्वलन्तीः, वसा-रुधिराणि च ॥७०॥

नित्यं भीतेन त्रस्तेन, दुःखितेन व्यथितेन च।
परमा दुःखसम्बद्धा वेदना वेदिता मया ॥७१॥

तीव्र-चण्ड-प्रगाढाः घोरा अतिदुस्सहाः।
महाभया भीमाः, नरकेषु वेदिता मया ॥७२॥

यादृश्यो मानुषे लोके, तात! दृश्यन्ते वेदनाः।
इतोऽनन्तगुणिताः नरकेषु दुःख-वेदनाः ॥७३॥

सर्वभवेष्वसाता, वेदना वेदिता मया।
निमेषान्तर-मात्रमपि, यत्साता नास्ति वेदना ॥७४॥

पद्या०—मृगापुत्र ने कहा—सत्य हैं, तात! आपके कथित वचन।
जिसको न विषय की प्यास यहाँ, उसको कुछ भी न कठिन पालन ॥४४॥

विपुल वेदना तन-मन की, हमने हैं बार अनन्त सही।
और अनेकों बार सहन हैं, किये भयंकर दुःखशत भी ॥४५॥

चार अन्त वाले भय-आकर, जरा-मरण के कानन में।
जन्म-मरण-दुःख सहे भयंकर, इस जगती के आंगन में ॥४६॥

जैसे है पावक उष्ण यहाँ, इससे अनन्तगुण उष्ण वहाँ।
है सही नरक में उष्णव्यथा, दुःखदायी है अतिकष्ट जहाँ ॥४७॥

जैसे यह सर्दी बहुत यहाँ, इससे अनन्तगुण शीत वहाँ।
सही वेदना मैंने नरकों में, है शीत-व्यथा अतिदुःखद जहाँ ॥४८॥

पाक-पात्र में क्रन्दन करता, पद ऊँचा, सिर नीचा कर।
अमितवार मैं गया पकाया, जलते हुए हुताशन पर ॥४९॥

महादवाग्नि-तुल्य ज्वाला में, मरु की वज्र-वालुका पर।
अमितवार मैं गया जलाया, कदम्ब-वालुका रेती पर ॥५०॥

रोता बन्धु-हीन कुम्भी में, बांधा ऊपर लटका कर।
काटा गया अनन्तवार मैं, करवत-आरा में देकर ॥५१॥

अत्यन्त तीक्ष्ण कांटों वाले, सीमल के ऊँचे तरु ऊपर।
पाशबद्ध मैं खिन्न हुआ, दुष्कर कर्षण से इधर-उधर ॥५२॥

महायंत्र में इक्षु-सदृश, निजकर्मों से पीला जा कर।
हैं दारुण-शब्द किये मैंने, बहुवार पाप का संचय कर ॥५३॥

काले शवल श्वान शूकर से, क्रन्दन करता इधर-उधर।
काटा, फाड़ा और गिराया, गया वहुत मैं उस भू पर ॥५४॥

अलसी-रंग-समान, भल्ल-लोहक दण्डों और तलवारों से।
हुआ प्रखण्डित छिन्न-भिन्न, मैं पापकर्म के भारों से ॥५५॥

ज्वालायुक्त कील वाले, अय-रथ में विवश वना जोड़ा।
चावुक कीलों से रोझ-तुल्य, पा हांक गिरा तन को तोड़ा ॥५६॥

गया जलाया और पकाया, ज्वलित चितानल में देकर।
परवश ढंका पाप-कर्मों से, भैंसे-सम मैं दुःख में पड़कर ॥५७॥

गृध्र ढंक सण्डास-तुण्ड, और लौह-तुण्ड पक्षी द्वारा।
वल-पूर्वक करते वहुविलाप, मैं गया वहाँ नोंचा-फाड़ा ॥५८॥

मैं वैतरणी के तट पहुँचा, दौड़ा अतितृपा-विकल होकर।
सोचा था-'जल पीऊंगा', पर क्षुरधारा से चीरा धरकर ॥५९॥

अतितप्त हुआ मैं गर्मी से, असिपत्र महावन में आया।
तन पर गिरते असिपत्रों से, छिद गया, कष्ट वहुधा पाया ॥६०॥

मुद्गर मूसल मुसुण्ढि-शूल से, चूर हुआ यह तन मेरा।
खो कर आशा टूटे अंगों से, अमित वार दुःख आ घेरा ॥६१॥

मैं तीक्ष्ण धारवाली कैंची, छुरिका और तेज छुरे जैसे।
खण्डित पाटित संच्छिन्न और, उत्कीर्ण हुआ उन अस्त्रों से ॥६२॥

कूटजाल और पाशों से, मृगतुल्य वहाँ परवश हो कर।
मैं वहुत वार वांधा रोका, या ठगा मार खाया तन पर ॥६३॥

कांटों और मगर-जालों से, मैं मच्छ-तुल्य परवश हो कर।
गया वहुत खींचा फाड़ा, पकड़ा मारा उसमें जा कर ॥६४॥

वाज जाल अवलेपों से, खग-तुल्य अनन्तीवार वहाँ।
पकड़ा चिपकाया वद्ध हुआ, एवं मारा भी गया वहाँ ॥६५॥

जैसे तरु-वर्द्धकि हाथों से, फरसा कुठार आदिक द्वारा।
कूटा छीला, दो टूक छेद, वहु तक्षण से जीवन हारा ॥६६॥

लोहे की भांति लुहारों से, मुट्ठी चपेट आदिक द्वारा।
पीटा कूटा और चूर्ण भिन्न, वहु वार हुआ यह तन सारा ॥६७॥

तांवा लोहा रांगा सीसा, कलकल रव करता पिघला कर।
था गया पिलाया वहुत मुझे, क्रन्दन करते भैरव अविकल ॥६८॥

था मांसखण्ड तुझको प्यारा, शूलारोपित तू खाता था।
यों याद दिला निज मांस अग्नि-सम लाल खिलाया जाता था ।।६९।।

सुरा सीधु मेरक मदिरा, और मधु से प्रीति रही तुमको।
यों याद दिला जलती चर्बी, और रक्त पिलाया था मुझको ।।७०।।

सदा भीत संत्रस्त दुःखित, और व्यथित रूप हो कर हमने।
परम दुःखमय तीव्र व्यथा, का बहुत किया अनुभव हमने ।।७१।।

तीव्र चण्ड अतिदुःसह भयद, जो घोर प्रगाढ़ व्यथा भारी।
नरकलोक में उन सबके, अनुभव की आई थी बारी ।।७२।।

हे तात! मनुष्य के इस भव में, जो व्यथा दिखाई देती है।
इससे अनन्तगुण बढ़ी व्यथा, नरकों में पाई जाती है ।।७३।।

अनुभव किया सभी जन्मों में, मैंने अतिशय दुःख व्यथा।
अन्तर निमेष का भी न मिला, जिसमें हो साता, नहीं व्यथा ।।७४।।

अन्वयार्थ—**सो**—वह (मृगापुत्र) **अम्मा-पियरो**—माता-पिता से **बिंत**—बोला, **जहा फुडं**—आपने (श्रामण्य की दुष्करता के विषय में) जैसा कहा, **एवमेयं**—ऐसा ही है, (किन्तु) **इहलोए**—इस लोक में, **निप्पिवासस्स**—तृष्णा रहित के लिए, **किंचि वि दुक्करं**—कुछ भी दुष्कर, **नत्थि**—नहीं है ।।४४।।

मए—मैंने, **सारीर-माणसा चेव**—शारीरिक और मानसिक, **भीमाओ-वेयणाओ**—भयंकर वेदनाएँ, **अणंतसो**—अनन्तवार, **सोढाओ**—सहन की हैं। **य**—और, **असइं**—अनेक बार **दुक्खं-भयाणि**—दुःख और भय भी अनुभव किये हैं ।।४५।।

मए—मैंने, **चाउरंते**—नरकादि चारगतिरूप अन्त वाले, **भयागरे**—भय के आकर (खान), **जरा-मरण-कान्तारे**—जरा और मृत्युरूपी संसार-कान्तार में (महावन) **भीमाणि**—भयंकर, **जम्माणि**—जन्म, **य**—और **मरणाणि**—मरण (के दुःखों) को, **सोढानि**—सहा है ।।४६।।

जहा—जैसे, **इह**—यहाँ, **अगणी**—अग्नि, **उण्हो**—उष्ण है, **एत्तो**—इससे भी, **अणंतगुणे**—अनन्तगुणी अधिक, **अस्साया**—दुःख (असाता) रूप, **उण्हा—वेयणा**—उष्ण वेदना, **मए**—मैंने, **तहिं नरएसु**—वहाँ नरकों में, **वेइया**—अनुभव की (भोगी) है ।।४७।।

जहा—जैसे, **इहं**—यहाँ, **इमं सीयं**—यह शीत है, **एत्तो**—इससे भी, **अणंतगुणे**—अनन्तगुनी अधिक, **तहिं**—वहाँ, नरको में, **अस्साया**—दुःखरूप, **सीया-वेयणा**—शीत वेदना, **मए**—मैंने, **वेइया**—अनुभव की है ।।४८।।

(मैं नरक की) **कंदकुम्भीसु**—कन्दुकुम्भियों में—पकाने के लोह पात्रों में, **उड्ढपाओ अहोसिरो**—ऊपर पैर और नीचा सिर करके, **जलंतम्मि हुयासणे**—प्रज्वलित अग्नि में, **कंदंतो**—आक्रन्दन करता हुआ, **अणंतसो**—अनन्तवार, **पक्क-पुव्वो**—इससे पूर्व में पकाया गया हूं ॥४९॥

महादवग्गिसंकासे—महा भयंकर दावाग्नि के सदृश **मरुम्मि**—मरुप्रदेश में, (तथा) **वइरवालुए**—वज्रवालुका (वज्र के समान व कर्कश कंकरीली रेत) में, **य**—और, **कदंबवालुयाए**—कदम्ब (नदी के तट की तपी हुई) वालुका (वालू रेत) में (मैं) **अणंतसो**—अनन्त वार, **दड्ढपुव्वो**—जलाया गया हूं ॥५०॥

अबंधवो—बन्धु-बान्धवों से रहित (असहाय), **रसंतो**—रोता चिल्लाता हुआ (मैं), **कंदुकुम्भीसु**—कन्दुकुम्भी में, **उड्ढं बद्धो**—ऊँचा बाँधा गया (तथा), **करवत्त-करकयाईहिं**—करवत और क्रकच—आरा आदि शस्त्रों से, **अणंतसो**—अनन्त वार, **छिन्नपुव्वो**—पहले छेदा गया हूं ॥५१॥

अइतिक्खकंटगाइण्णे—अत्यन्त तीखे कांटों से व्याप्त, **तुंगे**—ऊत्तुंग-ऊँचे, **सिंबलि-पायवे**—शाल्मलि (सेमर) वृक्ष पर, **पासबद्धेणं**—पाश से बांधकर, (परमा-धार्मिक असुरों द्वारा), **कड्ढोकड्ढाहिं**—इधर-उधर खींचतान करने से (मैं), **दुक्करं**—दुष्कर (दुःसह) कष्ट में, **खेवियं**—(पूर्वोपार्जित कर्मवश) फेंका गया (भोग चुका) हूं ॥५२॥

(मैं) **पावकम्मा**—पापकर्मा, **महाजंतेसु**—बड़े-बड़े यंत्रों (कोल्हुओं) में, **उच्छू वा**—इक्षु की तरह, **सकम्मेहिं**—अपने अशुभ कर्मों के कारण,, **सुभेरवं आरसंतो**—अति भयानक आक्रन्दन करता हुआ, **अणंतसो**—अनन्त वार, **पीलिओ मि**—पीला गया हूं ॥५३॥

कोल-सुणएहिं—सूअर और कुत्ते के रूप में, **सामेहिं य सबलेहिं**—श्याम तथा शबल नामक परमाधार्मिक देवों द्वारा, **विप्फुरन्तो**—इधर-उधर भागते हुए, **कूवंतो**—चिल्लाते हुए मुझे, **अणेगसो**—अनेक वार **पाडिओ**—नीचे गिराया (पटका) गया, **फाडिओ**—फाड़ा गया (और), **छिन्नो**—छेदा गया ॥५४॥

पावकम्मेहिं—पापकर्मों के कारण, (मैं) **ओइण्णो**—नरक में उत्पन्न (अवतीर्ण) होकर, **अयसि वण्णाहिं**—अलसी के फूलों के समान नीले रंग की, **असीहिं**—तलवारों से, **भल्लीहिं**—भालों से, **य**—और, **पट्टिसेहिं**—पडिस=लोहे के दण्डों से, **छिन्नो**—छेदा गया, **भिन्नो**—भेदा गया, **य**—और, **विभिन्नो**—खण्ड-खण्ड कर दिया गया ॥५५॥

समिला-जुए—समिला (जुए के छेदों में लगाने वाली कील) से युक्त जुए वाले, **जलंते**—जलते हुए, **लोहरहे**—लोहे के रथ में, (मैं) **अवसो**—विवश बना (जबर्दस्ती) **जुत्तो**—जोता गया हूं, **तोत्त-जुत्तेहिं**—चाबुक और रस्सी से, **चोइओ**—हांका (प्रेरित किया) गया हूं, **वा**—अथवा, **जह रोज्झो**—रोझ की तरह (पीट कर), **पाडिओ**—भूमि पर गिराया (पटका) गया हूं ॥५६॥

विदंसएहिं—(पक्षियों को डस जाने वाले) बाज पक्षियों, जालेहिं—जालों तथा लेप्पाहिं—वज्रलेपों के द्वारा, सउणो विव—पक्षी की भाँति, (मैं) अणंतसो—अनन्त बार, गहिओ—पकड़ा गया, लग्गो—चिपकाया गया, य—तथा, बद्धो—बांधा गया, य—और, मारिओ—मारा गया ॥६५॥

वड्ढईहिं—बढई लोगों द्वारा, दुमो विव—वृक्ष की तरह, (मैं) कुहाड-फरसुमाईहिं—कुल्हाड़ी और फरसे आदि से, अणंतसो—अनन्त बार, कुट्टिओ—कूटा गया हूँ, फालिओ—फाड़ा (चीरा) गया हूँ, छिन्नो—छेदा गया हूँ, य—और, तच्छिओ—छीला गया हूँ ॥६६॥

कुमारेहिं—लुहारों के द्वारा, अयं पिव—लोहे की भांति, (मैं) (परमाधार्मिक असुर कुमारों के द्वारा) चवेड-मुट्ठिमाईहिं—(चपत) और मुक्के आदि से, अणंतसो—अनन्त बार, ताडिओ—पीटा गया, कुट्टिओ—कूटा गया, भिन्नो—टुकड़े-टुकड़े किया गया, य—और, चुण्णिओ—चूर्ण की तरह चूर-चूर कर दिया गया ॥६७॥

सुभेरवं आरसंतो—भयंकर आक्रन्द करते हुए भी, (मुझे) कलकलंताइं—कलकलाता हुआ, तत्ताइं—तपाया हुआ गर्मागर्म, तंब-लोहाइं—ताम्बा और लोहा, तउयाइं—रांगा, य—और, सीसयाणि—सीसा, पाइओ—पिलाया गया ॥६८॥

तुहं—तुझे, खंडाइं—टुकड़े-टुकड़े किया हुआ, सोल्लगाणि य—और शूल में पिरो कर पकाया हुआ, मंसाइं—मांस, पियाइं—प्रिय था, (यह याद दिला-दिला कर), समंसाइं—अपने (मेरे) ही शरीर का मांस (काट कर और उसे तपा कर), अग्गिवण्णाइं—अग्नि जैसा लाल बनाकर, णेगसो—अनेक बार, खाविओमि—मुझे खिलाया गया ॥६९॥

तुहं—तुझे, सुरा—सुरा, सीहू—सीधु, मेरओ—मैरेय, य—और महूणि—महुओं से बना हुआ मद्य आदि मदिराएँ, पिया—प्रिय थीं, (यह याद दिलाकर); जलंतीओ—जलती हुई, वसाओ—चर्बी, य—और, रुहिराणि—खून, पाइओ—मि—मुझे पिलाया गया ॥७०॥

मए—मैंने (पूर्वजन्मों में, इसी प्रकार), निच्चं भीएण—सदैव भयभीत, तत्थेण—संत्रस्त, दुहिएण—दुःखित, य—और, वहिएण—व्यथित रहते हुए, परमा—अत्यन्त उत्कृष्ट, दुह-सम्बद्धा—दुःखपूर्ण, वेयणा—वेदना का वेइया—अनुभव किया ॥७१॥

मए—मैंने, नरएसु—नरकों में, तिव्वचंडप्पगाढाओ—तीव्र, प्रचण्ड और प्रगाढ़, (तथा) घोराओ—घोर, अइदुस्सहा—अत्यन्त दुःसह, महब्भयाओ—महा भयंकर, भीमाओ—भयजनक वेदनाएँ, वेइया—अनुभव की (भोगी) है ॥७२॥

ताया—पिताजी ! माणुसे लोए—मनुष्य-लोक में, जारिसा—जैसी, वेदणा—

वेदनाएँ, **दीसंति**—देखी जाती हैं, **एत्तो**—इससे, **अणंतगुणिया**—अनन्तगुनी अधिक, **दुक्खवेयणा**—दुःखपूर्ण वेदनाएँ, **नरएसु**—नरकों में होती हैं ॥७३॥

मए—मैंने, **सव्वभवेसु**—प्रायः सभी जन्मों में, **अस्साया**—असाता (दुःख) रूप, **वेयणा**—वेदना का, **वेइया**—अनुभव किया है। **निमिसंतरमित्तंपि**—एक पल मात्र भी असाता का अन्तरूप, **जं**—वहाँ, **साया वेयणा**—सुख (साता) रूप वेदना (अनुभूति), **नत्थि**—नहीं होती ॥७४॥

भावार्थ—मृगापुत्र ने अपने माता-पिता से कहा—आपने जो कुछ कहा है, वह ठीक वैसा ही है। किन्तु इस लोक में जो तृष्णारहित—निःस्पृह है, उसके लिए संयम-साधना किञ्चिद् भी दुष्कर नहीं है ॥४४॥

मैंने शारीरिक और मानसिक भयंकर से भयंकर वेदनाएँ अनन्त बार सहन की है, और अनेक वार भयंकर दुःख और भय भी अनुभव किये हैं ॥४५॥

मैंने नरकादि चतुर्गतिरूप अन्त वाले, तथा भय के आकर—जरा-मृत्यु-रूपी संसार-महावन में भयंकर जन्म-मरण के दुःख सहे हैं ॥४६॥

जैसे यहाँ अग्नि उष्ण है, इससे भी अनन्तगुनी अधिक दुःखरूप उष्ण-वेदना मैंने नरकों में अनुभव की है ॥४७॥

जैसे यहाँ यह शीत है, इससे भी अनन्तगुना अधिक दुःखरूप शीत-वेदना मैंने नरकों में अनुभव की है ॥४८॥

नरक की कन्दुकुम्भियों में मैं ऊपर पैर और नीचे सिर किये हुए प्रज्वलित अग्नि में आक्रन्दन करता हुआ अनन्त बार पकाया गया हूँ ॥४९॥

महाभयंकर दावानल के समान मरुभूमि में, तथा वज्र के समान कर्कश कंकरीली भूमि में, तथा नदी तट पर तपी हुई वालू में मैं अनन्त वार जलाया गया हूँ ॥५०॥

वान्धवों से विहीन असहाय होकर रोता-चिल्लाता हुआ मैं कन्दु-कुम्भी में ऊँचा वांधा गया, करौत और आरे आदि से अनन्त वार छेदा गया हूँ ॥५१॥

अत्यन्त तीक्ष्ण काँटों से घिरे हुए ऊँचे-ऊँचे सैमल के वृक्ष पर पाश से वांधकर इधर-उधर खींच करके मुझे पूर्वबद्ध कर्मवश असह्य कष्ट दिया गया ॥५२॥

अत्यन्त भयंकर रूप से रोता-चिल्लाता हुआ मैं पापकर्मा, वड़े-वड़े यन्त्रों में गन्ने की तरह अपने अशुभ कर्मवश अनन्तवार पीला गया हूँ ॥५३॥

इधर-उधर भागते और चिल्लाते हुए मुझे सूअर और कुत्ते के रूप में श्याम और शवल नामक परमाधर्मी असुरों द्वारा अनेक वार नीचे गिराया गया, फाड़ा गया और छेदा गया ॥५४॥

पापकर्मवश मैं नरक में उत्पन्न होकर अलसी के फूलों के समान नीले रंग की तलवारों से, भालों से और लोहे के डंडों से छेदा गया, भेदा गया और टुकड़े-टुकड़े किया गया ॥५५॥

समिला से युक्त जुए वाले जलते लौह के रथ में विवश वना मैं जोता गया हूँ, चाबुक और रस्सी से हांका गया हूँ, तथा रोझ की भांति पीटकर जमीन पर पटका गया हूँ ॥५६॥

पापकर्मों से घिरा हुआ पराधीन वना हुआ मैं अग्नि की जलती ज्वालाओं में भैंसे की तरह जलाया गया और पकाया गया ॥५७॥

लोहे के समान कठोर मुख वाले और संडासी के जैसी चोंच वाले ढंक और गिद्ध पक्षियों द्वारा, रोता-विलखता मैं वलात् अनन्तवार नोंचा गया ॥५८॥

प्यास से घवराकर दौड़ता हुआ मैं वैतरणी नदी पर पहुँचा, ज्योंही पानी पीने की सोच रहा था, त्योंही छुरे की धार के समान तेज जलधारा से मैं चीरा गया ॥५९॥

गर्मी से संतप्त होकर मैं ठण्डी छाया की खोज में असिपत्र महावन में पहुँचा, परन्तु वहाँ ऊपर से गिरते हुए तलवार के समान तीखे असिपत्रों से अनेक वार छेदा गया ॥६०॥

सब ओर से निराश-हताश हुए मेरे शरीर को मुद्गरों, मुसुण्ढियों, शूलों और मूसलों से चूर-चूर कर दिया गया। इस प्रकार मैंने अनन्तवार दुःख पाया है ॥६१॥

तीक्ष्ण धार वाले छुरों, छुरियों और कैंचियों से मैं अनेक वार काटा गया, फाड़ा गया, छेदा गया और मेरी चमड़ी उतारी गई ॥६२॥

पाशों और कूटजालों से विवश वने मृग की तरह मैं भी अनेक वार छलपूर्वक पकड़ा गया, वांधकर रोका गया, और विनष्ट कर दिया गया ॥६३॥

मछली पकड़ने के कांटों (वडिशों) और मगरों को पकड़ने के जालों से मछली की तरह विवश वना हुआ मैं अनन्तवार खींचा गया, फाड़ा गया, पकड़ा गया और मारा गया ॥६४॥

बाज नामक शिकारी पक्षियों द्वारा, जालों के द्वारा और चिपकाने वाले श्लेष्यद्रव्यों के द्वारा पक्षी की तरह मैं अनन्तवार पकड़ा गया, चिपकाया गया, (जालों में) बाँधा गया और (अन्त में) मारा गया ॥६५॥

जैसे बढ़ई कुल्हाड़े और फरसे आदि औजारों से वृक्षों को काटते हैं, चीरते हैं, टुकड़े-टुकड़े करते हैं, छेद करते हैं, और छीलकर तराशते हैं, इसी प्रकार मुझे भी अनन्तवार काटा गया, चीरा गया, टुकड़े-टुकड़े किये गये, छेदा गया और छीलकर तराशा गया ॥६६॥

जैसे लुहार लोहे को (घन पर) कूटते-पीटते हैं और चूर-चूर करते हैं, उसी प्रकार परमाधर्मी असुरकुमारों द्वारा मैं भी थप्पड़, मुक्के आदि से अनन्तवार पीटा गया, कूटा गया, खण्ड-खण्ड किया गया और चूर-चूर किया गया ॥६७॥

अति भयंकर रूप से चिल्लाते हुए मुझे परमाधर्मियों ने कलकलाते हुए गर्मागर्म तांबा, लोहा, रांगा और सीसा आदि पदार्थ बलात् पिलाये गये ॥६८॥

"तुझे टुकड़े-टुकड़े किया हुआ और शूल में पिरोकर भुना हुआ मांस प्रिय था", यह स्मरण कराकर उन यमपुरुषों द्वारा मेरे ही शरीर का मांस काटकर सलाखाओं पर भुनकर और अग्नि के समान लाल-लाल तपाकर मुझे अनेक बार खिलाया गया ॥६९॥

"दुष्ट ! तुझे सुरा, सीधु, मैरेय और मधु आदि मदिराएँ अत्यन्त प्रिय थीं", यह कर उन यमपुरुषों द्वारा मुझे जलती हुई चर्बी और रक्त पिलाया गया ॥७०॥

(इस प्रकार पूर्वजन्मों में) मैंने नित्य ही भयभीत, संत्रस्त, दुःखित और पीड़ित रहते हुए अत्यन्त दुःख से सम्बद्ध वेदनाएँ भोगी हैं ॥७१॥

(और) नरकों में मैंने जो वेदनाएँ भोगी थीं, वे तो अत्यन्त तीव्र, प्रचण्ड, प्रगाढ़, घोर, अति दुःसह, महाभयोत्पादक एवं भयंकर थीं ॥७२॥

पिताजी ! जिस प्रकार की वेदनाएँ मनुष्य-लोक में देखी जाती हैं, उनसे अनन्तगुणी अधिक दुःखरूप वेदनाएँ नरकों में अनुभव की जाती हैं ॥७३॥

मैंने सभी जन्मों में दुःखरूप वेदना का ही (प्रायः) अनुभव किया है, किन्तु पलक झपकने मात्र समय के लिए भी सुखरूप वेदना मैंने वहाँ अनुभव नहीं की ॥७४॥

विवेचन—प्रस्तुत २७ गाथाओं (गा० ४४ से ७० तक) में मृगापुत्र ने सभी गतियों में विशेषतः नरक गति में, अपने द्वारा अनुभूत रोमाञ्चक दुःखों का वर्णन किया है। इन दुःखों के वर्णन द्वारा वे माता-पिता को समझाना चाहते हैं, कि आपने संयमपालन के जिन कष्टों और दुःखों का चित्रण किया, उनसे अनन्तगुणे अधिक दुःख तो मैं स्वयं नरकों में तथा तिर्यञ्चादि गतियों में भोग चुका हूँ। संयम के कष्ट और दुःख तो उनकी तुलना में पासंगभर भी नहीं हैं। और संयम के ये कष्ट, जो आपने गिनाए हैं, वे उनके लिए तो कुछ भी दुष्कर नहीं हैं, जो निःस्पृह हैं- अर्थात्—जो विषयभोगों की, नामना-कामना की, तथा अमुक पदार्थों की लालसा से तथा किसी से कुछ पाने की आकांक्षा से रहित हैं, उनके लिए संयम के कष्ट दुष्कर नहीं रहते, वे उन कष्टों का सहर्ष स्वागत करते हैं -

नरक के दुःखों का वर्णन किस आधार पर ?—मृगापुत्र ने यहाँ जो नरक के द्रव्यगत, क्षेत्रगत, कालगत और भावगत तथा अशुभ-अनिष्ट शब्दादि संयोगगत विभिन्न दुःखों का वर्णन किया है, वह अपने पूर्वजन्मों के जाति स्मृति-ज्ञान के आधार पर किया है, वह कपोल कल्पित वर्णन नहीं है।

चारों गतियों में दुःख ही दुःख भोगे हैं—मृगापुत्र ने नरकादि गतियों में जिन दुःखों का अनुभव किया, उनका विशद रूप से वर्णन करने के बाद ७१ से लेकर ७४वीं गाथा तक में समुच्चय रूप से भी प्रतिपादन किया है। मृगापुत्र के कथन का तात्पर्य यह है कि नरक में तीव्र, घोर, प्रचण्ड, प्रगाढ़, असह्य एवं महाभयंकर उत्कट-दुःखरूप वेदनाएँ भयभीत, त्रस्त और व्यथित होकर भोगीं, जहाँ मनुष्य-लोक की वेदना से अनन्तगुनी वेदनाएँ हैं। वहाँ मुझे पलभर भी सुख नहीं मिला, मैंने देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक किसी भी जन्म में सुख का अनुभव नहीं किया। नरकों में प्राप्त होने वाले दुःखों का तो दिग्दर्शन करा ही दिया हैं, तिर्यञ्च योनि के दुःख भी सबके सामने प्रत्यक्ष हैं, मनुष्य जन्म में भी जिन दुःखों का सामना करना पड़ता है, वे भी आप सबको मालूम हैं। अब रही देवगति की बात, वह भी जन्म-मरण के बन्धन से ग्रस्त है। उसमें ईर्ष्या, द्वेष, काम, मोह आदि से जनित दुःख परम्परा की कमी नहीं है। कुछ जन्मों में सांसारिक सुखों के उपभोग की सामग्री भी प्राप्त हुई, किन्तु उसका अन्तिम परिणाम दुःख भोगने के सिवाय और कुछ नहीं निकला। अर्थात् वे सांसारिक सुख भी इष्टवियोग और अनिष्ट-संयोग के कारण दुःखमिश्रित ही रहे। इसलिए वह सुख भी वास्तव में सुख नहीं, सुखाभास था। निष्कर्ष यह है कि सभी गतियों में मुझे सुख की लेशमात्र भी उपलब्धि नहीं हुई। इस जन्म में आप मुझे सुखी

समझते हैं, परन्तु जहाँ तक जन्म जरा, मृत्यु का दौर है, वहाँ तक दुःख ही दुःख हैं। अतः इन सब दुःखों से छूटने का एकमात्र उपाय संयम है, जो सर्वोत्कृष्ट आत्मिक सुख को प्राप्त कराने वाला है।

हुयासणे जलंतंमि : तात्पर्य—प्रस्तुत में जो जलते हुए हुताशन (अग्नि) का उल्लेख है, उसका तात्पर्य नरक में जलते हुए प्रकाशमान अचित्त पुद्गल है। क्योंकि नरक में बादर अग्नि के जीव होते ही नहीं हैं, इसलिए वहाँ नरक की पृथ्वी का ही अग्नि जैसा उष्ण स्पर्श एवं प्रकाश समझना चाहिए।

अबंधवो : तात्पर्य—नरक में दी जाने वाली यातनाओं से छुड़ाने वाला कोई बान्धव नहीं था। लोक में कष्ट के समय स्वजन और मित्रवर्ग सहायता करते देखे जाते हैं, परन्तु नरक में मृगापुत्र–का कोई बन्धु-बान्धव उसकी सहायता के लिए या वेदना से बचाने के लिए उपस्थित नहीं था।

खेवियं : फलितार्थ—वृत्तिकार के अनुसार क्षेपितं का अर्थ होता है—क्षपित करवाया (खपाया) गया। इसका तात्पर्य यह है कि पूर्वजन्म में मैंने जिस प्रकार के पापकर्म उपार्जित किये थे, मुझे उन कर्मों के फलस्वरूप कष्ट दिया गया, अथवा उन कर्मों का फल भुगतवाया गया।

कड्ढोकड्ढाहिं खेवियं—'खेवियं' पद का 'कड्ढोकड्ढाहिं' के साथ अन्वय करते हैं तो उसका अर्थ होता है—मुझे कर्षण-अपकर्षण करके अर्थात् उलटा-सीधा खींचतान करके दुःख दिया गया।

विभिन्न परमाधार्मिक देवों का कार्य विभाग—नरक में नारकों को विविध प्रकार की यातना देने के लिए १५ प्रकार के परमाधर्मी यमपाल होते हैं। १५ प्रकार के परमाधार्मिकों के नाम और कार्य इस प्रकार हैं—

१. **अम्ब**—मारते पीटते और बाँधते हैं।
२. **अम्बरीष**—कंडों में पकाते हैं।
३. **श्याम**—विविध यातना देते हैं।
४. **सबल**—आँतें आदि निकालते हैं।
५. **रुद्र**—भाले आदि में पिरोते हैं।
६. **अवरुद्र**—अंगोपांग मोड़ते हैं।
७. **काल**—तेल में तलते हैं।
८. **महाकाल**—नारक को उसी का मांस खिलाते हैं।
९. **असिपत्र**—वैक्रिय से तलवार के समान तीखे पत्तों का वन बनाते हैं।

एगभूओ अरण्णे वा, जहा उ चरई मिगो।
एवं धम्मं चरिस्सामि, संजमेण तवेण य ॥७७॥

जया मिगस्स आयंको, महारण्णम्मि जायई।
अच्छंतं रुक्खमूलम्मि, को णं ताहे तिगिच्छई ? ॥७८॥

को वा से ओसहं देई, को वा से पुच्छई सुहं ?।
को से भत्तं च पाणं च, आहरित्तु पणामए ? ॥७९॥

जया य से सुही होइ, तया गच्छइ गोयरं।
भत्त-पाणस्स अट्ठाए, वल्लराणि सराणि य ॥८०॥

खाइत्ता पाणियं पाउं, वल्लरेहिं सरेहिं वा।
मिगचारियं चरित्ताणं, गच्छइ मिगचारियं ॥८१॥

एवं समुट्ठिओ भिक्खू, एवमेव अणेगओ।
मिगचारियं चरित्ताणं, उड्ढं पक्कमइ दिसं ॥८२॥

जहा मिगे एग अणेगचारी, अणेगवासे धुवगोयरे य।
एवं मुणी गोयरियं पविट्ठे, नो हीलए, नो वि य खिसएज्जा ॥८३॥

छाया—स ब्रूतेऽम्बा-पितरौ, एवमेतद् यथा-स्फुटम्।
प्रतिकर्म कः करोति, अरण्ये मृग-पक्षिणाम् ? ॥७६॥

एकभूतोऽरण्ये वा, यथा नु चरति मृगः।
एवं धर्मं चरिष्यामि, संयमेन तपसा च ॥७७॥

यदा मृगस्यातंकः, महारण्ये जायते।
तिष्ठन्तं वृक्षमूले, क एनं तदा चिकित्सति ? ॥७८॥

को वा तस्मै औषधं दत्ते ? को वा तस्य पृच्छति सुखम् ?।
कस्तस्मै भक्तं च पान च, आहृत्य प्रणामयेत् (अर्पयेत्) ? ॥७९॥

यदा च स सुखी भवति, तदा गच्छति गोचरम्।
भक्त-पानस्यार्थाय, वल्लराणि सरांसि च ॥८०॥

खादित्वा पानीयं पीत्वा, वल्लरेषु सरस्सु वा।
मृग-चारिकां चरित्वा, गच्छति मृगचारिकाम् ॥८१॥

एवं समुत्थितो भिक्षुः, एवमेवाऽनेकगः।
मृगचारिकां चरित्वा, ऊर्ध्वां प्रक्रामति दिशाम् ॥८२॥

यथा मृग एकोऽनेकचारी, अनेकवासो ध्रुवगोचरश्च।
एवं मुनिर्गोचर्यां प्रविष्टः, नो हीलयेन्नोऽपि च खिसयेत् ॥८३॥

जया य—जब, **से**—वह, **सुही**—स्वस्थ (सुखी), **होइ**—हो जाता है, **तया**—तब (स्वयं), **गोयरं**—गोचरभूमि (चारागाह) में, **गच्छइ**—चला जाता है, **य**—और, **भत्त-पाणस्स अट्ठाए**—भक्त-पान (खाने-पीने) के लिए (वह) **वल्लराणि**—वल्लरों-लतानिकुंजों, **य**—तथा, **सराणि**—जलाशयों में (जाता है।)॥८०॥

वल्लरेहिं सरेहिं वा—लताकुंजों या सरोवरों में, **खाइत्ता पाणियं पाउं**—(यथेच्छ) खा कर और पानी पीकर, **मिगचारियं चरित्ताणं**—मृगचर्या से (स्वतन्त्र विचरण) करता हुआ, वह (अपनी) **मिगचारियं**—मृगचर्या (मृगों की निवास भूमि) को, **गच्छई**—चला जाता है ॥८१॥

एवं—इसी प्रकार, (रूपादि में अप्रतिबद्ध), **समुट्ठिओ**—संयम में उत्थित-उद्यत रहने वाला, **भिक्खू**—भिक्षाजीवी साधु, **अणेगओ**—अनेक स्थानों में स्थित (अनियतचारी) होकर, (स्वतन्त्र विहार करता हुआ), **मिगचारियं चरित्ताणं**—मृगचर्या से आचरण कर, **उड्ढं दिसं**—ऊर्ध्वदिशा (मोक्ष) को, **पक्कमइ**—गमन करता है ॥८२॥

जहा—जैसे, **मिगे एग**—मृग अकेला, **अणेगचारी**—अनेक स्थानों में विचरण करता है, **अणेगवासे**—अनेक स्थानों में निवास करता है, **य**—और, **धुवगोयरे**—सदैव गोचर से ही जीवनयापन करता है, **एवं**—इसी प्रकार, **गोयरियं पविट्ठे**—गोचरी के लिए (गृहस्थ के घरों में) प्रविष्ट हुआ, **मुणी**—मुनि भी, **नो हीलए**—किसी की अवज्ञा नहीं करता, **य**—और, **नो वि खिंसए**—न ही किसी की निन्दा करता है अर्थात्—वह मृगवत् चर्या करता है ॥८३॥

भावार्थ—मृगापुत्र ने माता-पिता से कहा—आपने जो कहा, वह ठीक है, किन्तु जंगल में रहने वाले निरीह हिरण आदि पशुओं और पक्षियों की चिकित्सा कौन करता है?॥७६॥

जैसे जंगल में मृग अकेला विचरता है, वैसे ही मैं भी संयम और तप के साथ एकाकी भाव को प्राप्त कर धर्म का आचरण करूंगा ॥७७॥

जब महावन में मृग के शरीर में आतंक (शीघ्रघातक रोग) उत्पन्न हो जाता है, तब किसी वृक्ष के नीचे बैठे हुए उस मृग की कौन चिकित्सा करता है?॥७८॥

(वहाँ जाकर) कौन उसे औषध देता है? कौन उससे सुख की बात पूछता है? कौन उसे खाने-पीने को भोजन-पानी लाकर देता है?॥७९॥

जब वह निरोगी हो जाता है, तब स्वयं गोचरभूमि में जाता है और खाने-पीने के लिए लता-निकुंजों और जलाशयों में घूमता है ॥८०॥

लतानिकुंजों में घास खाकर तथा सरोवरों में पानी पीकर मृगचर्या करता हुआ वह मृग अपनी मृगचारिक (मृगों की निवास भूमि) को स्वतः ही चला जाता है ॥८१॥

इसी प्रकार संयम में समुद्यत अनियतचारी भिक्षु मृगचर्यावत् आचरण करके ऊर्ध्वदिशा-मोक्ष में गमन करता है ॥८२॥

जैसे अकेला मृग अनेक स्थानों में विचरता है और अनेक स्थानों में रहता है; (एक स्थान में नहीं), तथा सदा गोचर से ही जीवन-यापन करता है, वैसे ही मुनि भी गोचरी में मृगचर्या की तरह अनेक घरों में भिक्षा के लिए जाए और (भिक्षा अच्छी मिले या न मिले किन्तु दाता की) अवज्ञा या निन्दा नहीं करे ॥८३॥

विवेचन—मृगापुत्र द्वारा मृगचर्या से साधुचर्या की तुलना—अपने माता-पिता द्वारा मुनिजीवन में चिकित्सा न करने के कष्ट के उत्तर में मृगापुत्र ने मृगचर्या के साथ मुनिचर्या की तुलना करते कहा—माता-पिता ! मैं मृगचर्यावत् आचरण करूंगा। जैसे वन में रहने वाले मृगादि पशुपक्षी बीमार पड़ते हैं, तब कौन उन्हें दवा लाकर देता है, कौन उनसे सुख-दुःख की बात पूछता है ? कौन उनके लिए घास या पानी लाकर खिलाता-पिलाता है ? बेचारे स्वस्थ होने तक आहार-पानी छोड़कर चुपचाप बैठे रहते हैं, जब वे स्वस्थ हो जाते हैं, तब स्वयं गोचरभूमि में लतानिकुंजों और जलाशयों की खोज करते हैं, वहाँ यथेच्छ खा-पीकर आमोद-प्रमोद करते हुए अपने स्थान पर वापस लौट आते हैं। उनकी यह मृगचर्या उनको कष्टदायक महसूस नहीं होती, सहजभाव से स्वाभाविक लगती है। इसी मृगचर्या का मैं भी अनुसरण करूंगा। मैं भी मृग की तरह द्वादशविध तप एवं सप्तदशविध संयम के साथ एकाकी होकर वीतरागोक्त श्रमण धर्म का आचरण करूंगा। मुझे भी अस्वस्थ होने पर किसी से कोई अपेक्षा नहीं रहेगी कि कोई औषध देता है या नहीं, मुझे कोई सुखसाता पूछता है या नहीं ? कोई आहार-पानी लाकर देता है या नहीं ? किन्तु जब मैं स्वस्थ होऊंगा तब आहार-पानी की गवेषणा करने हेतु मैं स्वयं अकेला ही अनेक घरों से निर्दोष आहार-पानी लेकर उसी से जीवनयापन करूंगा, किन्तु गोचरी में मुझे अच्छा या बुरा जैसा भी निर्दोष संयमोचित आहार मिलेगा, समभाव से उदरस्थ कर लूंगा, किन्तु दाता का तिरस्कार या निन्दा नहीं करूंगा। संयम में उद्यत भिक्षु इसी मृगचर्या का अनुसरण करके ऊर्ध्वगति-मुक्ति प्राप्त कर लेता है। मैं भी वैसा आचरण करूंगा।

मिय-पक्खिणं—इस पद से मृग तथा उपलक्षण से सभी वन्य पशुओं का ग्रहण किया गया है। इसलिए 'वन्य पशु-पक्षी' अर्थ ही अभीष्ट है।

पणामए : विशेषार्थ—अर्पित करता है—देता है।

वल्लराणि सराणि : सामान्य अर्थ—वल्लराणि का अर्थ है—हरित-स्थल और सराणि का अर्थ है—जल स्थान।

मिगचारियं चरित्ताणं गच्छई मिगचारियं : दो रूप : तीन अर्थ—(१) मृगचर्या=मृगों की इधर-उधर उछल-कूद की चेष्टा या विचरण अथवा (२) मितचारिता—घास आदि परिमित मात्रा में चरना मितचारिता है। मृग स्वाभाविक रूप से परिमिताहारी होते हैं। अर्थ हुआ—मृगचर्या या मितचारिता का आचरण करके, (३) मृगचर्या को अर्थात्—मृगों की स्वतन्त्रतापूर्वक बैठने रहने आदि की क्रियाएँ जहाँ होती है, उस आश्रयभूत स्थान को चला जाता है।

माता-पिता द्वारा दीक्षा की अनुमति—

मूल—**मिगचारियं चरिस्सामि, एवं पुत्ता जहासुहं।**
अम्मापिऊहिं अणुन्नाओ, जहाइ उवहिं तओ ॥८४॥
मिगचारियं चरिस्सामि, सव्वदुक्खविमोक्खणिं।
तुब्भेहिं अम्म ऽणुन्नाओ,[1] गच्छ पुत्त ! जहासुहं ॥८५॥

छाया—मृगचारिकां चरिष्यामि, एवं पुत्र! यथासुखम्।
अम्बा-पितृभ्यामनुज्ञातः, जहात्युपधिं ततः ॥८४॥
मृगचारिकां चरिष्यामि, सर्वदुःख-विमोक्षणीम्।
युवाभ्यामम्ब ! अनुज्ञातः, गच्छ पुत्र ! यथासुखम् ॥८५॥

पद्या०—मैं मृगचर्या से विचरूंगा (माँ!), ऐसा तो, पुत्र ! यथासुखकर।
मात-पिता की आज्ञा पा, फिर चले उपधि का वर्जन कर ॥८४॥
सर्व-दुःख-क्षय करने वाली, पालूंगा मृगचर्या को।
'अम्ब! तुम्हारी अनुमति हो।', 'जा पुत्र! यथासुख शिवपथ को ॥८५॥

अन्वयार्थ—(मृगापुत्र—) (—माता-पिता !) (मैं) **मिगचारियं**—मृगचर्या का; **चरिस्सामि**—आचरण करूँगा। (माता-पिता) पुत्र के द्वारा (ऐसा कहने पर, माता-पिता ने कहा—) **पुत्त** ! हे पुत्र !—**जहासुहं**—"तुम्हें जैसा सुख हो, (वैसा

---

१ अम्भणुन्नाओ—पाठान्तर।

करो), एवं—इस प्रकार, अम्मापिऊहिं—माता-पिता से, अणुन्नाओ—अनुमति पाकर, तओ—फिर (वह) उवहिं—उपधि का, जहाइ—त्याग करता है ॥८४॥

(मृगापुत्र—) अम्म—हे माता ! तुब्भेहिं अणुन्नाओ—मैं तुम्हारी अनुमति पाकर, सव्वदुक्खविमोक्खणिं—सभी दुःखों से विमुक्त करने वाली, मिगचारियं—मृगचर्या का, चरिस्सामि—आचरण करूँगा।" (माता—) पुत्र—हे पुत्र !, जहासुहं—जैसे तुम्हें सुख हो, गच्छ—वैसे चलो ॥८५॥

भावार्थ—(मृगापुत्र अपने माता-पिता से कहता है—) 'मैं मृगचर्या का आचरण करूँगा।' (पुत्र के द्वारा ऐसा कहने पर माता-पिता ने कहा—) —पुत्र, तुम्हें जैसे सुख हो, वैसे करो।' इस प्रकार माता-पिता की आज्ञा प्राप्त कर मृगापुत्र ने उपधि (परिग्रह) का त्याग किया ॥८४॥

(फिर मृगापुत्र ने अपनी माता से कहा—) 'माँ ! मैं तुम्हारी अनुमति प्राप्त कर सब दुःखों से छुटकारा दिलाने वाली मृगचारिका (मुनिचर्या) का पालन करूंगा।" (इस पर माता-पिता ने कहा—) हे पुत्र ! जैसे तुम्हें सुख हो, वैसे चलो ॥८५॥

दीक्षा लेने के बाद मृगापुत्र का निर्ग्रन्थ जीवन

मूल—एवं सो अम्मा-पियरो, अणुमाणित्ताण बहुविहं।
ममत्तं छिंदइ ताहे, महानागो व्व कंचुयं ॥८६॥

इड्ढि वित्तं च मित्ते य, पुत्त-दारं च नायओ।
रेणुयं व पडे लग्गं, निद्धुणित्ताण निग्गओ ॥८७॥

पंच-महव्वय-जुत्तो, पंच-समिओ तिगुत्ति-गुत्तो य।
सब्भिंतर-बाहिरओ, तवोकम्मंसि उज्जुओ ॥८८॥

निम्ममो निरहंकारो, निस्संगो चत्तगारवो।
समो य सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य ॥८९॥

लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निन्दा-पसंसासु, तहा माणावमाणओ ॥९०॥

गारवेसु कसाएसु, दंड-सल्ल-भएसु य।
नियत्तो हास-सोगाओ, अनियाणो अबंधणो ॥९१॥

अणिस्सिओ इहं लोए, परलोए अणिस्सिओ।
वासी-चंदण-कप्पो य, असणे अणसणे तहा ॥९२॥

अप्पसत्थेहि दारेहिं, सव्वओ पिहियासवे।
अज्झप्पज्झाण-जोगेहिं, पसत्थ-दम-सासणे ॥९३॥

छाया—एवं सोऽम्बा-पितरौ, अनुमान्य बहुविधम् ।
मतत्वं छिनत्ति तदा, महानाग इव कञ्चुकम् ॥८६॥

ऋद्धिं वित्तं च मित्राणि च, पुत्रदारांश्च ज्ञातीन् ।
रेणुकमिव पटे लग्नं, निर्धूय निर्गतः ॥८७॥

पंचमहाव्रत-युक्तः, पंचभिः समितस्त्रिगुप्ति-गुप्तश्च ।
साभ्यन्तर-वाह्ये तपःकर्मणि उद्युक्तः ॥८८॥

निर्ममो निरहंकारः, निस्संगस्त्यक्त-गौरवः ।
समश्च सर्वभूतेषु, त्रसेषु स्थावरेषु च ॥८९॥

लाभालाभे सुखे-दुःखे, जीविते मरणे तथा ।
समो निन्दा-प्रशंसयोः, तथा मानाऽपमानयोः ॥९०॥

गौरवेभ्यः कषायेभ्यः, दण्ड-शल्य-भयेभ्यश्च ।
निवृत्तो हास्य-शोकात्, अनिदानोऽवन्धनः ॥९१॥

अनिश्रित इह लोके, परलोकेऽनिश्रितः ।
वासी-चन्दन-कल्पश्च, अशनेऽनशने तथा ॥९२॥

अप्रशस्तेभ्यो द्वारेभ्यः सर्वतः पिहितास्रवः ।
अध्यात्म-ध्यान-योगैः, प्रशस्त-दम-शासने ॥९३॥

पद्या०—ऐसे मात-पिता को उसने, विध-विध कहके अनुकूल किया ।
ममता का वन्धन-छेदन कर, अहि-सम कंचुक को त्याग दिया ॥८६॥

धन धान्य ऋद्धि और मित्रों को, सुत दारा सज्जन वान्धव को ।
है वस्त्र लगे रज के समान, झटका कर दूर किये सवको ॥८७॥

पांच महाव्रत पांच समिति और तीन गुप्ति से युत होकर ।
अन्तर वाहर तपःकर्म में, हुए अग्र तत्पर वन कर ॥८८॥

ममता और अहंता तज कर, जो संग रहित गौरव-त्यागी ।
त्रस-स्थावर सकल जीव-गण पर, जिसके मन समता है जागी ॥८९॥

लाभ-अलाभ दुःख और सुख में, जीवन और मरण में सम ।
निन्दा और प्रशंसा में सम, मान-निरादर में भी सम ॥९०॥

दण्ड-शल्य-गौरव-कषाय-भय-हास्य-शोक से हो निवृत्त ।
फल की इच्छा और वन्ध-रहित, निशदिन रखता वह शुभ्रचित्त ॥९१॥

प्रतिवन्ध न इह-पर-भव में हो, इच्छा से जीवन दूर रहे ।
काटे या चन्दन-लेप करे, अनशन होवे या अशन रहे ॥९२॥

अप्पसत्थेहिं दारेहिं—अप्रशस्त द्वारों (हेतुओं) कर्मपुद्गल आने के हेतुओं से, सव्वओ पिहितासवे—सर्वतोभावेन आश्रव-निरोध कर (मृगापुत्र), अज्झप्पज्झाण-जोगेहिं—अध्यात्म-सम्बन्धी ध्यान योगों से, पसत्थ-दम-सासणे—प्रशस्त संयम (दम) और शासन (आगमों की शिक्षारूप शासन) में लीन हो गया ॥९३॥

भावार्थ—इस प्रकार मृगापुत्र ने दीक्षा के लिए अनेक प्रकार से समझा-बुझाकर माता-पिता को अनुमत (सम्मत) करके फिर जैसे सांप केंचुल को छोड़ देता है, उसी तरह ममत्व को छोड़ दिया ॥८६॥

वस्त्र पर लगी हुई रज की तरह ऋद्धि, धन, मित्र तथा पुत्र और स्त्री, एवं ज्ञातिजनो (के प्रति मोह सम्बन्ध) को झटककर वह (संयमयात्रा के लिए) निकल पड़ा ॥८७॥

फिर वह पंचमहाव्रतों से युक्त, पांच समितियों से समित, तीन गुप्तियों से गुप्त और वाह्य-आभ्यन्तर तप में उद्यत हो गया ॥८८॥

अब वह ममत्वरहित, निरहंकार, संगमुक्त, गौरवत्यागी, तथा त्रस एवं स्थावर सभी जीवों के प्रति समभावी हो गया ॥८९॥

तथा लाभ और अलाभ में, सुख और दुःख में, तथा जीवन और मरण में, निन्दा और प्रशंसा में एवं मान-अपमान में समत्वनिष्ठ बन गया ॥९०॥

वह गौरव, कषाय, दण्ड, शल्य, भय, हास्य और शोक से निवृत्त तथा निदान एवं वन्धन से मुक्त हो गया ॥९१॥

इहलोक और परलोक में अप्रतिवद्ध (अनिश्रित), वसूले से काटे जाने अथवा चन्दन लगाए जाने, दोनों अवस्थाओं में सम तथा आहार मिलने और न मिलने पर भी समभावनिष्ठ हो गया ॥९२॥

इस प्रकार महर्षि मृगापुत्र अप्रशस्त आस्रवद्वारों (अशुभकर्मों के आने के हेतुओं) के सर्वतोभावेन निरोधक होकर अध्यात्म-ध्यान योगों से प्रशस्त संयमशासन में रत हो गया ॥९३॥

विवेचन—दो दृष्टान्तों द्वारा ममत्व एवं मोहवन्धन के त्याग का निरूपण—(१)गाथा८६ में वताया है कि सांसारिक पदार्थों के प्रति ममत्व का त्याग उसी प्रकार किया जिस प्रकार सांप केंचुल को त्यागता है ।(२)गा० ८७ में परिजन, धन, मित्र, ज्ञाति स्व जनादि के प्रति मोह को उसी प्रकार झटक दिया, जिस प्रकार कपड़े पर लगी धूल झटकी जाती है। इन दोनों के द्वारा मृगापुत्र की सांसारिक विषय-भोगों एवं अभीष्ट पदार्थों के प्रति तथा धन,

परिजन आदि के प्रति विरक्ति, अनासक्ति एवं निःस्पृहता सूचित की गई है।

अणुमाणित्ता : स्पष्टार्थ—मनाकर—अनुकूल बनाकर।

निद्धुणित्ता—झाड़कर या झटककर।

चत्तागारवो : विशेषार्थ—(१) ऋद्धि-गौरव, (२) रस-गौरव और (३) साता-गौरव, इन तीनों गौरवों—गर्व का त्याग कर दिया।

इहलोक-परलोक-अनिश्रित : व्याख्या—इहलोक से अनिश्रित का मतलब है, इहलोक सम्बन्धी यश-प्रतिष्ठा, आकांक्षा, कामना आदि किसी प्रकार के लगाव से रहित अर्थात्—तपोऽनुष्ठान संयमपालन आदि से इहलोक में प्राप्त होने वाली प्रतिष्ठा, पारस्परिक सहायता, पदवी, सत्ता, प्रभुता आदि की तथा ऐहलौकिक सुखों आदि की किसी प्रकार की अणुमात्र भी इच्छा न रही, न ही पारलौकिक सुखों या स्वर्गादि में प्राप्त होने वाले भोगसामग्री, देवांगना आदि की तिलमात्र भी कामना रही। उनकी तप, संयम या चारित्र के अनुकूल सभी धर्मक्रियाएँ एकमात्र कर्मक्षय के निमित्त थीं।

मृगापुत्र का आन्तरिक विशुद्ध आचार—गाथा ९३ में बताया गया है कि मृगापुत्र ने एक ओर से अप्रशस्त योगों—मन-वचन-काया के व्यापारों द्वारा आने वाले कर्माणुओं को रोक लिया था, दूसरी ओर से संवरयुक्त (पिहितास्रव) होकर अध्यात्मध्यान (एकमात्र आत्मा के ध्यान) में ही उन्होंने अपने मन-वचन-काया के योगों को लगा दिया। जिससे उनका उपशम (दम) और शासन (जिनागमों की शिक्षा या तत्त्वज्ञान) भी प्रशस्त हो गया। इस प्रकार मृगापुत्र का आन्तरिक आचार भी विशुद्ध था।

महर्षि मृगापुत्र ने सिद्धि प्राप्त की—

मूल—एवं नाणेण चरणेण, दंसणेण तवेण य।
भावणाहि य सुद्धाहि, सम्मं भावेत्तु अप्पयं ॥९४॥
बहुयाणि उ वासाणि, सामण्णमणुपालिया।
मासिएण उ भत्तेण- सिद्धिं पत्तो अणुत्तरं ॥९५॥
एवं करंति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा।
विणियट्टंति भोगेसु, मियापुत्ते जहा रिसी ॥९६॥

छाया—एवं ज्ञानेन चरणेन, दर्शनेन तपसा च।
भावनाभिश्च शुद्धाभिः, सम्यग् भावयित्वाऽऽत्मानम् ॥९४॥

बहुकानि तु वर्षाणि, श्रामण्यमनुपाल्य ।
मासिकेन च भक्तेन, सिद्धिं प्राप्तोऽनुत्तराम् ॥९५॥

एवं कुर्वन्ति सम्बुद्धाः, पण्डिताः प्रविचक्षणाः ।
विनिवर्त्तन्ते भोगेभ्यः मृगापुत्रो यथा ऋषिः ॥९६॥

पद्या०—ऐसे सम्यग्ज्ञान-चरण से, दर्शन और तपोबल कर।
भलीभावना से भावित, सम्यक् आत्मा उज्ज्वल कर ॥९४॥

बहुत वर्ष तक श्रमणधर्म का, शुद्ध भाव से पालन कर ।
श्रेष्ठ सिद्धि को प्राप्त किया, वह मास-भक्त का अनशन कर ॥९५॥

सम्बुद्ध विज्ञ ऐसा करते, जो धर्म विचक्षण करते हैं ।
मृगापुत्र ऋषिवर-सम जो, भोगों से उन्मुख होते हैं ॥९६॥

अन्वयार्थ—**एवं**—इस प्रकार, **नाणेण**—ज्ञान से, **चरणेण**—चारित्र से, **दंसणेण**—दर्शन से, **य**—और, **तवेण**—तपस्या से, **य**—तथा, **सुद्धाहिं भावणाहिं**—विशुद्ध भावनाओं से, **अप्पयं**—आत्मा को, **सम्मं भावेत्तु**—सम्यक् प्रकार से भावित करके—**बहुयाणि उ वासाणि**—तथा बहुत वर्षों तक, **सामण्णं**—श्रमण-धर्म का, **अणुपालिया**—पालन कर; (अन्त में) **मासिएण य भत्तेण**—और एक मासका भक्त-प्रत्याख्यान (अनशन) करके, (उसने) **अणुत्तरं सिद्धिं**—श्रेष्ठ मोक्षगति, **पत्तो**—प्राप्त की ॥९४–९५॥

संबुद्धा—सम्बुद्ध, **पंडिया**—पण्डित (और) **पवियक्खणा**—अतिविचक्षण साधक, **एवं**—ऐसा ही, **करंति**—करते हैं । (वे) **भोगेसु**—भोगों से, (वैसे ही) **विणियट्टंति**—विनिवृत्त होते हैं, **जहा**—जैसे कि, **रिसोमियापुत्ते**—ऋषि मृगापुत्र (निवृत्त हुआ) ॥९६॥

भावार्थ—इस प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप से, तथा विशुद्ध भावनाओं से अपनी आत्मा को भलीभाँति भावित करके—बहुत वर्षों तक मुनिधर्म का पालन करके अन्त में एक मास का अनशन कर मृगापुत्र ने अनुत्तर सिद्धि प्राप्त की ॥९४–९५॥

जैसे मृगापुत्र ऋषि तरुणवय में भोगों से निवृत्त हुए, वैसे ही सम्बुद्ध (तत्त्वज्ञ) पण्डित एवं विचक्षण साधक भी भोगों से निवृत्त होते हैं ॥९६॥

विवेचन—मृगापुत्र को सिद्धि कैसी और किन मूलभूत साधनाओं से प्राप्त हुई ?—मृगापुत्र को सर्व स्थानों से उत्कृष्ट अनन्त सुखमय स्थान वाली, एवं जन्म-जरा-मृत्यु के उपद्रवों से रहित होने के कारण अनुत्तर

धणं—धन को, **दुक्खविवद्धणं**—दुःख-वर्द्धक, **च**—और, **ममत्त—बंध-** ममत्त्व-बन्धन को, **महब्भयावहे**—महाभयंकर, **वियाणिया**—जानकर, **निव्वाण-गुणावहं**—निर्वाण के गुणों को प्राप्त कराने वाली, **सुहावहं**—सुखावह (—अनन्तसु प्रापक), **अणुत्तरं**—अनुत्तर, **धम्मधुरं महं**—महती धर्म धुरा को, **धारेह**—धार करो ॥९८॥

—त्ति बेमि—ऐसा मैं कहता हूँ

भावार्थ—महाप्रभावशाली एवं महायशस्वी मृगापुत्र के तपःप्रधा तीन लोक में प्रसिद्ध, मोक्षरूप गति से प्रधान उत्तम चरित्र—कथन व श्रवण करके—

धन को दुःखवर्द्धक, एवं ममता के बन्धन को महाभयावह समझक मोक्ष के गुणों को प्राप्त कराने वाली एवं अनन्तसुख-दायक अनुत्तर ध की महाधुरा को धारण करो ॥९७-९८॥

—ऐसा मैं कहता हूँ

विवेचन—साधकों के लिए कर्त्तव्यनिर्देश—शास्त्रकार ने अध्ययन व उपसंहार करते हुए अन्तिम दो गाथाओं में निर्ग्रन्थ साधु-साध्वियों के लि कर्त्तव्य-धर्म का निर्देश किया गया है।

मृगापुत्र का संभाषण और चरित्र दोनों ही उपादेय—गा० ९७ मृगापुत्र के संभाषण को आगमविहित एवं स्वयं अनुभूत होने के कार महाप्रभावशाली तथा तप, संयम एवं चारित्र की बाह्य-अन्तरंग विशुद्धि कारण महायशस्वी होने से प्रामाणिक एवं सर्वथा उपादेय माना, इस प्रकार चारित्र भी तपःप्रधान एवं उत्कृष्ट होने से मोक्षगतिदायक ए त्रिलोकविश्रुत माना है।

महानिर्ग्रन्थीय : बीसवाँ अध्ययन

[महानियंठिज्जं विसइमं अज्झयणं]

मोक्ष एवं धर्म के अनुशासन-कथन की प्रतिज्ञा—

मूल—सिद्धाणं नमो किच्चा, संजयाणं च भावओ।
अत्थ-धम्मगइं तच्चं, अणुसट्ठिं सुणेह मे ॥१॥

छाया—सिद्धेभ्यो नमस्कृत्वा, संयतेभ्यश्च भावतः।
अर्थ-धर्म-गतिं तथ्यां, अनुशिष्टिं शृणुत मे ॥१॥

पद्या०—सिद्ध और संयत आत्मा को, भाव सहित मैं करूं नमन।
अर्थ-धर्म बोधक अनुशासन, तथ्य सुनो मैं करूं कथन ॥१॥

अन्वयार्थ—**सिद्धाणं**—सिद्धों, **च**—और, **संजयाणं**—संयतों को, **भावओ**—भावपूर्वक, **नमो किच्चा**—नमस्कार करके, **अत्थ-धम्म-गइं**—अर्थ=मोक्ष और धर्म का गति=बोध कराने वाले, **तच्चं**—तथ्यपूर्ण, **अणुसट्ठिं**—अनुशासन (शिक्षा) का (कथन करता हूं, उसे), **मे सुणेह**—मुझसे सुनो ॥१॥

भावार्थ—सिद्धों और साधुओं को भाव से नमन करके मैं अर्थ (साध्य) और धर्म (साधन) का ज्ञान कराने वाली तथ्यपूर्ण शिक्षा (अनुशासन) का निरूपण करता हूँ, उसे सुनो ॥१॥

विवेचन—सिद्धों और साधुओं में पंचपरमेष्ठी का समावेश—'सिद्ध' शब्द में सिद्धों और अरिहन्तों का, तथा 'संयत' शब्द में आचार्य, उपाध्याय और साधु का समावेश हो जाता है। जो अरिहन्त है, वह निश्चय ही सिद्धगति को प्राप्त होंगे, इसलिए भावि-नैगमनय के अनुसार सिद्ध कहलाते हैं, और संयत शब्द से आचार्यादि का ग्रहण स्वतः सिद्ध है ही।

अत्थ-धम्म-गइं अणुसट्ठिं दो : व्याख्याएं—(१) जिसकी धर्मात्माजन प्रार्थना करते हैं, अथवा जिसकी हितार्थी पुरुष अभिलाषा करते हैं—उस अर्थ=(प्रयोजन) मोक्ष और धर्म की गति—यानी ज्ञान, जिसमें है, उस अनुशिष्टि अर्थात् शिक्षा को। (२) अर्थवत् अर्थात्—द्रव्य के समान जो दुष्प्राप्य धर्म है, उसकी प्राप्ति कराने वाली शिक्षा का श्रवण करो।

उद्यान में तेजस्वी तरुण मुनि को देखकर राजा विस्मित—

मूल—तत्थ सो पासई साहुं, संजयं सुसमाहियं।
निसन्नं रुक्खमूलम्मि, सुकुमालं सुहोइयं ॥४॥

तस्स रूवं तु पासित्ता, राइणो तम्मि संजए।
अच्चंत-परमो आसी, अउलो रूव-विम्हिओ ॥५॥

अहो! वण्णो, अहो! रूवं, अहो! अज्जस्स सोमया।
अहो! खंती, अहो! मुत्ती, अहो! भोगे असंगया ॥६॥

छाया—तत्र स पश्यति साधुं, संयतं सुसमाहितम्।
निषण्णं वृक्षमूले, सुकुमारं सुखोचितम् ॥४॥
तस्य रूपं तु दृष्ट्वा, राजा तस्मिन् संयते।
अत्यन्त-परम आसीत्, अतुलो रूप-विस्मयः ॥५॥
अहो! वर्णो, अहो! रूपम्, अहो! आर्यस्य सोमता।
अहो! क्षान्तिरहो! मुक्तिः, अहो! भोगेऽसंगता ॥६॥

पद्या०—संयम-युक्त साधु को देखा, वह सुकुमार सुखोचित था।
बैठा तरु के मूल समाहित, ध्यानमग्न व्रतधारक था ॥४॥
उस संयत का रूप सुघड़ अति, देख भूप आकृष्ट हुआ।
अतुलनीय अति-विस्मय-कारक, त्याग देखकर चकित हुआ ॥५॥
अद्‌भुत वर्ण, रूप भी अद्‌भुत! तथा आर्य का सुघड़ स्वरूप।
कैसी क्षमा! मुक्ति अद्‌भुत! निस्संग भोग में मन प्रतिरूप ॥६॥

अन्वयार्थ—**तत्थ**—उस उद्यान में, **सो**—उस (राजा) ने, **रुक्खमूलम्मि**—वृक्ष के मूल में (नीचे), **निसन्नं**—बैठे हुए, **संजयं**—एक संयत, **सुसमाहियं**—सम्यक् समाधि-सम्पन्न, **सुकुमालं**—सुकुमार (एवं), **सुहोइयं**—सुख के योग्य (सुखोपभोग के योग्य), **साहुं**—साधु को, **पासई**—देखा ॥४॥

तस्स—उस (साधु) के, **रूवं**—रूप को, **पासित्ता तु**—देखकर, **राइणो**—राजा को, **तम्मि संजए**—उस संयत-संयमी साधु के प्रति, **अच्चंत-परमो**—अत्यन्त अधिक, **अउलो**—अतुलनीय, **रूवविम्हओ**—रूप-विस्मय, **आसी**—हुआ ॥५॥

अहो वण्णो—अहो! क्या वर्ण (रंग) है? **अहो रूवो**—अहो, कैसा (अद्‌भुत) रूप है? **अहो**—अहो! **अज्जस्स**—आर्य की, (कैसी) **सोमया**—सौम्यता है? **अहो**—अहो!, **खंती**—(कितनी) क्षान्ति है? **अहो मुत्ती**—अहो (कैसी) मुक्ति—निर्लोभता है? **अहो**—अहो! (इनकी) **भोगे**—भोगों के प्रति, (कैसी), **असंगया**—असंगता है? ॥६॥

अन्वयार्थ—**तस्स**—उस (मुनि) के, **पाए उ**—चरणों में, **वंदित्ता**—वन्दना कर, **य**—और, **पयाहिणं**—प्रदक्षिणा, **काऊण**—करके, (राजा) **नाइदूरं**—न तो अतिदूर (और), **अणासन्ने**—न ही अतिनिकट, (अर्थात्—योग्य स्थान में खड़ा रहकर), **पंजली**—हाथ जोड़कर, **पडिपुच्छई**—पूछने लगा ॥७॥

अज्ज—हे आर्य ! **तरुणो सि**—(अभी तो) तुम तरुण हो, (फिर भी) **संजय**—हे संयत ! **भोगकालम्मि**—भोगकाल में, **पव्वइओ**—प्रव्रजित हुए हो, (तथा) **सामण्णे**-श्रमणधर्म (पालन) में **उवट्ठिओ सि**—उपस्थित (उद्यत) हुए हो; **एयमट्ठं**—इसका क्या कारण है ? **ता सुणेमि**—मैं सुनना चाहता हूँ ॥८॥

भावार्थ—मुनि के चरणों में वन्दना और प्रदक्षिणा करके, फिर न तो अतिदूर और न ही अतिनिकट खड़े रहकर राजा ने (सविनय) हाथ जोड़ कर पूछा ॥७॥

हे आर्य ! अभी तो तुम तरुण हो, संयत ! तुम भोगोचित काल में प्रव्रजित हुए हो, तथा श्रमणधर्म-पालन के लिए उद्यत हुए हो; इसका क्या कारण है, मैं भी तो सुनूं ! ॥८॥

विवेचन—**शिष्टाचारपूर्वक पृच्छा**—प्रस्तुत दो गाथाओं (७—८) में यह स्पष्ट दिग्दर्शन है कि साधु-महात्मा के पास किस विधि से वन्दन-नमन आदि शिष्टाचार करना चाहिए, कैसे बैठना, बोलना और वार्तालाप करना चाहिए ?

मुनि ने कहा—'मैं अनाथ था'—

मूल—अणाहो मि महाराय !, नाहो मज्झ न विज्जई ।
अणुकम्पगं सुहिं वावि, कंचि नाभिसमेमऽहं ॥९॥

छाया—अनाथोऽस्मि महाराज ! नाथो मम न विद्यते ।
अनुकम्पकं सुहृदं वापि, कंचिन्नाभिसमेम्यहम् ॥९॥

पद्या०—मैं हूँ राजन् ! जग में अनाथ, है नाथ नहीं कोई मेरा ।
अनुकम्पक या मित्र किसी को, भी न देखता हूँ चेरा ॥९॥

अन्वयार्थ—**महाराय !**—महाराज ! **अणाहो मि**—मैं अनाथ हूं । **मज्झ**—मेरा, (कोई) **नाहो**—नाथ, **न विज्जई**—नहीं है । **अणुकंपगं**—(मुझ पर) अनुकम्पा करने वाले, **कंचि सुहिं वावि**—किसी सुहृद् (मित्र) को भी, **अहं**—मैं, **नाभिसमेम** नहीं पा रहा हूं ॥९॥

भावार्थ—महाराज ! मैं अनाथ था । मेरा (संसार में) कोई नाथ नहीं था । मुझ पर अनुकम्पा करने वाले या किसी मित्र को भी मैंने नहीं पाया ॥९॥

विवेचन—अनाथी मुनि द्वारा कथित प्रव्रज्या-ग्रहण-कारण—यहाँ अनाथी मुनि ने प्रव्रज्या ग्रहण करने का सीधा कारण न बताकर प्रकारान्तर से एक वाक्य में बता दिया है कि "मैं अनाथ था।" इसका तात्पर्य यह है कि दीक्षाग्रहण करने का मुख्य कारण मेरी अनाथता थी। वही मेरे वैराग्य एवं गृहत्याग का कारण बना। यहाँ भूतकाल के अर्थ में वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग किया गया है।

'अनाथ' शब्द के अर्थ—नाथ के दो अर्थ होते हैं—स्वामी तथा योगक्षेमकर्ता। जिसका कोई स्वामी या योगक्षेमविधाता न हो वह अनाथ है।

श्रेणिक ने कहा—मुझे नाथ मानकर भोगों को भोगो—

मूल—तओ सो पहसिओ राया, सेणिओ मगहाहिवो।
एवं ते इड्ढिमंतस्स, कहं नाहो न विज्जई? ॥१०॥
होमि नाहो भयंताणं, भोगे भुंजाहि संजया!
मित्त-नाई-परिवुडो, माणुस्सं खु सुदुल्लहं ॥११॥

छाया—ततः स प्रहसितो राजा, श्रेणिको मगधाधिपः।
एवं ते ऋद्धिमतः, कथं नाथो न विद्यते? ॥१०॥
भवामि नाथो भदन्तानां, भोगान् भुङ्क्ष्व, संयत!
मित्र-ज्ञाति-परिवृतः (सन्), मानुष्यं खलु सुदुर्लभम् ॥११॥

पद्या०—यों सुन वह मगधाधिप श्रेणिक, प्रहसित-मुख मुनि से बोला।
तुम जैसे ऋद्धियुक्त नरको, है नाथ कहो कैसे न मिला?॥१०॥
होता हूँ नाथ तुम्हारा मैं, संयत! भोगों का भोग करो।
हो मित्र-ज्ञातिजन से परिवृत, तुम दुर्लभ नर-भव सफल करो॥११॥

अन्वयार्थ—तओ—यह सुनकर, **सो मगहाहिवो सेणियो राया**—वह मगधाधिपति श्रेणिक राजा, **पहसिओ**—जोर से हँसा और (मुनि से बोला—) **एवं**—इस प्रकार, **ते इड्ढिमंतस्स** (दिखने में) तुम्हारे जैसे ऋद्धिसम्पन्न—सौभाग्यशाली के, **नाहो**—कोई नाथ, **कहं**—कैसे, **न विज्जई?**—नहीं है? ॥१०॥

(तो लो मैं) **भयंताणं**—आप भदन्त का, **नाहो**—नाथ, **होमि**—बन जाता हूं। **संजया!**—हे संयत!, **मित्तनाई-परिवुडे**—मित्रों, ज्ञातिजनों से परिवृत (सहित), **भोगे**—भोगों को, **भुंजाहि**—भोगो, **माणुस्सं**—यह मनुष्यजन्म, **खु सुदुल्लहं**—बहुत ही दुर्लभ है ॥११॥

यह सुनकर वह मगधनरेश श्रेणिक राजा जोर से हँसा (और मुनि से बोला—) इस प्रकार के तुम जैसे ऋद्धिमान् मनुष्य के भला कोई नाथ कैसे नहीं है ? ॥१०॥

भदन्त ! (यदि कोई नाथ नहीं है तो लो) मैं तुम्हारा नाथ बनता हूँ । हे संयत ! मित्र और ज्ञातिजनों के साथ रहकर तुम विषय-भोगों का यथेच्छ उपभोग करो । यह मनुष्यजन्म बहुत ही दुर्लभ है ॥११॥

विवेचन—श्रेणिक द्वारा मुनि के नाथ होने का अनुमान—मुनि के द्वारा स्वयं को अनाथ बतलाने पर राजा श्रेणिक ने विस्मयपूर्वक अनुमान लगाया—कि जिस प्रकार की शारीरिक सम्पत्ति, सौम्यमुद्रा, प्रसन्न मुखमुद्रा, विकसित नेत्र, गौरवर्ण इत्यादि ऋद्धिमत्ता प्राप्त है, इन शुभ लक्षणों से प्रतीत होता है कि यह किसी उच्चकुल में उत्पन्न भाग्यशाली जीव है । यह अनाथ नहीं हो सकता । क्योंकि **'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति'** यह कहावत प्रसिद्ध है' जहाँ भव्य आकृति होती है वहाँ गुण होते हैं जहाँ गुण होते हैं वहाँ, धन होता है, जहाँ धन होता है वहाँ श्री और श्रीमान् में प्रभुता (आज्ञा) होती है, आज्ञा वाले का राज्य होता है ।' ऐसी भी लोकश्रुति प्रसिद्ध है । अतः अनाथता का तो इस मुनि में कोई चिन्ह प्रतीत नहीं होता ।

श्रेणिक द्वारा मुनि के नाथ बनने की स्वीकृति—श्रेणिक ने आगे कहा,—फिर भी आप अनाथ हैं तो मैं आपका नाथ बनता हूँ । मेरे नाथ बन जाने पर आपको मित्र, ज्ञातिजन तथा अन्य स्वजन सुखपूर्वक मिल जाएँगे । उनके साथ सुखपूर्वक रहकर आप यथेच्छ सांसारिक विषय-भोगों को उपभोग करें । मनुष्यजन्म बार-बार नहीं मिलता । मनुष्यजन्म प्राप्त हुआ है तो इसे सांसारिक सुखों से वंचित करना उचित नहीं । अतः अब आप अपने अनाथ होने से भिक्षुवृत्ति अंगीकार करने का विचार छोड़ दें । मैंने आपका नाथ बनने की स्वीकृति दे दी है, इसे अन्यथा न समझें ।

मुनि ने कहा—'तुम स्वयं अनाथ हो'—

मूल—**अप्पणा वि अणाहो सि, सेणिया ! मगहाहिवा ! ।**
अप्पणा अणाहो संतो, कहं[1] नाहो भविस्ससि ? ॥१२॥

छाया—आत्मनाप्यनाथोऽसि, श्रेणिक ! मगधाधिप ! ।
आत्मनाऽनाथः सन्, कथं नाथो भविष्यसि ? ॥१२॥

---

१ कस्स (कस्य) पाठान्तर ।

पद्या०—हे मगधाधिप ! श्रेणिक तुम तो, अपने भी पूरे नाथ नहीं ।
जो स्वयं अनाथ हो वह कैसे ?,पर का जग में हो नाथ सही ॥१२॥

अन्वयार्थ—मगहाहिवा सेणिया !—हे मगधसम्राट् श्रेणिक, ! अप्पणा वि—तुम स्वयं भी, अणाहो सि—अनाथ हो, अप्पणा—स्वयं, अणाहो सन्तो—अनाथ होते हुए, (भला तुम) नाहो—(किसी दूसरे के) नाथ, कहं—कैसे, भविस्ससि—हो सकोगे ? ॥१२॥

भावार्थ—'हे मगधनाथ श्रेणिक ! तुम स्वयं भी अनाथ हो । जब तुम स्वयं अनाथ हो, तब फिर किसी दूसरे के नाथ कैसे बन सकोगे ?,

विवेचन—मुनिराज के द्वारा श्रेणिकनृप को सत्य और स्पष्ट बात—श्रेणिक राजा इस भ्रम में था कि मेरे पास सब कुछ वैभव, मनुष्य, हाथी-घोड़े आदि हैं इसलिए मैं नाथ हूँ, और दूसरों का नाथ बन सकता है; लेकिन मुनि ने आन्तरिक दृष्टि से उसके भ्रम को भंग करते हुए सच्ची और साफ-साफ बात कह दी कि तुम स्वयं अनाथ हो तो दूसरे के नाथ कैसे बन सकते हो ? जो निर्धन है अथवा मूर्ख है, वह दूसरे को धनवान् अथवा पण्डित कैसे बना सकता है ?

विस्मित श्रेणिक ने कहा—मैं अनाथ कैसे ?

मूल—एवं वुत्तो नरिंदो सो, सुसंभंतो सुविम्हिओ ।
वयणं अस्सुयपुव्वं, साहुणा विम्हयन्निओ ॥१३॥

अस्सा हत्थी मणुस्सा मे, पुरं अंतेउरं च मे ।
भुंजामि माणुसे भोए, आणा इस्सरियं च मे ॥१४॥

एरिसे संपयग्गम्मि, सव्वकाम-समप्पिए ।
कहं अणाहो भवइ ?, मा हु भंते ! मुसं वए ॥१५॥

छाया—एवमुक्तो नरेन्द्रः सः, सुसम्भ्रान्तः सुविस्मितः ।
वचनमश्रुतपूर्वं, साधुना विस्मयान्वितः[1] ॥१३॥

अश्वा हस्तिनो मनुष्या मे, पुरमन्तःपुरं च मे ।
भुनज्मि मानुषान् भोगान्, आज्ञैश्वर्यं च मे ॥१४॥

ईदृशे सम्पदग्रे, समर्पित-सर्वकामे ।
कथमनाथो भवामि ? मा खलु भदन्त ! मृषा वादीः ॥१५॥

---

१ विस्मयनीतः—पाठान्तर

पद्या०—नरपति पहले से विस्मित था, सम्भ्रान्त हुआ फिर यों सुनकर।
मुनिवर के अश्रुतपूर्व वचन से, विस्मितमति बोला मतिधर ॥१३॥
हैं हाथी घोड़े नर मेरे, अन्तःपुर एवं नगर बड़ा।
मैं भोग रहा नर-भोगों को, आज्ञा में पुरजन सभी खड़ा ॥१४॥
सब काम-भोग मिलते जिससे, वैसी सम्पत्ति जहाँ पर हो।
कैसे अनाथ वह कहलाए ?, मुनिवर ! असत्य मत हमें कहो ॥१५॥

अन्वयार्थ—**विम्हयन्निओ**—(पहले से) विस्मित, **सो नरिंदो**—वह राजा (श्रेणिक), **साहुणा**—मुनि के द्वारा, **एवं वुत्तो**—('तुम अनाथ हो'), ऐसा कहे जाने पर, **अस्सुयपुव्वं वयणं**—इस अश्रुतपूर्व वचन को सुनकर (तो और भी), **सुविम्हिओ**—अधिक विस्मित (एवं), **सुसंभंतो**—अधिक सम्भ्रान्त-संशयाकुल (हो गया)॥१३॥

(वह बोला—) **मे**—मेरे पास, **अस्सा**—घोड़े हैं, **हत्थी**—हाथी हैं, **मणुस्सा**—(सेवक) मनुष्य हैं, **मे**—मेरा, **पुरं**—(यह) नगर, **च**—और, **अंतेउरं**—अन्तःपुर है, **माणुसे भोगे**—(मैं) मनुष्यजीवन-सम्बन्धी सभी सुखभोगों को, **भुंजामि**—भोग रहा हूँ, **मे**—मेरी, **आणा**—आज्ञा (शासन), **च**—और, **इस्सरियं**—प्रभुता (ऐश्वर्य) चल रही है ॥१४॥

एरिसे—इस प्रकार की, **संपयग्गम्मि**—श्रेष्ठ सम्पदा के होते, (जिसके द्वारा मुझे), **सव्वकामसमप्पिए**—सभी कामभोग समर्पित=प्राप्त होते हैं, (मैं भला), **कहं**—कैसे, **अणाहो भवइ**—अनाथ हूं ?, **भंते**—भदन्त ! (आप), **मुसं**—झूठ, **मा हु वए**—नहीं बोले ॥१५॥

भावार्थ—वह राजा श्रेणिक पहले से ही विस्मयान्वित हो रहा था, फिर मुनि के द्वारा 'तुम अनाथ हो' ऐसा कहने पर, इस अश्रुतपूर्व (पहले कभी न सुने गए) वचन को सुनकर तो और भी अधिक सम्भ्रान्त (व्याकुल) और आश्चर्यमग्न हो गया ॥१३॥

(वह बोला—)मेरे पास हाथी, घोड़े और सेवक मनुष्य हैं, मेरा यह नगर और अन्तःपुर है; मैं मनुष्यसम्बन्धी सभी काम-भोगों को भोग रहा हूँ, मेरी आज्ञा और प्रभुता (शासन और ऐश्वर्य) (सभी पर चलती)है ॥१४॥

जिससे सभी काम-भोग प्राप्त होते हैं, ऐसी उत्कृष्ट सम्पदा के होते हुए भी (कोई) कैसे अनाथ हो सकता है ? भन्ते ! आप मिथ्या मत कहिए ॥१५॥

विवेचन—**राजा विस्मय में क्यों पड़ा ?**—प्रस्तुत गाथा (१३वीं) में राजा के विस्मित होने का उल्लेख इसलिए किया गया है कि राजा ने आज

सत्थं जहा परम-तिक्खं, सरीर-विवरंतरे।
आवीलिज्ज[1] अरी कुद्धो, एवं मे अच्छि-वेयणा ॥२०॥

तियं मे अंतरिच्छं च, उत्तमंगं च पीडई।
इंदासणि-समा घोरा, वेयणा परम-दारुणा ॥२१॥

उवट्ठिया मे आयरिया, विज्जामंत-तिगिच्छगा।
अबीया सत्थकुसला, मंत-मूल-विसारया ॥२२॥

ते मे तिगिच्छं कुव्वंति, चाउप्पायं जहाहियं।
न य दुक्खा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया ॥२३॥

पिया मे सव्वसारं पि, दिज्जाहि मम कारणा।
न य दुक्खा विमोएइ, एसा मज्झ अणाहया ॥२४॥

माया ऽवि मे महाराय !, पुत्त-सोग-दुहट्टिया।
न य दुक्खा विमोएइ, एसा मज्झ अणाहया ॥२५॥

भायरो मे महाराय !, सगा जेट्ठ-कणिट्ठगा।
न य दुक्खा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया ॥२६॥

भइणीओ मे महाराय !, सगा जेट्ठ-कणिट्ठगा।
न य दुक्खा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया ॥२७॥

भारिया मे महाराय !, अणुरत्ता अणुव्वया।
अंसुपुण्णेहिं नयणेहिं, उरं मे परिसिंचई ॥२८॥

अन्नं पाणं च ण्हाणं च, गंध-मल्ल-विलेवणं।
मए णायमणायं वा, सा बाला नेव भुंजई ॥२९॥

खणं पि मे महाराय ! पासाओ मे न फिट्टई।
न य दुक्खा विमोएइ, एसा मज्झ अणाहया ॥३०॥

छाया—न त्वं जानीषेऽनाथस्य अर्थं प्रोत्थां वा पार्थिव !
यथाऽनाथो भवति, सनाथो वा नराधिप ! ॥१६॥

शृणु मे महाराज !, अव्याक्षिप्तेन चेतसा।
यथा अनाथो भवति, यथा मया च प्रव्रजितम् ॥१७॥

कौशाम्बी नाम नगरी, पुराण-पुर-भेदिनी।
तत्रासीत् पिता मम, प्रभूतधनसंचयः ॥१८॥

---

१ पाठान्तर—पवेसेज्ज।

प्रथमे वयसि महाराज ! अतुला मे अक्षि-वेदना ।
अभूद् विपुलो दाहः सर्वांगेषु च पार्थिव ! ॥१९॥

शस्त्रं यथा परमतीक्ष्णं, शरीर-विवरान्तरे ।
आपीडयेदरिः क्रुद्धः, एवं मे अक्षि-वेदना ॥२०॥

त्रिकं मे अन्तरेच्छं च, उत्तमांगं च पीडयति ।
इन्द्राशनि-समा घोरा, वेदना परम-दारुणा ॥२१॥

उपस्थिता मे आचार्याः, विद्या-मंत्र-चिकित्सकाः ।
अद्वितीयाः शास्त्रकुशलाः, मंत्र-मूल-विशारदाः ॥२२॥

ते मे चिकित्सां कुर्वन्ति, चतुष्पादां यथाहितम्[1] ।
न च दुःखाद् विमोचयन्ति, एषा ममाऽनाथता ॥२३॥

पिता मे सर्वसारमपि, दद्यात् मम कारणात् ।
न च दुःखाद् विमोचयति, एषा ममाऽनाथता ॥२४॥

माता च मे महाराज !, पुत्र-शोक-दुःखार्त्ता ।
न च दुःखाद् विमोचयति, एषा ममाऽनाथता ॥२५॥

भ्रातरो मे महाराज ! स्वका ज्येष्ठ-कनिष्ठकाः ।
न च दुःखाद् विमोचयन्ति, एषा ममाऽनाथता ॥२६॥

भगिन्यो मे महाराज ! स्वका ज्येष्ठ-कनिष्ठकाः ।
न च दुःखाद् विमोचयन्ति, एषा ममाऽनाथता ॥२७॥

भार्या मे महाराज ! अनुरक्ताऽनुव्रता ।
अश्रुपूर्णाभ्यां नयनाभ्यां, उरो मे परिषिंचति ॥२८॥

अन्नं पानं च स्नानं च, गन्ध-मल्ल-विलेपनम् ।
मया ज्ञातमज्ञातं वा, सा बाला नैव भुङ्क्ते ॥२९॥

क्षणमपि मे महाराज !, पार्श्वतोऽपि न स्फिटति ।
न च दुःखाद् विमोचयति, एषा ममाऽनाथता ॥३०॥

पद्या०---अनाथ शब्द और नाथ-शब्द का, परमार्थ तुझे है ज्ञात कहाँ ?
कैसे कोई अनाथ हो जाता, सनाथ हो जाता है कैसे यहाँ ? ॥१६॥

एकचित्त हो सुनो भूप, तज कर मन से वैभव का मद ।
जैसे अनाथ जग होता है, कैसे मैं बोल गया वह पद ॥१७॥

---

१ पाठान्तर—यथाज्ञातम् ।

महाराय !—महाराज !, **य**—और, **मे माया**—मेरी (वात्सल्यमयी) माता, **पुत्त-सोग-दुहट्टिया**—पुत्र-शोक के दुःख से आर्त्त-पीड़ित रहती थी। (किन्तु वह भी) **दुक्खा**—दुःख से, (मुझे) **न य विमोएइ**—मुक्त न कर सकी। **एसा मज्झ अणाहया**—यह मेरी अनाथता थी ॥२५॥

महाराय !—महाराज !, **मे**—मेरे, **सगा जेट्ठ-कणिट्ठगा भायरो**—सगे बड़े और छोटे भाई (भी), **दुक्खा**—दुःख से, **न य विमोयंति**—(मुझे) मुक्त नहीं कर सके। **एसा मज्झ अणाहया**—यह मेरी अनाथता थी ॥२६॥

महाराय !—महाराज !, **मे**—मेरी, **सगा जेट्ठ-कणिट्ठगा भइणीओ**—बड़ी-छोटी सगी बहनें (भी), **दुक्खा**—दुःख से (मुझे), **न य विमोयंति**—छुड़ा न सकीं। **एसा मज्झ अणाहया**—यही मेरी अनाथता थी ॥२७॥

महाराय !—महाराज !, **मे**—मुझमें, **अणुरत्ता**—अनुरक्ता (और), **अणुव्वया**—अनुव्रता=पतिव्रता, **भारिया**—पत्नी (भार्या), **अंसुपुण्णेहिं नयणेहिं**—अश्रुपूर्ण नेत्रों से, **मे उरं**—मेरे वक्षस्थल (छाती) को, **परिसिंचई**—भिगोती (सींचती) रहती थी ॥२८॥

सा बाला—वह बाला (नवयुवती) **मए**—मेरे से, **णायमणायं**—जाने या अजाने (प्रत्यक्ष या परोक्ष में) (कदापि), **अन्नं**—अन्न, **पाणं**—पान, **च**—तथा, **ण्हाणं च**—स्नान और, **गंध-मल्ल-विलेवणं**—गन्ध, माल्य और विलेपन का, **नोवभुंजइ**—उपभोग नहीं करती थी ॥२९॥

महाराय !—हे महाराज ! (वह) **खणं पि**—एक क्षणभर भी, **मे पासाओ**—मेरे पास से, **वि न फिट्टइ**—अलग (दूर) भी नहीं होती थी। (फिर भी वह मुझे) **दुक्खा**—दुःख से, **न य विमोएइ**—विमुक्त नहीं कर सकी। **एसा मज्झा अणाहया**—यही मेरी अनाथता थी ॥३०॥

भावार्थ—राजन् ! तुम अनाथ शब्द के अर्थ और उसकी उत्पत्ति (अथवा परमार्थ) को नहीं जानते। और हे नरेश ! तुम यह भी नहीं समझते कि कोई व्यक्ति किस तरह अनाथ अथवा सनाथ होता है ? (इसीलिए मेरे कथन में असत्य की शंका करते हो !) ॥१६॥

हे राजन् ! तुम एकाग्रचित्त होकर मेरे (उक्त आशय) को सुनो कि कैसे कोई व्यक्ति अनाथ हो जाता है, और मैंने किस भाव से उसका प्रयोग किया है ? ॥१७॥

प्राचीन नगरों को सुन्दरता में दूर बिठाने वाली कौशाम्बी नाम की नगरी थी। वहाँ मेरे पिता रहते थे। उनके पास प्रचुर धन-धान्य का संग्रह था ॥१८॥

सइं च जइ मुच्चेज्जा, वेयणा विउला इओ ।
खंतो दंतो निरारंभो, पव्वए अणगारियं ॥३२॥

एवं च चिंतइत्ताणं, पसुत्तो मि नराहिवा ! ।
परियत्तंतीए राईए, वेयणा मे खयं गया ॥३३॥

तओ कल्ले पभायम्मि, आपुच्छित्ताण बंधवे ।
खंतो दंतो निरारंभो, पव्वइओऽणगारियं ॥३४॥

ततोऽहं नाहो जाओ, अप्पणो य परस्स य ।
सव्वेसिं चेव भूयाणं, तसाणं थावराण य ॥३५॥

छाया—ततोऽहमेवमवोचं, दुःक्षमा खलु पुनः पुनः ।
वेदनाऽनुभवितुं या, संसारेऽनन्तके ॥३१॥

सकृच्च यदि मुच्ये, वेदनाया विपुलाया इतः ।
क्षान्तो दान्तो निरारम्भः, प्रव्रजेयमनगारिताम् ॥३२॥

एवं च चिन्तयित्वा, प्रसुप्तोऽस्मि नराधिप !
परिवर्त्तमानायां रात्रौ, वेदना मे क्षयं गता ॥३३॥

ततः कल्यः प्रभाते, आपृच्छ्य बान्धवान् ।
क्षान्तो दान्तो निरारम्भः, प्रव्रजितोऽनगारिताम् ॥३४॥

ततोऽहं नाथो जातः, आत्मनश्च परस्य च ।
सर्वेषां चैव भूतानां, त्रसानां स्थावराणां च ॥३५॥

पद्यानु०—तब हार कहा मैंने ऐसे—'जगती में दुःसह बार-बार ।
इस परम वेदना का अनुभव, करना पड़ता है अनन्तबार ॥३१॥

हो जाऊं विपुल वेदना से, यदि एक बार मैं मुक्त यहाँ ।
तो क्षान्त, दान्त और निरारम्भ, मुनिपथ कर लूं स्वीकार यहाँ ॥३२॥

हे राजन् ! ऐसा चिन्तन कर, मैं सोया वहाँ शान्ति धर कर ।
बीती क्षणदा[1] मिट गई व्यथा, पल भर में वह मुझको तजकर ॥३३॥

हो स्वस्थ सवेरे पूछ बन्धु, प्रव्रजित हुआ मैं छोड़ सभी ।
बन शान्त दान्त और निरारम्भ, मुनिमार्ग पकड़ कर चला तभी ॥३४॥

तब ही से मैं नाथ हुआ, हूँ अपना और परायों का ।
त्रस एवं स्थावर प्राणी का, जगती के इन सब जीवों का ॥३५॥

---

1 रात्रि ।

अन्वयार्थ—**तओ**—तब, **अहं**—मैंने, **एवमाहंसु**—(मन ही मन) इस प्रकार कहा—(प्राणी को) **अणंतए संसारम्मि**—इस अनन्त संसार में, **पुणो-पुणो**—बार-बार, **जे वेयणा**—जिस वेदना का, **अणुभविउं**—अनुभव करना होता है, (वह), **हु**—वास्तव में, **दुक्खमा**—दुःसह है ॥३१॥

जइ—यदि (मैं), **इओ विउला वेयणा**—इस विपुल वेदना से, **सइं च**—एक बार भी, **मुच्चेज्जा**—मुक्त हो जाऊँ (तो), **खंतो**—क्षान्त, **दंतो**—दान्त, और **निरारंभो**—आरम्भ रहित होकर, **अणगारियं**—अनगारवृत्ति में, **पव्वए**—प्रव्रजित हो जाऊँगा ॥३२॥

नराहिवा—हे नराधिप ! **एवं च**—इस प्रकार, **चिंतइत्ताणं**—चिन्तन करके, **पसुत्तो मि**—मैं सो गया। **परियत्तंतीए राईए**—रात्रि बीतने (परिवर्तित होने) के साथ ही, **मे वेयणा**—मेरी वेदना भी, **खयं गया**—क्षीण हो गई ॥३३॥

तओ—इसके बाद, **पभायम्मि**—प्रभातकाल में, **कल्ले**—स्वस्थ (कल्प) होते ही, **बंधवे**—(मैं अपने) बन्धुजनों को, **आपुच्छित्ताण**—पूछ (आज्ञा प्राप्त) कर, **खंतो दंतो निरारंभो**—क्षान्त, दान्त और निरारम्भी होकर, **अणगारियं**—अनगार-वृत्ति में, **पव्वइओ**—प्रव्रजित हो गया ॥३४॥

ततो—तब ही से, **अहं**—मैं, **अप्पणो य**—अपना और, **परस्स य**—दूसरों का, तथा, **तसाण**—त्रस, **य**—और, **थावराण**—स्थावर, **सव्वेसिं चेव भूयाणं**—सभी प्राणियों का, **नाहो**—नाथ, **जाओ**—हो गया ॥३५॥

भावार्थ—तब (चारों ओर से असहायता अनुभव करने के बाद) मैंने (मन ही मन) इस प्रकार विचार किया कि (प्राणी को) इस अनन्त संसार में जिस वेदना का अनुभव करना होता है, वह निश्चय ही अत्यन्त दुःसह है ॥३१॥

इस विपुल वेदना से यदि मैं एक बार भी मुक्त हो जाऊँगा तो मैं क्षान्त, दान्त, और निरारम्भ होकर अनगारवृत्ति में दीक्षित हो जाऊँगा ॥३२॥

राजन् ! इस प्रकार का विचार करके मैं सो गया। रात्रि व्यतीत होने के साथ-साथ मेरी वेदना भी क्षीण हो गई ॥३३॥

तत्पश्चात् प्रातःकाल में स्वस्थ होते ही मैं अपने बान्धवों से पूछ (आज्ञा प्राप्त) कर क्षान्त, दान्त और निरारम्भ होकर अनगार धर्म में दीक्षित हो गया ॥३४॥

तब से मैं अपना और दूसरों का, तथा त्रस और स्थावर सभी जीवों का नाथ हो गया ॥३५॥

से अनाथीमुनि का यह कथन यथार्थ है कि "मैं त्रस-स्थावरों का तथा स्व-पर का नाथ बन गया।"

आत्मा ही अनाथ-सनाथ आदि होती है : मुनि का उपदेश—

मूल—अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणु, अप्पा मे नंदणं वणं ॥३६॥

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुपट्ठिय-सुप्पट्ठिओ ॥३७॥

छाया—आत्मा नदी वैतरणी, आत्मा मे कूटशाल्मली।
आत्मा कामदुधाधेनुः, आत्मा मे नन्दनं वनम् ॥३६॥

आत्मा कर्त्ता विकर्त्ता च, दुःखानां च सुखानां च।
आत्मा मित्रममित्रं च, दुष्प्रस्थितः सुप्रस्थितः ॥३७॥

पद्या०—आत्मा है सरिता वैतरणी, है कूट-शाल्मली आत्मा ही।
आत्मा मेरी है कामधेनु, नन्दन-कानन भी वही सही ॥३६॥
दुःख-सुख का कर्त्ता आत्मा है, उनका वही विकर्त्ता है।
कुमार्ग रत होता शत्रु, और मित्र सुमार्ग अभियंता है ॥३७॥

अन्वयार्थ—अप्पा—मेरी आत्मा ही, **वेयरणी नई**—वैतरणी नदी है, (और) **मे अप्पा**—मेरी आत्मा ही, **कूडसामली**—कूटशाल्मली वृक्ष है। **अप्पा**—मेरी आत्मा ही, **कामदुहा धेणू**—कामदुधा धेनु है, (और) **मे अप्पा**—मेरी आत्मा ही, **नंदणं वणं**—नन्दनवन है ॥३६॥

अप्पा—आत्मा ही, (अपने) **दुहाण य सुहाण य**—दुःखों और सुखों का, **कत्ता**—कर्त्ता है, (और वही) **विकत्ता**—विकर्त्ता-भोक्ता है। **सुप्पट्ठिओ अप्पा**—सत्प्रवृत्ति में (सुमार्ग) स्थित आत्मा ही, **मित्तं**—अपना मित्र है, **च**—और, **दुप्पट्ठिय**—दुष्प्रवृत्ति (कुमार्ग) में स्थित अपनी आत्मा, **अमित्तं**—शत्रु है ॥३७॥

भावार्थ—(हे राजन् ! कारण यह है कि) अपनी आत्मा स्वयं ही वैतरणी नदी और आत्मा ही कूटशाल्मली वृक्ष जैसी दुःखदायी है, और आत्मा ही कामदुधा कामधेनु तथा वही नन्दनवन के समान सुखदायी है ॥३६॥

आत्मा ही अपने सुखों और दुःखों का कर्त्ता है, और वही इनका विकर्त्ता=भोक्ता है। सत्प्रवृत्ति में रत आत्मा ही अपना मित्र है और दुष्प्रवृत्तिरत आत्मा ही अपना शत्रु है ॥३७॥

जे लक्खणं सुविणं पउंजमाणे, निमित्त-कोऊहल-संपगाढे ।
कुहेड-विज्जासवदार-जीवी, न गच्छइ सरणं तम्मि काले ॥४५॥

तमंतमेणेव उ से असीले, सया दुही विप्परियासुवेइ ।
संधावई नरग-तिरिक्ख-जोणिं, मोणं विराहित्तु असाहुरूवे ॥४६॥

उद्देसियं कीयगडं नियागं न मुञ्चई किंचि अणेसणिज्जं ।
अग्गी विवा सव्वभक्खी भवित्ता, इतो चुओ गच्छइ कट्टु पावं ॥४७॥

न तं अरी कंठछेत्ता करेइ, जं से करे अप्पणिया दुरप्पा ।
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते, पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ॥४८॥

निरट्ठिया नग्गरुई उ तस्स, जे उत्तमट्ठं विवज्जासमेई ।
इमे वि से नत्थि परे वि लोए, दुहओ वि से झिज्जइ तत्थ लोए ॥४९॥

एमेवऽहाच्छंद-कुसीलरूवे, मग्गं विराहेत्तु जिणुत्तमाणं ।
कुररी विवा भोगरसाणुगिद्धा, निरट्ठसोया परियावमेइ ॥५०॥

छाया

इयं खल्वन्याऽप्यनाथता नृप !, तामेकचित्तो निभृतः शृणु ।
निर्ग्रन्थधर्मं लब्ध्वाऽपि यथा, सीदन्त्येके बहु कातरा नराः ॥३८॥

यः प्रव्रज्य महाव्रतानि, सम्यक् च नो स्पृशति प्रमादात् ।
अनिगृहीतात्मा च रसेषु गृद्धः, न मूलतः छिनत्ति बन्धनं सः ॥३९॥

आयुक्तता यस्य नास्ति काऽपि, ईर्यायां भाषायां तथैषणायाम् ।
आदान-निक्षेप-जुगुप्सनायां, न वीरयातमनुयाति मार्गम् ॥४०॥

चिरमपि स मुण्डरुचिर्भूत्वा, अस्थिरव्रतस्तपो-नियमेभ्यो भ्रष्टः ।
चिरमप्यात्मानं क्लेशयित्वा, न पारगो भवति खलु सम्परायस्य ॥४१॥

पोल्लैव (सुषिरैव) मुष्टिर्यथा स असारः, अयंत्रितः कूट-कार्षापण इव ।
राढामणिर्वैडूर्य-प्रकाशः, अमहार्घको भवति खलु ज्ञेषु (ज्ञायकेषु) ॥४२॥

कुशीललिंगमिह धारयित्वा, ऋषि ध्वजं जीविकं बृंहयित्वा ।
असंयतः संयतं (इति) लपन्, विनिघातमागच्छति स चिरमपि ॥४३॥

विषं तु पीतं यथा कालकूटं, हन्ति शस्त्रं यथा कुगृहीतम् ।
एषोऽपि धर्मो विषयोपपन्नः, हन्ति वेताल इवाविपन्नः ॥४४॥

यो लक्षणं स्वप्नं प्रयुञ्जानः, निमित्त-कौतूहल-सम्प्रगाढः ।
कुहेट-विद्याऽऽस्रवद्वार-जीवी, न गच्छति शरणं तस्मिन् काले ॥४५॥

तमस्तमसैव तु स अशीलः, सदा दुःखी विपर्यासमुपैति ।
सन्धावति नरक-तिर्यग्योनीः, मौनं विराध्याऽसाधुरूपः ॥४६॥

जो करे अनर्थ निज दुष्टवृत्ति, वह गलछेदी रिपु करे नहीं।
मरणकाल में खेद-खिन्न, जानेगा संयमहीन कहीं ॥४८॥

है व्यर्थ श्रमण-रुचि उस नर की, जो उत्तमार्थ-विपरीत करे।
उसका है इह-परलोक नहीं, वह दोनों जग का नाश करे ॥४९॥

ऐसे कुशील स्वच्छन्द साधु करते जिनेन्द्रपथ का खण्डन।
कुररीसम-भोगास्वाद मूर्च्छित, पाते चिन्ता और पीड़ा मन ॥५०॥

अन्वयार्थ—**निवा**—हे नृप !, **इमा**—यह, (एक) **अन्ना वि**—और भी, **अणाहया हु**—वास्तव में अनाथता है, **तं**—उसे, **निहुओ**—शान्त (और), **एगचित्तो**—एकाग्रचित्त (होकर), **सुणेहि**—सुनो, **एगे**—कई, **जहा**—ऐसे, **बहुकायरा नरा**—बहुत ही कायर पुरुष होते हैं, (जो) **नियंठधम्मं**—निर्ग्रन्थ धर्म को, **लहियाण वी**—पाकर भी, **सीदंति**—खिन्न हो जाते हैं ॥३८॥

जो—जो साधक, **पव्वइत्ताण**—प्रव्रज्या ग्रहण करके, **पमाया**—प्रमादवश, **महव्वयाइं**—महाव्रतों का, **सम्मं**—सम्यक्, **नो फासयइ**—स्पर्श=पालन नहीं करता। (तथा) (जो) **अनिग्गहप्पा**—आत्मा (अथवा इन्द्रियों) का निग्रह नहीं करता, **य**—और, **रसेसु गिद्धे**—रसों में आसक्त है, **से**—वह, **मूलओ**—मूल से, **बंधणं**—राग-द्वेष रूप कर्म-बन्धन का, **न छिंदइ**—उच्छेद नहीं कर पाता ॥३९॥

इरियाए—ईर्यासमिति में, **भासाए**—भाषासमिति में, **तह**—तथा, **एसणाए**—एषणा समिति में, **आयाण-निक्खेव-दुगंछणाए**—आदान-निक्षेप समिति में और जुगुप्सा अर्थात्—जुगुप्साजनक उच्चार-प्रस्रवण परिष्ठापन समिति में, **जस्स**—जिसकी, **काइ**—कुछ भी, **आउत्तया**—उपयोगयुक्तता=यतना, **न अत्थि**—नहीं है, (वह उस) **मग्गं**—मार्ग का, **न अणुजाइ**—अनुगमन नहीं कर सकता, (जो) **वीरजायं**—वीरयात है—अर्थात्—जिस पर महावीर अथवा वीर पुरुष चले हैं ॥४०॥

(जो) **अथिरव्वए**—अहिंसादि व्रतों में अस्थिर है, **तव-नियमेहिं भट्ठे**—तप और नियमों से भ्रष्ट है, **से**—वह साधक, **चिरं पि**—चिरकाल तक, **मुण्डरुइ**—(अन्य किसी प्रकार की साधना न करके केवल) मुण्डरुचि (सिर मुंडाने वाला द्रव्यमुण्डित भिक्षु) **भवित्ता**—होकर, (तथा) **चिरं**—चिरकाल तक, **अप्पाण**—आत्मा को, **किलेसइत्ता पि**—क्लेश (कष्ट) देकर भी, **हु**—निश्चय ही, **संपराए**—संसार से, **पारए**—पारगामी (पार), **न होइ**—नहीं हो सकता ॥४१॥

जह—जैसे, **पोल्ले व मुट्ठी**—पोली मुट्ठी, **असारे**—असार होती है, **वा**—अथवा, **कूडकाहावणे**—कूट कार्षापण—खोटा सिक्का, **अयंतिए**—अयंत्रित—अप्रमाणित होता है, **य**—और, **राढामणी**—काच की मणि, **वेरुलियप्पगासे**—वैडूर्यमणि की तरह प्रकाशित होती है, (किन्तु) **जाणएसु**—जानने वाले परीक्षकों की दृष्टि में,

जं—जो अनर्थ, **से**—उसकी, **अप्पणिया दुरप्पा**—अपनी दुष्प्रवृत्तिशील दुरात्मा, **करे**—करती है, **तं**—वह, **कंठछेत्ता अरी**—गला काटने वाला शत्रु भी, **न करेइ**—नहीं, करता (उक्त तथ्य को) **दयाविहूणो**—दया—संयम से विहीन मनुष्य, **मच्चुमुहं पत्ते**—मृत्यु के मुख में पहुँचने पर, **पच्छाणुतावेण**—पश्चात्ताप से युक्त होकर, **से**—वह, **नाहिई**—जान पाता है ॥४८॥

जे—जो साधक, **उत्तमट्ठं**—उत्तमार्थ (मोक्ष रूप) अर्थ के विषय में, **विवज्जासमुवेइ**—विपरीत दृष्टि रखता है, **तस्स उ**—उसकी, **नग्गरुई**—नग्न रुचि—साधुत्व में अभिरुचि, **निरट्ठिया**—व्यर्थ है, **से**—उसके लिए, **इमे वि लोए नत्थि**—यह पर लोक भी नहीं है, **परे वि**—परलोक भी नहीं है,**तत्थ लोए**—उन दोनों लोकों में, **से**—वह, **दुहओ वि**—दोनों ओर से, **झिज्जइ**—भ्रष्ट (क्षीण) हो जाता है ॥४९॥

एमेव—इसी प्रकार, **अहाछंदं**—स्वच्छन्द (और) **कुसीलरूवे**—कुशीलवेष में, (भ्रष्ट साधु), **जिणुत्तमाणं**—जिनोत्तम (जिनेन्द्र भगवान्) के, **मग्गं**— मार्ग की, **विराहेत्तु**—विराधना करके, **भोगरसाणुगिद्धा**—भोगरसों में आसक्त होकर, **निरट्ठसोया**—निरर्थक शोक करने वाली, **कुररी विवा**—कुररी (गीध) पक्षिणी की तरह, **परियावमेइ**—परिताप को प्राप्त होता है ॥५०॥

भावार्थ—राजन् ! यह एक अन्य प्रकार की भी अनाथता है, उसे शान्त और एकचित्त होकर सुनो—जैसे कई बहुत ही कायर व्यक्ति होते हैं, जो निर्ग्रन्थ धर्म को पाकर भी खिन्न हो जाते हैं ॥३८॥

जो प्रव्रजित होकर प्रमादवश महाव्रतों का सम्यक् पालन नहीं करता तथा जो इन्द्रियनिग्रह से रहित है, और रसों में आसक्त है, वह (रागद्वेषजन्य कर्म) बन्धन का मूल से छेदन नहीं कर पाता ॥३९॥

ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और उत्सर्ग (जुगुप्सा) में जिसकी किंचित्मात्र भी आयुक्तता (सजगता) नहीं है, वह उस मार्ग का अनुसरण नहीं कर सकता, जिस पर वीर-पुरुष चले हैं ॥४०॥

जो साधक व्रतों में अस्थिर है, तप और नियमों से भ्रष्ट है, वह चिरकालपर्यन्त मुण्डरुचि रहकर और दीर्घकाल तक आत्मा को क्लेश देकर भी संसार (जन्ममरण) से पार नहीं हो सकता ॥४१॥

जैसे पोली मुट्ठी असार होती है, अथवा खोटा सिक्का अनियंत्रित अप्रमाणित होता है, काच की मणि वैडूर्यमणि की तरह चमकती है, किन्तु विज्ञपुरुषों की दृष्टि में इनका कुछ भी मूल्य नहीं है, (वैसे ही बाह्यलिंग में मुनियों की भाँति प्रतीत होने पर भी विज्ञपुरुषों के समक्ष उस द्रव्यलिंगी का कुछ भी मूल्य नहीं है ।) ॥४२॥

विवेचन—सनाथता के पथ को अंगीकार करके पुनः अनाथ बने हुए साधक—प्रस्तुत १३ गाथाओं (गा० ३८ से ५० तक) में अनाथी मुनि द्वारा विशिष्ट प्रकार के अनाथों का उल्लेख किया है, जो सनाथता के पथ पर चढ़कर भी पुनः अपनी विपरीत दुष्प्रवृत्ति के कारण अनाथ बन जाते हैं। ऐसे अनाथकोटि के साधकों के १३ मुख्य प्रकार यहाँ बताए गए हैं—

(१) निर्ग्रन्थ धर्म अंगीकार करके शिथिल एवं कष्ट कातर बने हुए।
(२) प्रव्रजित होकर महाव्रत-पालन में प्रमादी, अजितेन्द्रिय, एवं रसासक्त।
(३) पांच समितियों के पालन में उपयोगरहित।
(४) व्रतों में अस्थिर, तप-नियमों से भ्रष्ट, केवल मुण्डरुचि।
(५) आचारहीन, केवल वेषधारी एवं विज्ञों की दृष्टि में मूल्यहीन।
(६) कुशीलवेषी एवं ऋषिध्वज (चिन्हों से) से जीविका चलाने वाला संयममानी।
(७) विषय-भोगों से मिश्रित धर्म का पालक सुख-सुविधावादी।
(८) लक्षण, स्वप्न, निमित्त, कौतुक मंत्र-तंत्रादि से जीवन जीने वाला।
(९) शीलरहित गाढ अज्ञानान्धकारग्रस्त विपरीत दृष्टि वाला।
(१०) अनेषणीय आहार ग्रहण करने वाला सर्वभक्षी साधु।
(११) दुष्टआचार प्रवृत्त संयमहीन, दुरात्मा तथा मृत्यु के समय पश्चात्तापकर्ता।
(१२) उत्तमार्थ में विपरीत दृष्टि वाला उभयलोक भ्रष्ट साधक।
(१३) स्वच्छन्द, कुशील एवं जिन-मार्ग-विराधक।

सीदंति एगे बहुकायरा नरा: भावार्थ—कई अत्यन्त कातर=निःसत्त्व साधक कष्टों एवं परिषहों से विचलित होकर खिन्न हो जाते हैं अथवा निर्ग्रन्थ धर्म के अनुष्ठान के प्रति शिथिल हो जाते हैं।

न मूलओ छिंदइ बंधणं : तात्पर्य—इस गाथा का तात्पर्य यह है कि जो साधक पांच महाव्रतों को स्वीकार तो कर लेता है, लेकिन प्रमादवश उनका पालन नहीं करता, इन्द्रिय-निग्रह भी नहीं करता और रसलोलुप है, वह कर्मबन्ध के मूल का उच्छेद नहीं कर पाता, क्योंकि रागद्वेष जन्य और जन्म-मरण के कारणभूत पूर्वकृत कर्मों का तभी क्षय हो सकता है, जब

छाया

श्रुत्वा मेधावी सुभाषितमिदं, अनुशासनं ज्ञानगुणोपपेतम् ।
मार्गं कुशीलानां हित्वा सर्वं, महानिर्ग्रन्थानां व्रजेत् पथा ॥५१॥

चारित्राचार-गुणान्वितस्ततः, अनुत्तरं संयमं पालयित्वा ।
निरास्रवः संक्षपय्य कर्म, उपैति स्थानं विपुलोत्तमं ध्रुवम् ॥५२॥

एवमुग्रदान्तोऽपि, महातपोधनः महामुनिर्महाप्रतिज्ञो महायशाः ।
महानिर्ग्रन्थीयमिदं महाश्रुतं, सोऽचीकथत् महता विस्तरेण ॥५३॥

पद्या०

अनुशासन ज्ञान-गुणों से युत, मेधावी वाणी शुभ सुन कर ।
तज कुशीलों के मार्ग सभी, वढ़ चले महानिर्ग्रन्थी-पथ पर ॥५१॥

फिर चारित्राचार-गुणान्वित, उत्तम संयम का पालन कर ।
पाता उत्तम विपुल मोक्षपद, आस्रवरहित कर्म क्षय कर ॥५२॥

महाप्रतिज्ञ यशस्वी मुनिवर, उग्रतपी और शान्त दान्त ।
निर्ग्रन्थीय महाश्रुत का है, विस्तृत कथन किया निर्भ्रान्त ॥५३॥

अन्वयार्थ—**मेहावि**—मेधावी साधक, **इमं सुभासियं**—इस सुभाषित को, (एवं) **नाण-गुणोववेयं**—ज्ञान-गुण से युक्त, **अणुसासणं**—अनुशासन (हितशिक्षा) को, **सोच्चाण**—सुनकर, **कुसीलाणं**—कुशीलों-आचारभ्रष्ट साधुओं के, **सव्वं मग्गं**—सब मार्गों को, **जहाय**—छोड़ कर, **महानियंठाण**—महानिर्ग्रन्थों के, **पहेणं**—मार्ग से. **वए**—चले ॥५१॥

चरित्तमायरगुणन्निए—चारित्राचार और ज्ञानादि गुणों से सम्पन्न (निर्ग्रन्थ) **निरासवे**—निराश्रव होता है। **तओ**—फिर, (वह निराश्रव-बन्धहेतुओं से मुक्त साधक), **अणुत्तरं**—उत्कृष्ट, **संजमं**—शुद्ध संयम का, **पालियाणं**—पालन कर, **कम्मं संखवियाण**—कर्मों का क्षय करके, **विउलं उत्तमं धुवं ठाणं**—विपुल, उत्तम एवं ध्रुव (शाश्वत-मोक्ष नामक) स्थान को, **उवेइ**—प्राप्त कर लेता है ॥५२॥

एवं—इस प्रकार, **उग्गदंते वि**—उग्र दान्त, **महातवोधणे**—महान् तपोधन, **महापइन्ने**—महाप्रतिज्ञ, **महायसे**—महान् यशस्वी, **से महामुणी**—उस महामुनि ने **इणं**—इस, **महानियंठिज्जं महासुयं**—महानिर्ग्रन्थीय महाश्रुत का, **महया वित्थरेण**—बड़े विस्तार से, **काहए**—कथन किया है ॥५३॥

भावार्थ—बुद्धिमान् साधक इस (पूर्वोक्त) सुभाषित को, तथा ज्ञान-गुण से युक्त हितशिक्षा को सुनकर आचारभ्रष्ट (कुशील) साधुओं के सब मार्गों को छोड़ कर महानिर्ग्रन्थों के प्रशस्त पथ पर चले ॥५१॥

तुज्झं सुलद्धं खु मणुस्सजम्मं, लाभा सुलद्धा य तुमे महेसी !
तुब्भे सणाहा य सबंधवा य, जं भे ठिया मग्गे जिणुत्तमाणं ॥५५॥

तंसि नाहो अणाहाणं, सव्वभूयाण संजया !
खामेमि ते महाभाग ! इच्छामि अणुसासिउं ॥५६॥

पुच्छिऊण मए तुब्भं, झाणविग्घो उ जो कओ।
निमंतिओ य भोगेहिं, तं सव्वं मरिसेहि मे ॥५७॥

एवं थुणित्ताण स रायसीहो, अणगारसीहं परमाइ भत्तिए।
सओरोहो य सबंधवो[1], य धम्माणुरत्तो विमलेण चेयसा ॥५८॥

ऊससिय-रोमकूवो, काऊण य पयाहिणं।
अभिवंदिऊण सिरसा, अइयाओ नराहिवो ॥५९॥

छाया—तुष्टश्च श्रेणिको राजा, इदमुदाह कृताञ्जलिः।
अनाथत्वं यथाभूतं, सुष्ठु मे उपदर्शितम्।

तव सुलब्धं खलु मनुष्यजन्म, लाभा सुलब्धाश्च त्वया महर्षे !
यूयं सनाथाश्च सबान्धवाश्च, यद् भवन्तः स्थिता मार्गे जिनो-
त्तमानाम्।

त्वमसि नाथोऽनाथानां, सर्वभूतानां संयत !
क्षमयामि त्वां महाभाग !, इच्छाम्यनुशासयितुम्

पृष्ट्वा मया तव ध्यानविघ्नस्तु यः कृतः
निमंत्रितश्च भोगैः, तत् सर्वं मर्षय मे

एवं स्तुत्वा स राजसिंहः, अनगारसिंहं परमया भक्त्या।
सावरोधश्च सपरिजनश्च, धर्मानुरक्तो विमलेन चेतसा।

उच्छ्वसित-रोमकूपः, कृत्वा च प्रदक्षिणाम्।
अभिवन्द्य शिरसा, अतियातो नराधिपः।

पद्यानु०—श्रेणिक राजा तुष्ट हुआ, और हाथ जोड़कर यों बोला।
निश्चय अनाथ का सही रूप, मेरे आगे तुमने खोला ॥५४॥

सुफल जन्म मानुष तेरा, और सफल लाभ है तेरे साथ।
तुम तीर्थंकर पथ-अनुगामी, हो सबन्धु और तुम्हीं सनाथ ॥५५॥

हो संयत ! तुम सब जीवों के, तथा अनाथों के हो नाथ।
चाह रहा अनुशासन तुम से और क्षमा हे कृपानिधान ॥५६॥

---

१ पाठान्तर—स आरोहो य सपरियणो,

ध्यानविघ्न जो किया आपका, मैंने जो कुछ पृच्छा कर।
भोगों का जो किया, निमंत्रण, वह अपराध क्षमा दें कर ॥५७॥

परम-भक्ति से राजसिंह वह, श्रमणसिंह की स्तवना कर।
विमलचित्त से धर्मलीन हो, गया सकल परिजन ले कर ॥५८॥

पुलकित रोमकूप हो भूपति, आवर्तन से मुनि-वन्दन कर।
सविनय भू पर सिर टेकदिया, फिर चला गया हर्षित होकर ॥५९॥

अन्वयार्थ—सेणिओ राया—राजा श्रेणिक, तुट्ठो—सन्तुष्ट हुआ, य—और, कयंजली—हाथ जोड़कर, इणमुदाहु—इस प्रकार बोला—(भगवन्!), जहाभूयं अणाहत्तं—अनाथता का यथार्थ स्वरूप (आपने), मे—मुझे, सुट्ठु—भलीभांति, उवदंसियं—बताया है ॥५४॥

भावार्थ—(मुनि से सनाथ और अनाथ का वास्तविक अर्थ सुनकर) राजा श्रेणिक सन्तुष्ट हुआ और करबद्ध होकर, इस प्रकार बोला—'भगवन् ! आपने मुझे अनाथता का जैसा स्वरूप होता है, वैसा, अच्छी तरह समझाया है' ॥५४॥

हे महर्षि ! आपका मनुष्यजन्म प्राप्त करना सार्थक है, आपने जो भी लाभ प्राप्त किये, वे भी सफल हैं। आप ही वास्तव में सच्चे सनाथ और सच्चे माने में सबान्धव समस्त जीवों के बंधु हो; क्योंकि आप ही जिनेन्द्र-देवों के द्वारा उपदिष्ट पथ पर स्थित हैं ॥५५॥

हे मुनीश्वर ! आप ही अनाथों के एवं सब जीवों के नाथ हैं। हे महाभाग ! मैं आपसे क्षमायाचना करता हूँ। (मैं अब) आपसे शिक्षा प्राप्त करना चाहता हूँ ॥५६॥

आपसे प्रश्न पूछकर मैंने जो आपके ध्यान में विघ्न किया और भोगों के उपभोग के लिए आपको आमंत्रित किया, वह सब मेरा अपराध क्षमा करें ॥५७॥

इस प्रकार राजाओं में सिंह के समान श्रेणिक राजा मुनियों में सिंह के समान अनाथीमुनि की परमभक्तिपूर्वक स्तुति कर अन्तःपुर एवं परि-जनों के सहित निर्मलचित्त से धर्म में अनुरक्त हो गया ॥५८॥

राजा के रोम-रोम प्रसन्नता से पुलकित हो गए। उसने मुनि की प्रदक्षिणा की और मस्तक झुकाकर वन्दना की और अपने स्थान पर लौट गया ॥५९॥

विवेचन—मुनि के प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन—शिष्ट पुरुष का यह कर्त्तव्य होता है, जिससे वह कुछ ज्ञान, मार्गदर्शन, एवं अनुशासन प्राप्त करे, या प्राप्त करना चाहे, तथा जिसके गुणों से प्रभावित हो, उसके प्रति शिष्ट शब्दों में कृतज्ञता प्रकट करे, उसके गुणों की प्रशंसा करे, उसका अभिनन्दन करे, उसका समय व्यय किया, जिसके लिए क्षमायाचना करे, उस महान् आत्मा के प्रति परमभक्ति, स्तुति, धर्मानुरक्ति, प्रदक्षिणा और वन्दना करे। राजा श्रेणिक ने अनाथीमुनि के गुणों के प्रति आकर्षित और उनके अन्तरंग व्यक्तित्व से प्रभावित होकर जो यथार्थ शिष्टाचार किया है, वह इन छह गाथाओं (गाथा ५४ से ५९) में प्रतिपादित है।

इच्छामि अणुसासिउं—इसका अर्थ है—आपके द्वारा अनुशासित होने (शिक्षा पाने) की इच्छा रखता हूँ, तथा इसका आशय यह भी है कि मैं आपके शासन में रहकर अपनी आत्मशुद्धि करना चाहता हूँ।

त्तिबेमि—ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—गुणों से समृद्ध, तीन गुप्तियों से गुप्त, त्रिदण्डविरत, मोहमुक्त अनाथीमुनि पक्षी के समान विप्रमुक्त=अप्रतिबद्ध होकर भूमण्डल में विचरने लगे ॥६०॥

विवेचन—महानिर्ग्रन्थमुनि की अर्हताएँ—प्रस्तुत गाथा में अध्ययन का उपसंहार करते हुए महानिर्ग्रन्थ (अनाथी) मुनि की मुख्य अर्हताएँ दी गई हैं—(१) गुणों से (साधु के २७ गुणों से अथवा क्षमादि गुणों से) समृद्ध, (२) तीन गुप्तियों से गुप्त, (३) तीन दण्डों से विरत, (४) पक्षिवत् सभी प्रकार के प्रतिबन्धों से रहित अर्थात्—द्रव्यभाव-परिग्रह से रहित एवं (५) मोहमुक्त अर्थात् केवली या वीतराग।

□□

इक्कीसवाँ अध्ययन : समुद्रपालीय

[अध्ययन-सार]

प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'समुद्रपालीय' है। इसमें समुद्रपाल के जन्म, बाल्यकाल एवं युवावस्था से लेकर वैराग्य, प्रतिबोध, गृहत्याग आदर्श साधुजीवन तथा उत्कृष्ट रत्नत्रयसाधना के फलस्वरूप सिद्धि पद का २४ गाथाओं में वर्णन है।

समुद्रपाल के संक्षिप्त जीवन वृत्तान्त से एक सिद्धान्त स्पष्टतः ध्वनित होता है कि बोया हुआ बीज अवश्य सफल होता है। प्राणी जैसा अच्छा या बुरा कर्म-बीज बोता है, तदनुसार एकदिन वह फलित होता है। मनुष्य-जीवन की सार्थकता इसी में है कि मनुष्य इस सिद्धान्त पर गहराई से चिन्तन करके पूर्वजन्म में बोए हुए शुभ बीज से इस जन्म में उसका शुभ फल पाकर शुद्ध की ओर कर्मों से विमुक्त होने के लिए प्रस्थान करे।

समुद्रपाल ने पूर्वजन्म में शुभ कर्म का बीज बोया था, उसके फलस्वरूप इस जन्म में वह एक सम्पन्न धर्मिष्ठ वणिक् के घर में जन्मा, उसे सभी मनोज्ञ भोग-साधन प्राप्त हुए, उन्हें भोगने भी लगा था। इसी बीच वध्य-स्थान में ले जाते हुए एक अपराधी चोर को देखा। उसको देखते ही समुद्र-पाल की दृष्टि उस दृश्य पर नहीं, दृश्य के कारण और परिणाम पर गई। उसके पूर्व-संस्कार जागृत हो गए। नये कर्मों को आते हुए रोकने और पूर्व-बद्ध कर्मों को क्षय करने की प्रेरणा जागी और एक ही झटके में समस्त मोह-बन्धनों को तोड़कर अनगार बन गया।

घटनाक्रम इस प्रकार है—

अंगदेश की चम्पानगरी में भगवान् महावीर की शिक्षाओं को हृदयंगम किया हुआ, सिद्धान्तों में निष्णात, वणिक् जातीय पालित नाम का श्रावक रहता था। वह व्यापार के लिए जलमार्ग से देश-विदेश में दूर-सुदूर यात्रा करता था। एक बार वह जलपोत से समुद्र-यात्रा करता हुआ व्यापार के लिए पिहुण्डनगर गया। वहाँ उसे काफी समय तक रुकना पड़ा। युवक पालित की धर्मनिष्ठा, व्यापार-कुशलता एवं प्रामाणिकता

आदि गुणों से प्रभावित होकर वहीं के एक व्यापारी ने अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ कर दिया।

पालितश्रावक अपनी गर्भवती पत्नी को लेकर समुद्रमार्ग से स्वदेश लौट रहा था, उसी दौरान जहाज में ही उसकी पत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया। उसका गुण-निष्पन्न 'समुद्रपाल' नाम रखा गया। चम्पानगरी में समुद्रपाल का लालन-पालन सुखपूर्वक होने लगा। वह कलाओं और विद्याओं में निपुण हो गया। यौवन में पदार्पण करते ही सर्व-वल्लभ समुद्रपाल का विवाह एक सुन्दर गुणवती कन्या के साथ कर दिया गया। अपने महल में समुद्रपाल आमोद-प्रमोद के साथ सुखपूर्वक जीवन-यापन करने लगा।

एक दिन सहसा उसकी दृष्टि राजमार्ग पर नगर-आरक्षकों द्वारा वधभूमि की ओर ले जाते हुए एक मृत्युदण्डप्राप्त अपराधी पर पड़ी। उसकी विचित्र वेषभूषा और गधे पर चढ़ाकर उसके दुष्कर्म की घोषणा करते हुए जनसमूह को देखकर मस्तिष्क में विचारों की बिजली कौंध गई— 'अच्छे कर्मों का फल अच्छा होता है और बुरे कर्मों का फल बुरा। इस अपराधी ने वहुत ही बुरे कर्म किये हैं, उनका बुरा परिणाम इसे भोगना पड़ रहा है। प्रत्येक प्राणी को अच्छे या बुरे कर्मों के फल स्वयं भोगने पड़ते हैं। मेरी भी अपने पूर्वकृत अशुभकर्मों के फलस्वरूप ऐसी दशा हो सकती है। तव क्यों न मैं अभी से नये कर्मों को आते हुए रोकने और पुराने कर्मों को क्षय करने का प्रयत्न करूं। कर्मों से मुक्त होने का सर्वोत्तम मार्ग है— 'जिनोक्त निर्ग्रन्थ धर्म का पालन।' इस प्रकार का चिन्तन करते-करते समुद्रपाल का मन संवेग और वैराग्य से ओत-प्रोत हो गया। अन्ततोगत्वा, माता-पिता से अनुमति प्राप्त कर उसने निर्ग्रन्थ धर्म की प्रव्रज्या ले ली।

दीक्षित होने के साथ ही समुद्रपाल मुनि ने स्वजन-परिजनों, तथा समस्त सांसारिक भोगों की आसक्ति छोड़ दी और पंचमहाव्रत स्वीकार करके समता, साधुता, व्रत, शील और परीषह सहने का अभ्यास करने लगा।

इसके पश्चात् प्रस्तुत अध्ययन में आदर्श साधुजीवन के लिए अनिवार्य धर्माचरण का निर्देश है, जिस पर चलकर महर्षि समुद्रपाल ज्ञान-दर्शन-चारित्र की सर्वोच्च भूमिका पर पहुँच गए और एक दिन शैलेशी अवस्था प्राप्त करके समस्त कर्मों से सर्वथा मुक्त एवं जन्म-मरणरूप संसार समुद्र से पार होकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए।

प्रस्तुत अध्ययन से स्पष्ट है कि सरलता, तितिक्षा, निरभिमानता, अदीनता, अनासक्ति, क्षमा, दया, सहिष्णुता, सत्यशोध की तीव्रता, राग-द्वेष-मोह से विरति, शोक-ममत्व-परिग्रह से निवृत्ति, आत्म-हितैषिता, विविक्त-स्थान-निवास, निन्दा-प्रशंसा में समभाव, प्राणिमात्र के प्रति आत्मौपम्यभाव, सतत अप्रमत्तता, ये और इस प्रकार के अन्य सद्‌गुण ही निर्ग्रन्थधर्म रूप भवन की नींव की ईंटें हैं। यह नींव जितनी परिपक्व एवं सुदृढ़ होगी, उतना ही शीघ्र साधु मोक्षरूपी मेरुशिखर के निकट पहुँचेगा। आदर्श साधु जीवन के लिए ऐसी ही संयमयात्रा अभीष्ट है।

●●

समुद्रपालीय : इक्कीसवाँ अध्ययन

[एगविंसइमं अज्झयणं : समुद्दपालीयं]

पालितश्रावक और उसका व्यवसायार्थ विदेशगमन—

मूल—चम्पाए पालिए नामं, सावए आसि वाणिए।
महावीरस्स भगवओ, सीसो सो उ महप्पणो ॥१॥
निग्गंथे पावयणे, सावए से विकोविए।
पोएण ववहरंते, पिहुंडं नगरमागए ॥२॥

छाया—चम्पायां पालितो नाम, श्रावक आसीद् वाणिजः।
महावीरस्य भगवतः, शिष्यः स तु महात्मनः ॥१॥
नैर्ग्रन्थे प्रवचने, श्रावकः स विकोविदः।
पोतेन व्यवहरन्, पिहुण्डं नगरमागतः ॥२॥

पद्या०—चम्पा में रहता था श्रावक, जो वणिक्, नाम से था पालित।
महावीर जिनराजप्रभु का, शिष्य, मार्ग पर था चालित ॥१॥
निर्ग्रन्थ-वचन में अतिकोविद, श्रावकव्रत को उसने पाया।
वाणिज्य-हेतु चल नौका से, पिहुण्ड नगर को वह आया ॥२॥

अन्वयार्थ—चंपाए—चम्पानगरी में, **पालिए नाम**—पालित नामक, (एक) **वाणिए सावए**—वणिक् श्रावक, **आसी**—था, **सो उ**—वह, **महप्पणो भगवओ महावीरस्स**—महात्मा महापुरुष, भगवान् महावीर का, **सीसो**—शिष्य था ॥१॥

से सावए—वह (पालित) श्रावक, **निग्गंथे पावयणे**—निर्ग्रन्थ-प्रवचन का, **विकोविए**—विशिष्ट विद्वान् (कोविद) था। (एक बार) **पोएण**—पोत (पानी के जहाज) से, **ववहरंते**—व्यापार करता हुआ (वह), **पिहुंडं नगरं**—पिहुण्ड नगर में, **आगए**—आ पहुँचा ॥२॥

भावार्थ—चम्पानगरी में पालित नाम का एक व्यवसायी श्रावक रहता था। वह महापुरुष भगवान् महावीर स्वामी का (अनुयायी) शिष्य था ॥१॥

वह श्रावक निर्ग्रन्थ-प्रवचन के विषय में विशिष्ट पण्डित था। एक बार वह जहाज से व्यापार करता हुआ, पिहुण्ड नगर में पहुँचा ॥२॥

पालितश्रावक का विशिष्ट परिचय—चम्पानगरी में बसे हुए विशाल व्यवसायी वर्ग में पालित विशिष्ट व्यवसायी वणिक् था। केवल वणिक् ही नहीं, वह देशविरति श्रावक था, महापुरुष तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी का गृहस्थ शिष्य था, अर्थात्—भगवान् महावीर द्वारा प्रतिबोधित, उनकी शिक्षाओं का धारक श्रावक-शिष्य था। पालित नाममात्र का श्रावक नहीं था, अपितु व्यापारी होने के साथ-साथ वह निर्ग्रन्थ प्रवचनों=वीतराग-प्ररूपित सिद्धान्तों अथवा शास्त्रप्रतिपादित नौ तत्त्वों का विशिष्ट विद्वान् भी था, वह जीवादि तत्वों का मर्मज्ञ था।

व्यवसायार्थ विदेशयात्रा—पालित द्वादशव्रतधारी श्रावक होकर भी जलयानों द्वारा व्यवसाय करता हुआ विदेशयात्रा भी करता था। वह व्यवसायार्थ पिहुण्ड नगर पहुँचा। इससे स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में जैन-धर्मानुयायी गृहस्थ विदेशयात्रा भी करते थे।

पालित का विदेशी कन्या के साथ विवाह एवं पुत्र जन्म—

मूल—पिहुण्डे ववहरंतस्स, वाणिओ देइ धूयरं।
तं ससत्तं पइगिज्झ, सदेसमह पत्थिओ ॥३॥

अह पालियस्स घरणी, समुद्दम्मि पसवई।
अह दारए[1] तहिं जाए, समुद्दपालित्ति नामए ॥४॥

छाया—पिहुण्डे व्यवहरते, वाणिजो ददाति दुहितरम्।
तां ससत्त्वां प्रतिगृह्य, स्वदेशमथ प्रस्थितः ॥३॥

अथ पालितस्य गृहिणी, समुद्रे प्रसूते।
अथ दारकस्तस्मिन् जातः, समुद्रपाल इति नामकः ॥४॥

पद्या०—पिहुण्डनगर धंधा करते, निज-पुत्री दी व्यापारी ने।
उस गर्भवती को ले निजपुर, प्रस्थान किया व्रतधारी ने ॥३॥

पालित-पत्नी ने सागर में, शुभ पुत्ररत्न को जन्म दिया।
जन्मा समुद में था बालक, यों 'समुद्रपाल' यह नाम दिया ॥४॥

अन्वयार्थ—**पिहुंडे**—पिहुण्डनगर में, **ववहरंतस्स**—व्यापार करते समय, **वाणिओ**—किसी व्यापारी ने, **धूयरं**—अपनी कन्या (विवाह के रूप में उसे), **देइ**—

---

१ पाठान्तर—'बालए।'

दी। (कुछ समय पश्चात्) तं ससत्तं—उस गर्भवती पत्नी को, पइगिज्झ—लेकर, (उसने) अह—अब, सदेसं—स्वदेश की ओर, पत्थिओ—प्रस्थान किया ॥३॥

अह—(स्वदेश-प्रस्थान के) पश्चात्, पालियस्स घरणी—पालितश्रावक की गृहिणी ने, समुद्दम्मि—समुद्र में ही, पसवइ—पुत्र को जन्म दिया। अह—चूँकि, दारए तहिं जाए—(वह) बालक समुद्र में जन्मा था, (इस कारण उसका) नामए—नाम, समुद्दपालित्ति—'समुद्रपाल' (रखा गया) ॥४॥

भावार्थ—(वह) पिहुण्ड नगर में व्यापार कर रहा था, तभी (उसके गुणों से सन्तुष्ट होकर) (वहीं के एक) वणिक् ने उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। कुछ समय के पश्चात् अपनी विवाहिता गर्भवती पत्नी को लेकर पालित अपने देश की ओर रवाना हुआ ॥३॥

पालित की गर्भवती पत्नी ने समुद्र में ही पुत्र को जन्म दिया। समुद्र (यात्रा) में पैदा होने के कारण उस बालक का नाम समुद्रपाल रखा गया ॥४॥

विवेचन—विदेशी वणिक् द्वारा अपनी पुत्री का विवाह पालित के साथ—पिहुण्ड नगर में पालितश्रावक की व्यापार कुशलता, व्यवहार-निपुणता एवं अन्य गुणों के कारण बढ़ी हुई प्रतिष्ठा एवं धर्मनिष्ठा को देखकर वहीं के एक व्यापारी ने अपनी कन्या का पाणिग्रहण उसके साथ कर दिया। इससे स्पष्ट है कि उस काल में लोग देश, वेश, भाषा और जाति आदि के भेदभावों से ऊपर उठकर शीलादि गुणों के कारण ही अपनी कन्या योग्य व्यक्ति को देते थे।

गुणनिष्पन्न नामकरण—पालित की पत्नी ने समुद्र में ही शिशु को जन्म दिया था, इस कारण उस बालक के माता-पिता ने उसका गुणनिष्पन्न 'समुद्रपाल' नामकरण किया।

समुद्रपाल का चम्पा में संवर्द्धन, शिक्षण, विवाह और सुखपूर्वक जीवन-यापन—

मूल—खेमेण आगए चंपं, सावए वाणिए घरं।
संवड्ढई घरे तस्स, दारए से सुहोइए ॥५॥
बावत्तरी कलाओ य, सिक्खए नीइकोविए।
जोव्वणेण य संपन्ने,[1] सुरूवे पियदंसणे ॥६॥

---

१ पाठान्तर—अपफुण्णे।

तस्स रूववइं भज्जं, पिया आणेइ रूविणिं।
पासाए कीलए रम्मे, देवो दोगुन्दओ जहा ॥७॥

छाया—क्षेमेणागतश्चम्पां, श्रावको वाणिजो गृहम्।
संवर्द्धते गृहे तस्य, दारकः स सुखोचितः ॥५॥
द्वासप्तति-कलाश्च, शिक्षते नीति-कोविदः।
यौवनेन च सम्पन्नः, सुरूपः प्रियदर्शनः ॥६॥
तस्य रूपवतीं भार्या, पिताऽऽनयति रूपिणीम्।
प्रासादे क्रीड़ति रम्ये, देवो दोगुन्दको यथा ॥७॥

पद्या०—सकुशल चम्पा में पहुँच वीर-श्रावक व्यापारी घर आया।
सुखयोग्य पुत्र (वह), उसके घर में, पाता संवर्द्धन सुखदाया ॥५॥
कला बहत्तर सीखी उसने, एवं हुआ नीति-विद्वान।
भरी जवानी और सम्पदा, प्रियदर्शन था रूप-महान ॥६॥
रूपिणी नाम की रूपवती, पत्नी ले आए पिता उसे।
दोगुन्दक-सुरवत् रम्य-महल, में क्रीड़ा करता साथ जिसे ॥७॥

अन्वयार्थ—**वाणिए सावए**—वह वणिक् श्रावक, **खेमेण**—क्षेमकुशलपूर्वक **चंपं**—चम्पानगरी में, **घरं**—अपने घर, **आगए**—आ गया। **से**—वह, **सुहोइए दारए**—सुखोचित=सुकुमार वालक, **तस्स घरे**—उस (पालित श्रावक) के घर में, **संवड्ढई**—सुखसे बढ़ने लगा ॥५॥

(उसने) **बावत्तरी कलाओ**—वहत्तर कलाएँ, **सिक्खए**—सीखीं, **य**—और (वह) **नीइ-कोविए**—नीति-निपुण (हो गया), **जोव्वणेण संपन्ने**—यौवन से सम्पन्न होने पर (वह), **पियदंसणे**—प्रियदर्शन, **य**—और, **सुरूवे**—सुरूवे—(लगने-लगा) ॥६॥

(समुद्रपाल को विवाह-योग्य जान कर) **पिया**—उसके पिता, **तस्स**—उसके लिए, **रूविणिं**—रूपिणी नाम की, **रूववइं भज्जं**—रूपवती कन्या भार्यारूप में, **आणेइ**—लाये। (वह अपनी पत्नी के साथ), **रम्मे पासाए**—रमणीय प्रासाद में, **देवो दोगुन्दओ जहा**—दोगुन्दक देव की भांति, **कीलए**—क्रीड़ा करने लगा ॥७॥

भावार्थ—वह पालित व्यापारी कुशलतापूर्वक यात्रा सम्पन्न कर चम्पा नगरी में अपने घर आया। वह बालक उसके घर में सुखोचित सुखपूर्वक बढ़ने लगा ॥५॥

उसने (समुद्रपालने) वहत्तर कलाएँ सीखीं, नीति की शिक्षा प्राप्त कर विद्वान बन गया। युवावस्था आने पर वह सभी को सुन्दर और प्रियदर्शन लगने लगा ॥६॥

उसके पिता (पालित) ने रूपिणी नामक सुन्दर कन्या के साथ उसका विवाह कर दिया। अब वह सुरम्य भवन में दोगुन्दक देव की तरह क्रीडा करता था ॥७॥

विवेचन—पियदंसणे : तात्पर्य—'प्रियदर्शन' शब्द 'समुद्रपाल' का विशेषण है। समुद्रपाल युवावस्था प्राप्त होने पर अपने स्वाभाविक रूप-लावण्य से तथा अपने मधुर, विनयपूर्ण मृदु व्यवहार से सबको अत्यन्त प्रिय लगता था। जो भी उसको देखता था, उसके व्यक्तित्व से मुग्ध एवं प्रभावित हो जाता था। इसलिए 'पियदंसणे' विशेषण प्रयुक्त किया गया है।

देवो दोगुन्दगो जहा : तात्पर्य—स्वर्ग में अन्य जितने भी देव होते हैं, वे सब इन्द्र के आधीन होते हैं, परन्तु दोगुन्दक देव इन्द्र के गुरु होने से उन पर किसी भी देव या इन्द्र का अंकुश नहीं हो तो वे निर्भयता एवं निर्विघ्नता से स्वर्गीय सुखों का उपभोग करते हैं, इसीलिए समुद्रपाल के लिए कहा गया है कि वह दोगुन्दकदेव के समान निर्भय होकर निर्विघ्नता-पूर्वक इन्द्रिय-सुखों का उपभोग करने लगा।

समुद्रपाल : प्रतिबुद्ध, विरक्त एवं प्रव्रजित—

मूल—अह अन्नया कयाई, पासायालोयणे ठिओ।
वज्झ-मंडण-सोभागं, वज्झं पासइ वज्झगं ॥८॥

तं पासिऊण संविग्गो, समुद्दपालो इणमब्बवी।
अहोऽसुभाण कम्माणं, निज्जाणं पावगं इमं ॥९॥

संबुद्धो सो तहिं भगवं, परं संवेगमाग
आपुच्छऽम्मापियरो, पव्वए अणगारियं ॥

सम्बोध प्राप्त कर ज्ञानवान्, वैराग्य वहाँ अति प्राप्त किया।
मात-पिता की अनुमति पा, अनगार-प्रव्रज्या-मार्ग लिया ॥१०॥

अन्वयार्थ—**अह**—इसके पश्चात्, **अन्नया कयाई**—किसी एक दिन, (वह) **पासायालोयणे**—महल के झरोखे में, **ठिओ**—बैठा था। (तभी उसने), **वज्झमंडण-सोभागं**—वध्यजनोचित मण्डनों (चिन्हों) से शोभित (युक्त), **वज्झं**—किसी वध्य-जन को, **वज्झगं**—(नगर से) बाहर, वध्यस्थान की ओर (ले जाते हुए), **पासइ**—देखा ॥८॥

तं—उस (चोर) को **पासिऊण**—देखकर, **संविग्गो**—संवेग-प्राप्त, **समुद्दपालो**—समुद्रपाल ने, **इणमब्बवी**—(मन ही मन) इस प्रकार कहा—, **अहो**—अफसोस है !, **इमं**—यह, **असुभाण कम्माणं**—अशुभकर्मों का, **पावगं**—पाप कारी=अशुभ, **निज्जाणं**—निर्याण=परिणाम है ॥९॥

सो—वह (समुद्रपाल) **भयवं**—भगवान्=माहात्म्यवान्, **परम संवेगमागओ**—अत्यन्त संवेग को प्राप्त हुआ, (और) **तहिं**—वहीं (झरोखे में बैठे-बैठे ही) **संबुद्धो**—(स्वयं) सम्बुद्ध=प्रतिबुद्ध हो गया। (फिर) **अम्मापियरो**—अपने माता-पिता को, **आपुच्छ**—पूछ (अनुज्ञा ले) कर, (उसने) **अणगारियं**—अनगारिता-मुनिधर्म में, **पव्वए**—प्रव्रजित हुआ ॥१०॥

भावार्थ—तदनन्तर किसी समय प्रासाद के गवाक्ष में बैठे हुए समुद्रपाल ने (राजपुरुषों द्वारा) वध-योग्य चिन्हों से सुसज्जित किये हुए एक वध्य (मृत्युदण्डयोग्य अपराधी=चोर) को वधस्थान की ओर ले जाते हुए देखा ॥८॥

उस (अपराधी) को देख कर संवेग को प्राप्त हुए समुद्रपाल ने (मन ही मन) इस प्रकार कहा—अहो ! अशुभकर्मों का यह पापरूप (अशुभ) अन्तिम परिणाम ही है, (जो इस अपराधी को प्राप्त हो रहा है।) ॥९॥

वह महान् आत्मा (भगवान्) समुद्रपाल उत्कृष्ट संवेग (वैराग्य) को प्राप्त हुआ और वहीं (झरोखे में बैठा-बैठा ही) स्वयं सम्बुद्ध (प्रतिबुद्ध) हो गया। फिर माता-पिता से आज्ञा प्राप्त (पूछ) कर अनगार-धर्म में प्रव्रजित हो गया ॥१०॥

विवेचन—समुद्रपाल को संविग्नता प्रतिबुद्धता और प्रव्रज्या की उपलब्धि—प्रस्तुत तीन गाथाओं (गाथा ८ से १० तक) में स्वर्गोपम सुखों का अनुभव करते हुए वणिक् पुत्र समुद्रपाल को सहसा संवेग, वैराग्य, प्रतिबोध एवं दीक्षाग्रहण के भाव कैसे उत्पन्न हुए ? इसका संक्षेप में उल्लेख है।

समुद्रपाल को संवेग प्राप्त होने में मुख्य निमित्त बना—वधस्थल की ओर ले जाया जाता हुआ एक अपराधी जिसे कुछ टीकाकारों ने 'चोर' कहा है। समुद्रपाल की दृष्टि उक्त अपराधी पर पड़ी। उसके गले में वध्य-पुरुषोचित चिन्ह डाले हुए थे। प्राचीनकाल में यह प्रथा थी जिस व्यक्ति को मृत्युदण्ड दिया जाता था, उसे गधे पर विपरीत दिशा में मुख करके विठाया जाता था, उसके गले में जूतों की माला पहनाई जाती, उसका सिर मुंडवा कर उसके आगे फूटा ढोल वजाते हुए नगर के राजमार्गों से होकर सहस्रों नर-नारियों के जुलूस के साथ वद्यस्थान में ले जाया जाता था। अपने महल के गवाक्ष में वैठे हुए समुद्रपाल ने इस प्रकार के दृश्य को देखा तो उसके विचारों ने नई करवट ली।

कई गुजराती भाषान्तरकार समुद्रपाल को जातिस्मरण ज्ञान होने का उल्लेख करते हैं, किन्तु मूल में अथवा वृत्तियों में इसका कोई उल्लेख नहीं है। वस्तुतः उस अपराधी की अत्यन्त शोचनीय दशा को देखकर उनका चिन्तन चला कि उपार्जित किये हुए अशुभकर्मों का ही यह कटुफल भोगना पड़ रहा है, इस अपराधी को ! मेरे जीव ने भी न मालूम पूर्वजन्मों में कितने अशुभकर्म किये होंगे, मुझे भी उनका फल देर-सबेर भोगना पड़ेगा। परन्तु मैं भोगों में आसक्त होकर, रागद्वेषवश नये-नये कर्मों का संचय करता जा रहा हूँ। सांसारिक रिश्ते नाते, धन, सुखसाधन आदि सब कर्मवन्ध को मजबूत करने वाले हैं। अतः एक ओर से मुझे इन सबकी आशक्ति, मोह और वन्धनों का परित्याग करना चाहिए, और दूसरी ओर से इन कर्म-बन्धनों से सर्वथा मुक्ति (कर्मों का आत्यन्तिक क्षय) के लिए तप, त्याग, महाव्रत, क्षमादिगुण, परीषह सहन आदि का मार्ग—निर्ग्रन्थ धर्म को अपनाना चाहिए जिससे मैं कर्मों का सर्वथा क्षय करके शाश्वत सुखरूप मोक्ष प्राप्त कर सकूँ।" ऐसे ही कुछ चिन्तन के फलस्वरूप समुद्रपाल को चारित्रावरणीय कर्म के क्षयोपशम से संसार से वैराग्य और मोक्षाभिलाषारूप परम संवेग प्राप्त हुआ। उसी समय तदावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से उसे तत्त्व-विषयक वोध उत्पन्न हुआ। वह सहसा प्रतिबुद्ध (जागृत) हो गया कि मुझे अब सांसारिक भोगों एवं स्वजनादि के वन्धन में नहीं पड़े रहना है। मुझे अब शीघ्र ही समस्त कर्मों के आत्यन्तिक क्षयरूप मोक्ष के लिये कटिवद्ध हो जाना चाहिए। इसके लिए निर्ग्रन्थ मुनिदीक्षा ही सर्वोत्तम मार्ग है। ऐसा निश्चय करके समुद्रपाल अपने माता-पिता से दीक्षा ग्रहण करने की अनुज्ञा प्राप्त करके अनगारधर्म में प्रव्रजित हो गया। यही उसकी संविग्नता, प्रतिबुद्धता-एवं प्रव्रज्या की उपलब्धि के हेतु है।

दीक्षा ग्रहण की अनुमति लेते समय माता-पिता के साथ समुद्रपाल के जो प्रश्नोत्तर हुए थे, उनका विवरण यहाँ नहीं दिया गया है। संभव है—१९वें मृगापुत्रीय अध्ययन में वर्णित प्रश्नोत्तरों के समान ही प्रश्नोत्तर यहाँ हुए हों।

वज्झमण्डण सोभागं—वध्यजनोचित मण्डण—चिन्ह; इससे प्राचीन काल की दण्ड प्रक्रिया का संकेत मिलता है। सूत्रकृतांग चूर्णि तथा उत्तरा० बृहद्वृत्ति पत्र ४८३ के उल्लेख के अनुसार जिस अपराधी को वध (मृत्युदण्ड) की सजा दी जाती थी, उसे गले में लाल कनेर की माला पहनाई जाती, शरीर पर लाल चन्दन का लेप करके लाल वस्त्र पहना कर नगर में घुमाते हुए उसे श्मशान (वध्यस्थल) की ओर ले जाया जाता था।

समुद्रपाल के लिए 'भगवान्' शब्द का प्रयोग क्यों?—'भगवान्' शब्द यहाँ तीर्थंकर, ज्ञानीपुरुष या केवली के अर्थ में प्रयुक्त नहीं होकर, 'भग' शब्द के अनेकार्थक होने से माहात्म्यवान् या धर्मिष्ठ, यशस्वी आदि अर्थ में समुद्रपाल की आत्मा की महत्ता को अभिव्यक्त करने हेतु प्रयुक्त किया गया है।

आदर्श मुनिधर्म के सांगोपांग आचरण का निर्देश—

मूल

जहित्तु संगं च[1] महाकिलेसं, महंतमोहं कसिणं भयावहं।
परियाय-धम्मं चऽभिरोयएज्जा, वयाणि सीलाणि परीसहे य ॥११॥

अहिंस-सच्चं च अतेणगं च, तत्तो य बंभं अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंच-महव्वयाणि, चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ ॥१२॥

सव्वेहिं भूएहिं दयाणुकंपी, खंतिक्खमे संजय-बंभयारी।
सावज्जजोगं परिवज्जयंतो, चरिज्ज भिक्खू सुसमाहि इंदिए ॥१३॥

कालेण कालं विहरेज्ज रट्ठे, बलाबलं जाणिय अप्पणो य।
सीहो व सद्देण न संतसेज्जा, वयजोग सुच्चा न असब्भमाहु ॥१४॥

उवेहमाणो उ परिव्वएज्जा, पियमप्पियं सव्व तितिक्खएज्जा।
न सव्व सव्वत्थऽभिरोयएज्जा, न यावि पूयं गरहं च संजए ॥१५॥

---

१ 'संगंध' इति पाठान्तरम्।

अणेगछंदा इह माणवेहिं, जे भावओ संपगरेइ भिक्खू।
भय-भेरवा तत्थ उइंति भीमा, दिव्वा मणुस्सा अदुवा तिरिच्छा ॥१६॥

परीसहा दुव्विसहा अणेगे, सीयंति जत्थ बहुकायरा नरा।
से[2] तत्थ पत्ते न वहिज्ज भिक्खू, संगामसीसे इव नागराया ॥१७॥

सीओसिणा दंसमसा य फासा, आयंका विविहा फुसंति देहं।
अकुक्कुओ तत्थ ऽहियासएज्जा, रयाइं खेवेज्ज पुरेकडाइं ॥१८॥

पहाय रागं च तहेव दोसं, मोहं च भिक्खू सययं वियक्खणो।
मेरुव्व वाएण अकंपमाणो, परीसहे आयगुत्ते सहेज्जा ॥१९॥

अणुन्नए नावणए महेसी, न यावि पूयं गरहं च संजए।
से उज्जुभावं पडिवज्ज संजए, निव्वाणमग्गं विरए उवेइ ॥२०॥

अरइ-रइ-सहे पहीण-संथवे, विरए आयहिए पहाणवं।
परमट्ठ-पएहिं चिट्ठई, छिन्न-सोए अममे अकिंचणे ॥२१॥

विवित्तलयणाइ भएज्ज ताई, निरोवलेवाइ[3] असंथडाइं।
इसीहिं चिण्णाइं महायसेहिं, काएण फासेज्ज परीसहाइं ॥२२॥

छाया

हित्वा संगं च महाक्लेशं, महामोहं कृष्णं भयावहम्।
पर्यायधर्मं चाऽभिरोचयेत् व्रतानि शीलानि, परीषहांश्च ॥११॥

अहिंसां सत्यं चाऽस्तेनकं च, ततश्च ब्रह्माऽपरिग्रहं च।
प्रतिपद्य पंच-महाव्रतानि, चरेद् धर्मं जिनदेशितं विद्वान् ॥१२॥

सर्वेषु भूतेषु दयाऽनुकम्पी, क्षान्ति-क्षमः संयतो ब्रह्मचारी।
सावद्ययोगं परिवर्जयन्, चरेद् भिक्षुः सुसमाहितेन्द्रियः ॥१३॥

कालेन कालं विहरेत् राष्ट्रे, बलाबलं ज्ञात्वाऽऽत्मनश्च।
सिंह इव शब्देन न संत्रस्येत्, वाग्योगं श्रुत्वा नाऽसभ्यं आह ॥१४॥

उपेक्षमाणस्तु परिव्रजेत्, प्रियमप्रियं सर्वं तितिक्षेत्।
न सर्वं सर्वत्राऽभिरोचयेत्, न चापि पूजां गर्हां च संयतः ॥१५॥

अनेकच्छन्द इह मानवेषु, यान् भावतः सम्प्रकरोति भिक्षुः।
भय-भैरवास्तत्रोद्यन्ति भीमाः, दिव्या मानुष्या अथवा तैरश्चाः ॥१६॥

---

२ 'स' इति पाठान्तरम्।

३ निरुवलेवाइ—पाठान्तरम्।

परीषहा दुर्विषहा अनेके, सीदन्ति यत्र बहुकातरा नराः।
स तत्र प्राप्तो, न व्यथेत् भिक्षुः, संग्रामशीर्षे इव नागराजः ॥१७॥

शीतोष्णा दंश-मशकाश्चस्पर्शाः, आतंका विविधाः स्पृशन्ति देहम्।
अकुक्कुचस्तत्राधिसहेत, रजांसि क्षपयेत् पुराकृतानि ॥१८॥

प्रहाय रागं च तथैव दोषं, मोहं च भिक्षुः सततं विचक्षणः।
मेरुरिव वातेनाऽनुकम्पमानः, परीषहान् आत्मगुप्तः सहेत ॥१९॥

अनुन्नतो नावनतो महर्षिः, न चाऽपि पूजां गर्हां च संयतः।
स ऋजुभावं प्रतिपद्य संयतः, निर्वाणमार्गं विरत उपैति ॥२०॥

अरति-रति-सहः प्रहीण-संस्तवः, विरतआत्महितः प्रधानवान्।
परमार्थ-पदेषु तिष्ठति, छिन्नशोकोऽममोऽकिंचनः ॥२१॥

विविक्त-लयनानि भजेत् त्रायी, निरुपलेपान्यसंसृतानि।
ऋषिभिश्चीर्णानि महायशोभिः, कायेन स्पृशेत् परीषहान् ॥२२॥

पद्यानुवाद

भयकारी आसक्ति महादुःख, महामोह-सर्जक तज कर।
जिनधर्म शील, व्रत में रुचि ले, रख भक्ति परीषह को सह कर ॥११॥

व्रत सत्य अहिंसा ब्रह्मचर्य, अस्तेय असंग्रह जिनदेशित।
कर पंच महाव्रत को धारण, विचरे निर्मलमन वह पण्डित ॥१२॥

सब जीवों पर दयानुकम्पी, क्षमता से सहे ब्रह्मचारी।
सावद्य-योग-वर्जन कर संयत, इन्द्रियजित् विचरे व्रतधारी ॥१३॥

उचित काल सब कार्य करे, निजशक्ति जानकर जग विहरे।
दारुण शब्दों से हरि-सम जो, अप्रिय बोले ना त्रास धरे ॥१४॥

मध्यस्थ चले जग की सुन कर, प्रिय अप्रिय सब, मुनि सहन करे।
ना सबमें वैसी चाह करे, पूजा निन्दा ना चित्त धरे ॥१५॥

विविधभाव होते मनुजों में, जिन पर मुनि मन नियमन करते।
भय से दारुण हो कष्ट वहाँ, तिर्यग् नर या सुर के चलते ॥१६॥

आते परीषह दुःसह अनेक, अतिकायर खिन्न जहाँ होते।
पाकर उनको ना व्यथित बने, रणमुख गजेन्द्र-सम स्थिर रहते ॥१७॥

शीतोष्ण मशक तृण-स्पर्श दंश, आतंक विविध तन-स्पर्श करे।
मुनि शान्तभाव से सहन करे, कृत पूर्वकर्म को दूर करे ॥१८॥

राग, द्वेष और मोह त्याग कर, संत विचक्षण नित्य रहे।
वायु-अकम्पित मेरु तुल्य, हो आत्मगुप्त वह दुःख सहे ॥१९॥

ऊँचा-नीचा ना भाव करे मुनि, पूजा निन्दा ना मन लाए।
ऋजुभाव हृदय धरके ऋषिवर, हो पापविरत शिव पथ पाए ॥२०॥

रति-अरति-सहिष्णु आत्मार्थी, परिचय-परित्यागी दोष-विरत।
परमार्थ-निरत हो छिन्न-शोक, निर्ममी अकिंचन संयत-रत ॥२१॥

उपलेप और बीजादि-रहित, निर्दोष स्थान में नित्य रहे।
महायशस्वी ऋषि-सेवित, सम हो परीषह तन से सहे ॥२२॥

अन्वयार्थ—(दीक्षित हो जाने पर समुद्रपाल) **महाकिलेसं**—महाक्लेशकारी, **महंमोहं**—महामोहजनक, **च**—और **कसिणं**—कृष्ण-लेश्यारूप अथवा पूर्ण, **भयावहं**—भयावह, **संगं**—आसक्ति का, **जहित्तु**—त्याग करके, **परियायधम्मं**—पर्याय-धर्म प्रव्रज्यारूप (मुनि) धर्म में, **वयाणि**—व्रतों में, **सीलाणि**—शीलों में, **य**—तथा, **परीसहे**—परीषहों को समभाव से सहने में, **अभिरोयएज्जा**—अभिरुचि रखे ॥११॥

विऊ—विद्वान् मुनि, **अहिंस सच्चं च अतेणगं च**—अहिंसा, सत्य और अस्तेय **तत्तो य**—उसके पश्चात्, **बंभं**—ब्रह्मचर्य, **च** और **अपरिग्गहं**—अपरिग्रह—**पंचमहव्वयाणि**—इन पांच महाव्रतों को, **पडिवज्जिया**—स्वीकार करके **जिणदेसियं धम्मं**—जिनोपदिष्ट (मुनि) धर्म का **चरिज्ज**—आचरण करे ॥१२॥

सुसमाहि इंदिए—इन्द्रियों को सुसमाहित—नियंत्रित रखने वाला, **भिक्खू**—भिक्षु, **सव्वेहिं भूएहिं**—सभी प्राणियों के प्रति, **दयाणुकंपी**—दयालु अनुकम्पाशील रहे, **खंतिक्खमे**—क्षमा से दुर्वचनादि को सहन करने वाला, **संजए**—संयत हो, **बंभयारी**—ब्रह्मचारी हो। (वह सदैव) **सावज्जजोगं**—सावद्ययोग—पापमुक्त मन-वचन-काय की प्रवृत्ति का, **परिवज्जयंतो**—परित्याग करता हुआ **चरिज्ज**—विचरण करे ॥१३॥

(मुनि) **कालेण कालं**—समय के अनुसार, **अप्पणो**—अपने, **बलाबलं**—बलाबल को, **जाणिय**—जानकर, **रट्ठे**—राष्ट्रों में, **विहरेज्ज**—विचरण करे। **य**—और, **सीहो व**—सिंह की तरह, **सद्देण**—भयोत्पादक शब्द से (सुनकर) **न संतसेज्जा**—संत्रस्त न हो। **वयजोगं**—अमनोज्ञ वचन-व्यापार, **सुच्चं**—सुनकर, (बदले में) **असब्भं**—असभ्यवचन, **न आहु**—न कहे ॥१४॥

संजए—संयत साधु, **उवेहमाणो उ**—(प्रतिकूलताओं की) उपेक्षा करता हुआ, **परिव्वएज्जा**—(संयम मार्ग में) विचरण करे। **पियमप्पियं**—प्रिय और अप्रिय, (अनुकूल और प्रतिकूल) **सव्वं**—सबको, **तितिक्खएज्जा**—सहन करे। **सव्वत्थ**—सर्वत्र **सव्वं**—सबकी, **न अभिरोयएज्जा**—अभिलाषा नहीं करे। **पूयं**—पूजा, **चं**—और, **गरहं**—गर्हा (निन्दा-घृणा) **न यावि**—भी न चाहे ॥१५॥

इह—इस संसार में, माणवेहिं—मनुष्यों के द्वारा, अणेग-छंदा—अनेक प्रकार के अभिप्राय, (प्राप्त होते हैं)जे—जिन्हें, भिक्खू—भिक्षु, भावओ—भाव से, संपगरेइ—सम्यक् रूप में ग्रहण करे। तत्थ—वहाँ (साधु जीवन में) दिव्वा—देवकृत, मणुस्सा—मनुष्यकृत, अदुवा-अथवा, तिरिच्छा—तिर्यञ्चकृत, भयभेरवा—भयोत्पादक भयंकर, (एवं) भीमा—अतिरौद्र, (उपसर्ग) उइंति—उदय (उत्पन्न) होते हैं, (उन्हें शान्तिपूर्वक सहन करे।) ॥१६॥

अणेगे—अनेक, दुव्विसहा—दुःसह, परीसहा—परीषह (विविध संकट आते हैं) जत्था—जिनमें, बहुकायरा नरा—बहुत-से कायर मनुष्य, सीयंति—खिन्न हो जाते हैं। (किन्तु) भिक्खू—भिक्षु, तत्थ—वहाँ (साधु जीवन में) ते पत्ते—उन परीषहों के प्राप्त होने पर, संगामसीसे—संग्राम में आगे (मोर्चे पर) रहने वाले, नागराया इव—नागराज (हाथी) की तरह, न वहिज्ज—व्यथित न हो (घबराए नहीं) ॥१७॥

सीओसिणा—शीत-उष्ण, दंस-मसा—दंश-मशक, य—तथा, फासा—तृणादि कर्कश स्पर्श (एवं) विविहा आयंका—विविध प्रकार के आतंक, (जब भिक्षु के) देहं—शरीर को, फासंति—स्पर्श करें, (तब वह) तत्थ—वहाँ। अकुक्कुओ—कुत्सित शब्दोच्चारण न करता हुआ, अहियासएज्जा—समभाव से सहन करे (और) पुरेकडाइं-रयाइं—पूर्वकृत कर्मरजों को, खेवेज्ज—दूर कर दें ॥१८॥

वियक्खणो भिक्खू—विचक्षण भिक्षु, सययं—निरन्तर, रागं च दोसं च तहेव मोहं—राग, द्वेष तथा मोह को, पहाय—छोडकर, वाएण अकंपमाणो मेरुव्व—वायु से अकम्पित मेरु की तरह, आयगुत्ते—आत्मगुप्त बनकर, परीसहे—परीषहों को सहेज्जा—सहन करे ॥१९॥

(वह) महेसी—महर्षि (पूजा-मान में), अणुन्नए—उन्नत न हो (तथा) (गर्हा में) नावणए—अवनत न हो, (किन्तु) पूयं च गरहं—पूजा और गर्हा में, संजए—संयत (स्वयं नियन्त्रित) रहे और स—वह, संजए—संयमी (साधु)विरए—(इन सब द्वन्द्वों से) विरत उज्जुभावं—सरलता को, पडिवज्ज—स्वीकार करके ही, निव्वाणमग्गं—निर्वाणमार्ग को, उवेइ—प्राप्त करता है ॥२०॥

(जो) अरइ-रइ-सहे—अरति और रति को सहन करने वाला, पहीण-संथवे—जिसने सांसारिक जनों के संस्तव (अतिपरिचय) को छोड़ दिया है, विरए—पापों से या रागादि दोषों से विरत-निवृत्त है, आयहिए—आत्महित का साधक है, पहाणवं—प्रधानवान् संयम में रत है, परमट्ठपएहिं—परमार्थ-पदों में, चिट्ठइ—स्थित रहता है, छिन्न-सोए—शोकरहित है, अममे—ममता-मूर्च्छा-रहित है, अकिंचणे—अकिंचन (निष्परिग्रही) है ॥२१॥

ताई—षट् कायिक जीवों का त्राता-रक्षक मुनि, महायसेहिं—महायशस्वी, इसीहिं—ऋषियों के द्वारा, चिण्णाइ—सेवित—आचरित, निरोवलेवाइ—उपलेप से

रहित, **असंथडाइं**—असंसृत=बीजादि से रहित, **विवित्त-लयणाइं**—विविक्त—(स्त्री-पशु-पण्डक के संसर्ग से रहित एकान्त) लयनों=आवासस्थानों का **भएज्ज**—सेवन करे। (तथा वहाँ उपस्थित होने वाले) **परीसहाइं**—परीषहों को, **काएण**—शरीर से, **फासेज्ज**—स्पर्श=सहन करे ॥२२॥

भावार्थ—वैराग्य भाव के साथ समुद्रपाल मुनि संसार के वाह्य आभ्यन्तर सभी प्रकार के संग को अत्यन्त-मोहजनक, क्लेशकारी, एवं भयानक जानकर उन सबका परित्याग करते हुये संयम धर्म में व्रतशील और परिषह सहने में रुचि करने लगा ! ॥११॥

—विद्वान मुनि व्रतों की आराधना के लिये अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह रूप पाँच महाव्रतों को अंगीकार करके जिनोपदिष्ट धर्म का आचरण करने लगा ! ॥१२॥

इन्द्रिय और मन की वृत्ति को वश में कर जीव मात्र के साथ दया भाव वाला वह क्षमाशील,—दुर्वचन और शारीरिक कष्ट को सहन करते हुए ब्रह्मचारी होकर पापसहित मन, वचन, काया की प्रवृत्ति का वर्जन करते हुए विचरने लगा ! ॥१३॥

वह जिस समय जो क्रिया करने की है, उसको यथासमय सम्पन्न करते हुए अपने बलाबल को जानकर राष्ट्र में विचरण करता और सिंह की तरह भयानक शब्दों से भी त्रस्त नहीं होता और न ही किसी को असभ्य शब्द कहकर भय उत्पन्न करता ! ॥१४॥

मुनि समुद्रपाल संसार के भौतिक-सुख-सुविधाओं की उपेक्षा करता हुआ संयम मार्ग में विचरण करता और प्रिय-अप्रिय सभी प्रकार के संयोगों को सहन करता हुआ दृष्ट-श्रुत सब रमणीय पदार्थों की इच्छा नहीं करते हुए पूजा और गर्हा को समदृष्टि से देखते हुए मान-अपमान को न चाहते शान्त भाव से विचरण करने लगा ! ॥१५॥

संसार में मनुष्यों के अनुकूल-प्रतिकूल रुचियों, अभिप्रायों को जानते हुए देव, मनुष्य और पशु कृत भयंकर उपसर्गों को शान्ति से सहन करता रहा ! ॥१६॥

शरीरधारी मनुष्य को सुख की तरह समय पर अनेक प्रकार के दुःसह परीषह और संकट भी आते रहते हैं। जिनमें कायर मनुष्य खेद और शोक मानता है, परन्तु संयमी साधु उन संकट और परिषहों में भी "संग्राम के मोर्चे पर हस्तीराज की तरह" व्यथित नहीं होते हुए विचरता हैं ! ॥१७॥

फिर सर्दी, गर्मी, डाँस मच्छर और नाना प्रकार के प्रतिकूल स्पर्श और अनेक प्रकार के रोग-आतंक आने पर भी ज्ञानवान मुनि कुत्सित शब्दों का उच्चारण नहीं करते हुए इन सब कष्टों को समभाव से सहन करता हुआ पूर्व जन्म के कृत-कर्मों को क्षीण करता है ! ॥१८॥

साधक की अविचल वृत्ति ऐसी होती है कि विचक्षण सन्त राग-द्वेष और मोह से दूर होकर प्रचण्ड वायु के झौंकों में मेरु पर्वत की तरह आत्म-गुप्त और अडोल रहता हैं ! ॥१९॥

महामुनि समुद्रपाल, मान-पूजा में अहंकार नहीं करते और निन्दा व अपमान में खेद नहीं करते ! पूजा और निन्दा में अपने मन को नियन्त्रित रखते हुए आदर्श मुनि इन सब द्वन्द्व भावों से विरत रहते हुए सरलता को स्वीकार करके निर्वाण मार्ग को प्राप्त करते हैं ! ॥२०॥

समुद्रपाल के समान आदर्श साधु अरति-रति को सहने वाला और सांसारिक जनों के साथ संस्तव नहीं रखते हुए पापों से निवृत्त रहते हैं। आत्महित में प्रमुख दृष्टि रखकर वे परमार्थ पदों में रमण करते तथा स्थिर रहते हैं ! ॥२१॥

षट्कायिक जीवों के रक्षक मुनि समुद्रपाल महायशस्वी ऋषियों द्वारा अंगीकृत निर्दोष एवं एकान्त स्थान में संयम-धर्म की सतत आराधना करते हैं ! ॥२२॥

विवेचन—क्या ये गाथाएं आदर्श साधु-जीवन परक है ? इन बारह गाथाओं (गा० ११ से २२) तक के विषय में उत्तराध्ययन-सूत्र के व्याख्याकारों के दो मत हैं—कुछ व्याख्याकारों का मत है कि इन गाथाओं में समुद्रपाल के प्रव्रजित हो जाने पर उसके द्वारा आदर्श साधु धर्म के आचरण का वर्णन किया गया है, कुछ व्याख्याकारों का मत है कि ये गाथाएं समुद्रपाल मुनि-परक न होकर आदर्श साधु-जीवन-परक हैं। परन्तु यह अभिमत अधिक संगत एवं पुष्ट प्रतीत होता है कि यह समुद्रपालीय अध्ययन है, इसलिए सामान्य साधु जीवन परक न होकर समुद्रपाल द्वारा दीक्षित होने के बाद किये गए आदर्श साधु धर्माचरण का वर्णन है। हां, आचार के सामान्य आदर्श तो सभी श्रमणों के समान है ही। आशय यह है कि समुद्रपाल मुनि ने अपनी संयत चर्या से यह बतला दिया कि आदर्श साधुओं का जीवन कैसा होना है ?

दीक्षा लेने के बाद समुद्रपाल मुनि का आदर्श साधु जीवन—क्रमशः इस प्रकार है—

(१) दीक्षा लेते ही उसने महामोह, महाभय एवं महाक्लेश के उत्पादक स्वजनादि-संग का परित्याग कर दिया।

(२) पाँच महाव्रतों का स्वीकार कर जिनोपदिष्ट श्रमण धर्म का तत्परता से आचरण करने लगा।

(३) सब प्राणियों के प्रति अनुकम्पाशील, सहिष्णु, संयत, ब्रह्मचारी, जितेन्द्रिय एवं सावद्ययोग-का त्यागी होकर विचरता था।

(४) कालोचित क्रियानुष्ठान करता हुआ, अपना बलाबल जानकर विभिन्न जनपदों में विहार करने लगा। वह न तो भयंकर शब्द सुनकर घबराता था, न ही असभ्य वचनों के बदले असभ्य वचन बोलता था।

(५) दुर्वचनादि असभ्य व्यवहार की उपेक्षा करता हुआ, प्रिय-अप्रिय सबमें सम रहता था। सर्वत्र सभी मनोज्ञ पदार्थों या संयोगों की इच्छा नहीं रखता था, और निन्दा-स्तुति में सम रहता था।

(६) लोगों के अनेक अभिप्रायों को सुनकर वह वस्तु स्वरूप जान कर सम्यक् रूप से ग्रहण करता और देव-मनुष्य-तिर्यञ्चकृत भयंकर उप-सर्गों को भी शान्ति पूर्वक सहन करता था।

(७) अनेक दुःसह परीषहों से जहाँ कायर साधक घबराकर संयम मार्ग में शिथिल हो जाते हैं, वहाँ समुद्रपाल मुनि व्यथित न होकर परीषहों के सम्मुख डटा रहता था।

(८) शीत-उष्ण आदि परीषहों तथा विविध आतंकों के आक्रमण होने पर वह किसी को कोसे या आक्रन्द किये बिना समभावपूर्वक सहन करता था। इससे उसके पूर्वकृत अशुभ कर्मों का क्षय होता था।

(९) विचक्षण मुनि ने राग, द्वेष, मोह का परित्याग कर दिया और आत्मगुप्त होकर मेरुवत् अकम्पित रहकर परीषहों को सहन किया।

(१०) वह महर्षि न तो अभिमानी रहा, न ही दीनभाव से युक्त, वह निन्दा-स्तुति दोनों में तटस्थ रहता, उसने पापविरत, संयत एवं सम-भावी होकर सरलता को अपनाया, जिससे वह मोक्षमार्ग में स्थिर हो गया।

(११) अब फिर वह रति-अरति दोनों को सहन करता, गृहस्थ-संस्तव से अलग रहकर, पाप क्रियाओं से विरत, आत्महितैषी, संयमशील, शोक एवं ममत्व से रहित एवं अकिंचन हो गया। इस कारण वह मोक्षदायक ज्ञानादि परमार्थ पदों में स्थित हो गया।

(२२) वह षट्कायरक्षक मुनि, महायशस्वी ऋषियों द्वारा स्वीकृत लेपादिकर्म-रहित, बीजादि से असंसक्त ऐसे विविक्त धर्म स्थानों में ही रहता था।

कठिन शब्दों के विशेषार्थ—**परियायधम्मं**—प्रव्रज्याधर्म—पंचमहाव्रतादि रूप मुनिधर्म में। **कसिणं** : दो अर्थ–(१) कृत्स्न–पूर्ण, (२) कृष्णलेश्या का हेतुभूत। **धम्मं चरिज्ज** : भावार्थ—पंचमहाव्रतरूप धर्म ग्रहण करके साधु को एक जगह नहीं रहना चाहिए। **विऊ**—हेयोपादेय का ज्ञाता-विद्वान्। **दयाणुकंपी**—हितोपदेशरूप में दया से अनुकम्पाशील। **खंतिक्खमे**—जो क्षान्ति—तत्त्वों विचार पूर्ण क्षमता से दुष्टों के दुर्वचनादि सहने में समर्थ है, वह क्षान्तिक्षम। **वयजोग**—दुष्टों के दुःखोत्पादक अशुभ वचन, **बलाबलं**—परीषहादि सहन करने का सामर्थ्य विचार करे, ताकि संयमयोग में हानि न हो। **उवेहमाणो**—असभ्यवचनों की उपेक्षा करता हुआ, अर्थात्-मन-वचन में दुर्वचनों को धारण न करके।

न सव्वं सव्वत्थ अभिरोयएज्जा:—सर्वत्र सभी वस्तुओं की अभिलाषा न करे अर्थात् जो भी मनोज्ञ वस्तु देखी, उसको पाने की लालसा करना चंचलता है अतः इससे बचे। **अकुक्कुओ**—पीडा के समय हाय बापरे, ओ मां! इस प्रकार के आक्रन्द से रहित। **रयाइ**—कर्मरज अथवा पाप। **आयगुत्ते**—आत्माओं का रक्षक या हितैषी। **निरोवलेवाइ**—द्रव्यतः साधु के निमित्त से लेपरहित तथा भावतः ममत्वरागादि लेप-रहित।

उत्कृष्ट ज्ञान-दर्शन-चारित्राराधना से समुद्रपाल महर्षि सिद्ध-बुद्ध-मुक्त—

मूल—सन्नाण-नाणोवगए महेसी, अणुत्तरं चरिउं धम्मसंचयं।
अणुत्तरे नाणधरे जसंसी, ओभासइ सूरिए वंतलिक्खे ॥२३॥

दुविहं खवेऊण य पुण्णपावं, निरंगणे सव्वओ विप्पमुक्के।
तरित्ता समुद्दं व महाभवोघं, समुद्दपाले अपुणरागमं गए ॥२४॥

—त्तिबेमि ॥

छाया—सद्ज्ञान-ज्ञानोपगतो महर्षिः, अनुत्तरं चरित्वा धर्मसंचयम्।
अनुत्तरो ज्ञानधरो यशस्वी, अवभासते सूर्य इवान्तरिक्षे ॥२३॥

द्विविधं क्षपयित्वा च पुण्य-पापं, निरंगणः सर्वतो विप्रमुक्तः।
तीर्त्वा समुद्रमिव महाभवौघं, समुद्रपालोऽपुनरागमां गतः ॥२४॥

—इति ब्रवीमि ॥

पद्या०—कर प्राप्त ज्ञान सद्ज्ञानों से, मुनि श्रेष्ठ धर्म-आचरण करे।
हुए परम ज्ञानधर यशधारी, नभ में रवि-सम उद्योत करे ॥२३॥

कर पुण्य-पाप दोनों का क्षय, संयम में निश्चल विप्रमुक्त।
सागर-सम तर कर भवसमुद्र, मुनि समुद्र हो गए कर्म-विमुक्त॥२४॥

अन्वयार्थ—अणुत्तरं—अनुत्तर=प्रधान, **धम्म-संचयं**—धर्म-संचय का, **चरिउं**—आचरण करके **नाण-नाणोवगए**—श्रुतज्ञान (शास्त्रज्ञान) से विशिष्टज्ञानयुक्त होकर, **स जसंसी**—वह यशस्वी, **महेसी**—महर्षि (समुद्रपाल) **अणुत्तरे नाणधरे**—अनुत्तर (सर्वोत्कृष्ट केवल-) ज्ञानधारी होकर **अंतलिक्खे सूरिए व**—अन्तरिक्ष (आकाशमण्डल) में सूर्य की भाँति (धर्मसंघ में), **ओभासई**—प्रकाशमान होने लगा॥२३॥

पुण्ण-पावं दुविहं—पुण्य और पाप दोनों कर्मों का, **खवेऊण**—क्षय करके, (संयम में) **निरंगणे**—निश्चल (निरंगन), **य**—और, **सव्वओ**— (कर्म तथा जन्म मरण से) सब प्रकार से, **विप्पमुक्के**—विमुक्त होकर, **समुद्द व**—समुद्र की भाँति, **महाभवोघं**—विशाल संसार-प्रवाह को, **तरित्ता**—तैरकर, **समुद्द-पाले**—महर्षि समुद्रपाल **अपुणरागमं गए**—मोक्ष में गए, (जहाँ से वापस संसार में आगमन नहीं होता, ॥२४॥

—**त्ति बेमि**—ऐसा मैं कहता हूँ।

गाथा २३-२४—(फलश्रुति)—इस प्रकार श्रुतज्ञान के निर्मल प्रकाश में श्रेष्ठ धर्म का आचरण कर अनुत्तर, सर्वश्रेष्ठ, पूर्ण ज्ञान के धारक होकर गगनमण्डल में सूर्य की भाँति प्रकाशमान होते है। ऐसे संयमी शुभाशुभ या घाति-अघाति दोनों प्रकार के कर्मो का क्षय (संयम में) करके निश्चल और जन्म-मरणादि सम्पूर्ण दुःखों से मुक्त होकर "समुद्र की तरह जन्म-मरण रूप विशाल भव समुद्र को तैरकर" महामुनि समुद्रपाल अपुनरागामन रूप-मुक्ति गति को प्राप्त कर गये! ॥२३-२४॥

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—महर्षि समुद्रपाल की मोक्षप्राप्ति की अर्हताएँ—प्रस्तुत दो गाथाओं (२३-२४) में बताया गया है कि महर्षि समुद्रपाल मोक्षपद के योग्य कैसे बने? उनकी मोक्षप्राप्ति की अर्हताएँ क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) श्रुतज्ञान से संसार के प्रत्येक पदार्थ का यथार्थ स्वरूप जाना।

(२) सर्वोत्तम क्षमादि श्रमणधर्मों का अथवा सर्वोत्कृष्ट चारित्र (यथाख्यात चारित्र)-धर्म के अंगों का आचरण किया।

(३) असीम पुण्यराशि होने से विश्व भर का उपकार करने में समर्थ यशस्वी हुए।

(४) सर्वश्रेष्ठ केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया।

(५) ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय, इन चार प्रकार के घातीकर्मों तथा वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र, इन चार अघाती कर्मों का तथा पुण्य-पाप (शुभाशुभ सभी कर्मों) का क्षय किया।

(६) जन्म-मरण के, कर्मों के तथा सांसारिक मोह आदि सब प्रकार के बन्धनों से सर्वथा मुक्त हुए।

(७) निरंगन—योगों से रहित निश्चल—शैलेशी अवस्था को प्राप्त हुए अथवा निरंजन—कर्ममल रहित हुए।

(८) विशाल संसार समुद्र को पार किया और अन्त में, जहाँ से पुनरागमन नहीं होता, ऐसे शाश्वत मुक्तिधाम को प्राप्त किया।

कठिन शब्दों के अर्थ—अणुत्तरं धम्मसंचयं—(१) क्षमादि दशविध उत्कृष्ट श्रमणधर्म समूह का, (२) सर्वश्रेष्ठ यथाख्यातचारित्र के अंगों का।

दुविहं खवेऊण—(१) घाती-अघाती दोनों प्रकार के कर्मों का क्षय करके। अथवा पुण्य-पाप दोनों प्रकार के कर्मों का क्षय करके।

मुक्ति : अपुणरागमा क्यों ?—मोक्ष कर्मों का फल नहीं, किन्तु कर्मों का आत्यन्तिक क्षय है। संसार हेतुभूत कर्मरूपबीज जिसके समूल नष्ट हो गए, उसका पुनः संसार में आगमन—जन्म-मरण न होना स्वतः सिद्ध है। कहा भी है—

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः,
कर्म-बीजे तथा दग्धे, न प्ररोहति भवांकुरः ॥'

जैसे बीज के जल जाने पर उससे अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती, वैसे ही कर्मबीज के नष्ट (दग्ध) हो जाने पर फिर जन्म-मरण संसार रूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता।

॥ समुद्रपालीय अध्ययन समाप्त ॥

रथनेमीय : बाईसवाँ अध्ययन

[अध्ययन-सार]

प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'रथनेमीय' है। रथनेमि के साधक जीवन से विशेष सम्बन्धित होने के कारण नाम 'रथनेमीय' प्रसिद्ध हुआ है। अध्ययन केप्रारम्भ में अरिष्टनेमि के जन्म, वाल्यकाल, राजीमती के साथ सगाई, विवाह की तैयारी, वाड़ों और पिंजरों में अवरुद्ध पशु-पक्षियों के प्रति करुणावश, विवाह न करके वापस लौटना, वर्षीदान, दीक्षा की तैयारी एवं दीक्षा, केवलज्ञान, तीर्थस्थापना आदि का वर्णन है। नेमिनाथ से सम्बन्धित होने से राजीमती की शोकमग्नता, प्रतिबुद्ध होकर तीव्र वैराग्यपूर्वक दीक्षा की तैयारी, एवं दीक्षा तथा साध्वियों के साथ रैवतक पर्वत पर नेमिनाथ के दर्शनार्थ जाते हुए रास्ते में वर्षा से भीगे हुए कपड़ों को सुखाने हेतु एक गुफा का आश्रय, कपड़ों को सुखाने हेतु फैलाते समय वस्त्र रहित दशा में राजीमती को देखकर रथनेमि का चित्त विकारमग्न हो गया। यहाँ तक का अरिष्टनेमि तीर्थंकरऔरमहासती राजीमती का वर्णन रथनेमि से सम्बन्धित होने से किया जाना आवश्यक था। इसके पश्चात् रथनेमि द्वारा राजीमती से भोगयाचना, राजीमती द्वारा रथनेमि को प्रेरणात्मक बोध, रथनेमि पुनः संयम में दृढ़ और अन्त में दोनों के केवलज्ञान और सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने का वर्णन किया गया है।

घटनाक्रम संक्षेप में इस प्रकार है—

सोरियपुर (शौर्यपुर) में राजलक्षणों से युक्त महाराज समुद्रविजय राज्य करते थे। अरिष्टनेमि (२२वें तीर्थंकर), रथनेमि, सत्यनेमि और दृढ़नेमि, ये चारों समुद्रविजयजी के अंगजात थे। इसी सोरियपुर में वसुदेव राजा थे, जो समुद्रविजय के सवसे छोटे भाई थे। उनके दो प्रसिद्ध पुत्र थे—वलराम और श्रीकृष्ण।

अरिष्टनेमि श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे। वे अत्यन्त वलिष्ठ, तेजस्वी और प्रतिभाशाली तथा भोग-वासना से सर्वथा विरक्त थे। समुद्रविजय

और अपने भीगे हुए कपड़े उतार कर सूखाने लगी। तभी निर्वस्त्र राजीमती के देह पर उस गुफा में ध्यानस्थ रथनेमि की दृष्टि पड़ी। वह कामातुर हो कर राजीमती से काम-भोग की याचना करने लगा। राजीमती ने निर्भय, स्वस्थ, सावधान, संयत और अपने व्रतशील में दृढ़ होकर रथनेमि को कुल-शील के गौरव की रक्षा के लिए इस प्रकार के निन्द्य कार्य से विरत होने का उपदेश दिया। वही उपदेश इस अध्ययन में प्रेरणाप्रद शब्दों में अंकित है। राजीमती की प्रेरणा पाकर रथनेमि पुनः संयमपथ में उसी तरह स्थिर हो गए, जैसे मदोन्मत्त हाथी महावत के अंकुश से वश में होकर शान्त भाव से खूँटे में बंध जाता है।

सती राजीमती के द्वारा रथनेमि को दिया हुआ बोध इतना तेजस्वी एवं प्रभावशाली है कि युगों-युगों तक पथभ्रष्ट होते हुए साधक को आज भी प्रेरणा देने वाला है। रथनेमि जैसे हज़ारों साधकों के लिए प्रेरणादायक होने से इस अध्ययन का रथनेमीय नाम सार्थक है।

● ●

विवेचन--दश दशार्ह भाइयों में मुख्यतः दो का वर्णन--यद्यपि सौरीपुर में यादववंशी क्षत्रिय दस भाई राजा थे, जो दशार्ह के नाम से विख्यात थे, किन्तु यहाँ मुख्यतया दो का वर्णन प्रासंगिक होने से वसुदेव और समुद्रविजय, इन दोनों का ही वर्णन किया गया है। दूसरे, वसुदेव और समुद्रविजय, इन दोनों भाइयों में परस्पर गाढ़ स्नेह था, इसलिए प्रस्तुत अध्ययन, रथनेमीय होने पर भी इन दोनों का यहाँ उल्लेख अत्यावश्यक माना गया है।

रायलक्खणसंजुए : अभिप्राय--निश्चय के अनुसार तो जिसके भाग्य में राज्य होता है, वही राजा बनता है किन्तु व्यवहारनय की दृष्टि से जिसके शरीर में, विशेषतः करतल या चरणतल में सामुद्रिकशास्त्र-विहित चक्र, स्वस्तिक, अंकुश, छत्र, चामर, हस्ती, अश्व, सूर्य, चन्द्र आदि चिन्हों में से अधिकांश प्रशस्त चिन्ह विद्यमान हों, वह राजा बनता है, अर्थात्--राज्यपद के योग्य होता है। इसलिए यहाँ मूल में व्यवहार नय की दृष्टि से 'राजलक्षण संयुक्त' विशेषण प्रयुक्त किया गया है। यही विशेषण तीसरी गाथा में, 'समुद्रविजय' राजा के लिए प्रयुक्त किया गया है। अथवा ये औदार्य, शौर्य, धैर्य, गाम्भीर्य आदि राजा के लक्षणों=गुणों से सुशोभित थे, इस कारण भी राजलक्षण से युक्त कहा गया है।

वस्तुतः विचार किया जाए तो उक्त लक्षण भी उसी में होते हैं, जिसके भाग्य में राज्यसम्पदा का अधिकार हो, अन्य में नहीं।

महिड्ढिए : विशेषार्थ--वसुदेव राजा महर्द्धिक अर्थात्-महती ऋद्धि से सम्पन्न थे, यानी वे छत्र-चामर आदि बड़ी राजविभूति से सम्पन्न थे।

दो भार्याओं का ही उल्लेख--यद्यपि वसुदेव के अन्तःपुर में ७२ हजार स्त्रियाँ होती हैं, तथापि यहाँ वसुदेव के दो पत्नियाँ थीं--रोहिणी और देवकी इस प्रकार दो का ही उल्लेख करने का अभिप्राय यह है कि यहाँ मुख्यतया दो का ही प्रयोजन प्रासंगिक है, अन्य पत्नियों का नहीं। दूसरे, बलदेव और वासुदेव की माता के रूप में, ये दो ही देवियाँ संसार में विख्यात है, इसलिए इन दो का ही नामोल्लेख किया गया है।

इट्ठा राम-केसवा--वसुदेव की उक्त दोनों पत्नियों के और भी पुत्र थे, किन्तु ये दोनों विशेष इष्ट=वल्लभ एवं विख्यात होने से, इन दोनों का ही उल्लेख किया गया है। राम से बलराम अथवा बलदेव और केशव से श्रीकृष्ण अथवा वासुदेव, अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

बलदेव और वासुदेव : कब से और कैसे?—मथुरा में कंस का अत्याचार पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। इस अत्याचार का दमन करने के लिए तथा जनता में शान्ति स्थापित करने के लिए श्रीकृष्ण ने बलराम को साथ लेकर अत्याचारी कंस को मारा। कंस की पत्नी जीवयशा ने जब अपने पिता, तथा उस युग के परमवीर जरासन्ध को ये दुःखद समाचार कहलाए तो जरासन्ध कुपित होकर समस्त यादवों का संहार करने के लिए उद्यत हुआ। जरासन्ध के द्वारा यादव-संहार की इस आशंका से सभी यादवों ने मिलकर श्रीकृष्ण के नेतृत्व में पश्चिम-समुद्र की ओर जाने का निश्चय किया और एक दिन सबने मथुरा से कूच कर दिया और कुछ ही समय में वे पश्चिमसमुद्र-तट पर पहुँचे। वहाँ श्रीकृष्ण ने कुबेर की सहायता से बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी द्वारिक नगरी का निर्माण किया। सबने मिल कर श्रीकृष्ण को राजा बनाया। और जब से बलराम और कृष्ण ने जरासन्ध को मारा, तब से ये दोनों बलदेव तथा वासुदेव कहलाए और अर्ध-भरत के अधिपति बने।

समुद्रविजय-पुत्र भगवान् अरिष्टनेमि का परिचय—

मूल—सोरियपुरंमि नयरे, आसी राया महिड्ढिए।
समुद्दविजये नामं, राय-लक्खण-संजुए ॥३॥

तस्स भज्जा सिवा नाम, तीसे पुत्तो महायसो।
भगवं अरिट्ठनेमि त्ति, लोगनाहे दमीसरे ॥४॥

सो ऽरिट्ठनेमि-नामो उ, लक्खणस्सर-संजुओ।
अट्ठ-सहस्स-लक्खणधरो, गोयमो कालगच्छवी ॥५॥

छाया—शौर्यपुरे नगरे, आसीद् राजा महर्द्धिकः।
समुद्रविजयो नाम, राज-लक्षण-संयुतः ॥३॥

तस्य भार्या शिवा नाम्नी, तस्याः पुत्रो महायशाः।
भगवानरिष्टनेमिरिति, लोकनाथो दमीश्वरः ॥४॥

सोऽरिष्टनेमि-नामा तु, स्वरलक्षण-संयुतः।
अष्टसहस्रलक्षणधरः, गौतमः कालकच्छविः ॥५॥

पद्या०—सोरियपुर का भूपति था, अत्यन्त ऋद्धि-वैभवधारी।
था जिसका नाम समुद्रविजय, जो राजलक्षणों का धारी ॥३॥

नृप की पत्नी का नाम शिवा, उनके यशधारी पुत्र दमी।
अरिष्टनेमि जिन लोकनाथ, नारायण के भ्रात शमी ॥४॥

श्री रिट्ठनेमि शुभ नामवान्, स्वर-लक्षण से अतिशोभित थे।
अष्टोत्तर सहस्र लक्षणधर वे, तन श्याम, गोत्र से गौतम थे ॥५॥

अन्वयार्थ—सोरियपुरंमि नयरे—सौरीपुर नगर में, **रायलक्खणसंजुए**—राजलक्षणों से युक्त, **समुद्दविजए नामं**—समुद्रविजय नामक, **महिड्ढिए**—महान् ऋद्धि-सम्पन्न, (एक और) **राया**—राजा, **आसी**—था ॥३॥

तस्स—उसकी, **सिवा नाम**—शिवा नाम की, **भज्जा**—भार्या थी, **तीसे**—उसका, **पुत्तो**—पुत्र, **महायसो**—महायशस्वी, **दमीसरे**—जितेन्द्रियों में श्रेष्ठ, **लोगनाहे**—लोकनाथ, **भगवं अरिट्ठनेमि त्ति**—भगवान् अरिष्टनेमि था ॥४॥

सो—वह, **अरिट्ठनेमि-नामो उ**—अरिष्टनेमि, नामा, **लक्खण-स्सर-संजुओ**—शौर्य, गाम्भीर्य आदि लक्षणों (गुणों) और सुस्वर से युक्त था। **अट्ठ-सहस्स-लक्खण-धरो**—वह (शंख, चक्र, स्वास्तिक आदि) एक हजार आठ शुभ लक्षणों का धारक भी था। **गोयमो**—उसका गोत्र गौतम था, (और) **कालगच्छवि**—उसके शरीर का वर्ण श्याम था ॥५॥

भावार्थ—उसी शौर्यपुर (सौरीपुर) नगर में राजलक्षणों से युक्त, महान् ऋद्धिशाली एक और राजा थे—जिनका नाम समुद्रविजय था ॥३॥

समुद्रविजय राजा की शिवा नाम की एक पत्नी (रानी) थी, उसके अरिष्टनेमि नामक महान् यशस्वी पुत्र हुआ, जो लोकनाथ और जितेन्द्रियों में प्रधान (दमीश्वर) था ॥४॥

वह अरिष्टनेमि नाम का कुमार स्वर और लक्षणों से युक्त तथा एक हजार आठ शुभ लक्षणों से सुशोभित थे। वे गोत्र से गौतम और शरीर से श्यामवर्ण के थे ॥५॥

विवेचन—शौर्यपुर : तब और अब—सौरीपुर तब सूरसेन राजा के द्वारा बसाया हुआ एक बड़ा राज्य रहा होगा, उस राज्य में जहाँ आज ब्रजभाषा बोली जाती है, वहाँ 'सौरसेनी' भाषा प्रसिद्ध थी। सम्भव है, वर्तमान जिला और इसके आसपास का प्रदेश सौरीपुर राज्य में रहा होगा, तभी तो एक ही सौरीपुर में दो राजाओं के होने का उल्लेख किया गया है। वर्तमान में सौरीपुर आगरा जिला में बटेश्वर के पास मात्र तीर्थ स्थान रह गया है। आगरा-मथुरा आदि जिलों में वर्तमान में सर्वत्र ब्रजभाषा बोली जाती है।

दो राजाओं का एकत्र उल्लेख—होने का एक कारण यह भी है कि इन दोनों राजाओं में परस्पर अन्यन्त स्नेह था। सौरीपुर राज्य में उस समय और भी अनेक राजा होंगे। किन्तु यहाँ दो राजाओं का ही प्रसंग होने से दो का ही उल्लेख करना अभीष्ट है। टीकाकारों का अभिमत है कि वसुदेव और समुद्रविजय, दोनों राजाओं की एक ही स्थान (अथवा राज्य) में अवस्थिति होने से इन दोनों का सौरीपुर में ही उल्लेख किया गया है। तीसरी बात यह भी है कि तीर्थंकर अरिष्टनेमि के माता-पिता तथा अन्य भाई-बन्धु होने के नाते वसुदेव और समुद्रविजय-शिवादेवी आदि का उल्लेख करना भी आवश्यक था।

नेमिनाथ तीर्थंकर के आठ मुख्य विशेषण—(१) महायशस्वी, (२) भगवान्, (३) लोकनाथ, (४) दमीश्वर, (५) स्वरलक्षणों से युक्त, (६) एक हजार आठ शुभ लक्षणों से सुशोभित, (७) गौतमगोत्रीय, (८) तेजस्वी, श्यामकान्तिमय शरीर वाले।

वर्तमान में तीर्थंकर न होते हुए भी भावी नैगमनय की अपेक्षा से नेमिकुमार को भगवान् लोकनाथ एवं दमीश्वर कहा गया। भगवान् के अर्थ हैं—ऐश्वर्यधारी, श्री (शोभा) सम्पन्न, धर्मिष्ठ, यशस्वी आदि। जन्म से लेकर शेष आयु पर्यन्त वे पूर्ण ब्रह्मचारी रहे, इस कारण दमीश्वर कहलाए और भविष्य में तीनों लोकों को धर्म की शरण देने वाले तथा त्रिलोकवन्द्य-पूज्य होने से लोकनाथ कहलाए। वस्तुतः जो तीर्थंकर होते हैं, वे बाल्यावस्था से ही विशिष्ट शक्तियों तथा ऐश्वर्य से सम्पन्न एवं मनोविजयी होते हैं। ये चारों विशेषण तीर्थंकर के अन्तरंग-परिचायक हैं।

तीर्थंकर की बाह्य पहचान—भविष्य में तीर्थंकर होंगे, इसके पूर्व संकेत के रूप में तीर्थंकर की बाह्य पहचान के लिए यहाँ और आगे की गाथा में शरीर से सम्बन्धित क्रमशः चार और तीन, कुल सात विशेषण दिये गए हैं। यथा—(१) स्वरलक्षण संयुक्त, (२) अष्टोत्तरसहस्रलक्षण-सुशोभित, (३) गौतमगोत्रीय तथा (४) तेजस्वी श्यामशरीर वाले और (५) वज्रऋषभनाराच संहनन, (६) समचतुरस्रसंस्थान एवं (७) मत्स्योदर (मत्स्य के समान उदर)। इन सात चिन्हों पर से भविष्य में तीर्थंकर होने का संकेत मिल जाता है।

लक्षणस्वर-संयुक्त : विशेषार्थ—वे उत्तम लक्षणों से युक्त स्वर से सम्पन्न थे। अर्थात् उनका स्वर इतना उपादेय और आकर्षक था, कि लोग सुनकर एकदम प्रभावित हो जाते थे।

श्री रिट्ठनेमि शुभ नामवान्, स्वर-लक्षण से अतिशोभित थे।
अष्टोत्तर सहस्र लक्षणधर वे, तन श्याम, गोत्र से गौतम थे ॥५॥

अन्वयार्थ—सोरियपुरंमि नयरे—सौरीपुर नगर में, **रायलक्खणसंजुए**—राजलक्षणों से युक्त, **समुद्दविजए नामं**—समुद्रविजय नामक, **महिड्ढिए**—महान् ऋद्धि-सम्पन्न, (एक और) **राया**—राजा, **आसी**—था ॥३॥

तस्स—उसकी, **सिवा नाम**—शिवा नाम की, **भज्जा**—भार्या थी, **तीसे**—उसका, **पुत्तो**—पुत्र, **महायसो**—महायशस्वी, **दमीसरे**—जितेन्द्रियों में श्रेष्ठ, **लोगनाहे**—लोकनाथ, **भगवं अरिट्ठनेमि त्ति**—भगवान् अरिष्टनेमि था ॥४॥

सो—वह, **अरिट्ठनेमि-नामो उ**—अरिष्टनेमि, नामा, **लक्खण-स्सर-संजुओ**—शौर्य, गाम्भीर्य आदि लक्षणों (गुणों) और सुस्वर से युक्त था। **अट्ठ-सहस्स-लक्खण-धरो**—वह (शंख, चक्र, स्वास्तिक आदि) एक हजार आठ शुभ लक्षणों का धारक भी था। **गोयमो**—उसका गोत्र गौतम था, (और) **कालगच्छवि**—उसके शरीर का वर्ण श्याम था ॥५॥

भावार्थ—उसी शौर्यपुर (सौरीपुर) नगर में राजलक्षणों से युक्त, महान् ऋद्धिशाली एक और राजा थे—जिनका नाम समुद्रविजय था ॥३॥

समुद्रविजय राजा की शिवा नाम की एक पत्नी (रानी) थी, उसके अरिष्टनेमि नामक महान् यशस्वी पुत्र हुआ, जो लोकनाथ और जितेन्द्रियों में प्रधान (दमीश्वर) था ॥४॥

वह अरिष्टनेमि नाम का कुमार स्वर और लक्षणों से युक्त तथा एक हजार आठ शुभ लक्षणों से सुशोभित थे। वे गोत्र से गौतम और शरीर से श्यामवर्ण के थे ॥५॥

विवेचन—शौर्यपुर : तब और अब—सौरीपुर तब सूरसेन राजा के द्वारा बसाया हुआ एक बड़ा राज्य रहा होगा, उस राज्य में जहाँ आज व्रजभाषा बोली जाती है, वहाँ 'सौरसेनी' भाषा प्रसिद्ध थी। सम्भव है, वर्तमान जिला और इसके आसपास का प्रदेश सौरीपुर राज्य में रहा होगा, तभी तो एक ही सौरीपुर में दो राजाओं के होने का उल्लेख किया गया है। वर्तमान में सौरीपुर आगरा जिला में वटेश्वर के पास मात्र तीर्थ स्थान रह गया है। आगरा-मथुरा आदि जिलों में वर्तमान में सर्वत्र व्रजभाषा बोली जाती है।

दो राजाओं का एकत्र उल्लेख—होने का एक कारण यह भी है कि इन दोनों राजाओं में परस्पर अन्यन्त स्नेह था। सौरीपुर राज्य में उस समय और भी अनेक राजा होंगे। किन्तु यहाँ दो राजाओं का ही प्रसंग होने से दो का ही उल्लेख करना अभीष्ट है। टीकाकारों का अभिमत है कि वसुदेव और समुद्रविजय, दोनों राजाओं की एक ही स्थान (अथवा राज्य) में अवस्थिति होने से इन दोनों का सौरीपुर में ही उल्लेख किया गया है। तीसरी बात यह भी है कि तीर्थंकर अरिष्टनेमि के माता-पिता तथा अन्य भाई-वन्धु होने के नाते वसुदेव और समुद्रविजय-शिवादेवी आदि का उल्लेख करना भी आवश्यक था।

नेमिनाथ तीर्थंकर के आठ मुख्य विशेषण—(१) महायशस्वी, (२) भगवान्, (३) लोकनाथ, (४) दमीश्वर, (५) स्वरलक्षणों से युक्त, (६) एक हजार आठ शुभ लक्षणों से सुशोभित, (७) गौतमगोत्रीय, (८) तेजस्वी, श्यामकान्तिमय शरीर वाले।

वर्तमान में तीर्थंकर न होते हुए भी भावी नैगमनय की अपेक्षा से नेमिकुमार को भगवान् लोकनाथ एवं दमीश्वर कहा गया। भगवान् के अर्थ हैं—ऐश्वर्यधारी, श्री (शोभा) सम्पन्न, धर्मिष्ठ, यशस्वी आदि। जन्म से लेकर शेष आयु पर्यन्त वे पूर्ण ब्रह्मचारी रहे, इस कारण दमीश्वर कहलाए और भविष्य में तीनों लोकों को धर्म की शरण देने वाले तथा त्रिलोकवन्द्य-पूज्य होने से लोकनाथ कहलाए। वस्तुतः जो तीर्थंकर होते हैं, वे वाल्यावस्था से ही विशिष्ट शक्तियों तथा ऐश्वर्य से सम्पन्न एवं मनोविजयी होते हैं। ये चारों विशेषण तीर्थंकर के अन्तरंग-परिचायक हैं।

तीर्थंकर की वाह्य पहचान—भविष्य में तीर्थंकर होंगे, इसके पूर्व संकेत के रूप में तीर्थंकर की वाह्य पहचान के लिए यहाँ और आगे की गाथा में शरीर से सम्वन्धित क्रमशः चार और तीन, कुल सात विशेषण दिये गए हैं। यथा—(१) स्वरलक्षण संयुक्त, (२) अष्टोत्तरसहस्रलक्षण-सुशोभित, (३) गौतमगोत्रीय तथा (४) तेजस्वी श्यामशरीर वाले और (५) वज्रऋषभनाराच संहनन, (६) समचतुरस्रसंस्थान एवं (७) मत्स्योदर (मत्स्य के समान उदर)। इन सात चिन्हों पर से भविष्य में तीर्थंकर होने का संकेत मिल जाता है।

लक्षणस्वर-संयुक्त : विशेषार्थ—वे उत्तम लक्षणों से युक्त स्वर से सम्पन्न थे। अर्थात् उनका स्वर इतना उपादेय और आकर्षक था, कि लोग सुनकर एकदम प्रभावित हो जाते थे।

अष्टोत्तरसहस्रलक्षणधारक : विशेषण—तीर्थंकर के शरीर में स्वास्तिक, वृषभ, श्रीवत्स, शंख, चक्र, गज, अश्व, छत्र, समुद्र, विमान आदि १००८ शुभ लक्षण होते हैं। ये लक्षण हाथ, पैर आदि शरीर के अवयवों में होते हैं।

गौतम गोत्रीय : आशय—किसी का शरीर तो स्वस्थ और सुन्दर हो, किन्तु उसका गात्र नीच हो, उसके संस्कार हलके हों, उसे उच्च वातावरण न मिला हो, तो वह नीचगोत्रीय कहलाता है। फलतः जनता में उसकी प्रतिष्ठा नहीं होती और स्वयं उसके मन में हीनभावना के अंकुर फूट सकते हैं। इसलिए अरिष्टनेमि को यहाँ गौतम नामक प्रशस्त उच्चगोत्रीय प्रतिपादित किया गया है। और इसी कारण महायशस्वी भी उन्हें बताया गया है।

अरिष्टनेमिः सार्थक नामकरण—उनकी माता श्री शिवादेवी ने, जब नेमिकुमार गर्भ में आए तब चौदह स्वप्न देखने के पश्चात् एक अरिष्टरत्नमय नेमि=रथचक्र देखा था। इस पर से माता-पिता द्वारा उनका सार्थक नाम—अरिष्टनेमि रखा गया था। उनके नेमिकुमार या नेमिनाथ नाम भी प्रसिद्ध हैं। ये बाईसवें तीर्थंकर हुए हैं।

श्यामकान्तिमय शरीर—अरिष्टनेमिकुमार का शरीर बादलों के समान श्यामवर्ण का, तेजस्वी एवं कान्तिमय था।

कृष्ण द्वारा अरिष्टनेमि के लिए राजीमती की याचना—

मूल—वज्जरिसह-संघयणो, समचउरंसो झसोयरो।
तस्स राईमइं कन्नं, भज्जं जायइ केसवो ॥६॥

अह सा रायवरकन्ना, सुसीला चारुपेहिणी।
सव्व-लक्खण-संपन्ना, विज्जु-सोयामणि-प्पभा ॥७॥

अहाह जणओ तीसे, वासुदेवं महिड्ढियं।
'इहागच्छउ कुमारो, जा से कन्नं दलाम हं ॥८॥

छाया—वज्रऋषभ-संहननः, समचतुरस्रो झषोदरः।
तस्य राजीमतीं कन्यां, भार्यां याचते केशवः ॥६॥

अथ सा राजवर-कन्या, सुशीला चारुप्रेक्षिणी।
सर्वलक्षण-सम्पन्ना, विद्युत्-सौदामिनी-प्रभा ॥७॥

अथाऽह जनकस्तस्याः, वासुदेवं महर्द्धिकम्।
इहाऽऽगच्छतु कुमारः, येन तस्मै कन्यां ददाम्यहम् ॥८॥

पद्या०—वज्रऋषभ-संहनन भला, मत्स्योदर सुखकारी।
उनके हित कन्या राजीमती, केशव ने मांगी हितकारी ॥६॥
वह परम-सुशीला नृपतनया, अतिशय मनोरम-दर्शन वाली।
नारी के सारे लक्षण थे, विद्युत् ज्यों तेज प्रभा वाली ॥७॥
कहा पिता ने कन्या के, अतिऋद्धियुक्त नारायण को।
आएँ कुमार यदि ऋद्धि-संग, दे सकूँ कन्यका मैं उनको ॥८॥

अन्वयार्थ—**वज्जरिसह-संघयणो**—(वह) वज्रऋषभनाराच संहनन (और) **समचउरंसो**—समचतुरस्र संस्थान वाला था, **झसोयरो**—उसका उदर मत्स्य (झष) के समान कोमल था, **राईमइं कन्नं**—कन्या (कुमारी) राजीमती, **तस्स**—उसकी (नेमिनाथ की), **भज्जं**—भार्या बने, (इसके लिए) **केसवो**—केशव (श्रीकृष्ण) ने (राजा उग्रसेन से), **जायइ**—याचना की ॥६॥

अह—क्योंकि, **सा**—वह, **रायवरकन्ना**—नृप-श्रेष्ठ उग्रसेन की कन्या (राजीमती), **सुसीला**—सुशील, **चारु-पेहिणी**—सुन्दर दर्शन वाली, (और) **सव्व-लक्खण-संपन्ना**—(नारीजनोचित) सभी शुभलक्षणों से सम्पन्न थी, **विज्जु-सोयामणि-प्पभा**—(उसके शरीर की) कान्ति (प्रभा) चमकती हुई विद्युत्प्रभा के समान थी ॥७॥

अह—इसके पश्चात् (याचना के उत्तर में), **तीसे जणओ**—उस (कुमारी राजीमती) के पिता (उग्रसेन) ने, **महिड्ढियं**—महान् ऋद्धिसम्पन्न, **वासुदेवं**—वासुदेव श्रीकृष्ण से, **आह**—कहा; **कुमारो**—नेमिकुमार, **इहागच्छऊ**—यहाँ (वर के रूप में) आएँ, **जा**—तो, **अहं**—मैं, **से**—उन्हें, **कन्नं**—अपनी कन्या (राजीमती), **दलाम हं**—दे सकता हूं ॥८॥

भावार्थ—नेमिकुमार (वज्र के समान अभेद्य) वज्रऋषभनाराच-संहनन वाले थे। उनके शरीर का संस्थान (आकार) समचतुरस्र था। मीन के उदर के समान उनका कोमल उदर था। श्रीकृष्ण ने उनके लिए, राजीमती कन्या (उग्रसेन-पुत्री) की, भार्या के रूप में, (उग्रसेन से) मांग की ॥६॥

(क्योंकि) महाराजा उग्रसेन की वह कन्या (राजीमती) सुशील, नयनाभिराम, नारीजनोचित सर्वलक्षणों से सम्पन्न एवं चमकती हुई विद्युत् जैसी प्रभावशाली थी ॥७॥

(श्रीकृष्ण की मांग के उत्तर में) उस कन्या के पिता (उग्रसेन राजा) ने महान् ऋद्धिशाली वासुदेव से कहा—नेमिकुमार यहाँ (दुल्हे के रूप में बरात लेकर) आएँ तो मैं उन्हें अपनी कन्या प्रदान कर सकता हूँ; (अर्थात्—उनके साथ अपनी कन्या का विवाह कर सकता हूँ।) ॥८॥

विवेचन—नेमिकुमार के तीर्थंकरशरीर से सम्बद्ध तीन विशेषण और—पिछली दो गाथाओं में उक्त विशेषणों के अतिरिक्त नेमिकुमार के शरीर की तीन विशेषताएँ और थीं, जो तीर्थंकरों में ही होती हैं—

(१) वज्रऋषभनाराचसंहनन,

(२) समचतुरस्र संस्थान और,

(२) मत्स्योदर।

उनके शरीर का संहनन अर्थात्—शरीर का ढांचा—अस्थिवन्धन वज्रऋषभनाराच था। वज्र यानी कीलिका, ऋषभ यानी पट्ट और नाराच यानी मर्कटवन्धन। अर्थात्—उनके शरीर में स्थित अस्थियों का बन्धन इस प्रकार का सुसम्वद्ध सुगठित था कि भयंकर से भयंकर उपसर्ग, परीषह या मरणान्त कष्ट आने पर या भयंकर से भयंकर चोट लगने पर भी वह वज्र-सम अभेद्य रहता था, इसे ही जैन परिभाषा में वज्रऋषभनाराचसंहनन कहते हैं।

समचतुरस्रसंस्थान—उसे कहते हैं, जिस शरीर के अंस (कंधे) और जानु वैठे हुए सम प्रतीत हों, अथवा शरीर की आकृति, ढांचा एवं डीलडौल सम, सुव्यवस्थित एवं सुडौल हो, अतिप्रिय एवं मनोहर हो।

झषोदर—उनका उदर मत्स्य के समान कोमल था।

राजीमती : नारीजनोचित सर्वलक्षणसम्पन्न राजकन्या—कुलीन नारी में जो गुण और लक्षण होने चाहिए, वे सब राजीमती में विद्यमान थे। विवाह-योग्य कन्या में ७ गुण देखे जाते हैं—कुल, शील, सनाथता, विद्या, वित्त, शरीर और वय। '**रायवर कन्ना**' से कुलीनता और सनाथता व्यक्त की गई है। '**सुसीला**' शब्द से राजीमती की शीलसम्पन्नता, सुस्वभाव और चारित्रशीलता द्योतित की गई है। '**चारुपेहिणी**' शब्द से सुन्दरता एवं नयनाभिरामता व्यक्त की गई है। '**विज्जुसोयामणिप्पभा**' शब्द से राजीमती की रूप, लावण्य एवं कान्ति अभिव्यक्त की गई है कि उसके शरीर की कान्ति विद्युत् के समान तथा सौदामिनी के समान थी। साथ ही इस विशेषण से राजीमती की विवाह-योग्य अवस्था तथा शरीर की स्वस्थता (शरीर में विजली की-सी फुर्ती या चुस्ती एवं सौदामिनिमणि की-सी तेजस्विता) भी ध्वनित की गई है। धैर्य, गाम्भीर्य, औदार्य, सौम्यता, शान्ति आदि शेष गुण '**सव्वलक्खणसंपन्ना**' शब्द से अभिव्यक्त किये गये हैं।

उग्रसेन राजा का ऐसा उत्तर क्यों?—जब समृद्धिशाली त्रिखण्डाधिपति वासुदेव श्रीकृष्ण ने श्री नेमिनाथ के साथ कुमारी राजीमती का विवाह कर

देने का प्रस्ताव राजा उग्रसेन के समक्ष रखा तो उग्रसेन ने उनके विचारों से सहमत होते हुए भी उनके समक्ष ऐसी शर्त क्यों रखी कि यदि नेमिकुमार मेरे यहाँ विवाहोचित महोत्सव के साथ आवें तो मैं उन्हें विधिपूर्वक अपनी कन्या देने के लिए सहर्ष प्रस्तुत हूँ ? इस कथन के पीछे यह कारण प्रतीत होता है कि बहुत-से लोग श्रीकृष्ण वासुदेव के आदेशानुसार यों ही अपनी कन्याएँ प्रदान कर दिया करते होंगे, तभी तो उग्रसेन ने उनके समक्ष बरात के साथ विवाहोचित महोत्सवपूर्वक दुल्हे के रूप में सुसज्जित होकर आने पर अपनी कन्या देने की इच्छा प्रकट की।

विज्जु-सोआमणिप्पभा : तीन अर्थ—(१) प्रदीप्त सौदामिनी=बिजली के समान कान्ति वाली, (२) विद्युत् (बिजली) और सौदामिनी मणि के समान शारीरिक कान्ति वाली अथवा (३) अग्नि के समान देदीप्यमान शरीर की प्रभा वाली।

नेमिकुमार ने विवाह को स्वीकार क्यों और किस परिस्थिति में किया ?—अरिष्टनेमि ने यौवनवय में पदार्पण किया, फिर भी वे विषय-सुख से विमुख होकर मित्रों की प्रेरणा से अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ करते थे। एक बार हमजोली मित्रों के साथ खेलते-खेलते वे श्रीकृष्ण के शस्त्रागार में जा पहुँचे। वहाँ देवाधिष्ठित अनेक आयुध देखे। उनमें से जब वे वासुदेव का दिव्यधनुष उठाने लगे, तब आयुधशाला के रक्षक ने कहा—'कुमार ! इस धनुष को नारायण के सिवाय और कोई नहीं उठा सकता। अतः आप व्यर्थ परिश्रम मत करिये।' किन्तु उसके देखते ही देखते नेमि-कुमार ने क्षणभर में सहज भाव से धनुष आरोपित करके उसकी डोरी को खनखनादी। प्रत्यंचा के इस शब्द से पृथ्वी कांप उठी। यह देख सभी विस्मित हो गए। दूसरे ही क्षण उन्होंने धनुष नीचे रखकर शंख उठाया और फूंका। उस शंखनाद से सारी द्वारिका नगरी कम्पित हो उठी। लोगों के कान बहरे से होने लगे।

कृष्ण ने जब इस शंख की प्रलयकाल-की-सी आवाज सुनी तो आयुध-शाला के रक्षक से सारा वृतान्त पूछा। कृष्ण का मन नेमिकुमार के इस अद्भुत पराक्रम से आशंकित हो उठा कि नेमिकुमार का पराक्रम बढ़ जाएगा तो मेरा राज्य ले लेगा।

यद्यपि बलदेव ने इस आशंका का निवारण कर दिया कि नेमिकुमार भविष्य में बाईसवें तीर्थंकर होंगे, ये राज्य किये बिना ही दीक्षा ग्रहण करेंगे।' फिर भी श्रीकृष्ण ने अपनी शंका के समाधान के लिए एक दिन

नेमिकुमार को उद्यान में ले जाकर बोले—"कुमार ! चलो, आज हम दोनों अपने-अपने बल की परीक्षा के लिए बाहुयुद्ध करें।"

नेमिकुमार ने कहा—"भाई ! बाहुयुद्ध अपने लिए निन्दनीय होगा। कदाचित् बाहुयुद्ध में आप हार गए तो महान् अपयश होगा।"

कृष्ण बोले—"खेल-खेल में हारने-जीतने में कौन-सा अपयश या यश होता है ?" इस पर नेमिकुमार ने अपनी भुजा लम्बी करके कहा—"भैया ! अगर आप मेरी भुजा को नमा दें तो आप जीते, मैं हारा।"

श्रीकृष्ण ने अपनी सारी शक्ति लगा दी, मगर नेमिकुमार की भुजा को जरा भी नमा न सके। उनकी अतुल शक्ति देखकर उपस्थित लोगों ने नेमिकुमार की अतीव प्रशंसा की। अतः श्रीकृष्ण ने मन ही मन युक्ति सोची कि अगर नेमिकुमार को विवाह-बन्धन में बांध दिया जाए तो इसकी शक्ति संतुलित हो जाएगी।

श्रीकृष्ण ने समुद्रविजय आदि से नेमिकुमार का विवाह कर देने के लिए कहा। उन्होंने नेमिकुमार को विवाह के लिए बहुत कहा, किन्तु नेमिकुमार नहीं माने। उन्होंने श्रीकृष्ण को ही किसी युक्ति से नेमिकुमार को विवाह के लिए मनाने का भार सौंपा। श्रीकृष्ण ने अपनी पटरानियों को यह कार्य सौंपा। वसन्तोत्सव के बहाने श्रीकृष्ण की रानियों ने नेमिकुमार से कहा—'नेमिकुमार ! तुम्हारा यह अलौकिक रूप-लावण्य, सुन्दर स्वस्थ देह, अनुपम कान्ति और यौवनावस्था है, इन सबको सफल करने के लिए किसी योग्य कन्या के साथ पाणिग्रहण कर लो। यदि तुम उनका भरण-पोषण नहीं कर सकते तो कोई बात नहीं, तुम्हारे भाई, इसका सब भार उठा लेंगे, तुम निश्चिंत होकर मनुष्य जन्म को सार्थक करो।'

नेमिनाथ ने हंसते हुए कहा—मनुष्य जन्म की सफलता विवाह करके विषय-सुखभोग में नहीं, किन्तु शुद्ध निष्कलंक अनुपमसुखरूप शाश्वत सिद्धि-वधू को प्राप्त करने में है।" फिर श्रीकृष्ण ने स्वयं नेमिकुमार से कहा—भाई ! पाणिग्रहण करना कोई बुरा नहीं है। ऋषभादि तीर्थंकरों ने भी विवाह किया था और पिछली वय में दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त किया था, तुम भी इसी प्रकार मोक्ष प्राप्त कर सकोगे, इसलिए हम सब दशार्हचक्र के सन्तोष के लिए विवाह करना स्वीकार कर लो।"

श्रीकृष्ण के बहुत आग्रह करने पर नेमिकुमार मौन रहे। 'मौनं सम्मति लक्षणम्' मानकर श्रीकृष्ण ने सोचा—नेमिकुमार ने विवाह करना स्वीकार कर लिया है। यह सुसमाचार दशार्हचक्र को सुनाया तो उन्होंने

नेमिकुमार के अनुरूप योग्य कन्या को ढूंढने का भार श्रीकृष्ण पर डाला। श्रीकृष्ण की दृष्टि में नेमिकुमार के योग्य, राजा उग्रसेन की पुत्री राजीमती जची। फलतः श्रीकृष्ण ने उग्रसेन से राजीमती को नेमिकुमार के लिए देने की याचना की। यद्यपि नेमिकुमार जानते थे कि यह विवाह होगा नहीं, किन्तु राजीमती और यादवजातीय लोगों को प्रतिबोध का निमित्त बनेगा, इसलिए स्वीकार कर लिया।

विवाह के लिए दुल्हे के रूप में सुसज्जित अरिष्टनेमि—

मूल—सव्वोसहीहिं ण्हविओ, कय-कोउय-मंगलो।
दिव्व-जुयल-परिहिओ, आभरणेहिं विभूसिओ ॥९॥

छाया—सर्वौषधिभिः स्नापितः, कृत-कौतुक—मंगलः।
परिहित-दिव्य-युगलः, आभरणैर्विभूषितः ॥९॥

पद्या०—औषध मिश्रित जल से नहला, कौतुक और मंगल करवाये।
पहिना उत्तम दिव्य वस्त्र, आभरण विभूषित हो आये ॥९॥

अन्वयार्थ—(अरिष्टनेमिकुमार को), सव्वोसहीहि—समस्त औषधियों के जल से, ण्हविओ—स्नान कराया गया, कय-कोउय-मंगलो—(यथाविधि) कौतुक एवं मंगल किये गए, दिव्व-जुयल-परिहिओ—दिव्य वस्त्रयुगल पहनाया गया, (और उसे) आभरणेहिं—आभूषणों से विभूसिओ—सुशोभित किया गया ॥९॥

भावार्थ—इनके पश्चात् अरिष्टनेमिकुमार को सभी औषधियों के जल से नहलाया गया, कौतुक और मंगल (दधि, अक्षत, दूर्वा चन्दन आदि से) किया गया, फिर दिव्य वस्त्रयुगल पहनाया गया और अलंकारों से विभूषित किया गया ॥९॥

विवेचन—फलितार्थ—जब श्रीकृष्ण ने उग्रसेन द्वारा अपनी प्रिय पुत्री राजीमती का पूर्वोक्त विधिपूर्वक विवाह कर देना स्वीकार कर लिया, तब विवाह की तिथि और समय निश्चित हो गया। अतः राजा उग्रसेन ने भी अपनी कन्या के विवाह की तैयारियाँ शुरू कर दीं। उधर विवाहोचित सारी सामग्री का प्रबन्ध वासुदेव द्वारा भी किया गया। विवाह का समय निकट आने पर जया-विजया आदि सभी औषधियों से युक्त जल आदि से स्नान कराया गया, कौतुक (मुसल आदि से ललाट का स्पर्श) और मंगल (दधि, अक्षत, दूर्वा तथा चन्दन आदि) के द्वारा वैवाहिक विधान किये गए। फिर बहुमूल्य वस्त्रों एवं आभूषणों से उन्हें अलंकृत किया गया। तात्पर्य यह है कि उस समय कुल परम्परानुसार जो भी नीतियुक्त वैवाहिक रीतिरिवाज थे, वे सब पूर्ण किये।

नेमिकुमार का वर के रूप में गजारूढ़ होकर बरात के साथ प्रस्थान—

मूल—मत्तं च गंधहत्थिं, वासुदेवस्स जेट्ठगं।
आरूढो सोहए अहियं, सिरे चूडामणी जहा ॥१०॥
अह ऊसिएण छत्तेण, चामराहि य सोहिए।
दसारचक्केण य सो, सव्वओ परिवारिओ ॥११॥
चउरंगिणीए सेनाए, रइयाए जहक्कमं।
तुरियाण सन्निनाएण, दिव्वेण गगणं फुसे ॥१२॥
एयारिसीए इड्ढीए, जुईए उत्तिमाए य।
नियगाओ भवणाओ, निज्जाओ वण्हि-पुंगवो ॥१३॥

छाया—मत्तं च गन्धहस्तिनं, वासुदेवस्य ज्येष्ठकम्।
आरूढः शोभतेऽधिकं, शिरसि चूड़ामणिर्यथा ॥१०॥
अथोच्छ्रितेन छत्रेण, चामराभ्यां च शोभितः।
दशार्ह-चक्रेण च स, सर्वतः परिवारितः ॥११॥
चतुरंगिण्या सेनया, रचितया यथाक्रमम्।
तूर्याणां सन्निनादेन, दिव्येन गगन-स्पृशा ॥१२॥
एतादृश्या ऋद्ध्या, द्युत्या उत्तमया च।
निजकात् भवनात्, निर्यातो वृष्णिपुङ्गवः ॥१३॥

पद्या०—वासुदेव के मतवाले, अतिज्येष्ठ हस्ती पर चढ़ आए।
आरूढ़ सुशोभित लगते थे, सिर पर चूड़ामणि-सम भाए ॥१०॥
अत्युच्च छत्र चामरयुग से, थे नेमिनाथ अतिशय शोभित।
तथा दशारचक्र और परिजन, से चहुँओर से परिवारित ॥११॥
चतुरंग सजाई सेना से, नेमीश्वर क्रमशः घिरे रहे।
तूर्यों के दिव्यनिनादों से, गुंजित नभ-मण्डल शोभ रहे ॥१२॥
ऐसी अतिशय शुभऋद्धि और, अतिश्रेष्ठ कान्ति को वहन किये।
वह वृष्णि-वंश के श्रेष्ठ तनय, निज भव्य भवन से निकल गए ॥१३॥

अन्वयार्थ—वासुदेवस्स—वासुदेव (श्रीकृष्ण) के, जेट्ठगं—सबसे बड़े, मत्तं—मत्त, गंधहत्थि—गन्धहस्ती पर, (जब अरिष्टनेमि), आरूढो—आरूढ़ हुए (तो), जहा सिरे चूडामणी—सिर पर चूड़ामणि की भाँति, अहियं सोहए—बहुत अधिक सुशोभित हो रहे थे ॥१०॥

अह—अब, ऊसिएण छत्तेण—ऊँचे छत्र से, य—तथा, चामराहि—(दोनों ओर ढुलते हुए) चामरों से (अरिष्टनेमि), सोहिए—सुशोभित थे, य—और,

दसार-चक्केण—दशार्ह-चक्र—सुप्रसिद्ध दस यदुवंशी (क्षत्रिय-समूह) से, सो—वह, सव्वओ—चारों ओर से, परिवारिओ—परिवृत (घिरे हुए) थे ॥११॥

जहक्कमं—यथाक्रम से, रइयाए—सुसज्जित (रचित) से, चउरंगिणीए सेनाए—चतुरंगिणी सेना से, (और) तुरियाणं—वाद्यों के, दिव्वेण सन्निनाएण—दिव्य निनाद से, गगणं फुसे—गगन को स्पर्श किया था ॥१२॥

एयारिसीए—ऐसी, उत्तिमाए—उत्तम, इड्ढीए—ऋद्धि, य—और, जुईए—(उत्तम) द्युति के साथ, (वह) वण्हिपुंगवो—वृष्णिपुंगव=यादवों में प्रधान, श्रेष्ठ (नेमिकुमार), नियगाओ भवणाओ—अपने भवन से, निज्जाओ—निकले ॥१३॥

भावार्थ—नेमिकुमार दुल्हे के रूप से सुसज्जित होकर वासुदेव के सर्वश्रेष्ठ गन्धहस्ती पर आरूढ़ हुए, उन पर एक बड़ा ऊँचा छत्र किया गया, दोनों ओर चामर ढुलाए जाने लगे, समुद्रविजय आदि दसों दशार्ह यादवों तथा अन्य यदुवंशियों द्वारा परिवृत्त होकर वे बरातियों के बीच में वर के रूप में ऐसे सुशोभित हो रहे थे, जैसे मस्तक पर रखा हुआ चूड़ामणि शोभा देता है। उनके आगे-आगे गज, रथ, अश्व और पैदल, यों चार प्रकार की चतुरंगिणी सेना व्यवस्थित क्रम से चल रही थी। वाद्यों के निनाद से आकाश गूंज रहा था। इस प्रकार की उत्तम ऋद्धि अर्थात् ठाठबाठ से तथा उत्तम द्युति=चमक-दमक के साथ नेमिकुमार अपने भवन से निकले। ॥१०-१३॥

बाड़े में बद्ध पशुओं को देख सारथी से प्रश्नोत्तर—

मूल—अह सो तत्थ निज्जंतो, दिस्स पाणे भयद्दुए।
वाडेहिं पंजरेहिं च, सन्निरुद्धे सुदुक्खिए ॥१४॥
जीवियंतं तु संपत्ते, मंसट्ठा भक्खियव्वए।
पासित्ता से महापन्ने, सारहिं इणमब्बवी ॥१५॥
कस्स अट्ठा इमे पाणा, एए सव्वे सुहेसिणो।
वाडेहिं पंजरेहिं च, सन्निरुद्धा य अच्छहिं? ॥१६॥
अह सारही तओ भणइ— एए भद्दा उ पाणिणो।
तुज्झं विवाहकज्जंमि भोयावेउं बहुं जणं ॥१७॥

छाया—अथ स तत्र निर्यन्, दृष्ट्वा प्राणान् भयद्रुतान्।
वाटैः पञ्जरैश्च, सन्निरुद्धान् सुदुःखितान् ॥१४॥
जीवितान्तं तु सम्प्राप्तान्, मांसार्थं भक्षयितव्यान्।
दृष्ट्वा स महाप्राज्ञः, सारथिमिदमब्रवीत्— ॥१५॥

कस्यार्थमिमे प्राणाः, एते सर्वे सुखैषिणः ।
वाटैः पञ्जरैश्च सन्निरुद्धाश्च आसते ? ॥१६॥

अथ सारथिस्ततो भणति—'एते भद्रास्तु प्राणिनः ।
युष्माकं विवाहकार्ये, भोजयितु बहु जनम् ॥१७॥

पद्या०—नगरी में जाते नेमी ने, भयभीत जीव को देख वहाँ ।
दुःखपीड़ित करते करुणशब्द, पंजर-वाड़ों में रुके जहाँ ॥१४॥

जीवन के अन्तिम क्षण गिनते, मांसार्थ भक्ष्य-हित जो लाए ।
देख प्राज्ञ उस नेम-प्रभु ने, सारथि को यों झट फरमाए ॥१५॥

किसलिए दीन प्राणी ये सब, जीवन और सुख के अभिलाषी ।
पिंजर बाड़ों में रोक रखे, निर्दोष गले में दे फांसी ? ॥१६॥

सुन कर वह सारथी तब बोला—ये भद्र जीव जो आए हैं ।
तब वैवाहिक-कार्यों में, बहुजन-भोजन-हित लाए हैं ॥१७॥

अन्वयार्थ—**अह**—इसके पश्चात्, **तत्थ**—वहाँ, **निज्जंतो**—(राजमार्ग से) निकलने=(गुजरते) हुए, **सो**—उस (नेमिकुमार) ने, **वाडेहिं**—बाड़ों, **च**—और, **पंजरेहि**—पिंजड़ों में, **सन्निरुद्धे**—बंद किये (रोककर रखे) हुए, **भयद्दुए**—भय से त्रस्त (और), **सुदुक्खिए**—अत्यन्त दुःखित, **पाणे**—प्राणियों को, **दिस्स**—देखा ॥१४॥

(वे प्राणी) **जीवियंतं तु संपत्ते**—जीवन की अन्तिम स्थिति (मृत्यु) को सम्प्राप्त थे, **मंसट्ठा**—मांस के लिए, **भक्खियव्वए**—खाये जाने वाले थे, **से**—उन्हें, **पासेत्ता**—देखकर, **से महापन्ने**—उस महाप्राज्ञ अरिष्टनेमि ने, **सारहिं**—हाथी चलाने वाले महावत से, **इणमब्बवी**—इस प्रकार पूछा ॥१५॥

इमे सव्वे सुहेसिणो—सुख के अभिलाषी ये सब, **पाणा**—प्राणी, **कस्स अट्ठा**—किसलिए, **इमे**—इन, **वाडेहिं**—बाड़ों, **य**—और, **पंजरेहिं**—पिंजरों में, **सन्निरुद्धा**—रोके हुए, **अच्छहिं**—रखे हैं ? ॥१६॥

अह—यह सुनकर, **तओ**—तब, (सारथी) **भणइ**—बोला—**एए**—ये, **भद्दा**—भद्र **पाणिणो**—प्राणी, **तुज्झविवाह कज्जंमि**—तुम्हारे विवाह-कार्य में, **बहुं जणं**—बहुत-से लोगों को, **भोयावेऊं**—मांस खिलाने के लिए हैं ॥१७॥

भावार्थ—तदनन्तर जब नेमिकुमार (बरात के साथ) आगे बढ़े तो उन्होंने भय से संत्रस्त, बाड़ों और पिंजरों में रोके हुए होने से अत्यन्त दुःखित, तथा मांस के लिए खाये जाने वाले, एवं मरणासन्न दशा को प्राप्त प्राणियों को देखा तो उस महाप्राज्ञ ने उन्हें (ऐसी दशा में) देखकर अपने सारथी (महावत) से इस प्रकार पूछा—॥१४-१५॥

'ये सब सुख के अभिलाषी प्राणी, पिंजरों और वाड़ों में किसलिए बन्द किये हुए हैं ?' ॥१६॥

नेमिकुमार के इस प्रकार पूछने पर सारथी ने कहा—'ये सरल प्रकृति के (भद्र) जीव आपके विवाहकार्य में बहुत-से लोगों को मांस खिलाने के लिए (यहाँ एकत्रित किये गए) हैं ॥१७॥[1]

विवेचन—सारथी से क्यों पूछा ?—भगवान भावी तीर्थंकर थे, उन्हें परम अवधिज्ञान जन्म से ही प्राप्त था, और वे यह जानते थे कि इन वाड़ों और पिंजरों में ये पशु-पक्षी क्यों बन्द किये गए हैं ? फिर भी सारथी से ऐसा क्यों पूछा ? इसका समाधान वृत्तिकार इस प्रकार करते हैं—भगवान् स्वयं जानते थे, तथापि जीवदया का महत्त्व उपस्थित लोगों को समझाने के लिए ही उन्होंने सारथी से पूछा था।

वाडेहिं पंजरेहिं सन्निरुद्धे : आशय—जो चौपाये पशु थे, वे तो चारों ओर से दीवार से घिरे हुए वाड़ों में बन्द थे, और जो उड़ने वाले प्राणी थे, वे पिंजरों में बन्द किये हुए थे। परन्तु वे सबके सब भय से संत्रस्त थे।

मंसट्ठा भक्खियव्वए : तात्पर्य—मांसलोलुप व्यक्तियों का कथन है कि 'मांसेनैव मांसमुपचीयते'—मांस भक्षण से ही शरीर में मांस की वृद्धि एवं पुष्टि होती है। नेमिनाथ की बरात में ऐसे सैनिकादि पुरुष भी अधिक संख्या में थे, उन मांसभक्षी बरातियों को उन प्राणियों के मांस से तृप्त करने के निमित्त ही उन्हें वाड़ों और पिंजरों में एकत्रित किया गया था।

भोयावेउं बहुजणं : तात्पर्य—'बारात में आए हुए बहुत-से पुरुषों को इन प्राणियों के मांस का भोजन कराया जाएगा', इस कथन से यह स्पष्ट

---

१. यहाँ एक प्रश्न उठता है—नेमिकुमार सोरीपुर से अपने भवन से श्रेष्ठ गन्ध हस्ती पर आरूढ़ होकर प्रस्थान करते हैं और मथुरा पहुँचते हैं तो पशुओं का करुण-क्रन्दन सुनकर सारथी से पूछते हैं। हाथी का चालक तो 'महावत' कहलाता है, सारथी शब्द रथ परिचालक के लिए प्रयुक्त होता है। तो क्या यहाँ 'महावत' शब्द के अर्थ में सारथी शब्द का प्रयोग हुआ है या कोई अन्य कारण है ? यह विषय अनुसंधान करने योग्य है। ऐसा भी संभव है कि सोरीपुर से प्रस्थान करते समय वे गजारूढ़ रहे हों, फिर अगले पड़ाव में रथारूढ़ हो गये हों ? क्योंकि सोरीपुर से मथुरा की दूरी एक ही दिन में तो तय नहीं हुई होगी, अतः हो सकता है, मथुरा नगरी में प्रवेश के समय वे रथ में आरूढ़ हों, और तब सारथी ने पूछा हो। बृहद्वृत्तिकार शान्त्याचार्य का भी ऐसा ही मत है—"तदा रथारोहणमनुमीयते—बृहद्वृत्ति पत्र ४९२

द्योतित होता है कि बरात में सभी लोग मांसभोजी नहीं थे। यदि सबके लिए मांस-भोजन अभीष्ट होता तो यहाँ 'बहुजणं' के बदले 'सव्वजणं' शब्द प्रयुक्त किया जाता, अथवा 'दशार्ह' शब्द का ही उल्लेख होता; किन्तु यहाँ प्रयुक्त 'बहुजन' शब्द से प्रतीत होता है कि नेमिकुमार के साथ जो सेना आई थी, उनमें से, तथा साथ वाले अन्य पुरुषों में से बहुत-से मांसभोजी थे, उन्हीं को उद्देश्य में रखकर यह शब्द प्रयुक्त किया गया है, श्रेष्ठजनों को लेकर नहीं।'

भद्दा उ पाणिणो : तात्पर्य—जो अपराधरहित, अक्रूर, निर्दोष एवं सरल प्रकृति के प्राणी होते हैं, वे भद्र कहलाते हैं। अतः वहाँ हरिण आदि भद्र जीव ही एकत्रित किये गए थे, न कि हिंस्र जीव भी। यह भाव निश्चयार्थक 'तु' (उ) शब्द से सूचित किया गया है।

करुणार्द्र अरिष्टनेमि का आत्मचिन्तन, आभूषणत्याग, अभिनिष्क्रमण और प्रव्रज्याग्रहण—

मूल—सोऊण तस्स वयणं, बहुपाणि-विणासणं।
चिंतेइ से महापन्ने, साणुक्कोसे, जिएहि उ ॥१८॥

जइ मज्झ कारणा एए, हम्मंति[1] सुबहू जिया।
न मे एयं तु निस्सेसं, परलोगे भविस्सई ॥१९॥

सो कुण्डलाण जुयलं, सुत्तगं च महायसो।
आभरणाणि य सव्वाणि, सारहिस्स पणामए ॥२०॥

मण-परिणामो य कओ[2], देवा य जहोइयं समोइण्णा।
सव्विड्ढिइ सपरिसा, निक्खमणं तस्स काउं जे ॥२१॥

देव-मणुस्स-परिवुडो, सिबिया-रयणं[3] तओ समारूढो।
निक्खमिय वारगाओ, रेवययंमि ठिओ भगवं ॥२२॥

उज्जाणं संपत्तो ओइण्णो, उत्तमाउ सीयाओ।
साहस्सीए परिवुडो, अह निक्खमइ उ चित्ताहिं ॥२३॥

छाया—श्रुत्वा तस्य वचनं, बहु-प्राणि-विनाशनम्।
चिन्तयति स महाप्राज्ञः, सानुक्रोशो जीवेषु तु ॥१८॥

---

१ पाठान्तर—हम्मिहिंति। २ 'मण-परिणामे य कए'—पाठान्तर।
३ पाठान्तर—सीयारयणं।

यदि मम कारणादेते, हन्यन्ते सुवहुजीवाः ।
न मे एतत्तु निःश्रेयसं, परलोके भविष्यति ॥१६॥

स कुण्डलयोर्युगलं, सूत्रकं च महायशाः ।
आभरणानि च सर्वाणि, सारथये प्रणामयति ॥२०॥

मनः-परिणामश्च कृतः, देवाश्च यथोचितं समवतीर्णाः ।
सर्वर्द्ध्या सपरिषदः, निष्क्रमणं तस्य कर्तुं ये ॥२१॥

देव-मनुष्य-परिवृतः, शिविकारत्नं ततः समारूढः ।
निष्क्रम्य द्वारकातः, रैवतके स्थितो भगवान् ॥२२॥

उद्यानं सम्प्राप्तः, अवतीर्ण उत्तमायाः शिविकायाः ।
सहस्रेण परिवृतः, अथ निष्क्रामति तु चित्रायाम् ॥२३॥

पद्या०—बहु-प्राणिविनाशक सारथि के, सुन वचन नेमिवर खिन्न हुए ।
उस महाप्राज्ञ ने सानुरूप सोचा करुणा का भाव लिए ॥१८॥

मेरे कारण इन जीवों की, जो हिंसा होगी भयकारी ।
यह मेरे लिए न श्रेयस्कर, परभव में होगा दुःखकारी ॥१६॥

वह महायशस्वी राजपुत्र, कटिसूत्र और कुण्डल-जोड़े ।
दे दिये हर्ष से सारथि को, आभूषण तन के सब छोड़े ॥२०॥

व्रतभाव जगे जब ही मन में, औचित्य मनाने सुर आए ।
परिषद् के संग सकल वैभव, वे अपने पीछे ले आए ॥२१॥

देव-मनुष्यों से घिरकर, वे शिविका पर आरूढ़ हुए ।
द्वारकापुरी से चल करके, गिरिनार धाम जा ठहर गए ॥२२॥

उद्यान पहुँच कर रिट्ठनेमि, शिविका से नीचे उतर गए ।
थे उनके साथ हजारों जन, चित्रा में वे निष्क्रमण किए ॥२३॥

अन्वयार्थ—तस्स—उस सारथी के, **बहुपाणि-विणासणं**—बहुत से प्राणियों के विनाश-सम्बन्धी, **वयणं**—वचन को, **सोऊण**—सुनकर, **जिएहि उ साणुक्कोसे**—जीवों के प्रति, सदय (होकर), **से**—वह, **महापन्ने**—महाप्राज्ञ नेमिकुमार, **चिंतेइ**—मन में चिन्तन करने लगे ॥१८॥

जए—यदि, **मज्झकारणा**—मेरे निमित्त से, **एए बहु जिया**—ये बहुत से जीव, **हम्मंति**—मारे जाते हैं, **तु**—तो, **एयं**—यह, **परलोगे**—परलोक में, **मे**—मेरे लिए, **निस्सेसं**—श्रेयस्कर, **न**—नहीं, **भविस्सई**—होगा ॥१६॥

(अतः) **सो महायसो**—उस महान् यशस्वी ने, **कुंडलाण जुयलं**—कुण्डल-युगल,

सुत्तगं—सूत्रक=करधनी, **च**—और, **सव्वाणि य आभरणाणि**—अन्य सब आभूषण (उतार कर), **सारहिस्स**—सारथि (महावत) को, **पणामए**—दे दिये ॥२०॥

(इसके पश्चात्) **मणपरिणामो य कओ**—(जब नेमिकुमार ने) मन में (दीक्षा लेने का) परिणाम किया, (तभी) **तस्स**—उनके, **जहोइयं**—यथोचित, **निक्खमणं**—अभिनिष्क्रमण, **काउं**—करने के लिए, **जे देवा**—जो (लोकान्तिक) देवता, (वे) **सव्विड्ढिइ**—अपनी समस्त ऋद्धि, **य**—और, **सपरिसा**—परिषद् के साथ **समोइण्णा**—(स्वर्ग से) अवतीर्ण हुए (उतरे) ॥२१॥

तओ—तदनन्तर, **देव-मणुस्स-परिवुडो**—देवों और मनुष्यों से परिवृत (घिरे हुए), **भयवं**—भगवान् (अरिष्टनेमि) **सिबियारयणं**—शिविकारत्न—श्रेष्ठ पालखी पर, **समारूढो**—आरूढ़ हुए। (फिर) **बारगाओ**—द्वारका नगरी से **निक्खमिय**—निकल कर, **रेवययंमि**—रैवतक (गिरनार) पर्वत पर, **ठिओ**—स्थित हुए ॥२२॥

उज्जाणं—(वहाँ के सहस्राम्रवन नामक) उद्यान में, **संपत्तो**—पहुँच कर (वे) **उत्तिमाओ सीयाओ**—उस उत्तम शिविका से, **ओइण्णो**—उतरे, **अह**—तत्पश्चात् (भगवान् ने) **साहस्सीए परिवुडो**—एक हजार व्यक्तियों के साथ, **चित्ताहि उ**—चित्रा नक्षत्र में ही, **निक्खमई**—निष्क्रमण किया (—श्रमणवृत्ति ग्रहण की) ॥२३॥

भावार्थ—उस सारथी के अनेक प्राणियों के विनाश से सम्बन्धित वचन को सुनकर जीवों पर करुणार्द्र-हृदय महाबुद्धिमान् राजकुमार (नेमिनाथ) मन में (इस प्रकार) चिन्तन करने लगे ॥१८॥

यदि मेरे (विवाह के) निमित्त से इन बहुत से प्राणियों का वध होता है, तो यह (जीवहिंसा का दुष्कृत्य) परलोक में मेरे लिए श्रेयस्कर नहीं होगा ॥१९॥

(जीवों को बन्धनमुक्त करने के कार्य से प्रसन्न होकर) महायशस्वी श्री नेमिकुमार ने सारथी को (पारितोषिक के रूप में) दोनों कुण्डल, कटिसूत्र और अन्य सभी आभूषण (उतार कर) प्रदान कर दिये ॥२०॥

(सारथी को समस्त आभूषण दे देने के पश्चात्) जब कुमार अरिष्टनेमि ने मन में दीक्षा लेने के परिणाम-भाव किये, तभी अपनी समस्त ऋद्धि और परिषद् के साथ देवगण उनका दीक्षा-महोत्सव करने के लिए स्वर्ग से उतर कर वहाँ आए ॥२१॥

तदनन्तर देवों और मनुष्यों से घिरे हुए श्री नेमिनाथ उत्तम शिविकारत्न पर आरूढ़ हुए और द्वारकानगरी से निकल कर रैवतक-पर्वत पर स्थित हो गए ॥२२॥

वहाँ के सहस्राम्रवन उद्यान में पहुँचकर वे उत्तम शिविका से उतरे और एक हजार प्रधान पुरुषों के साथ उन्होंने चित्रानक्षत्र में दीक्षा ग्रहण की ॥२३॥

विवेचन—साणुक्कोसे जिएहि उ : तात्पर्य—सानुक्रोश का अर्थ होता है—दयायुक्त। तात्पर्य यह है कि जिसके हृदय में दया का भाव होता है, वे दयार्द्र हृदय व्यक्ति ही अन्य जीवों के हिताहित का, तथा अपने श्रेय का विचार करते हैं। अरिष्टनेमिकुमार तो साक्षात् करुणावतार थे। उन अनाथ जीवों के अकारण वध से उनके सदय अन्तःकरण में उनके प्रति दयाभाव उत्पन्न होना स्वाभाविक था। उसी दयाभाव को मूर्तरूप देने के लिए उन्होंने बाड़ों और पिंजरों में अवरुद्ध प्राणियों को बन्धनमुक्त करा दिया।

मज्झ कारणा : आशय—नेमिकुमार ने विचार किया कि इन अनाथ जीवों के वध में निमित्त तो मैं ही ठहरता हूँ, क्योंकि मैं विवाह के लिए उद्यत हुआ, तभी मेरे साथ में आने वाले सैनिकों को मांस भोजन देने के लिए इन्हें एकत्रित किया गया। अतः इनकी हिंसा का निमित्त मैं या मेरा विवाह-महोत्सव ही है।

न मे परलोगे निस्सेसं : आशय—चरमशरीरी भगवान् यह भलीभांति जानते थे कि मेरा यह अन्तिम भव है, अब मेरे लिए परलोक—अन्य जन्म—की सम्भावना नहीं है, फिर भी 'मेरे लिए यह परलोक में श्रेयस्कर नहीं होगा', यह कथन जन्म-मरण से भीतिवश लोकशिक्षणार्थ अत्यन्तअभ्यास के कारण किया गया है, अथवा हिंसा का कटुफल बतलाने के लिए सामान्यतया यह उल्लेख किया गया संभव है। इसका तात्पर्य यह है कि हिंसारूप कार्य किसी के लिए भी परलोक में सुखदायक नहीं हो सकता।

फलितार्थ—इस प्रकार के चिन्तन के अनन्तर भगवान् ने अपने सारथी से कहा कि जाओ, इन सब जीवों को बन्धन से मुक्त कर दो। यह आदेश होते ही सारथी ने सभी जीवों को बन्धन से मुक्त कर दिया। इससे प्रसन्न होकर नेमिनाथ ने उसे पारितोपिक के रूप में अपने शरीर के सभी आभूषण उतार कर दे दिये।

जो आत्मा संसार से विरक्त हो जाता है, अथवा सांसारिक विषय-भोगों के अनिष्ट परिणामों से भलीभांति परिचित होता है उसका सजीव-निर्जीव किसी भी सांसारिक वस्तु पर मोह नहीं रहता। भगवान् अरिष्ट-नेमि पहले ही सांसारिक विषयों से विरक्त थे, इस अनर्थकारी भावी हिंसा-

काण्ड से तो उन्हें और भी अधिक उपरति हो गई। अतः उन अनाथ प्राणियों को बन्धन से मुक्त कराकर वे स्वयं भी बन्धनमुक्त होने के लिए उद्यत हो गए।

अन्तर्गत कथा—बलदेव, वासुदेव तथा दशार्हचक्र आदि यादवों से परिवृत होकर जयकार के साथ नेमिकुमार अत्यन्त ठाटबाट के साथ उग्रसेन राजा के द्वार के सामने रच गये विवाह-मण्डप के समीप आ पहुँचे। समस्त आभूषणों से सुसज्जित होकर गवाक्ष में बैठी हुई राजीमती भी नेमिकुमार को देखकर आनन्दमग्न हो गई, इसी समय पशु-पक्षियों के करुण शब्द सुनकर नेमिनाथ ने सारथि से पूछा—कि मरणभय से संत्रस्त जैसे ये प्राणी क्यों आर्तनाद कर रहे हैं?

सारथी ने कहा—स्वामिन्! आपके विवाहोत्सव पर अनेक मांस-भोजी जनों को मांसभोजन देने के लिए इन जीवों को बाड़ों और पिंजरों में बन्द किया है, इन्हें मारा जाएगा, इसी कारण ये अभी से करुणनाद कर रहे हैं।"

नेमिकुमार ने कहा—'सारथी! इन प्राणियों को बन्धनमुक्त करके मेरा रथ जल्दी यहीं से पीछे मोड़ दो, मुझे ऐसा विवाह नहीं करना है, जहाँ इतने प्राणियों का वध होता है, वह विवाह वास्तव में संसार-परिभ्रमण का ही हेतु है।"

नेमिकुमार के आदेश से सारथी ने उसी समय समस्त प्राणियों को बन्धनमुक्त कर दिया और वे आनन्द से भगवान को मूक आशीर्वाद देते हुए अपने-अपने स्थान पर चले गए।

नेमिकुमार का रथ तोरणद्वार से वापिस मुड़ता देख यादवों में खल-बली मच गई। कहते हैं, नेमिनाथ ने उचित अवसर देखकर उस समय उपस्थित सभी लोगों को मांसाहार न करने तथा जीवों पर करुणा करने का उपदेश दिया। फलस्वरूप यादववंश में मद्य-मांस परित्याग का व्यापक प्रचार हो गया।

इधर नेमिकुमार को समुद्रविजय राजा और शिवादेवी माता आदि गुरुजन विविध उपायों से विवाह करने की मनुहार करते हैं, अनेक प्रकार से समझाते हैं, फिर भी उन्होंने उस बात को अंगीकार नहीं किया।

इसी अवसर पर लोकान्तिक देव आकर भगवान् से निवेदन करने लगे—'भगवन्! अब आप समस्त जगत् के जीवों के लिए हितकर तीर्थ-प्रवर्त्तन कीजिए।' इस प्रकार कहकर वे भगवान् के माता-पिता आदि के

वासुदेवो—वासुदेव श्रीकृष्ण ने, णं—उस, लुत्तकेसं—केशलोच किये हुए, य—और, जिइंदियं—जितेन्द्रिय श्री नेमिनाथ से, (इस प्रकार) भणइ—कहा—, दमीसरा—हे दमीश्वर !, तं—तुम, (अपने) इच्छिय मणोरहं—अभीष्ट मनोरथ को, तुरियं—शीघ्र, पावसु—प्राप्त करो ।।२५।।

(हे मुनीश्वर ! तुम) नाणेण—ज्ञान से, दंसणेण—दर्शन से, च—और, चरित्तेण—चारित्र से, य—तथा, तवेण—तप से, य—एवं, खंतीए—क्षमा से, चेव—और, मुत्तीए—निर्लोभता (मुक्ति) से, वड्ढमाणो भवाहि य—वढ़ते रहो ।।२६।।

एवं—इस तरह, ते—वे (दोनों वन्धु), रामकेसवा—राम और केशव, य—तथा, दसारा—दशार्ह-यदुश्रेष्ठ, वहू जणा—अन्य वहुत-से जन, अरिट्ठनेमिं—प्रव्रजित अरिष्टनेमि मुनिवर को, वंदित्ता—वन्दना करके, वारगापुरिं—द्वारिकापुरी को, अइगया—लौट गए ।।२७।।

भावार्थ—तदनन्तर सुगन्ध से सुरभित तथा कोमल और कुंचित = घुंघराले, केशों का समाधिसम्पन्न अरिष्टनेमि ने स्वयमेव पंचमुष्टि लोच किया ।।२४।।

वासुदेव श्रीकृष्ण ने केशलोच किये हुए, तथा जितेन्द्रिय अरिष्टनेमि से इस प्रकार कहा—हे दमीश्वर ! तुम अपने अभीष्ट मनोरथ को शीघ्र प्राप्त करो ।।२५।।

हे मुनीश्वर ! तुम ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, तथा क्षमा और निर्लोभता (मुक्ति), की साधना के द्वारा आगे वढ़ते रहो ।।२६।।

इस प्रकार वलराम, केशव (कृष्ण), ये दोनों वन्धु, तथा दशार्ह यादवगण एवं अन्य वहुत-से लोग अरिष्टनेमि को वन्दना करके द्वारकापुरी को लौट आए ।।२७।।

विवेचन—फलितार्थ—२४ वीं गाथा का फलितार्थ यह है कि दीक्षा लेते समय नेमिनाथ ने स्वयं महाव्रत ग्रहण किये, उनके साथ दीक्षित होने वाले सभी ने यह प्रतिज्ञा की कि—'आज से समस्त सावद्यव्यापारों का हम परित्याग करते हैं ।' इस प्रकार सामायिक चारित्र ग्रहण करने के वाद समाहित अर्थात्—ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप समाधि से युक्त होकर सभी ने केशों का पंचमुष्टि लोच किया । उनके केश स्वाभाविकरूप से सुगंधित, कोमल एवं लच्छेदार तथा भ्रमर के समान काले थे ।

वासुदेव आदि का आशीर्वाद—सत्पुरुष श्रेष्ठ कार्य में प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति को प्रोत्साहन देने के साथ-साथ आशीर्वाद देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं, ताकि वह उत्साहपूर्वक मार्ग में लगकर अपने उद्देश्य में शीघ्र सफल हो सके । इसी कारण नवदीक्षित भगवान् नेमिनाथ को श्रीकृष्ण

वासुदेव और बलदेव, समुद्रविजय आदि ने सम्मिलित होकर आशीर्वाद के रूप में कहा—'हे दमीश्वर ! तुम अपने अभीष्ट मनोरथ को प्राप्त करने में शीघ्र सफल होओ। अर्थात्—मोक्ष—रूप परमार्थ को शीघ्र प्राप्त करो। और अपने ज्ञान, दर्शन, चारित्र, एवं तप में, तथा क्षमा, निर्लोभता आदि गुणों में उत्तरोत्तर वृद्धि—उन्नति करो।

इस प्रकार वे तथा अन्य सभी पुरुष अरिष्टनेमि मुनीश्वर को वन्दना करके द्वारकानगरी लौट आए। नेमिनाथ भगवान् ने वहाँ से आगे विहार कर दिया।

नेमिकुमार की प्रव्रज्या सुनकर शोकाकुल और प्रतिबुद्ध राजीमती—

मूल—सोऊण रायकन्ना[1], पवज्जं सा जिणस्स उ।
नीहासा य निराणंदा, सोगेण उ समुच्छिया[2] ॥२८॥
राईमई विचिन्तेइ, धिरत्थु मम जीवियं।
जाऽहं तेण परिच्चत्ता, सेयं पव्वइउं मम ॥२९॥

छाया—श्रुत्वा राजकन्या, प्रव्रज्यां सा जिनस्य तु।
निर्हासा च निरानन्दा, शोकेन तु सम्मूर्च्छिता ॥२८॥
राजीमती विचिन्तयति, धिगस्तु मम जीवितम्।
याऽहं तेन परित्यक्ता, श्रेयः प्रव्रजितुं मम ॥२९॥

पद्या०—सखियों से राजीमती कन्या, उनकी मुनिव्रत-दीक्षा सुनकर।
हो गई शोक से मौन, हंसी, आनन्द और खुशियाँ तजकर ॥२८॥
मन ही मन फिर उसने सोचा—धिक्कार है मेरे जीवन को।
है उचित प्रव्रज्या लेना ही, कारण वे छोड़ गए हमको ॥२९॥

अन्वयार्थ—**जिणस्स उ**—तीर्थंकर अरिष्टनेमि की, **पवज्जं**—प्रव्रज्या को (सखियों से), **सोऊण**—सुनकर, **सा रायकन्ना**—वह राजकन्या (राजीमती), **नीहासा निराणंदा य**—हास्य और आनन्द से रहित हो गई, **य**—तथा, **सोगेण**—शोक से, **समुच्छिया**—व्याप्त (अथवा मूर्च्छित) हो गई ॥२८॥

(अब) **राईमइ**—राजीमती ने, **विचिंतेइ**—सोचा, (=विचार किया), —**मम जीवियं धिरत्थु**—मेरे जीवन को धिक्कार है !' **जाऽहं**—चूंकि मैं, **तेण**—उस अरिष्टनेमि के द्वारा, **परिच्चत्ता**—परित्यक्ता हूं, (अतः) **पव्वइउं**—प्रव्रजित होना ही, **मम**—मेरे लिए, **सेयं**—श्रेयस्कर है ॥२९॥

भावार्थ—अरिष्टनेमि तीर्थंकर के दीक्षा लेने की बात सुनकर उस राजीमती राजकन्या का हास्य और आनन्द समाप्त हो गया; और वह शोक से व्याप्त हो गई ॥२८॥

पाठान्तर—१. रायवरकन्ना, २. समुच्छया, समुत्थया।'

अनेक प्राणी आए, तब उस चतुर पुरुष ने शारीरिक मानसिक दुःखों का नाश करने वाले वृक्षों के फल उन्हें दिये। उस समय मैंने भी उससे प्रार्थना की—'भगवन् ! मुझे भी ये फल दीजिए। अतः उसने मुझे भी वे फल दिये। तत्पश्चात् मैं जाग गई।' इस स्वप्न का वृत्तान्त सुनकर सखियों ने कहा—'प्रिय सखी ! यह स्वप्न ऊपर से कठोर भले ही प्रतीत हो, इसका परिणाम बहुत ही अच्छा आएगा।'

इधर नेमिनाथ के सहोदर छोटे भाई रथनेमि राजीमति के प्रति प्रीतिमान् होकर एकान्त में उससे कहने लगे—'हे सुनयने ! तू जरा भी खेद मत कर। तुम जैसी सौभाग्यनिधि को कौन नहीं चाहता ? भगवान् नेमिनाथ तो वीतराग होने से विषय से विरक्त हैं, वे तुम्हें नहीं स्वीकारते हैं तो न सही, तुम मुझे पति रूप में स्वीकार कर लो। मैं सदैव तुम्हारा आज्ञाकारी बनकर रहूँगा।" यह वचन सुनकर राजीमती बोली—"यद्यपि नेमिनाथ ने मुझे त्याग दी है, किन्तु मैंने नेमिनाथ को नहीं त्यागा। मैं तो उन भगवान् की आजीवन शिष्या बनकर रहूँगी। अतः तुम इस प्रकार की साग्रह प्रार्थना करना छोड़ दो।"

इस घटना के पश्चात् रथनेमि कुछ दिन तो चुपचाप बैठे रहे। फिर उनके मन में ललक उठी। अतः एक दिन फिर आकर रथनेमि स्वयं को पति मान लेने की मांग राजीमती से करने लगा। राजीमती ने उसे प्रतिबोध देने के लिए उसी के समक्ष दूध पीकर, उस पर मदनफल घिसकर पीया, जिससे तुरन्त वमन हुआ। राजीमती ने एक कटोरे में वमन किया हुआ दूध भरकर वह कटोरा रथनेमि को पीने के लिए दिया। तब रथनेमि बोला—'क्या वमन किया हुआ कहीं पिया जाता है ?'

राजीमती ने कहा—'क्या यह बात तुम समझते हो ?'

रथनेमि बोला—यह बात तो एक छोटा-सा बालक भी समझता है कि वमन किया हुआ नहीं पिया जाता ?'

इस पर राजीमती बोली—'तब नेमिनाथ द्वारा वमन की हुई मुझे तुम क्यों ग्रहण करना चाहते हो ?' राजीमती के ये वचन सुनकर रथनेमि चुप होकर चला गया। राजीमती भी दीक्षा लेने की इच्छा से तपश्चरण द्वारा शरीर को सुखाने लगी।

सेयं पव्वइउं मम : तात्पर्य—भविष्य में इस प्रकार के असह्य दुःख का अनुभव न करना पड़े, एतदर्थ राजीमती अब दीक्षा लेकर अपने जीवन

को विरक्ति में बिताने में ही अपना हित समझती हुई कहती हैं—"मेरा कल्याण अब इसी में है कि मैं प्रव्रजित होकर पति के पथ का अनुसरण करूँ।"

स्वप्न का फल साकार हुआ—जब तक नेमिनाथ भगवान् को केवलज्ञान नहीं हुआ, तब तक राजीमती वैराग्यवासित अन्तःकरण से घर में ही रही। नेमिनाथ भगवान् को दीक्षा लेने के ५४ दिन बाद जब रैवतकगिरि के उज्जयन्त पर्वत के समीपवर्ती सहस्राम्रवन में केवलज्ञान उत्पन्न हो गया, तब देवों ने उनके समवसरण (धर्मसभा) की रचना की। भगवान् ने वहाँ आई हुई बारह प्रकार की परिषद् को धर्मदेशना दी; जिसे सुनकर अनेक मनुष्य प्रव्रजित हुए। रथनेमि भी संवेग सम्पन्न होकर उस समय प्रव्रजित हुआ। कई गणधर हुए। भगवान् ने भी तीर्थ की स्थापना की। राजीमती के अन्तःकरण में भी तीव्र वैराग्य भावना उत्पन्न हुई। उसने मन ही मन सोचा कि मैंने दिव्य पुरुष के द्वारा फल प्राप्ति का जो स्वप्न देखा था, वह आज साकार हुआ है।

राजीमती द्वारा केशलोच, अनेक महिलाओं के साथ दीक्षा-ग्रहण—

मूल—अह सा भमर-सन्निभे, कुच्च-फणग-प्पसाहिए।
सयमेव लुंचई केसे, धिइमंता ववस्सिया ॥३०॥

वासुदेवो य णं भणइ, लुत्तकेसं जिइंदियं।
संसार-सागरं घोरं, तर कन्ने लहुं लहुं ॥३१॥

सा पव्वइया संती, पव्वावेसी तहिं बहुं।
सयणं परियणं चेव, सीलवंता बहुस्सुया ॥३२॥

छाया—अथ सा भ्रमर-सन्निभान्, कूर्च-फनक-प्रसाधितान्।
स्वयमेव लुञ्चति केशान्, धृतिमती व्यवसिता ॥३०॥

वासुदेवश्च तां भणति, लुप्तकेशां जितेन्द्रियाम्।
संसार-सागरं घोरं, तर कन्ये ! लघु-लघु ॥३१॥

सा प्रव्रजिता सती, प्रव्राजयामास तत्र बहुं।
स्वजनं परिजनं चैव, शीलवती बहुश्रुता ॥३२॥

पद्या०—भौंरों के तुल्य स्वकेशों को, जो कंघी,कूर्च संवारे थे।
अतिधीर कृतनिश्चय वह, कर दिया लोच जो प्यारे थे ॥३०॥

उस इन्द्रियजित् लुंचितकेशा को, वासुदेव बोले ऐसे।
भवसागर पार करो कन्ये !, अतिशीघ्र सफल हो, व्रत जैसे ॥३१॥

वह शीलवती लेकर दीक्षा, द्वारकापुरी में बहुजन को।
बहुश्रुता ने की प्रदान, दीक्षा स्वजनों और परिजन को ॥३२॥

अन्वयार्थ—अह—इस विचार के अनन्तर, **धिइमंता**—धैर्यशाली, **ववस्सिया**—कृतनिश्चयी, **सा**—उस राजीमती ने, **कुच्च-फणग-प्पसाहिए**—कूर्च (ब्रुश) और कंघी से प्रसाधित (संवारे हुए), **भमरसन्निभे केसे**—भौंरे के समान काले केशों का, **सयमेव**—स्वयमेव, **लुंचइ**—लोच किया ॥३०॥

वासुदेवो—वासुदेव श्रीकृष्ण ने, **लुत्तकेसं**—केशलोच की हुई, **य**—और **जिइंदियं**—जितेन्द्रिय, **णं**—उस राजीमती से, **भणइ**—कहा, **कन्ने**—हे कन्ये! **घोरं**—घोर, **संसार-सागरं**—संसार-समुद्र को, **लहुं लहुं**—शीघ्रातिशीघ्र (झटपट), **तर**—पार कर ॥३१॥

सीलवंता—शीलवती (और), **बहुसुस्या**—बहुश्रुत (तथा), **पव्वइया संती**—प्रव्रजित होती हुई, **सा**—उस राजीमती ने (अपने साथ), **तहिं**—वहीं (उसी द्वारकापुरी में), **बहुं सयणं परियणं चेव**—बहुत-से स्वजनों एवं परिजनों को, **पव्वावेसी**—प्रव्रजित कराया ॥३२॥

भावार्थ—इस प्रकार सोच कर धैर्यशालिनी और कृतनिश्चया राजीमती ने कूर्च और कंघी से संवारे हुए अपने भ्रमर-सदृश काले केशों का स्वयं ही अपने हाथों से लोच कर लिया ॥३०॥

फिर लुंचित-केशा एवं जितेन्द्रिय उस राजीमती को वासुदेव आदि ने कहा—"हे कन्ये! तू इस अति भयंकर दुस्तर संसार-समुद्र को जल्दी-जल्दी पार कर।"॥३१॥

उस शीलवती और बहुश्रुता राजीमती ने स्वयं दीक्षित होकर उस द्वारकापुरी में बहुत-से स्वजनों और परिजनों को (श्रमणधर्म में) दीक्षित किया ॥३२॥

विवेचन—राजीमती का धैर्य और प्रव्रज्या के लिए दृढ निश्चय—प्रस्तुत (३०वीं) गाथा में राजीमती में नेमिनाथ के प्रति उत्कट आध्यात्मिक प्रेम का आदर्श स्थापित करने हेतु असीम धैर्य और ज्ञानगर्भित तीव्र वैराग्य के फलस्वरूप दीक्षा ग्रहण करने के दृढ़ निश्चय को दो विशेषणों द्वारा शास्त्रकार ने अभिव्यक्त किया है—'**धिइमंती ववस्सिया**।'

उसके वैराग्य की पराकाष्ठा की पहिचान भी शास्त्रकार ने इस गाथा द्वारा व्यक्त की है। स्त्रियों को केश अत्यन्त प्रिय होते हैं। केशों को वे सजा-संवार कर रखती हैं, उनके द्वारा वे अपने बाह्य व्यक्तित्व को

आकर्षक बनाती हैं, किन्तु राजीमती ने अपने भौंरे सरीखे काले सुन्दर शृंगारित केश अपने हाथों से उखाड़ कर इसी तरह दूर फेंक दिये, जिस तरह सांप अपनी केंचुली को उतार कर फेंक देता है। इसका फलितार्थ यह है कि शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव सांसारिक पदार्थों के प्रति उसका रहा-सहा मोह-ममत्व समाप्त हो गया और श्रमण धर्म की भागवती दीक्षा ग्रहण कर संयम के आग्नेय पथ पर चलना स्वीकार किया।

कुच्च-फणग-प्पसाहिए : विशेषार्थ—कूर्च उलझे हुए केशों को सुलझाने वाला बांस का बना हुआ मोटे दांतों वाला ब्रुश, अथवा कंघे की-सी अकृति का यंत्रविशेष है, और फनक कहते हैं—बारीक दाँतों वाली कंघी को। इन दोनों (कूर्च और फनक) के द्वारा प्रसाधित—विशेष प्रकार से संस्कारित उसके केश थे।

वासुदेव आदि का लुंचितकेशा जितेन्द्रिय साध्वी राजीमती को आशीर्वाद—जिस समय राजकुमारी राजीमती श्रमणधर्म में दीक्षित हो गई, उस समय उसे वासुदेव तथा (च शब्द से) समुद्रविजयादि दशार्हगण ने आशीर्वाद दिया—"हे कन्ये! घोर दुस्तर, संसारसमुद्र से जल्दी-जल्दी पार हो।" अर्थात् जिस पवित्र उद्देश्य से तुमने इस संयमवृत्ति को ग्रहण किया है, उसकी सिद्धि में तुम्हें पूर्ण सफलता मिले। यह ३१वीं गाथा का तात्पर्य है।

राजीमती : दीक्षा लेने से पूर्व बहुश्रुता कैसे ?—राजीमती के लिए ३२वीं गाथा में बहुस्सुया (बहुश्रुता) विशेषण दिया गया है, इससे परिलक्षित होता है कि राजीमती ने गृहवास में रहते हुए अनेक शास्त्रों का अभ्यास किया था। यही कारण है कि राजीमती ने संसारविरक्त होकर संयम ग्रहण करके अपनी आत्मा का ही नहीं, वरन् अपनी सखी-सहेलियों का तथा द्वारकापुरी की अन्य अनेक महिलाओं का भी उद्धार किया, उन्हें भी श्रमणधर्म में दीक्षित किया, जिससे वे भी ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना करके स्व-परकल्याण कर सकीं। इसे ही शास्त्रकार कहते हैं—"सा पव्वइया सन्ती, पव्वावेसी तहिं बहुं........।" बहुसंख्यक नारियों को प्रव्रजित करना राजीमती के विशिष्ट श्रुतज्ञान का द्योतक है।

रेवतक-गिरिगुफा में राजीमती को देखकर काम-विह्वल रथनेमि—

मूल— गिरिं रेवतयं जंती, वासेणुल्ला उ अंतरा।
वासंते अंधयारम्मि, अंतो लयणस्स सा ठिया ॥३३॥

चीवराइं विसारंती, जहाजाय त्ति पासिया।
रहनेमी भग्गचित्तो, पच्छा दिट्ठो य तीइ वि ॥३४॥

भीया य सा तहिं दट्ठुं, एगंते संजयं तयं।
बाहाहिं काउं संगोफं, वेवमाणी निसीयइ ॥३५॥

छाया--गिरिं रैवतकं यान्ती, वर्षेणार्द्रा त्वन्तरा।
वर्षान्तेऽन्धकारे, अन्तो लयनस्य सा स्थिता ॥३३॥

चीवराणि विस्तारयन्ती यथाजातेति दृष्ट्वा।
रथनेमिर्भग्नचित्तः, पश्चाद् दृष्टश्च तयाऽपि ॥३४॥

भीता सा तत्र दृष्ट्वा, एकान्ते संयतं तकम्।
बाहुभ्यां कृत्वा संगोपं, वेपमाना निषीदति ॥३५॥

पद्या०—जा रही रैवतगिरि पर जब, वर्षा से पथ में भीग गई।
गिर रही बूंद तम छाया था, वह गिरि-गह्वर में चली गई ॥३३॥

वस्त्र सूखाने-हेतु फैलाए, रथनेमि वहाँ पहले से था।
वह नग्न देख मन भग्न हुआ, पीछे उस साध्वी ने देखा ॥३४॥

एकान्त स्थान में (उस) संयत को, वह देख डरी उस गह्वर में।
कर बाहुपाश से संगोपन, कम्पित बैठी उस गह्वर में ॥३५॥

अन्वयार्थ—**रेवतयं गिरिं**—रैवतक पर्वत पर, **जंती**—जाती हुई, (वह) **अंतरा उ**—बीच में ही, **वासेणुल्ला**—वर्षा से भीग गई, **वासंते अंधयारम्मि**—जोर की वर्षा के अन्त में अन्धकार छा जाने पर, **सा**—वह, **लयणस्स अंतो**—गुफा के अंदर, (प्रविष्ट होकर), **ठिया**—ठहर गई ॥३३॥

(सुखाने के लिए), **चीवराइं**—अपने चीवरों वस्त्रों को, **विसारंती**—फैलाती हुई, (राजीमती को) **जहाजायत्ति**—यथाजात-नग्न रूप में, **पासिया**—देख कर, **रहनेमी**—रथनेमि, **भग्गचित्तो**—भग्नचित्त हो गया, (अर्थात्—उसका मन विचलित हो गया)। **पच्छा**—बाद में, **तीइ वि**—उस (राजीमती) ने भी, (रथनेमि को) **दिट्ठो**—देखा ॥३४॥

य—और, **तहिं**—वहाँ, **एगंते**—एकान्त में, **तयं संजयं**—उस संयत को, **दट्ठुं**—देख कर, **सा**—वह (राजीमती), **भीया**—भयभीत हो गई, **वेवमाणी**—(भय से) कांपती हुई (वह), **बाहाहिं**—अपनी दोनों भुजाओं से, **संगोफं काउं**—स्तनादि अंगों को गोपन (ढक) कर, **निसीयई**—बैठ गई ॥३५॥

भावार्थ—रैवतक पर्वत पर जाती हुई साध्वी राजीमती मार्ग में वर्षा

से भीग गई। वर्षा जोर से वरस रही थी, इस कारण अन्धकार छा गया था। अतः वह एक गुफा के अन्दर घुस कर ठहर गई ॥३३॥

सूखाने के लिए वस्त्रों को फैलाती हुई राजीमती को नग्न रूप में देखकर साधक रथनेमि का मन विचलित हो गया। वाद में राजीमती ने भी उसे देखा ॥३४॥

वहाँ गुफा के एकान्त स्थान में उस रथनेमि साधु को देखकर राजीमती डर गई। भय से कांपती हुई वह अपनी दोनों वांहों से शरीर को वेष्टित करके बैठ गई ॥३५॥

विवेचन—वासंते अंधयारम्मि—तीन फलितार्थ—(१) वर्षा के होते हुए ही समीपवर्ती पर्वत की एक गुफा में जाकर ठहर गई, जहाँ अन्धकार था, (२) घनघोर वर्षा हो रही थी, अतः अन्धकार छा गया था, (३) वर्षा के अन्त में अंधेरा हो जाने पर।

लयणस्सः विशेषार्थ—वैसे तो लयन शब्द का सामान्य अर्थ होता है–मकान या आलय परन्तु यहाँ लयन शब्द पर्वतीय गुफा के अर्थ में रूढ़ है।

राजीमती : अकेली और एकान्त में—यद्यपि अकेली साध्वी नहीं रहती, किन्तु राजीमती ने जब रैवतक पर्वत पर भगवान् अरिष्ट नेमि के वन्दनार्थ जाने के लिए विहार किया था, तव अनेक साध्वियाँ थीं। परन्तु मार्ग में ही घनघोर वर्षा प्रारम्भ हो गई, आँधी और तूफान के कारण अन्धकार छा गया था, इसलिए साथ की साध्वियाँ इधर-उधर हो गईं। राजीमती भी वर्षा से भीगे वस्त्रों में ही अकेली उस गुफा को निरापद समझ कर प्रविष्ट हो गई। उसे यह पता ही नहीं था, और अन्धेरा होने से दिखाई भी नहीं दे रहा था कि यहाँ साधक रथनेमि है। उस गुफा में रथनेमि है, यह जानकारी उसे वाद में हुई। अतः शास्त्रकार कहते हैं—'पच्छा दिट्ठो अ तीइवि।'

रथनेमि के भग्नचित्त होने के दो प्रवल कारण : एकान्त और राजीमती का निर्वस्त्रावस्था में प्रेक्षण—वास्तव में रथनेमि का चित्त डांवाडोल एवं कामविह्वल होने का एक कारण तो एकान्त था। एकान्त कच्चे साधक के लिए अतिभयंकर वस्तु है। यद्यपि रथनेमि पूर्वजन्म के योगी थे, आत्मध्यान में मस्त थे। किन्तु कामविकार के वीज जलाने के लिए उतना और वैसा प्रयत्न अपर्याप्त था। एकान्त मिलते ही वीज रूप में छिपा हुआ कामविकार दबी हुई अग्नि की तरह एकदम भभक उठा। एकान्त में स्त्री और पुरुष के आकस्मिक मिलन के लेश मात्र निमित्त से उच्च स्थिति पर पहुँचा हुआ रथनेमि साधक भी पलभर में पतन की ओर झुक गया।

गुफा के अन्दर कोई नहीं है, ऐसा अन्धकार के कारण प्रतीत होने से राजीमती अपने शरीर से भीगे हुए वस्त्रों को उतार का सुखाने के लिए फैलाने लगी। वस्त्ररहित निरावरण अवस्था में राजीमती के शरीर के रूप-लावण्य को देखकर इन्द्रियों की दुर्दान्तता एवं अनादि भवों के अभ्यास के कारण रथनेमि विषयभोग-परवश हो गया। काम-विह्वल होने से रथनेमि का चित्त संयमवृत्ति से उचट गया। वह कामविकारग्रस्त होकर राजीमती के अंगोपांगों को टकटकी लगा कर देखने लगा। एकान्त स्थान, अकेली स्त्री का मिलन, और नग्न रूप में स्त्री का अवलोकन, ये मुख्य कारण ही संयम-साधना से रथनेमि के विचलित होने के बने।

राजीमती भयभीत और कम्पित क्यों हुई ?—कुलीन नारी में जातिगत लज्जा और भय दोनों होते हैं। अन्धकारयुक्त गुफा में, एकान्त स्थल में नग्नावस्था में खड़ी हुई राजीमती का, रथनेमि को देखते ही भययुक्त होकर कम्पायमान होना स्वाभाविक था, क्योंकि ऐसे एकान्त स्थान में कामासक्त पुरुष द्वारा बलात्कार होने की पूर्ण सम्भावना रहती है। अतः अपने शीलव्रत के खण्डित होने के भय से कांप उठी। वह अपने शील की रक्षा के लिए तत्क्षण अपनी दोनों भुजाओं से मर्कटबन्ध स्थिति में अपने सभी गुप्त अंगों को आवृत करके बैठ गई।

रथनेमि द्वारा राजीमती से भोगयाचना—

मूल—अह सोऽवि रायपुत्तो, समुद्दविजयंगओ।
भीयं पवेवियं दट्ठुं, इमं वक्कमुदाहरे ॥३६॥
रहनेमी अहं भद्दे !, सुरूवे ! चारुभासिणी।
ममं भयाहि सुअणु !, न ते पीला भविस्सई ॥३७॥
एहि ता भुंजिमो भोए, माणुस्सं खु सुदुल्लहं।
भुत्तभोगी तओ पच्छा, जिणमग्गं चरिस्समो ॥३८॥

छाया—अथ सोऽपि राजपुत्रः, समुद्रविजयांगजः।
भीतां प्रवेपितां दृष्ट्वा, इदं वाक्यमुदाहरत् ॥३६॥
रनेथमिरहं भद्रे !, सुरूपे ! चारुभाषिणि !
मां भजस्व सुतनो ! न ते पीड़ा भविष्यति ॥३७॥
एहि तावद् भुञ्जीवहि भोगान्, मानुष्यं खलु सुदुर्लभम्।
भुक्तभोगौ ततः पश्चात्, जिनमार्गं चरिष्यावः ॥३८॥

पद्या०—रथनेमि समुद्रविजय-सुत ने, अवसर का कैसा लाभ लिया ?
उस भीत प्रकम्पित साध्वी को, निर्वस्त्र देख यों कथन किया ॥३६॥

हे सुघड़रूप ! सुन्दरभाषिणि !, भद्रे ! मैं हूँ रथनेमि यहाँ।
होगी न तुझे कोई पीड़ा, कर सुतनु ! हमें स्वीकार यहाँ ।।३७।।
आ इन्द्रियसुख भोगें पहले, निश्चय नर-जीवन दुर्लभ है।
हो भुक्तभोग हम पीछे फिर, जिनमार्ग चलें जो दुर्लभ है ।।६८।।

अन्वयार्थ—**अह**—ऐसी स्थिति में, **समुद्दविजयंगओ**—समुद्रविजय के अंगज=पुत्र, **सो रायपुत्तोवि**—उस राजपुत्र ने भी, (राजीमती को), **भीयं**—भयभीत, (और), **पवेवियं**—कांपती हुई, **दट्ठु**—देखकर, **इमं वक्कं**—इस प्रकार का वचन, **उदाहरे**—कहा—। ३६।।

भद्दे—हे भद्रे !, **अहं**—मैं, **रहनेमी**—रथनेमि हूं, **सुरूवे**—हे सुरूपे !, **चारुभासिणी**—हे मधुरभाषिणि ! **सुअणु**—हे सुन्दरांगी !, **ते**—तुझे, **पीला**—कोई पीड़ा (कष्ट), **न**—नहीं, **भविस्सई**—होगी, **ममं भयाहि**—मुझे (पतिरूप से) स्वीकार कर ले ।।३७।।

एहि—आओ, **ता**—पहले, **भोए भुंजिमो**—हम दोनों भोगों को भोग लें, **माणुस्सं**—मनुष्यजन्म **खु**—निश्चय ही, **सुदुल्लहं**—अत्यन्त दुर्लभ है, **तओ**—उसके बाद, **भुत्तभोगी**—भोगों को भोगने के, **पच्छा**—पश्चात्, (हम दोनों), **जिणमग्गं**—जिनवर के मार्ग का, **चरिस्समो**—आचरण करेंगे ।।३८।।

भावार्थ—ऐसी स्थिति में समुद्रविजय का अंगज राजपुत्र रथनेमि भी भय से प्रकम्पित राजीमती को देखकर इस प्रकार के वचन बोला—।।३६।।

हे भद्रे ! मैं रथनेमि हूँ। हे सुन्दरी ! हे मनोरम भाषिणि ! हे सुडौल शरीर वाली ! तुझे कोई पीड़ा नहीं होगी। तू मुझे सेवन कर, अर्थात्—मेरे समागम में आ जा ।।३७।।

इधर आ, पहले हम दोनों यथेच्छ भोगों को भोग लें, क्योंकि यह मनुष्यजन्म बहुत ही दुर्लभ है। यथारुचि काम-भोगों का सेवन करने के बाद फिर से जिनोक्त कठोर श्रमणमार्ग पर चल पड़ेंगे ।।३८।।

विवेचन—प्रस्तुत तीन (३६ से ३८ तक) गाथाओं में कामविह्वल एवं विषयसेवन-परवश बने हुए रथनेमि द्वारा राजीमती से भोगयाचना का निरूपण है। पश्चात् भयभीत राजीमती को आश्वस्त करने के लिए—रथनेमि ने सर्वप्रथम अपना परिचय देते हुए राजीमती को निर्भय करने का प्रयत्न किया है कि मैं राजपुत्र हूँ, अर्थात् समुद्रविजय नृप का अंगजात होने से कुलीन हूँ। रथनेमि मेरा नाम है, और 'तू परमसुन्दरी, कोमलांगी, चारुभाषिणी है, अतः तुम्हें डरने की कोई आवश्यकता नहीं, मेरे समागम में आने पर तुम्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा।" रथनेमि ने इन शब्दों से

राजीमती को भयमुक्त, आश्वस्त, एवं विषयसुख से कष्टरहित होने का अपना अभिप्राय स्पष्ट किया है। और अगली गाथा (३८वीं) में तो रथनेमि अधिक स्पष्ट शब्दों में विषयसेवन की प्रार्थना करता है। यह उसके विकृत-चित्त का स्पष्टतः निदर्शन है।

सारांश—स्त्रीसंसर्ग से बचने का शास्त्रों में यत्र-तत्र जो उपदेश दिया गया है, उसका उद्देश्य भी यही है, कि इन्द्रियाँ अत्यन्त प्रबल होती हैं। इनका निग्रह करना साधारण कार्य नहीं है। स्त्रीसंसर्ग से दूर न रहने वाले साधु की भी वैसी ही दशा हो सकती है, जैसी दशा राजीमती को देखते ही ध्यानमग्न रथनेमि की हुई थी। फिर संसर्ग दशा में चंचलता हो इसमें कहना ही क्या ?

रथनेमि को राजीमती द्वारा उद्बोधन—

मूल—दट्ठूण रहनेमिं तं, भग्गुज्जोय-पराइयं।
राईमई असंभंता, अप्पाणं संवरे तहिं ॥३९॥

अह सा रायवरकन्ना, सुट्ठिया नियमव्वए।
जाईं कुलं च सीलं च, रक्खमाणी तयं वए ॥४०॥
जइसि रूवेण वेसमणो, ललिएण नलकूबरो।
तहावि ते न इच्छामि, जइसि सक्खं पुरंदरो ॥४१॥
[पक्खंदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं।
नेच्छंति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे ॥]
धिरत्थु तेऽजसोकामी !, जो तं जीविय-कारणा।
वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ॥४२॥
अहं च भोयरायस्स[1], तं चसि अंधग-वण्हिणो।
मा कुले गंधणा होमो, संजमं निहुओ चर ॥४३॥
जइ तं काहिसि भावं, जा जा दिच्छसि नारिओ।
वायाविद्धो व्व हडो, अट्ठिअप्पा भविस्ससि ॥४४॥
गोवालो भंडवालो वा, जहा तद्दव्वऽणिस्सरो।
एवं अणिस्सरो तं पि, सामण्णस्स भविस्ससि ॥४५॥

छाया—दृष्ट्वा रथनेमिं तं, भग्नोद्योग-पराजितम्।
राजीमत्यसम्भ्रान्ता, आत्मानं समवारीत् तत्र ॥३९॥

---

१ भोगरायस्स—पाठान्तर।

अथ सा राजवरकन्या, सुस्थिता नियमव्रते ।
जातिं कुलं च शीलं च, रक्षन्ती तकमवदत् ॥४०॥

यद्यपि रूपेण वैश्रमणः, ललितेन नलकूवरः ।
तथापि त्वां नेच्छामि, यद्यसि साक्षात् पुरन्दरः ॥४१॥

[प्रस्कन्दति ज्वलितं ज्योतिः, धूमकेतुं दुरासदम् ।
नेच्छन्ति वान्तं भोक्तुं, कुले जाता अगन्धने ॥]

धिगस्तु तेऽयशःस्कामिन्, यस्त्वं जीवितकारणात् ।
वान्तमिच्छस्यापातुं, श्रेयस्ते मरणं भवेत् ॥४२॥

अहं च भोजराजस्य, त्वं चास्यन्धकवृष्णेः ।
मा कुले गन्धनौ भूव, संयमं निभृतश्चर ॥४३॥

यदि त्वं करिष्यसि भावं, या या द्रक्ष्यसि नारीः ।
वाताविद्ध इव हड, अस्थितात्मा भविष्यसि ॥४४॥

गोपालो भाण्डपालो वा, यथा तद्द्रव्याऽनीश्वरः ।
एवमनीश्वरस्त्वमपि, श्रामण्यस्य भविष्यसि ॥४५॥

पद्या०—उत्साहभग्न संयम-पथ में, रथनेमि विजित को देख वहाँ ।
असम्भ्रान्त मन राजीमती, अपने तन को ढक लिया वहाँ ॥३९॥

नृपवरकन्या वह राजीमती, व्रत-नियमों में थी अति सुस्थिर ।
कुल, जाति, शील रक्षण करती, बोली उस मुनि से साहस धर ॥४०॥

वैश्रमण, रूप से यदि तुम हो, लालित्यछटा से नलकूवर ।
फिर भी न कभी मैं चाह करूँ, तुम चाहे शक्र बनो भू पर ॥४१॥

[धूमकेतु जलते पावक में, सर्प अगन्धनकुल वाले ।
करते प्रवेश पर वान्त नहीं, पीते जीवन की इच्छा ले ॥]
हे अयशकाम ! धिक्कार तुम्हें, जो तुम भोगों के कारण से ।
यह वान्त भोग पीना चाहो, है मरण श्रेष्ठ तन-धारण से ॥४२॥

मैं भोजराज की पुत्री हूँ, तुम अन्धककुल के हो भूषण ।
हम गन्धन-अहि-सम बनें नहीं, निश्चल मन संयम कर पालन ॥४३॥

यदि देख-देख नारी-जन को, उनके प्रति राग करेगा तो ।
पवनाहत हड जैसे जग में, तू अस्थिर चित्त बनेगा तो ॥४४॥

गोपाल हो या भाण्डपाल, होते न स्वामी उस धन के ।
श्रामण्य-भाव के तुम भी त्यों, स्वामी न बनोगे जीवन के ॥४५॥

अन्वयार्थ—**भग्गुज्जोय-पराजियं**—संयम के प्रति भग्नोद्योग=उत्साहहीन और भोगवासना से पराजित, **तं रहनेमि**—उस रथनेमि को, **दट्ठूण**—देखकर, **राईमई**—राजीमती साध्वी, **असम्भंता**—सम्भ्रात न हुई(=घबराई नहीं), (उसने) **तहिं**—वहीं, (वस्त्रों से), **अप्पाणं**—अपने शरीर को, (पुनः), **संवरे**—आवृत्त कर (ढक) लिया ।।३६।।

अह—इसके पश्चात्, **नियमव्वए**—नियमों और व्रतों में, **सुट्ठिया**—सुस्थित (=अविचल), **सा रायवरकन्ना**—उस श्रेष्ठ राजकन्या (राजीमती) ने, **जा**—जाति, **कुल**—कुल, **च**—और, **सीलं च**—शील की, **रक्खमाणी**—रक्षा करते हुए, **तयं**—उस रथनेमि से, **वए**—कहा ।।४०।।

जइ—यदि, **रूवेण**—रूप से तू, **वेसमणो**—वैश्रमण (कुबेर) **सि**—है, **ललिएण**—ललितकलाओं में, **नलकूबरोसि**—नलकूबर के समान है, (और तो क्या) **जई**—यदि (तू), **सक्खं**—साक्षात्—**पुरंदरो सि**—इन्द्र भी है, **तहावि**—तो भी, **ते**—तुझे (मैं), **न**—नहीं, **इच्छामि**—चाहती ।।४१।।

[**अगंधणे कुले**—अगन्धन कुल में, **जाया**—उत्पन्न हुए, सर्प, **धूमकेउं**—धूम की ध्वजा वाली, **जलियं**—प्रज्वलित, **दुरासयं**—दुष्प्रवेश, जो अग्नि में प्रवेश कर जाते हैं, किन्तु, **वंतयं**—वमन किये हुए अपने विष को, **भोत्तुं**—पुनः पीना, **नेच्छंति**—नहीं चाहते ।।]

अजसोकामी—हे अपयश के कामी ! **ते**—तुझे, **धिरत्थु**—धिक्कार है, **जो**—कि, **तं**—तू, **जीवियकारणा**—भोगी (असंयमी) जीवन के लिए, **वंतं**—वान्त=त्यक्त (भोगों को पुनः), **आवेउं**—भोगने की, **इच्छसि**—इच्छा करता है, (इससे तो), **ते**—तेरा, **मरणं**—मर जाना, **सेयं भवे**—श्रेयस्कर है ।।४२।।

अहं च—और (देख) मैं, **भोयरायस्स**—भोजराज की पुत्री हूँ, **च**—और, **तं**—तू, **अंधगवाण्हिणो सि**—अन्धकवृष्णि का पुत्र है, (हम) **कुले**—कुल में, **गंधणा**—गन्धन सर्प के-से, **मा होमो**—न हों, (अतः तू), **निहुओ**—निभृत (स्थिर) होकर, **संजमं**—संयम का, **चर**—आचरण कर ।।४३।।

जइ—यदि, **तं**—तू, **जा-जा**—जिस-किसी, **नारिओ**—स्त्री को, **दिच्छसि**—देखेगा और ऐसे, **भावं**—रागभाव को, **काहिसि**—करेगा (तो तू), **वायाविद्धो**—वायु से कम्पित, **हडोव्व**—हड नामक वनस्पति की तरह, **अट्ठिअप्पा**—अस्थितात्मा या (चंचलात्मा) **भविस्ससि**—हो जाएगा ।।४४।।

जहा—जैसे, **गोवालो**—गोपालक, **वा**—अथवा, **भंडवालो**—भाण्डपाल, **तद्दव्वऽणिस्सरो**—उस द्रव्य (गाय और किराने आदि के अनीश्वर (स्वामी नहीं) होते

हैं, **एवं**—इसी प्रकार, **तं पि**—तू भी, **सामण्णस्स**—श्रामण्यभाव का, **अणिस्सरो**—स्वामी नहीं, **भविस्ससि**—होगा ॥४५॥

भावार्थ—संयम में शिथिल उत्साह वाले और काम-पराजित उस रथनेमि को देखकर राजीमती ने विना घबराए अपने तन को वस्त्रों से ढक लिया ॥३९॥

तदनन्तर व्रतों और नियमों में सुस्थिर वह श्रेष्ठ राजकन्या राजीमती अपने जाति, कुल एवं शील की रक्षा करती हुई, उस रथनेमि से बोली—॥४०॥

तू भले ही रूप में वैश्रमण के तुल्य और लालित्य कला में नलकूबर के समान हो, और तो क्या तू चाहे साक्षात् इन्द्र ही क्यों न हो, फिर भी मैं तुझे नहीं चाहती ॥४१॥

[अगन्धन कुल में उत्पन्न हुए सर्प धूम्रध्वज वाली एवं अत्यन्त कठिनता से प्रवेश हो सके, ऐसी प्रज्वलित अग्नि में कूदना पसन्द करते हैं, किन्तु वमन किए (उगले) हुए विष को फिर से पीना नहीं चाहते ।]

हे अपयश के कामी ! धिक्कार है तुझे कि तू भोगजीवन के लिए वमन किये (त्यागे) हुए भोगों का फिर उपभोग करने की इच्छा करता है ! इससे तो तुम्हारा मरना अच्छा है ! ॥४२॥

मैं भोजराज—उग्रसेन की पुत्री हूँ, और तुम अन्धकवृष्णि—समुद्रविजय के पुत्र हो, हम दोनों गन्धन कुल के सर्प की तरह न हों । अतः तुम स्वस्थचित्त होकर संयम का पालन करो ॥४३॥

यदि तू जिन-जिन नारियों को देखेगा, उन-उनके प्रति रागभाव करेगा तो वायु से प्रेरित (=प्रकम्पित) हड नामक वनस्पति की तरह अस्थिरात्मा बन जाएगा ॥४४॥

जिस प्रकार गोपालक या भाण्डपाल उस गौ आदि द्रव्यों का स्वामी नहीं होता, वैसे ही तुम भी श्रामण्य भाव=मोक्षमार्ग के अधिकारी नहीं बन सकोगे ॥४५॥

साधक रथनेमि पुनः संयम में दृढ़, मुनि धर्म में स्थिर—

मूल—**तीसे सो वयणं सोच्चा, संजयाए सुभासियं ।**
अंकुसेण जहा नागो, धम्मे संपडिवाइओ ॥४६॥
[कोहं माणं निगिण्हित्ता, माया लोभं च सव्वसो ।
इंदियाइं वसे काउं, अप्पाणं उवसंहरे ॥]

मणगुत्तो वयगुत्तो, कायगुत्तो जिइंदिओ।
सामण्णं निच्चलं फासे, जावज्जीवं दढव्वओ ॥४७॥

छाया—तस्याः स वचनं श्रुत्वा, संयतायाः सुभाषितम्।
अंकुशेन यथा नागः, धर्मे सम्प्रतिपादितः ॥४६॥
[क्रोधं मानं निगृह्य, मायां लोभं च सर्वशः।
इन्द्रियाणि वशीकृत्य, आत्मानमुपसंहरेत् ॥]
मनोगुप्तो वचोगुप्तः, कायगुप्तो जितेन्द्रियः।
श्रामण्यं निश्चलमस्प्राक्षीत् यावज्जीवं दृढव्रतः ॥४७॥

पद्या०—संयमशीला उस राजीमती के, हितप्रद वचनों को सुनकर।
अंकुश से गजवत् वशवर्ती, रथनेमि धर्म में हुए अचर ॥४६॥
[क्रोध मान का निग्रह कर वह, तज माया एवं लोभ सभी।
इन्द्रियगण को वश में कर खुद, हुआ पाप से दूर तभी ॥]
हो गया जितेन्द्रिय मन, वाणी, और कायगुप्ति से भी निश्चल।
निश्चल मुनिव्रत का स्पर्श किया, आजीवन नियम लिया निर्मल ॥४७॥

अन्वयार्थ—**तीसे संजयाए**—उस संयता के, **सुभासियं वयणं**—सुभाषित वचनों को, **सोच्चा**—सुनकर, **जहा**—जैसे, **अंकुसेण**—अंकुश से, **नागो**—हाथी, (स्थिर=वश में हो जाता है, वैसे ही), **सा**—वह रथनेमि भी, **धम्मे**—धर्म में, **संपडिवाइओ**—सम्यक् प्रकार से स्थिर हो गया ॥४६॥

[(उसने) **कोहं माणं मायं लोभं च**—क्रोध, मान, माया और लोभ को, **सव्वसो**—पूर्णतया, **निगिण्हित्ता**—निग्रह करके, (तथा), **इंदियाइं**—इन्द्रियों को, **वसे काउं**—वश में करके, **अप्पाणं**—अपनी आत्मा का, **उवसंहरे**—उपसंहार किया, (अर्थात्—प्रमाद की ओर जाती हुई आत्मा को, पीछे हटाकर धर्म में स्थिर किया।]

(वह) **मणगुत्तो वयगुत्तो कायगुत्तो**—मन, वचन और काया से गुप्त होकर, **जिइंदिओ**—जितेन्द्रिय (और) **दढव्वओ**—व्रतों में दृढ़ हो गया। (तत्पश्चात्) **जावज्जीवं**—जीवनभर, **निच्चलं**—निश्चल भाव से, **सामण्णं फासे**—श्रामण्य—श्रमण वृत्ति का (पुनः स्पर्श किया)

भावार्थ—उस संयमशीला राजीमती के सुभाषित (सम्यक् प्रकार से कहे हुए) वचनों को सुनकर वह (रथनेमि) धर्म में सम्यक् प्रकार से वैसे ही स्थिर हो गया, जैसे अंकुश से हाथी (वश में) हो जाता है ॥४६॥

[क्रोध, मान, माया और लोभ को सब प्रकार से रोककर तथा पांचों इन्द्रियों को वश में करके रथनेमि ने अपनी आत्मा का उपसंहार किया, (अर्थात् अधर्म से हटाकर धर्म में स्थिर किया)]

मन, वचन और काया से गुप्त (सुरक्षित) होकर, इन्द्रियों को जीतकर वह व्रतों में सुदृढ़ हो गया। फिर जीवनपर्यन्त निश्चलभाव से श्रमर्णधर्म का पालन करता रहा ॥४७॥

राजीमती का उद्‌वोधन—

गाथा ३९-४७ तक में रथनेमि को राजीमती द्वारा किये गये उद्‌वोधन का हृदयग्राही वर्णन है। सती ने संयमसाधना के उद्योग में रथनेमि का पराजित देखकर अपने तन और मन का संवरण कर स्वयं व्रत-नियमों में सुस्थित होकर वोली—"रथनेमि ! तुम यदि सुन्दर रूप से वैश्रमण के समान हो, ललित कला में नल कुवेर के समान तथा ऐश्वर्य में स्वर्ग के साक्षात् इन्द्र हो तो भी मैं आँख उठाकर देखना भी नहीं चाहूँगीं। क्योंकि एक वार त्यागे हुए भोगों की ओर फिर ललचाना कुलवान व्यक्ति के लिये शोभनीय नहीं होता।"

जव एक जातिवान सर्प जलती अग्नि में कूद पड़ना मंजूर करके भी वमे हुए विष को फिर लेना मंजूर नहीं करता फिर तुम्हारे जैसे कुलवान मनुष्य त्यागे हुये भोगों को फिर भोगना चाहे, धिक्कार है, इससे तो तेरा मरना अच्छा होता।

सिंहनी की तरह सती की कितनी ओजपूर्ण निर्भय गर्जना है, उसने संयम रक्षण के लिये सत्य कहने में जरा भी संकोच नहीं किया।

शीलवती सती सांसारिक सुख-भोग को धर्म के समक्ष निस्सार अशुचि एवं अनित्य मानकर हेय समझती है। जैसे कोई रत्न पारखी विविध रंगों से चमकीले कांच मणिके वदले हीरे का टुकड़ा भी देना नहीं चाहेगा वैसे दृढ़ संकल्पी विवेकी स्त्री-पुरुष प्रत्यक्ष में रमणीक दिखने वाले इन्द्रिय सुखों के लिये सास्वत सुखदायी संयम धन को भूलकर भी नहीं देगा। सती ने आगे कहा—"मैं भोजराज उग्रसेन की पुत्री और तुम समुद्रविजय के पुत्र हो। ऐसे उत्तम कुल में जन्मे तुमको हीन जातिके सर्प के समान भोगार्थी न होकर स्थिर मन से संयम का आचरण करना चाहिए।"

ऐसा नहीं करके यदि तुम स्त्रियों के सुन्दर रूप को देखकर मन को चंचल करोगे तो वायु से कंपित हड वृक्ष के समान अस्थिर आत्मा हो जाओगे। फिर श्रमणधर्म आत्म-धर्म के अधिकारी नहीं रहोगे। जैसे

गोपाल तथा भाण्डपाल दिन भर गायों तथा भाण्डों के आसपास रहकर भी गाय और भाण्डों के स्वामी नहीं होते, इस तरह तुम भी दिन भर जीवन की वाह्य क्रियायें करते हुए भी श्रमणधर्म के स्वामी नहीं हो सकोगे।

सती राजीमती के उद्‌बोधन से रथनेमि का भटका हुआ चंचल मन, पुनः संयम की ओर लौटने लगा, उसकी लज्जा विनत भाव भंगिमा देख कर सती ने मार्गदर्शन करते हुए आगे कहा—

हे रथनेमि ! क्रोध-मान-माया और लोभ का सर्वथा निग्रह करके इन्द्रियों को वश में करो, इस तरह आत्मा की वृत्तियों का उपसंहार। संकोच हो सकेगा। उस राजीमती के ऐसे वैराग्यपूर्ण वचन को सुनकर चतुर महावत के अंकुश से मस्त हाथी की तरह रथनेमि का मन धर्म में स्थित हो गया। वह फिर कभी चंचल भाव का शिकार नहीं हुआ।

इसमें मुख्य भूमिका सती राजीमती ने निभाई। उसने रथनेमि के निर्वल मन को सबल बनाने में योग देकर नारी जीवन के गौरव का मान-दण्ड कायम किया, और बताया कि नारी की निर्बलता का कारण उसकी आकांक्षा और स्नेह का बंधन है। जब आकांक्षाओं को ठुकराकर जब वह ज्ञान वैराग्य में रम जाती है तो वह बड़ी से बड़ी शक्ति को परास्त करने के अतिरिक्त वह स्वयं भव जल को पार करती और राजीमती की तरह अन्य निर्बल आत्माओं को भी ज्ञानामृत का पान कराके सबल बना देती है। नारी जीवन का यह आदर्श आज भी महिला जगत के लिये शिक्षाप्रद है।

कर्मक्षय करके मुक्त हुए दोनों महान् आत्माओं से प्रेरणा—

मूल—उग्गं तवं चरित्ताणं, जाया दोण्णि वि केवली।
सव्वं कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं ॥४८॥
एवं करेंति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा।
विणियट्टंति भोगेसु, जहा से पुरिसोत्तमो ॥४९॥
त्ति बेमि।

छाया—उग्रं तपश्चरित्वा, जातौ द्वावपि केवलिनौ।
सर्वं कर्म क्षपयित्वा, सिद्धिं प्राप्तावनुत्तराम् ॥४८॥
एवं कुर्वन्ति सम्बुद्धाः, पण्डिताः प्रविचक्षणाः
विनिवर्त्तन्ते भोगेभ्यः, यथा स पुरुषोत्तमः ॥४९॥
—इति ब्रवीमि।

पद्या०—उग्र तपस्या को करके, बन गए केवली वे दोनों।
सारे कर्मों का क्षय करके, पा गए श्रेष्ठ सिद्धि दोनों ॥४८॥

सम्बुद्ध विचक्षण पण्डितजन, ऐसा ही जग में करते हैं।
जैसे रथनेमि नरश्रेष्ठ हुए, मन दूर, भोगों से डरते हैं ॥४९॥

अन्वयार्थ— **उग्गं तवं**—उग्र तप का, **चरित्ताणं**—आचरण करके, **दोण्णि वि**—राजीमती महासती और साधक रथनेमि दोनों ही, **केवली**—केवलज्ञानी, **जाया**—हुए तथा, **सव्वं कम्मं**—समस्त कर्मों का, **खवित्ताणं**—क्षय करके, (उन्होंने) **अणुत्तरं**—अनुत्तर, **सिद्धिं**—सिद्धि या मुक्ति, **पत्ता**—प्राप्त की ॥४८॥

एवं—ऐसा ही **संबुद्धा**—सम्बुद्ध तथा, **पवियक्खणा**--अत्यन्त विचक्षण एवं **पंडिया**—पण्डितजन करते हैं वे, **भोगेसु**—भोगों से, (उसी प्रकार), **विणियट्टंति**—निवृत्त हो जाते हैं, **जहा**—जैसे कि, **से**—वह, **पुरिसोत्तमे**—पुरुषोत्तम (रथनेमि) निवृत्त हुआ ॥४९॥

—**त्ति बेमि**—ऐसा मैं कहता हूं।

भावार्थ—उग्र तपश्चरण करके राजीमती और रथनेमि दोनों ही केवलज्ञानी हो गए। फिर समस्त कर्मों का क्षय करके वे अनुत्तर सिद्धि=मुक्ति को प्राप्त हो गए ॥४८॥

ऐसा ही तत्त्ववेत्ता पण्डित एवं विचक्षण लोग करते हैं। वे उसी प्रकार भोगों से विरत हो जाते हैं, जैसे कि वह नरश्रेष्ठ रथनेमि विरत हुआ ॥४९॥

ऐसा मैं कहता हूँ।

निरतिचार चारित्र-पालन का फल—अध्ययन की समाप्ति में निरतिचार चारित्र पालन की फल श्रुति का निर्देश करते हुए शास्त्रकार ने दोनों को केवलज्ञान और समस्त कर्मक्षय करके मोक्ष होने का उल्लेख किया है। समुद्रविजयजी के चार पुत्रों में से अरिष्टनेमि तीर्थंकर हुए, सत्यनेमि और रथनेमि प्रत्येकबुद्ध हुए। रथनेमि चार सौ वर्ष पर्यन्त गृहस्थाश्रम में रहे। एक वर्ष छद्मस्थ अवस्था में विचरे तथा पाँच सौ वर्ष तक केवली पर्याय में रहे। कुल ९०१ वर्ष से कुछ अधिक आयु भोगकर वे मोक्ष पहुँचे।

अन्तर्गत कथा—जब राजीमती साध्वी ने उद्बोधन वचनों द्वारा रथनेमि को अनुशासित और सम्यक् प्रतिबोधित कर दिया, तब उसने सती राजीमती के प्रति कृतज्ञता प्रकट की—'महासती! आपने मुझे सम्यक् प्रकार से प्रतिबोधित किया। मैं आपके इस उपकार को भूल नहीं सकता।' यों

कहकर रथनेमि अपनी आत्मनिन्दा (पश्चात्ताप) और सती राजीमती की अत्यन्त स्तुति करता हुआ भगवान् की साधुसभा में पहुँचा। राजीमती भी साध्वी सभा में पहुँची। वहाँ मरकतमणि के समान कान्तिमान देह वाले, शंखलांछनयुक्त, दस धनुष प्रमाण देह की ऊँचाई वाले, भगवान् अरिष्टनेमि विराजमान थे। वे तीन सौ वर्ष गृहवास में रहे। ५४ दिन तक छद्मस्थ अवस्था में तथा ७५४ वर्ष पर्यन्त केवली पर्याय में रहे। फिर अनेक भव्य जीवों को प्रतिबोध देते हुए कुल एक हजार वर्ष की आयु का परिपालन करके आषाढ़सुदी ८ को सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

सम्बुद्ध, पण्डित, विचक्षण और पुरुषोत्तम बनने योग्य—वही होता है, जो भोगों से निवृत्त होकर दृढ़तापूर्वक संयम पालन करता है और अपने आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

॥ रथनेमीय : बाईसवां अध्ययन समाप्त ॥